

ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
UGC Care Approved Research journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

अंक-24

जुलाई, 2023 - सितंबर, 2023

मूल्य : 200 रुपए

आजीवक महासंघ द्वारा निर्गत
संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

वर्ष : 15
अंक : 24
अंक : जुलाई, 2023 - सितंबर, 2023
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page Rs. 20,000/-
Half Page Rs. 10,000/-
Qtr. Page Rs. 5,000/-
Back Cover Rs. 40,000/-
(four colour)
Inside Front Rs. 35,000/-
(four colour)
Inside Back Rs. 35,000/-
(four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page 12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक

प्रो. श्योराज सिंह 'बेचैन'

संपादक

प्रो. दिनेश राम

सहायक संपादक

डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'

तान्या लाम्बा

भाषा सहयोग

डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'

डा. राजकुमार राजन

कानूनी सलाहकार

एड. सतपाल विर्द्ध

एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ

डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी,
प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार,
डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय
सौदार्यी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार,
डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ

ओमप्रकाश वाधा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम,
डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव,
डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।

* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।

* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्ड/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।

* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।

* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय		—दिनेश राम	5
1. आर्य आक्रमण सिद्धान्त और डॉक्टर भीमराव अबेंडकर		—डॉ. पिन्टू कुमार	6
		—डॉ. प्रेम कुमार	
2. हिंदी भाषा और लिपि के संरक्षण-संवर्धन में बातमुकुंद गुप्त की भूमिका	—डॉ. चन्द्रकान्त सिंह	10	
3. डॉ. शंकर शेष के नाटक 'रत्नगर्भा' में चित्रित नारी जीवन में प्रेम का आत्मसंघर्ष	—बृजेश यादव	14	
4. सजातीय विवाह जाति प्रथा की जड़ है—डॉ. बी.आर. अबेंडकर	—डॉ. दीपा	18	
5. दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कहानियों में मानवीय मूल्य	—मनीषा	22	
6. अज्ञेय-काव्य में बुद्ध	—डा. विनीता गुप्ता	26	
7. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के काव्य में प्रेम और सौन्दर्यवादी चेतना	—रुबी सिंह	29	
8. 1857 के महासंग्राम में महाकौशल अंचल के विस्मृत नायक :	—गोविन्द पाण्डेय	32	
अमर शहीद राजा शंकरशाह एवं कुँवर रघुनाथ शाह	—पूजा दाहिया		
9. दिव्या उपन्यास में अभिव्यक्त राजनीतिक दृष्टिकोण	—मौहम्मद समीर मनिहार	36	
10. वर्तमान सामाजिक परिवेश में बुजुर्ग पीढ़ी : एक व्यावहारिक अध्ययन	—डॉ. हरेन्द्र कुमार	40	
	—डॉ. हरिन्द्र कुमार		
11. महर्षि दयानन्द जी के विचारों पर आधारित आर्य समाज का कन्या शिक्षा के लिए किए गये प्रयासों का अध्ययन	—डॉ अनीता सिंह	44	
	—लता शर्मा		
12. आदिवासी अस्तिता और स्वतंत्र भारत के उपनिवेश	—प्रफुल्ल कुमार रंजन	48	
13. भारत में महिला सशक्तीकरण	—डॉ. ज्योति सिंह	51	
	—रिचा सेंगर		
14. टूटा-बिखरता प्रवासी जीवन	—डॉ. ब्रह्मा नंद	54	
15. मुक्तिबोध के काव्य में मार्क्सवादी प्रेरणा	—राकेश कुमार	58	
16. निर्मला पुतुल की कविताएं व आदिवासी स्त्री	—डॉ. ज्योति गौतम	61	
17. आदिवासी जीवन संघर्ष और वर्तमान चुनौतियाँ	—शुभम यादव	64	
18. प्रारंभिक औपनिवेशिक काल के भारत में वन नीति और वन संरक्षण	—महेन्द्र सिंह	68	
19. 1857 का महान विद्रोह एवं लखनऊ रेजीडेंसी की घेराबंदी :			
एक पुनरावलोकन	—अभय पाण्डेय	72	
20. भारत-म्यांमार सांस्कृतिक, धार्मिक एवं पारस्परिक सम्बन्ध : एक दृष्टि	—डॉ. पुष्कर पाण्डेय	77	
21. महाकवि अश्वघोष की कृतियों में सामाजिक एवं धार्मिक जीवन	—डॉ. नीमा जोशी	81	
22. कहानी का प्लॉट कहानी में चित्रित यथार्थ	—डॉ. जी. वी. रत्नाकर	85	

23. दिव्या माथुर कृत 'मेड इन इंडिया और अन्य कहानियाँ' संग्रह में प्रवासी चेतना के सामाजिक आयाम	—डॉ. सपना सैनी	88
24. समकालीन हिन्दी कविता के सन्दर्भ में समकालीनता	—रघुनन्दन महापात्र	92
25. आदिवासी संस्कृति और समाज का संघर्ष	—डॉ. राम बचन यादव	95
26. मानवीय मुक्ति का नया सौदर्यशास्त्र 'यातना, संघर्ष और स्वप्न'	—डा. धर्मवीर यादव	98
27. 'ताज़'— सत्रहवीं शताब्दी की एक स्त्री कृष्ण भक्त लेखिका	—डा. ज्योति	102
28. नारी : शब्द-व्युत्पत्ति—संस्कृत एवं पंजाबी के परिप्रेक्ष्य में	—प्रो. हरप्रीत कौर —डॉ. कल्पना शर्मा	106
29. समकालीन महिला कथाकारों के परिप्रेक्ष्य में नारी के कथा साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन	—प्रकाश यादव	111
30. हिंदी समाचारपत्रों में धर्म की रूपरेखा	—डॉ. रजनीश कुमार मिश्रा	115
31. बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त	—डॉ. संजीव कुमार गौतम	118
32. जवाहर लाल नेहरू का सांस्कृतिक बोध और युवा पीढ़ी	—डॉ. भरत लाल मीणा	123
33. रामनरेश त्रिपाठी के ग्रामीण गीतों का समाज पर प्रभाव	—संजीव कुमार पाण्डेय	126
34. अपभ्रंश साहित्य में राम-कथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन	—विजय कुमार पाल	129
35. 'प्रेमचन्द घर में' जीवनी : एक दृष्टि	—डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह	132
36. मनू भंडारी की कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंध	—डॉ. राम किशोर यादव	136
37. निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्री स्वर	—डॉ. विनीता रानी	140
38. सत्प्रवृत्ति संवर्धन के बिना शिक्षा विनाशकारी	—प्रो. दिनेश कुमार गुप्ता	143
39. स्त्री-पुरुष संबंधों की महानगरीय विडंबनाओं का सशक्त नाटक आधे-अधूरे	—डॉ. सत्यदेव प्रसाद	146
40. पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्य में सामाजिक एवं ऐतिहासिक संस्कृति के सामान्य सर्वेक्षण का विवेचनात्मक अध्ययन	—डॉ. अशोक कुमार यादव	149
41. हिन्दी आलोचना के विकास में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की प्रासंगिकता	—डॉ. अभिलाषा शुक्ला	152
42. भारत में स्त्री शिक्षा का महत्व	—शशिकला यादव —डॉ. हलधर यादव	155
43. जम्मू-कश्मीर में राष्ट्रीय भावना	—डॉ. अजय कुमार	158
44. नागार्जुन के उपन्यासों में प्रमुख स्त्री-पत्रों की दशा	—राम कुमार —डॉ. मंजुला सिंह	161
45. मदरसा सर्वेक्षण के आयाम : राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में	—अनुज कुमार —प्रो. (डॉ.) निधि रायजादा	164
46. महिला सशक्तीकरण में समाज एवं संस्कृति की भूमिका	—मोहित कुमार शर्मा	168
47. 21वीं सदी के भारतीय समाज में कवीर की प्रासंगिकता	—डॉ. धनंजय कुमार	172

48. पॉल गोमरा का स्कूटर : भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में बदलते मानवीय मूल्य	—रवि रंजन	176
49. समकालीनता के संदर्भ में अनामिका की कविताओं का मूल्यांकन	—डॉ. उपेंद्र कुमार	
50. हिंदी विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपादेयता	—राहुल कुमार	180
51. अखिलेश के कथा साहित्य में विविध आयामों की अभिव्यक्ति के सामाजिक पक्ष का विवेचनात्मक अध्ययन	—डॉ. उपेंद्र कुमार	
52. हिन्दी व्याकरणिक चिन्तन की परम्परा का विश्लेषणात्मक अध्ययन	—डॉ. आशीष कुमार यादव	184
53. हिन्दी सिनेमा और स्त्री चिंतन	—डॉ. प्रदीप कुमार तिवारी	188
54. वर्ष 1980-84 के समय भारत की दक्षिण एशिया के प्रति सांस्कृतिक विदेश नीति	—डॉ. कृपा शंकर	192
55. कथाकार संजीव कृत उपन्यास ‘धार’ में आदिवासी जीवन : एक दृष्टि	—सचिन पाल सिंह	195
56. बुनकरों की निर्धनता की समस्या एंव आर्थिक सुधार में स्वंयं सहायता समूहों का योगदान	—डॉ. दीपक सिंह	198
57. आचार्य शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का मूल्यांकन	—अनुपमा वर्मा	201
58. ब्रिटिश शासनकाल में सन् 1857 का विद्रोह : एक दृष्टि	—डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह	
59. आधुनिक समाज में वृद्धजनों की दशा : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन	—शील कुमार	205
60. संयुक्त राष्ट्र संघ और महिला उत्थान	—डॉ. आदित्य कृष्ण सिंह चौहान	
61. शिक्षण प्रभावशीलता के माध्यम से मध्यप्रदेश के जनजातीय छात्रों में सांस्कृतिक, भाषायी व राजनैतिक परिवर्तन	—आलोक कुमार	208
62. संत परंपरा में रेदास जी और उनका वैचारिक अवदान	—डॉ. अंकिता सिंह	212
63. कल्याणकारी राज्य की स्थापना में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान	—आशीष कुमार चौरसिया	216
64. उत्तर-आधुनिकता के दर्पण में विमर्श की नई राहें	—पूरनमल मीना	220
65. चौखट (कहानी)	—नवनीत कुमार सिंह	223
	—अनुपम सिंह	
	—प्रो. शमीम अहमद	
	—डा. विन्ध्याचल मिश्र	227
	—प्रो. शैलेन्द्र सिंह	231
	—राम सुधि	234
	—रामेश्वर महादेव वाठेकर	239

संपादकीय

भारतीय दलित साहित्य अकादमी के अध्यक्ष डा. सोहनपाल सुमनाक्षर ने मुझे अपनी एक किताब, ‘मेरे साक्षात्कार मेरा जीवन संघर्ष’ भेजी है। भारतीय दलित साहित्य अकादमी की स्थापना दिवंगत बाबू जगजीवन राम ने वर्ष 1984 में की थी। तबसे सुमनाक्षर जी इसकी अध्यक्षता की जिम्मेदारी सफलता पूर्वक निभाते आ रहे हैं। बाबू जगजीवन राम ने इसकी स्थापना तब की थी जब हिन्दी में दलित साहित्य सुगबुगाहट मात्र हो रही थी। सुमनाक्षर जी ने अपनी रचनाओं और अकादमी के माध्यम से दलित साहित्य के कारवां को बहुत ऊँचाइयों तक ले आए हैं। कविता, कहानी, नाटक और आलोचना आदि साहित्यिक विधाओं में उनका योगदान सराहनीय है। उन्होंने अपना शोधकार्य सूफी कवि अमीर खुसरो पर पूरा किया वह प्रकाशन विभाग से प्रकाशित भी हुआ। पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने हिमायती जैसे समाचार पत्र निकाल कर शोषितों और वंचितों की आवाज को मुख्यधारा में शामिल किया। यह काम वे पिछले 60 वर्षों से लगातार करते आ रहे हैं। पिछले 10 वर्षों से वे बेगमपुरा नाम का टी. वी. चैनल चला रहे हैं। इसके माध्यम से वे एक तरफ जहाँ शोषितों और वंचितों की समस्याओं को सामने ला रहे हैं वहाँ दूसरी तरफ उन के समाज के संतों और गुरुओं की प्रेम और मनुष्यता से भरी वाणियों को जन जन तक पहुंचा रहे हैं। अब तक वे दो महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मेलन आयोजित कर कर शोषितों और वंचितों के चिंतन को पूरे विश्व से अवगत करा चुके हैं। उन के योगदान को याद करते हुए वरिष्ठ दलित साहित्यकार प्रो. कालीचरन स्नेही ने लिखा है, ‘डा. सुमनाक्षर ऐसे दलित चिंतक हैं जिन्होंने सारे देश के दलित साहिल्कारों, समाजसेवियों, राजनीतिज्ञों और संस्कृतकर्मियों को दलित साहित्य अकादमी का प्रतिष्ठित मंच प्रदान कर दलित आन्दोलन को नयी ऊर्जा तथा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पहचान दिलायी।’ आज 82 साल की उम्र में भी वे अपने मिशन में पूरी ईमानदारी, निष्ठा और समर्पण के साथ लगे हुए हैं। साहित्य और समाज के लिए समर्पित हम सब के प्रिय सुमनाक्षर जी दीर्घायु हों। बहुरि नहिं आवना उनके स्वस्थ और सक्रिय जीवन की कामना करती है।

इधर हाल ही में दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं घटी हैं। एक, चन्द्रयान-3 का चन्द्रमा की सतह पर सफल लैंडिंग और दो, देश में जी-20 देशों के सम्मेलन का सफल आयोजन। चन्द्रया-2 का प्रक्षेपण डा. के. सिवन के नेतृत्व में किया गया और चन्द्रयान-3 का सफल प्रक्षेपण एस. सोमनाथ के नेतृत्व में। पहले के असफल प्रक्षेपण ने दूसरे के सफल प्रक्षेपण को सुनिश्चित किया। इसमें गौर करने वाली बात है कि दोनों वैज्ञानिकों की पृष्ठभूमि सामान्य है। दोनों की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा उनकी अपनी मातृ भाषाओं में हुई। उनकी ये उपलब्धियां सामान्य लोगों को प्रेरित करने वाली हैं। चन्द्रयान-3 के सफल प्रक्षेपण के लिए इसरो के वैज्ञानिकों को बधाई। देश ने जी-20 देशों के सम्मेलन का सफल आयोजन कर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी क्षमता और ताकत का परिचय दिया है। इसके लिए भारत सरकार को बधाई।

—दिनेश राम

आर्य आक्रमण सिद्धान्त और डॉक्टर भीमराव अंबेडकर

—डॉ. पिन्टू कुमार
—डॉ. प्रेम कुमार

ब्रितानी राज से ही भारतीय उपमहाद्वीप के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में आर्यों का आक्रमण सिद्धान्त गंभीर विश्लेषण और आलोचनाओं का विषय रहा है। इसने न केवल देशी इतिहासकारों बल्कि विश्व बौद्धिक जगत के अनेक विद्वानों का ध्यानाकर्षण किया है। विभिन्न विचारकों, इतिहासकारों, राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों, भाषा शास्त्रियों, प्राच्यविदों और मानव शास्त्रियों ने आर्यों के आक्रमण या आर्यों के प्रवास की बात तो की है लेकिन इनके विश्लेषणों में निहित व्यक्तिगत स्वार्थ और राजनीतिक हित एक समान हैं। आर्यों का विदेश से आगमन या आर्यों का भारतीय मूल निवास दोनों बातें एक समान प्रतीत होती हैं क्योंकि दोनों ही आर्य आक्रमण सिद्धान्त के अन्य बातों से सहमति प्रदान करते हैं। समय के साथ आर्यों का आक्रमण सिद्धान्त इतिहास से निकलकर भारतीयों के आम जिंदगी का हिस्सा बन गया और अप्रतिम भारतीय सांस्कृतिक पहचान की मौलिकता को चुनौती देते हुए महत्वपूर्ण हो गया है। संभवतः यही कारण है कि आज भी देर-सवेर कोई न कोई प्रबुद्ध आर्य आक्रमण सिद्धान्त पर टीका-टिप्पणी करते नजर आते हैं और मीडिया में एक सनसनीखेज खबर बन जाती है।

सर्वप्रथम, प्राच्यविद् मैक्समुलर ने बताया कि भारत पर लगभग 1500 ईसवी पूर्व में आर्यों के सफल आक्रमण ने यहाँ के मूल निवासियों और उनकी संस्कृति का नाश करके अपनी अलग पहचान बनाए रखने के लिए वर्णव्यवस्था बनायी जो आगे चलकर जातिव्यवस्था के रूप में भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता बनी। मैक्समुलर ने आर्य सिद्धान्त के द्वारा अंग्रेजों की प्रजातीय सर्वोच्चता स्थापित किया लेकिन बाद में प्रजाति के रूप में आर्य का अस्तित्व वो नकारते रहे। आर्यों ने वर्णव्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर अपने आपको ब्राह्मण के रूप में अवस्थित किया और आगे चलकर भारतीय ब्राह्मण भी अपनी पहचान आर्यों या शासक वर्ग के साथ जोड़कर करने लगे। डॉक्टर अंबेडकर ने भी कहा है कि ब्राह्मण अपनी आर्य उत्पत्ति की गौरवमयी परंपरा का आनंद उठा रहे हैं।¹ अन्य वर्ण और जाति समाज के निचले पायदान पर आ गए और समाज में जातीय विभाजन को बढ़ावा मिला। मूल बात यह कि आर्य आक्रमण सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में सभी हिन्दू जो अपने आपको भारत के मूल निवासी समझ रहे थे उनका भ्रम तोड़ दिया।

संभवतः : यही बात है कि जब ये सच्चाई खुल गयी तो हिन्दू समाज में आर्य आक्रमण सिद्धान्त का राजनीतिक और वैचारिक विखंडन प्रारंभ हो गया है। राष्ट्रवादी इतिहासकारों, स्वतंत्रता सेनानियों, हिन्दुत्व के पुरोधाओं, समाज सुधारकों और प्रजातन्त्र के समर्थकों ने आर्यों के गैर भारतीय उत्पत्ति को चुनौती देते हुए स्वदेशी विचार देना प्रारंभ किया। इस श्रेणी में सर्वप्रथम बालगंगाधर तिलक ने आर्यों का मूलनिवास स्थान आर्कटिक में बताया। तिलक के विचारों को आगे बढ़ाते हुए हिन्दुत्व के निष्ठावान समर्थक एम. एस. गोलवलकर ने आर्कटिक क्षेत्र को भारत में ही विहार और बंगाल के नजदीक बताया।^१ तत्पश्चात् 1946 ईस्टी में डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ने सर्वप्रथम आर्य आक्रमण सिद्धान्त को सर्वाधिक व्यवस्थित और व्यापक चुनौती दी।^२ आश्चर्य की बात है कि संविधान निर्माता अंबेडकर की इस वैज्ञानिक आलोचना की उपेक्षा उनके समर्थकों के साथ-साथ राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों, समाज सुधारकों और दलित बौद्धिक जगत् द्वारा भी किया गया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवादी और हिन्दुवादी ताकतों के प्रोत्साहन और अंगीभूत करने से अंबेडकर और उनके विचारों की प्रासांगिकता फिर से बढ़ गयी है। उदाहरणस्वरूप, हाल ही में अयोध्या के राम मंदिर के शिलान्यास में अंबेडकर के घर की मिट्टी का प्रयोग करके इस अमर देशभक्त को पवित्र कर दिया गया और इसी के साथ देश में चली आ रही उनकी उपेक्षा का अंत हो गया।

महात्मा ज्योतिबा फूले ने दलितों को उच्च जातियों के शोषण और अधीनता के विरुद्ध न केवल जागृत किया बल्कि इसमें प्रयोग किए जा रहे सबसे बड़े हथियार आर्य आक्रमण की महत्ता भी सिद्ध किया। डॉ. अंबेडकर ने इसको आगे बढ़ाते हुए ब्राह्मणों की मिसाइल ‘आर्य आक्रमण’ को विखंडित करने का प्रयास किया जिससे वे गैर ब्राह्मणों पर प्रभुत्व स्थापित करते थे। संभवतः महात्मा फूले पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आर्य आक्रमण के महत्त्व को जानने-समझने के साथ-साथ आम लोगों के बीच इसको प्रसारित किया और इसी कारण से अंबेडकर ने अपनी पुस्तक “शूद्र कौन थे?” महात्मा फूले को समर्पित किया जिसमें उन्होंने इस सिद्धान्त का व्यापक खंडन किया है। महात्मा फूले और बाबासाहेब दोनों ने ही आर्य सिद्धान्त से जुड़ी उच्च जातियों के शोषण से मुक्ति को अंग्रेजों से भारत की आजादी से अधिक महत्त्व दिया जिससे ही वास्तविक भारतीय सामाजिक प्रजातन्त्र की स्थापना संभव है।^३ बहुआयामी प्रतिभा वाले राष्ट्रीय नेता अंबेडकर बचपन से सामाजिक न्याय और सौहार्द के

चैम्पियन थे और उन्होंने देश, समाज और दलितों के कल्याण के लिए तत्कालीन सामाजिक समस्याओं और राष्ट्रीय विषयों पर लोगों को जागृत करने के लिए एक कुशल पत्रकार के रूप में अपनी लेखनी चलायी।^४ संभवतः अंबेडकर ने आर्य आक्रमण सिद्धान्त की विवेचना के पीछे उनकी अदम्य पत्रकारिता रही होगी।

दलितोबृद्धारक बाबासाहेब द्वारा आर्य आक्रमण सिद्धान्त के खंडन को जानने से पहले उनके ही शब्दों में इसकी व्याख्या करना उत्तम होगा। अंबेडकर ने अपनी पुस्तक “शूद्र कौन थे?” में शूद्रों की उत्पत्ति और उनकी चौथे वर्ण बनने की चर्चा करते हुए आर्य आक्रमण सिद्धान्त की व्याख्या एवं खंडन किया है। शूद्रों की उत्पत्ति से जोड़ते हुए अंबेडकर ने आर्य सिद्धान्त के सात सर्वमान्य बातों की चर्चा और खंडन किया है—वैदिक साहित्य की रचना आर्यों द्वारा की गई, आर्य भारतवर्ष में बाहर से आए और भारत पर आक्रमण किया, भारत के मूल निवासी दास और दस्यु थे जो आर्य जाति से भिन्न जाति के थे, आर्य गौर वर्ण के थे और दास और दस्यु श्याम वर्ण के, आर्यों ने दास और दस्युओं पर विजय पाई, दास और दस्युओं के पराजित किए जाने और दास बना लिए जाने पर ही वे शूद्र कहलाए, शारीरिक रंग के पक्षपाती आर्यों ने चातुर्वर्ण व्यवस्था को जन्म देकर गोरे रंग और काले रंग वाली जतियों को सदा-सदा के लिए अलग कर दिया।

बाबा साहेब ने आर्य आक्रमण सिद्धान्त के आधार पर आर्य शब्द और आर्य प्रजाति को बड़ी विद्वापूर्वक चुनौती दी जिसने वैदिक साहित्य की रचना की। आर्य प्रजाति और शब्द आर्य की गहराई से वैज्ञानिक जाँच करते हुए अंबेडकर ने बताया कि किसी भी समूह जैसे यहूदी की प्रजाति बताना गलत हो सकता है क्योंकि मानवीय संरचना के आधार पर उपलब्ध प्रजातियों में कुछ न कुछ समानता पायी जाती है।^५ आगे अंबेडकर प्रश्न उठाते हैं कि क्या आर्य अपने आपको प्रजाति मानते थे? आर्यों के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद को संदर्भ में लेते हुए अंबेडकर बताते हैं कि ऋग्वेद में 31 बार आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है लेकिन कभी भी प्रजाति के रूप में नहीं है अर्थात् आर्य शब्द का संबंध न रक्त से है न शारीरिक ढांचे से, न बालों से और न कपाल से।^६

अंबेडकर आर्य आक्रमण सिद्धान्त के द्वितीय तथ्य, आर्य बाहर से आए थे और भारत पर आक्रमण किया था, दोनों बातों से असहमति प्रकट करते हैं। वे सवाल उठाते हैं कि आर्यों का मूल निवास स्थान फिर कहाँ है जहाँ से वे भारत आए। आगे वे विद्वानों बेनफ़ेय, बोप्प, गैगर और

तिलक द्वारा प्रदत्त आधारों को प्रश्नों के धेरे में लेते हैं जिससे वे आर्यों के घर की पहचान करते हैं।⁹ ऋग्वेद के साक्ष्यों और इतिहासकर पी. टी. श्रीनिवास अव्यंगर और डी. एस. त्रिवेदी के विश्लेषणों के आधार पर अंबेडकर का कहना है कि आर्यों के मूल निवासस्थान भारत से बाहर होने और आर्यों के भारत आक्रमण के कोई भी साक्ष्य नहीं हैं और ऋग्वेद में वर्णित नदी स्तुति से उनको भारतीय कहा जा सकता है।¹⁰ आर्यों के आक्रमण से जुड़ा दूसरा तथ्य दास और दस्यु पर विजय प्राप्त करने का है। इस बात को अस्वीकृत करते हुए डॉ. बी.आर. अंबेडकर दो साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं : (1) ऋग्वेद में वर्णित आर्यों और दास एवं दस्युओं के बीच लड़ाई इतनी गंभीर नहीं है कि उसको आक्रमण और विजय कहा जाय। ऋग्वेद में आर्य शब्द केवल आठ बार दस्युओं के और सात बार दासों के खिलाफ प्रयोग किया गया है। यह आर्यों और दास एवं दस्युओं के बीच कभी-कभी होने वाले झगड़ों या दंगों को दर्शाता है और आगे चलकर ये लोग अपने एक दुश्मन के विरोध में एकजुट हो जाते हैं और शांतिपूर्वक रहने लगते हैं।¹¹ (2) दास और दस्यु जन वैदिक समाज के आंतरिक विभाजन को दर्शाता है न कि वैदिक और अवैदिक समाज के बीच के अंतर को। ऋग्वेद में वर्णित है कि आर्य दस्यु जनजातियों के बीच ही रह रहे थे जिनको उन्होंने जगली कहा है क्योंकि उनकी अपनी संस्कृति और कर्मकांड थे और वे आर्यों के कर्मकांडों और ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। आर्यों और दस्युओं के बीच अंतर को हम धार्मिक कह सकते हैं न कि प्रजातीय, जो उनके लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्दों से भी स्पष्ट होता है जैसे अब्रत, अन्यब्रत, अपब्रत, अग्नित्र, अब्रह्म, अइन्द्र, अयजु आदि।¹²

इसी से जुड़ा आर्य आक्रमण सिद्धान्त का अगला बिन्दु है कि दास और दस्यु अनार्य नहीं थे। ऊपर हम लोगों ने जाना कि दास और दस्यु को अलग प्रजाति नहीं कहा जा सकता जो अंबेडकर की मूल अवधारणा आर्य प्रजाति नहीं है का समानुपाती है। जब आर्य स्वयं अलग प्रजाति नहीं थे तो दास और दस्यु आर्य समाज के अभिन्न अंग होने के कारण कैसे अनार्य हो सकते हैं? ऋग्वेद में वर्णित दासों के लिए शब्द कृष्णयोनि और दस्युओं के लिए अनास और मृद्घाक शब्दों के कारण इनको अनार्य कहा गया है जो ठीक नहीं प्रतीत होता। अंबेडकर ऋग्वेद के श्लोक 6.22.10, 1.151.8 और 10.49.3 को संदर्भ में लेते हैं जिसमें भगवान इन्द्र आर्यों को दास और दस्यु में परिवर्तित कर रहे हैं और उनको अलग रखने के लिए

प्रार्थना की गयी है। इसके आधार पर अंबेडकर का कहना है कि आर्यों और दासों एवं दस्युओं के बीच विभेद प्रजातीय नहीं है क्योंकि दास और दस्यु आर्य बन सकते हैं जिस प्रकार आर्य दास और दस्यु में परिवर्तित हो रहे हैं।¹³

आगे आर्य आक्रमण सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा है कि आर्यों ने दास और दस्यु पर विजय प्राप्त करके उनको गुलाम बनाया जो शूद्र कहलाए। यह विचार आर्य आक्रमण सिद्धान्त का सार है जिसको अंबेडकर साहब ने बड़ी गंभीरता से विश्लेषित किया है। डॉक्टर भीमराव ने अपना पक्ष आठ प्रश्नों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।¹⁴ पहला प्रश्न उन्होंने उठाया कि क्या दास और दस्यु एक हैं? भीमराव उत्तर में कहते हैं कि ऋग्वेद में 54 जगहों पर दासों और 78 बार दस्युओं का अलग-अलग वर्णन है जिससे स्पष्ट होता है कि दास और दस्यु दो अलग-अलग समुदाय थे।¹⁵ अंबेडकर का दूसरा सवाल है कि क्या दास और दस्यु एवं शूद्र एक ही लोग थे? भारतीय पारंपरिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में डुबकी लगाते हुए अंबेडकर बताते हैं कि ये लोग अलग-अलग थे और शूद्रों को जनजातियों से जोड़कर देखा जा सकता है।¹⁶ अंबेडकर का तीसरा और चौथा प्रश्न है कि क्या दास और दस्यु शब्दों का प्रयोग प्रजाति के रूप में किया गया है और क्या ये लोग भारतीय जनजाति थे? हम लोग पिछले भाग में भी इन प्रश्नों का उत्तर देख चुके हैं। यहाँ पर भी अंबेडकर ऋग्वेद, महाभारत और जेंदाअवेस्ता से चर्चा करते हुए कहते हैं कि चारों वर्णों में दास और दस्यु पाये जाते थे जो आर्य धर्म में विश्वास नहीं करते थे।¹⁷ इससे भी स्पष्ट है कि दास और दस्यु भारतीय थे। अंबेडकर का पाँचवाँ प्रश्न है कि क्या ये स्थानीय समुदाय जंगली थे? ऋग्वेद में दास और दस्यु न केवल शहरों में रह रहे हैं बल्कि उनके अधिकार में धन, संपदा, जवाहरात, दुर्ग, हथियार, रथ और धोड़े भी हैं जिसके कारण उनको जंगली नहीं कहा जा सकता।¹⁸ छठा प्रश्न है कि क्या शूद्र अनार्य थे? हमने पहले भी चर्चा की है कि अंबेडकर आर्य-अनार्य प्रजातिय अवधारणा को चुनौती देते हुए दो प्रकार के वैदिक और अवैदिक आर्य की स्थापना करते हैं। इस संदर्भ में दास, दस्यु और शूद्र को अनार्य न कहकर इनको वैदिक समाज के सदस्यों के रूप में गिना जा सकता है। अंबेडकर अथर्ववेद, वाजसनेई संहिता, छांदोग्य उपनिषद्, भारद्वाज और कात्यायन श्रौतसूत्र, मीमांसासूत्र, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र के संदर्भ में बताते हैं कि शूद्र आर्य थे क्योंकि वे चार वर्णों में से

एक थे और उनको वैदिक अध्ययन और कर्मकांडों में भाग लेने का अधिकार था।¹⁹ अंबेडकर सातवाँ प्रश्न उठाते हैं कि क्या ऋग्वेद में दासों का वर्णन गुलाम के रूप है? वे कहते हैं कि ऋग्वेद में केवल पाँच बार दास शब्द का प्रयोग नौकर या गुलाम के अर्थ में आया है लेकिन महाभारत और मनुस्मृति में शूद्रों के मंत्री और राजा बनाने का उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट नहीं होता कि दास और गुलाम एक ही लोग थे।²⁰ अंतिम प्रश्न अंबेडकर करते हैं कि क्या दास और शूद्र एक थे? ऋग्वेद के श्लोक संख्या 7.86.7, 8.19.36 और 8.56.3 के संदर्भ में अंबेडकर बताते हैं कि दास और शूद्र एक नहीं थे क्योंकि दास प्रथा आर्यों में प्रचलित थी।

आर्य आक्रमण सिद्धान्त का सातवाँ और अंतिम अवधारणा है कि शारीरिक रंग के पक्षपाती आर्यों ने चातुर्वर्ण व्यवस्था को जन्म देकर गोरे रंग और काले रंग वाली जातियों को सदा-सदा के लिए अलग कर दिया। इसी अवधारणा के कारण आर्य सिद्धान्त अभी तक जीवित है क्योंकि प्राच्य विद्वानों ने वर्ण को रंग से हमेशा जोड़ा है और अधिकतर ब्राह्मणों ने इसको स्वीकार किया।²¹ बाबा साहेब ने ऋग्वेद और जेंदाऊवेस्ता के साक्ष्यों के संदर्भ में सिद्ध किया है कि मूलतः शब्द वर्ण एक वर्ग के लिए प्रयोग किया गया जो एक विशेष धर्म/मत/पंथ/मार्ग/विश्वास का पालन करते हैं और इसका रंग और रूप से कोई संबंध नहीं है।²² अंबेडकर बताते हैं कि ऋग्वेद में दो परिप्रेक्ष्यों में 22 बार वर्ण शब्द आया है जिसमें 17 बार देवताओं (उषा, अग्नि, सोम आदि) और पाँच बार मनुष्यों का संदर्भ है लेकिन कभी रंग और रूप के अर्थ में वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।²³

मानवीय संवेदनाओं के लगभग प्रत्येक पहलुओं को अपनी लेखनी से स्पर्श करने वाले बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने आर्य आक्रमण सिद्धान्त के विश्लेषण और विखंडन में अपनी भावनात्मकता और बौद्धिकता की चरमसीमा को स्पर्श किया क्योंकि महार नामक अछूत जाति से होने के कारण उन्होंने स्वयं उच्च जातियों के शोषण को महसूस किया था। साथ-साथ उनकी सात बिन्दुओं में सारगर्भित आर्य आक्रमण सिद्धान्त की अवधारणा तत्कालीन बौद्धिक जगत से काफी आगे थी। आर्यों, शूद्रों और अन्य ऐतिहासिक विषयों का प्रथम वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने के पश्चात् भी तत्कालीन भारतीय इतिहासकारों विशेषकर मार्कर्सवादियों ने अंबेडकर को इतिहास की मुख्यधारा से अलग कर दिया था। डॉ. आर. एस. शर्मा ने बाबा साहेब को एक गंभीर इतिहासकर

नहीं माना और उनके ऐतिहासिक विश्लेषणों को शूद्रों को उच्च उत्पत्ति सिद्ध करने वाले एक राजनीतिक नेता का विचार बताया।²⁴

संदर्भ सूची

- बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर सम्पूर्ण वाइमय, खंड 13, “शूद्र कौन थे?”, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २०१३, पृष्ठ ५६-५७
- M. S. Golwalkar, *We, Our Nationhood Defined*, Bharat Prakashan, Nagpur, 1939, pp. 272-73.
- Nicholas B. Dirks, *Caste of Mind: Colonialism and the Making of Modern India*, Princeton University Press, Princeton, 2001, p. 267.
- बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर सम्पूर्ण वाइमय, खंड 13, “शूद्र कौन थे?”, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2013, पृष्ठ 5
- J. Nandkumar, *Hindutva for the Changing Times*, Indus Scrolls Press, New Delhi, 2019, pp. 167-171.
- बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर सम्पूर्ण वाइमय, खंड 13, “शूद्र कौन थे?”, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2013, पृ. 43
- वही, पृष्ठ 44-5, 8. वही, पृ. 46-7, 9. वही, पृ. 48-51
- वही, पृ. 52-3, 11. वही, पृ. 52, 12. वही, पृ. 52-53
- वही, पृ. 53-54
- Arvind Sharma, “Dr. B.R. Ambedkar on the Aryan Invasion and the Emergence of the Caste System in India,” *Journal of the American Academy of Religion*, Vol. 73, No. 3 (Sep., 2003), pp. 856-862.
- बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर सम्पूर्ण वाइमय, खंड 13, “शूद्र कौन थे?”, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2013, पृ. 78
- वही, पृ. 78-79, 17. वही, पृ. 79-1, 18. वही, पृ. 81
- वही, पृ. 82-6, 20. वही, पृ. 86-7, 21. वही, पृ. 56-7
- वही, पृ. 59-61, 23. वही, पृ. 59
- R.S. Sharma, *Shudras in Ancient India*, Motilal Banarsi Dass, Delhi, reprint 1980, p. 05

-डॉ. पिन्टू कुमार

सहआचार्य, इतिहास विभाग
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021

-डॉ. प्रेम कुमार

सहआचार्य, इतिहास विभाग
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय ए, दिल्ली-110021

हिंदी भाषा और लिपि के संरक्षण-संवर्धन में बालमुकुंद गुप्त की भूमिका

—डॉ. चन्द्रकान्त सिंह

बालमुकुंद गुप्त भारतेंदु युग के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। बात यदि उनके भाषा संबंधी लेखों की करें तो उनमें हिंदी की जातीय भावना एवं गौरव की रक्षा का बोध अधिक है। अपने लेखों द्वारा हिंदी भाषा को समृद्ध करते हुए वे एक नया प्रतिमान रखते हैं। अंग्रेजों ने भारत के संदर्भ में विभाजक रेखा खींची और हिंदी और उर्दू को दो कौमों की भाषाएँ बताकर भारतीयों को लड़ाने का प्रयास किया। बालमुकुंद गुप्त जी इसके घोर विरोधी हैं। उन्होंने हिंदी और उर्दू को कभी भी दो विलग भाषाओं के रूप में स्वीकृति नहीं दी। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि हिंदी और उर्दू दो बोलियाँ हैं। भारत के पुनर्निर्माण और एकीकरण में दोनों की अनिवार्य सत्ता है। यही कारण है कि उन्होंने दोनों को ही भारत के विकास के लिए उपयोगी माना। वह हिंदी और उर्दू में लिपिगत अंतर ही स्वीकारते हैं। इस संदर्भ में उनका राष्ट्र भाषा और लिपि नामक निबंध अति महत्वपूर्ण हो जाता है जिसमें लेखक ने हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति और विकास के साथ उसके प्रसार में योगदान देने वाले साहित्यकारों को पूरी श्रद्धा से याद किया है। वे भली-भाँति जानते थे कि राजा शिव प्रसाद सिंहरे हिंद, राजा लक्ष्मण सिंह एवं भारतेंदु हरिश्चन्द्र के अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। हिंदी भाषा पर विचार करते हुए उनका मानना है कि हिंदी के प्रशंसकों को उर्दू एवं उर्दू के चिंतकों को हिंदी का ज्ञान आवश्यक है तभी दोनों ओर के साहित्यकारों में भारतीय-बोध का विकास होगा अन्यथा वे संकीर्ण मानसिकता लिए हुए एक-दूसरे के धुर विरोधी हो जाएँगे। इस पर विचार करते हुए वह लिखते हैं—‘जो लोग उर्दू के अच्छे कवि और ज्ञाता हैं, वे हिंदी की ओर ध्यान देना कुछ आवश्यक नहीं समझते। इसी से देवनागरी अक्षर भी नहीं सीखते और भारतवर्ष के साहित्य से निरे अनभिज्ञ हैं। अरब और फारस के साहित्य की ओर खिंचते हैं। साथ-साथ भारतवर्ष के साहित्य से घृणा करते और जी चुराते हैं। उधर हिंदी के प्रेमी भी उर्दू की ओर कम दृष्टि रखते हैं और उर्दू वालों को अपनी ओर की बातें ठीक ठीक समझाने की चेष्टा नहीं करते। यदि दोनों ओर से चेष्टा हो तो इस भाषा की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।’ बालमुकुंद जी के पास उनका स्पष्ट नैतिक विवेक था। वह अच्छी तरह जानते थे कि अंग्रेज भारतीयों को छोटे-छोटे दलों वर्गों में बाँटकर उन पर शासन करना चाहते

हैं यही कारण है कि उनके लेखन में अंग्रेजी दासता के प्रति प्रतिकार की भावना और अपनी भाषा की उन्नति की चिंता दिखाई पड़ती है। हिंदी भाषा उसकी लिपि एवं उसके प्रसार को वह ऐतिहासिक रूप से देखते हैं और कालक्रम के विकास के साथ उसके अपेक्षित विकास का भी ध्यान रखते हैं।

बालमुकुंद जी अपने ‘हिंदी भाषा’ नामक लेख में हिंदी की भाषिक अवस्थिति पर विचार करते हैं। हिंदी के साथ अरबी-फारसी का सम्मिश्रण कैसे हुआ। इस ओर वह विस्तार से लिखते हैं। उनकी विशिष्टता इस बात में है कि वह इस बात को लेकर चिंतित जान पड़ते हैं कि मुस्लिम आक्रमण के समय कोई बड़ा साहित्यकार क्यों दिखता जिसके लेखन में भारत की भाषिक एवं सांस्कृतिक विरासत संरक्षित रहती जिसकी कृतियों के द्वारा भारत के अतीत को सुरक्षित रखा जा सकता जिसके साहित्य को पढ़कर कहा जा सकता कि यह है भारत का गौरवशाली अतीत। इस संदर्भ में वह स्पष्ट कहते हैं—‘यदि हिन्दुओं में उस समय कोई भी लेखनी धारण करने वाला पुरुष होता तो अवश्य ही संस्कृत में अथवा प्रचलित देशभाषा में कुछ न कुछ लिखता और उससे उस समय की भाषा का कुछ नमूना मिलता। अनुमान से यही विदित होता है कि उस समय वह भाषा प्रचलित थी, जिसे हम इस समय ब्रजभाषा की जड़ कह सकते हैं अर्थात् जिसके आधार पर ब्रजभाषा बनी। उसकी नींव दसवीं ईसवीं शताब्दी में पड़ी होगी।’ यहाँ बालमुकुंद गुप्त ब्रजभाषा पर विचार करते हुए जनपदीय बोलियों की ओर संकेत करते हैं जिनके विकास के विषय में आज हमारे पास न तो संसाधन हैं और न ही जानकारी। भाषा के आदि पुरोधा के रूप में उन्हें चंद बरदाई दिखाई पड़ते हैं। हालांकि, चंदबरदाई की भाषा पर गुप्त जी ने दीवान, खलक, फरमान, हजरत, सलाम आदि अरबी शब्दों का बाहुल्य स्वीकारा है बावजूद, उसके वह चंद को हिंदी भाषा के आरंभिक युग पुरुष के रूप में देखते हैं। चंद की भाषा के उन्होंने तीन भेद किए हैं एक संस्कृत रूप जो कि अशुद्ध है, दूसरा प्राकृत रूप जहाँ चंद धम्म, कम्म, कवच्च, सुरत्तान आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं और तीसरा है ब्रजभाषा से प्रभावित सरल रूप। बालमुकुंद जी का मानना है कि इसी सरल रूप से ब्रजभाषा हिंदी का विकास हुआ होगा। इस तरह देखें तो ‘हिंदी भाषा’ शीर्षक से लिखा हुआ बालमुकुंद गुप्त जी का निबंध भाषा की ऐतिहासिक यात्रा के अवगाहन का सुंदर प्रयास है। इस इतिहास की क्रमिक रेखाएँ खींचते हुए वह अमीर खुसरो, कबीर दास, गुरु नानक देव एवं

मलिक मुहम्मद जायसी तक पहुँचते हैं। जहाँ भी उन्हें हिंदी भाषा के विकास की संभावना दिखती है, खुलकर वहाँ उसकी प्रशंसा करते हैं और जहाँ भी उन्हें कमी दिखती है उस ओर भी खुलकर बात करते हैं। भाषा को देखने-पढ़ने का यह उनका अपना दृष्टिकोण है। उन्होंने हिंदी भाषा और हिन्दू संस्कृति में आये परिवर्तनों की सुंदर व्याख्या की है इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता।

हिंदी और उर्दू विवाद पर उनका मानना है कि यदि मुसलमान अपनी हिंदी या उर्दू का प्रकटीकरण फारसी ढंग से न करते तो हिंदी-उर्दू का विवाद पैदा न होता। यहाँ एक बात देखने वाली है कि गुप्त जी ने भाषाई आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों को अलगाने वाली दृष्टि का पर्दाफाश किया है। उनका मानना है कि फारसी लिपि के अतिशय आग्रह ने एक अपेक्षित दूरी पैदा कर दी जिससे कि हिंदी और उर्दू को अलग-अलग ध्रुवों वाली भाषा के रूप में देखा जाने लागा। ‘ब्रजभाषा और उर्दू’ नामक निबंध में बालमुकुंद गुप्त जी लिखते हैं—‘यदि मुसलमान लोग अरबी फारसी को अपनी कविता में अधिक न घुसेड़ते और वह अपनी हिंदी या उर्दू को फारसी अक्षरों में न लिखते तो आज हिंदी-उर्दू में जो भेद है वह कुछ न रहता।’ हिंदी भाषा का जो सहज विकास राजनीतिक रूप से मुसलमानों द्वारा बाधित किया गया उसकी पूरी रपट बालमुकुंद गुप्त जी रखते हैं। उर्दू के महत्वपूर्ण कवि सौदा की दो काव्य शैलियों को बालमुकुंद गुप्त जी ने देखा है। उनकी मान्यता है कि जब वह उर्दू में लिखते हैं तब फारसी के शब्दों का अतिशय प्रयोग करते हैं किन्तु उनकी भाषा में हिंदी के चिह्न अधिक मिलते हैं और जब वह फारसी के शब्दों से बचते हैं तब उनकी भाषा पूरी तरह हिंदी के निकट खड़ी जान पड़ती है। शब्द विधान, अर्थ विधान से लेकर छंद विधान तक सौदा की भाषा में हिंदी के पुट अधिक हैं। बालमुकुंद गुप्त जी सौदा द्वारा प्रयुक्त लावनियों रोला दोहा आदि छंदों के द्वारा दिखाते हैं कि उनकी भाषा में हिंदी एवं ब्रज भाषा के प्रति कोमल आग्रह है। यहाँ यह बात देखने योग्य है कि भारत के विभाजन के पीछे केवल राजनीतिक-सामाजिक कारण ही उत्तरदायी न थे, बल्कि भाषायी कारण भी उत्तरे ही जिम्मेदार थे जिसके आधार पर भारत को दो वर्गों में बाँटकर देखा जाने लगा और दोनों के सुख-दुःख को अलग-अलग करके देखने की समझ का विकास हुआ। बालमुकुंद गुप्त जी का मानना है कि भारत की अखण्डता को उसकी भाषा ही संरक्षित

रख सकती थी, जिसे टुकड़ों में बाँटकर हिंदी बनाम उर्दू रूप में देखने का प्रयास ही अधिक हुआ है।

बालमुकुंद गुप्त जी जितनी अच्छी हिंदी जानते थे, उतनी ही अच्छी उन्हें उर्दू आती थी। किन्तु वह खिचड़ी भाषा का प्रसार नहीं चाहते थे और न ही उन्हें यह स्वीकार था कि एक भाषा की विशेषता को दूसरी भाषा पर आरोपित किया जाए। इस संदर्भ में उनका ‘हिन्दी में बिन्दी’ नामक आलेख देखा जा सकता है, इस आलेख में नागरी प्रचारणी पत्रिका द्वारा उर्दू शब्दों को नागरी में बिन्दी लगाकर लिखने का वह पुरजोर विरोध कर रहे थे। बालमुकुंद गुप्त जी नागरी को नागरी की तरह और उर्दू को उर्दू की तरह लिखने के हिमायती थे, क्योंकि दोनों की अलग-अलग लिपियाँ हैं। इस संदर्भ में उनका मानना था कि नागरी पूर्णतः वैज्ञानिक है जो विकृतियाँ फारसी में हैं उन्हें हिंदी में उल्लिखित करना उन्हें सम्भव नहीं जान पड़ता। वे ‘ज’ वर्ण को कई रूपों में लिखे जाने का विरोध करते हैं। एक ही अक्षर को कई नाम से पुकारे जाने को वह कंठ की खराबी मानते हैं। वह नहीं चाहते हैं कि भाषा में किसी भी प्रकार की अव्यवस्था का प्रसार हो। भाषिक नियम और व्यवस्था को विखण्डित करने वाले प्रयोग के तौर पर वे बिन्दी लगाने की प्रक्रिया को देखते हैं। इस संदर्भ में वे निर्भीक होकर कहते हैं—‘नागरी-प्रचारणी सभा वालों से हमारा यह प्रश्न है कि इस बिन्दी से उर्दू न जानने वालों का क्या उपकार होता है? वह कैसे जानेंगे कि किस शब्द के नीचे बिन्दी लगाना चाहिए, क्या आप लोग बिन्दी लगाकर उर्दू शब्दों का उनके लिए कोष तैयार कर देंगे? और हिंदी पढ़े हुए उसे मियाँ मिट्ठू की तरह दिन भर रटा करेंगे? यदि ऐसा होगा तब तो आप लोगों की हिन्दी खुदा के फजल से उर्दू से भी सरल हो जायेगी और तीन महीने की जगह तीन-तीये नौ वर्ष में सीखी जायेगी और यदि उर्दू न जानने वालों को बिन्दी न आयेगी तो आप लोगों की हिंदी में लबड़-धौं-धौं मच जायेगी। कोई बिन्दी न लगावेगा, कोई नहीं लगावेगा।’ बालमुकुंद गुप्त जी भाषा को लेकर अत्यंत सचेष्ट थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि भाषा के समुन्नयन से ही राष्ट्र का समुन्नयन हो सकता है। जो देश भाषिक रूप से पराधीन होंगे उनका सांस्कृतिक दाय भी क्रमिक रूप से पिछड़ता जाएगा।

‘हिंदी की उन्नति’ नामक निबंध में बालमुकुंद गुप्त जी उन साहित्य सेवियों पर कटाक्ष करते हैं जो हिंदी की उन्नति का नगाड़ा तो बजाते हैं किन्तु उसके लिए श्रम साध्य कार्य करने से बचते हैं। जो हिंदी की उन्नति की दिशा में किए जा रहे दृष्टान्तों का संदर्भोल्लेख तो करते

हैं किन्तु युवकों के हृदय में रूचि पैदा करने, हिंदी का प्रसार करने एवं हिंदी में सृजन-कर्म को बढ़ावा देने के लिए लेश मात्र भी कुछ नहीं करते। ऐसे लोगों पर चुटीला व्यंग्य करते हुए बालमुकुंद जी ‘भारत मित्र’ में लिखते हैं—‘केवल गाल बजाने से भाषा की उन्नति नहीं होती है। भाषा की उन्नति के लिये लेखक चाहिए। लेखक बनाने के लिए पाठक चाहिए और पाठक होने के लिए मातृ-भाषा पर अनन्त अनुराग, अनन्त प्रेम, अनन्त भक्ति चाहिए। जब तक इन वस्तुओं का अभाव रहेगा तब तक मातृ-भाषा की उन्नति-उन्नति चिल्लाना केवल गाल बजाकर भूख बढ़ाना है।’ बालमुकुंद गुप्त जी सच्चे राष्ट्रभक्त थे उन्होंने जीवन में जो कुछ किया, उसमें साहस, निर्भीकता और पारदर्शिता दिखती है। एक निर्भीक साहित्यकार और पत्रकार के रूप में उन्होंने देश-सेवा की है। अंग्रेजी दमन तंत्र पर लिखते हुए वह कभी शिथिल नहीं पड़ते और न ही पराभव का अनुभव करते हैं। अपने देश को पीछे लाने जाने वाली शक्तियों की टोह लेते हैं साथ ही भाषा, साहित्य और संस्कृति के विकास के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं। वह एक ऐसे साहित्यकार के रूप में उभरते हैं जिन्होंने हिंदी की सेवा को मातृभूमि की सेवा माना। यही कारण है कि उनके द्वारा लिखे गए निबंध एवं साहित्यिक पत्रकारिता में हमें भाव, अनुराग एवं प्रतिबद्धता की झलक मिलती है।

औपनिवेशिक काल में जब अंग्रेज अपनी शिक्षा-नीति और भाषा को जनमानस पर थोपने की योजना बना रहे थे तब भारतीय अपनी जनपदीय बोलियों और मातृभाषाओं में सिकुड़ते जा रहे थे। पूरे भारत को एक सूत्र में पिरोने वाली भाषा की आवश्यकता महसूस की जा रही थी जिससे कि भारत को अखण्ड रखा जा सके। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की धूल में मिला देने के लिए नागरी में अपार संभावना दिखाई दे रही थी। नागरी केवल अभियक्ति का माध्यम भर न थी बल्कि राजनीतिक जागरण आत्म-बोध और सामाजिक एक्य की संवाहक थी। क्षेत्रीय समाचार-पत्र भी अब नागरी के विकास एवं प्रसार में सन्नद्ध हो रहे थे। प्रवासी नामक बंग भाषा में निकलने वाले मासिक पत्र की बालमुकुंद जी इस दृष्टि से प्रशंसा करते हैं कि यह पत्र नागरी सीखने और हिंदी पढ़ने की बात करता है। ‘भारत की भाषा’ नामक निबंध में बालमुकुंद गुप्त जी ‘प्रवासी’ मासिक-पत्र की सराहना करते हैं और हिंदी को सर्वांग भारत की भाषा बनाए जाने की वकालत करते हैं। अपने आलेख में वह हिंदी में अपार संभावना देखते हुए कहते हैं—‘सचमुच भारतवर्ष के लिये एक देश-व्यापी भाषा की बहुत भारी

जरूरत है। भारतवासियों के पास इस समय ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें भारत के सब प्रान्तों के लोग बातें कर सकें। इसी से इन्डियन नेशनल कांग्रेस में अंग्रेजी से काम लिया जाता है। एक प्रवीण युरोपियन ने खूब कहा था कि यदि कांग्रेस वालों से अंग्रेजी भाषा छीन ली जाय तो कांग्रेस एक दिन में बंद हो जाय।’ एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में बालमुकुंद जी को यह भली-भौंति पता था कि अंग्रेजी से देश का विकास नहीं होने वाला है, यह परायी भाषा है। अपने देश का विकास तो अपनी भाषा में ही संभव है इसलिए वे हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में समादृत करते हैं।

बालमुकुंद गुप्त जी पूरे देश की एक भाषा की तरह पूरे देश भर में एक लिपि का प्रसार चाहते थे। ‘भारत मित्र’ में छपे जस्टिस सारदाचरण मित्र के अनूदित लेख के माध्यम से वह बताना चाहते हैं कि गुजराती, बांग्ला, मराठी सभी भाषाओं को एक लिपि के अंतर्गत लाया जा सकता है। जस्टिस सारदाचरण मित्र ने तर्कसंगत ढंग से देवनागरी की वैज्ञानिकता सिद्ध की थी। बालमुकुंद गुप्त जी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि पूरे भारत को एक लिपि के साथ एकता के सूत्र में पिरोया जा सकता है। जस्टिस सारदाचरण मित्र के संदर्भ में उनके विचार देखने योग्य हैं—‘लेखक महोदय ने बड़ी सुंदर युक्तियों और अपने दीर्घकाल के अनुभव से भली-भौंति स्पष्ट कर दिया है कि अब भारतवर्ष भर में एक लिपि के जारी होने का समय आ गया और वह लिपि देवनागरी ही है, जो सारे भारतवर्ष में जारी हो सकती है। केवल हिन्दुस्थान ही नहीं, लेखक महोदय नागरी लिपि का प्रचार वर्मा, चीन, जापान और लंका आदि में भी चाहते हैं।’

‘देवनागरी अक्षर’ शीर्षक से लिखा हुआ बालमुकुंद गुप्त जी का लेख इस मायने में विशेष है कि इस लेख में लेखक ने देवनागरी के एकत्व और संवाही रूप की खुलकर प्रशंसा की है। बालमुकुंद गुप्त जी इस लेख में जहाँ एक और नागरी की वैज्ञानिकता एवं व्यापकता की प्रशंसा करते हैं वहाँ अत्यंत विनोदी ढंग से अवध, विहार, पंजाब, गुजरात, बांग्ला एवं महाराष्ट्र के सज्जनों की विचित्रता को रेखांकित करते हैं कि समृद्ध भाषा को छोड़कर सब अपनी-अपनी जनपदीय भाषाओं की डफली बजाते हैं जबकि सचाई यह है कि सब भाषाओं का आधार हिंदी है। लेखक चुटीले लहजे में कहते हैं—‘देवनागरी अक्षर भारतवर्ष में सबसे उत्तम अक्षर है। भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत इन्हीं अक्षरों में लिखी जाती है। सीखने में भी

यही सबसे जल्द आते हैं। तिस पर भी लोगों का इन पर वैसा प्रेम नहीं जैसा होना चाहिए। पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध खास हिन्दुस्तान है। हिंदी वहाँ की भाषा है। पर देवनागरी अक्षरों का जो खास हिंदी अक्षर है, वहाँ बहुत प्रचार नहीं। अपनी हिंदी को लोग नाहक फारसी अक्षरों में लिखते हैं। देवनागरी अक्षर एक महीने में आ जाते हैं, पर उन्हें नहीं सीखते। फारसी अक्षर तीन चार साल में भी शुद्ध लिखने नहीं आते, उन्हें सीखते हैं।’ देवनागरी की सर्वव्यापी पहुँच और अंतर्भाषायी विविधता को रेखांकित करते हुए उन्होंने विहार, पंजाब, बांग्ला, मारवाड़ और उड़ीसा आदि के लोगों की अपनी-अपनी लिपि यथा—कैरी, गुरुमुखी, बंगाक्षर, मुङ्गिया, उड़िया आदि के प्रति अतिशय आग्रह की आलोचना की है और यह बताना चाहा है कि उनकी सभी लोक-भाषाएँ हिंदी नामक समुन्नत नद में सुरक्षित रह सकती हैं।

इस तरह हम कह सकते हैं कि बालमुकुंद गुप्त एक जागरूक साहित्यकार थे जिन्होंने देश की अखण्डता, संप्रभुता एवं विकास के लिए हिंदी और नागरी को अत्यंत महत्वपूर्ण माना। उनका पूरा जीवन साहित्य को समर्पित गहन अद्येता का जीवन है। उन्होंने अपनी पत्रकारिता एवं साहित्यिक लेखों के द्वारा हिंदी की अभूतपूर्व सेवा की है। उनके अतुल्य योगदान को कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। जब भी हिंदी भाषा एवं साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले रचनाकारों को याद किया जायेगा निश्चय ही वह अग्रणी पंक्ति में दिखाई देंगे।

संदर्भ

1. सत्यप्रकाश मिश्र, संपादक, बालमुकुंद गुप्त के थ्रेष निबंध, पृ. 4
2. वही, पृ. 05
3. वही, पृ. 23
4. वही, पृ. 28
5. वही, पृ. 31
6. वही, पृ. 33-4
7. वही, पृ. 34-35
8. वही, पृ. 37

—डॉ. चन्द्रकान्त सिंह
सहायक प्रवक्ता, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धौलाधार परिसर-1, धर्मशाला
जिला—कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश—176215

डॉ. शंकर शेष के नाटक 'रत्नगर्भा' में चित्रित नारी जीवन में प्रेम का आत्मसंघर्ष

—बृजेश यादव

डॉ. शंकर शेष आधुनिक हिंदी नाट्य सृष्टि के सशक्त हस्ताक्षर के रूप में आते हैं जिन्होंने नाटकों का सृजन ही नहीं किया बल्कि नाटकों को हर क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में भी योगदान दिया है। इनका उदय समकालीन रंगोत्सव के प्रारंभिक परिदृश्य में हुआ। उस समय डॉ. शंकर शेष ने स्त्री-पुरुष संबंधों पर अधिक जोर दिया और अपने नाटक रत्नगर्भा में स्त्री-पुरुष के मध्य संघर्ष को सामाजिक धरातल पर प्रस्तुत किया। स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं इनका अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है। शारीरिक एवं पारिवारिक आवश्यकताओं के अलावा विशेषकर भारतीय परिवेश में स्त्री-पुरुष का सांस्कृतिक आधार भी है, यही विशेषता इस संबंध को यौन संतुष्टि से अधिक महत्वपूर्ण श्रेणी प्रदान करती है। स्त्री-पुरुष का परस्पर चुंबकीय आकर्षण मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। इसलिए प्रेम सफल और सार्थक वैवाहिक संबंधों की धुरी है। समाज तथा कानून द्वारा मान्य विवाह सामाजिक और सांस्कृतिक संस्था है जो स्त्री और पुरुष के संबंधों को जोड़े रखती है। उसे सामाजिक तौर पर मान्यता भी दिलाती है। यह सामाजिक मान्यता ही स्त्री और पुरुष की मर्यादा में अनेक कीर्तिमान स्थापित करने की प्रेरणा देती है।

डॉ. शंकर शेष के नाटक 'रत्नगर्भा' में स्त्री की भूमिका समय अनुकूल परिवर्तित होती जाती है। इला बहुत ही सुंदर और सुशील महिला हैं। कहा जाए तो एक सुंदरी की प्रतिमूर्ति हैं। इला अपनी छोटी बहन माया के साथ रहती हैं। 'रत्नगर्भा' में इला और सुनील के प्रेम संबंधों की मिसाल एक दूसरे के विश्वास पर टिकी है। इला अपनी वास्तविक भूमिका के लिए अपने पति से सीधे संवाद नहीं करती, हमेशा अपने को पतिग्रता मानती हैं। विवाह के उपरांत सुनील अपनी पत्नी से दूर विलायत में शल्यक्रिया की पढ़ाई करता है। जब भी उसे धन की आवश्यकता होती है तब इला अपने आभूषण बेचकर पैसा भेजती हैं। वे पति को ही अपना देवता स्वीकार करती हैं। एक दिन खाना बनाते समय अचानक से ही स्टोव फटने से वह बुरी तरह झुलस जाती हैं। वह अपने मामा एवं बहन के द्वारा करवाए गए इलाज से ठीक हो जाती हैं किंतु उसकी सुंदरता नष्ट हो जाती है। अब इला एक कुरुप स्त्री के रूप में दिखाई देने लगती हैं। इला की यही कुरुपता

समाज में संघर्ष के नए आयाम पैदा करती है जो उसे हमेशा से बेचैन किए रहती है। सुनील का तार आता है, सुनील का विलायत से पढ़ाई पूर्ण कर वापस आगमन की घड़ी है। इला बहुत ही बेचैन है कि वह अपने पति से कैसे आंख मिला पायेगी। “माया—अजीब सी बात है जब बहुत दुःख होता है तब भी आंसू आते हैं और जब मन में खुशी का उत्सव होता है तो भी आंसू आते हैं। यह आंसू भी अजीब मेहमान है यह खुशी के द्वार पर भी मौजूद हैं और प्रसन्नता के द्वार पर भी। इला—(उदास स्वर में) पर माया मेरे लिए खुशी के सभी द्वार बंद हैं, आज मेरे पास रह ही क्या गया है जिस पर मैं प्रसन्न हो सकूँ। मेरा चेहरा इतना भयानक और धृष्टित हो गया है। माया अब मैं अपने आप से ही डरने लगी हूँ। तुम्हारे जीजा जी सुंदरता के उपासक हैं वह जीवन की हर डगर को सुंदर फूलों से सजा देखना चाहते हैं उनकी आंखों में सदैव सौंदर्य के स्वप्न तैरते रहते हैं। माया! पर माया आज तो मैं सौंदर्य का प्रेत बन गई हूँ।”¹

पति-पत्नी के संबंध इतने नाजुक एवं सुदृढ़ होते हैं, कि इला अपनी शारीरिक विवशता पर दुःखी होती है। इला की छोटी बहन माया इला को बार-बार समझाती है और यह कहती है कि प्रेम सिर्फ त्वचा का ग्राहक नहीं होता, प्रेम तो हृदय से किया जाता है। हृदय आज भी इतना सुंदर हैं, उसमें उतना ही लबालब प्यार आज भी भरा हुआ है। दीदी तुम्हारा आकार बदला है, तुम्हारा प्रकार नहीं बदला है जीजा जी कोई साधारण आदमी नहीं हैं वह आदमी विद्वान हैं इतनी हल्की मनोवृत्ति के नहीं हैं जो आप की मूर्त स्मृति को लेकर गये थे तुम्हारा मूर्त शरीर नहीं। दीदी तुमने बड़ी गलती तो किया ही है कि जब स्टोव से मुंह झुलस गया था तब जीजा जी को खबर क्यों नहीं की? अगर उन्हें तकाल खबर की होती तो आज तुम्हारी दुविधा खत्म हो जाती उनसे मानसिक रूप से सामना करने के लिए तैयार हो जाती। इला माया से कहती है कि मैं स्त्री होने के साथ ही साथ पत्नी भी हूँ। पति परदेश में पढ़ने गया है तो हम उसे अशुभ समाचार कैसे सुना सकते हैं। मैं चाहती हूँ कि उनकी खूब कीर्ति हो, उनकी कीर्ति पूरे विश्व में फैले। मैं इसकी जानकारी देती तो उनकी पढ़ाई डिस्टर्ब होती अध्ययन में मन नहीं लगता। शायद वह अपने काम में सफल ना होते। दीदी मैं पुनः कहती हूँ कि यह बात छुपा कर अच्छा नहीं किया। प्रेम सिर्फ विश्वास का सहारा लेकर ही चलता है। यह विश्वास तुमने तोड़ दिया है। प्रेम विश्वास का वह जल है जो सदैव गहरी जड़ों को सींचता चला आया है। दीदी तुम्हारा मौन ही सबसे बड़ा झूठ है। अब चलो स्टेशन

जीजा जी आ गए होंगे उनको लाने। इला मना कर देती है कि माया तुम ही जाकर अपने जीजा जी को ले आओ। मुझे प्रकाश से डर लगता है। काली हांडी सा चेहरा लेकर स्टेशन क्या जाऊँ। दीदी आपका व्यक्तित्व दोहरा है। आप औरत होने के साथ-साथ पत्नी भी हो। आपको चलने का पूरा अधिकार है। गंगाराम भी समझाते हैं कि मालकिन मत रोइए मालिक को मैं बचपन से जानता हूँ। सुनील बाबू देवता हैं! हिम्मत से काम लीजिए, जाइए आरती की थाली लेकर तैयार रहिए।

उसी क्षण इला अपना चेहरा शीशे में देखती है। इला सिसकते हुए आरती की थाली लाती है जो उसके हाथों गिर जाती है। सुनील और माया का घर में हंसते हुए प्रवेश होता है। किंतु इला अपना चेहरा ढककर आत्मगत्तानि से भरकर कमरे के अंदर चली जाती है। वह बाहर नहीं आना चाहती। सुनील माया से बार-बार पूछता है इला बाहर क्यों नहीं आ रही है तो सुनील स्वयं ही इला के कमरे में प्रवेश करता है और वह इला को देखकर चौंकता है कि इला ये तुम्हारे चेहरे पर क्या हो गया। उसकी आंख फटी की फटी रह जाती है।

सुनील : (इला की ओर से मुंह फेर लेता है कातर स्वर में कहता है) माया क्या यही मेरी इला है? नहीं नहीं..... माया, यह मेरी इला नहीं है यह सब क्या हो गया माया.... . इला को क्या हो गया.... वह इतना बदल कैसे गई?

इला : (दृढ़ स्वर में) इला बदली नहीं है सुनील। उसका आकार बदल गया है। नियति के क्रूर हाथों ने उसका सौंदर्य छीन लिया है। तुम मुझसे मिलने के लिए अधीर थे न। अब मैं सामने हूँ सुनील, क्या मैं तुमसे मिलने के लिए उतावली नहीं हूँ? पर यह मेरा अमंगल चेहरा.... मुझे क्षमा करो सुनील... मुझे क्षमा करो।

सुनील : तुम्हें क्या हो गया इला.... तुम्हारा फूल सा चेहरा.... तुम्हारी ये बड़ी पानीदार आंखें, तुम्हारे चेहरे की वह सोने सी कांति.... सब कहां गया? कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ? एक क्रूर भयावह स्वप्न?

माया : जीजा जी आप स्वप्न नहीं देख रहे हैं। जब सत्य अपने वीभत्स रूप में होता है तो अनायास ही अविश्वसनीय हो जाता है जीजा जी। सौंदर्य सत्य है तो कुरुपता भी इतना बड़ा सत्य है।”²

सुनील इला से कहता है कि इतनी बड़ी घटना हो गई तुमने मुझे बताया नहीं। इतने मैं ही सुनील के बचपन का दोस्त जगदीश मिलने आता है। जगदीश पेशे से वकील है किंतु उसकी वकालत चलती नहीं हैं। जगदीश स्वयं कहता है कि मैं रोज अनेक मुकदमे हारता हूँ फिर भी हार नहीं

मानता पुनः लड़ने की कोशिश करता रहता हूं। सुनील और जगदीश काफी देर तक आपस में बातें करते हैं। सुनील का चेहरा उदास देख जगदीश पूछता है कि क्या हुआ है सुनील! तब सुनील उदास मन से इला के चेहरे के कुरुप होने की बात बता देता है। जगदीश सुनील को इला के खिलाफ भड़काता है। उसके बाद सुनील का प्यार धीरे-धीरे इला के प्रति कम होने लगता है। सुनील इला के प्यार को छोड़ना नहीं चाहता किंतु जगदीश द्वारा दिखाई गई नई दुनिया (पराई स्त्री से संबंध) के कारण सुनील का इला के प्रति प्रेम अब धीरे-धीरे नफरत में तब्दील होने लगता है। “सुनील—मैं तुम्हारी बातें समझ नहीं पा रहा हूं! जगदीश—और तुम समझ भी नहीं सकते हो तुम इंगरैंड जाकर भी आदर्शवादी बने रहे। असलियत को नंगी आंखों से देखना सीखो! असलियत तो यह है कि अब तुम्हारे वैवाहिक जीवन में कुछ नहीं रखा है पत्नी के नाम पर कुरुप चेहरा ही तुम्हारे सामने है मेरी बात का बुरा ना मानो सच चाहे जितना कटु हो मेरे मुँह से निकल ही जाता है।”³

इस नाटक में पति-पत्नी के संबंध सामाजिक संघर्ष करते हुए प्रतीत होते हैं। इन सब का विरोध सुनील करता तो है किंतु वह अंत में अपनी पत्नी इला का कुरुप चेहरा ही पाता है। इसी कारण से वह शराब, सिगरेट, अन्य स्त्रियों के साथ संबंध बनाने की बात को जगदीश के साथ स्वीकार करता है। ‘रत्नगर्भा’ में जगदीश के कुसंगत से सुनील का आचरण इला के प्रति बदलने लगता है जो समय के साथ-साथ बदलते संबंधों की गवाही देता है। “जगदीश—किसी का सुंदर मन लेकर क्या चाटोगे? प्रेम और मन अभी 19वीं शताब्दी की बातें हैं। सुनील! अब आदमी धीरे-धीरे मन से तन की ओर बढ़ रहा है। आज समाज में हर आदमी का मन रुग्ण है। आज समाज में उसकी प्रतिष्ठा है जिसके पास सुंदर तन है और उस तन की रक्षा के लिए काफी धन है।”⁴ हमारा समाज अपने नियमों और कानूनों के माध्यम से प्रेम को गलत सावित करने में तुला रहता है, प्रेम तो जिंदगी का चाहे कितना भी बड़ा हिस्सा क्यों न बन जाए किंतु वह कभी पर्याप्त नहीं होता है। स्त्री प्रेम के संदर्भ में ‘अन्या से अनन्या’ आत्मकथा में ‘प्रभा खेतान’ जी लिखती हैं—“औरत अभी मनुष्य श्रेणी में नहीं गिनी जाती और तुम अमीर-गरीब का सवाल उठा रही हो? तुम मुझे राष्ट्र का भेद समझा रही हो? हम सब औरतें अर्ध मानव हैं। पहले व्यक्ति तो बनें।”⁵

एक स्त्री को बहुत ही संघर्ष करना पड़ता था अपने आप को सावित करने के लिए कि वह भी इसी समाज का हिस्सा है। यह उस समाज में घटी बहुत बड़ी दुर्घटना थी

जिसमें स्त्री के कुरुप चेहरे के कारण सभी संबंध खराब किए जा रहे थे। मानवीय सद्भावना का मौका परस्त इस्तेमाल किया जाने लगा और धन के हिसाब से प्रेम और प्रेम के प्रति समीकरण बनते-बिगड़ते जा रहे थे। इस नाटक में सुनील की रोज की वृत्तियों से परेशान होकर इला ने माया को सुनील से शादी करने का प्रस्ताव रखा। किंतु माया ने स्पष्ट कहा कि अपनी बहन के साथ सौत बनकर वह नहीं रह सकती हैं। इला अपने पति को बिगड़ने नहीं देना चाहती थी। इतना होने पर भी इला अपने पति की बुराई नहीं सुनना चाहती थी। “इला : माया तू चुप भी रह। मैं अपने पति की बुराई नहीं सुन सकती! माया : दीदी यह कायरता की बातें हैं पानी अभी सर से नहीं गुजरा है। पतिव्रता बने रहने का मतलब यह तो नहीं की अत्याचार सहती रहो तुम्हारा अपना वैवाहिक जीवन नरक बनता जा रहा है। तुम अपने अधिकारों के लिए लड़ेगी नहीं तो यह कूर समाज तुम्हारा सर कुचल कर रख देगा।”⁶

इला और माया दोनों सुनील के बर्ताव से लड़ रही थी जबकि जगदीश हमेशा से ही सुनील को भड़काता रहता था और अनेक तरह से पैसा निकलवाना चाहता है। जगदीश सुनील को गर्भपात करने के लिए डॉक्टर बनने की सलाह देता है जिससे अधिक धन प्राप्त किया जा सके। सुनील मना कर देता है। सुनील इला से अस्पताल खोलने के लिए मामाजी के इंश्योरेंस में मिले पैसों को लेना चाहता है साथ ही पैसे मिल जाने पर इला को मार देने की योजना बनाता है। इला से इंश्योरेंस का पैसा प्राप्त करने के लिए सुनील अपने व्यवहार में परिवर्तन करता है जिससे कि इला आसानी से पैसे दे सके। जिसमें वह सफल नहीं हो पाता माया यह सब जान जाती है। फिर माया इला को एक खेल खेलने को कहती है माया सुनील से शादी करने का नाटक करती है और यह सुनील के सारे भेद जान लेती है फिर वह इला को सब कुछ बता देती हैं। अगर यह देखा जाए तो जीवन की तनावपूर्ण स्थितियों से बाहर आकर सम्मानजनक स्थिति का निर्वाह करती हुई स्त्री सामाजिक दबाव के बावजूद अपने हाथ से यह निर्णय लेती है और कहती है—“इला—क्या कहा मेरा विश्वास पाने के लिए....नहीं सुनील तुम मेरा रुपया पाने के लिए अपने आप को बदला है। सुनील रुपयों का मुझे मोह नहीं है यदि तुम्हारा प्रेम नहीं मिला तो धन व्यर्थ है सुनील तुम मेरी परिधि से बहुत दूर जा चुके हो अब लौटना कठिन है।” एक स्त्री का अपने पति पर विश्वास करना, उस पर अपने जीवन का सब कुछ लुटा देना ही एक पतिव्रता स्त्री का कर्तव्य था, जबकि पत्नी के खराब वक्त में पति यह कहे कि तुमसे

ज्यादा तुम्हारे पैसे से प्यार है तो एक स्त्री सदैव ही टूट जाती है। यही टूटन फिर किसी पर विश्वास करने के लायक उसे नहीं छोड़ती है। “इला—मेरा मन विश्वास करने के लिए उतावला हो उठता है सुनील, पर तुम उसे बार-बार तोड़ देते हो। सुनील मैं मरना चाहती हूं पर तुम्हारी धृणा में नहीं...तुम्हारी गोद में सिर रखकर तुम्हारे पवित्र प्रेम की छाया में हमेशा के लिए आंखें मूँद लेना चाहती हूं। सुनील मैं उसी क्षण की प्रतीक्षा में हूं। सुनील केवल एक बार मुझे विश्वास दिला दो कि तुम मेरे हो केवल मेरे हो। इस विश्वास में बँधी मृत्यु भी ग्राह्यहोगी, आकर्षक होगी।”⁸

सुनील और माया कमरे में बैठे हैं। एक दूसरे से बातें कर रहे होते हैं। अचानक से एक व्यक्ति आता है और कहता है कि मेरी पत्नी स्टोव से झुलस गई है। हर जगह इलाज करवा लिया कोई ठीक नहीं कर पा रहा है। आप चलकर हमारी पत्नी का इलाज कर दीजिए। सुनील ये कहता है कि उस जली स्त्री के साथ तुम कैसे रह सकते हो, ठीक होने पर उसका चेहरा कुरुप हो जायेगा। उस स्त्री के साथ रह पाना असंभव होगा, इसलिए मैं तुम्हारी पत्नी का इलाज नहीं करूँगा। वह व्यक्ति कहता है कि आप डॉक्टर के रूप में एक राक्षस हो क्योंकि डॉक्टर तो भगवान का रूप होते हैं। माया के बार-बार कहने पर भी सुनील इलाज करने नहीं जाता है। माया कमरे से निकलकर उस व्यक्ति के साथ जाती है और स्त्री से मिलती है, वह स्त्री मर जाती है। यह घटना माया को झकझोर कर रख देती है... इला का आंतरिक संघर्ष और माया के प्रत्येक संघर्ष ने परस्पर सुनील के बहकावे वाली दाल न गलने दी। माया ने सुनील के द्वारा इला को दवा में जहर दिए जाने के पूर्व ही पकड़ लिया। इला के बार-बार कहने पर की बोल दो सुनील यह जहर नहीं है। सुनील बोल नहीं पाता है। इला का सुनील से प्रेम का आत्मसंघर्ष यहीं समाप्त हो जाता है। इला हंसते हुए जहर रूपी दवा पीने को स्वीकार कर लेती है। “इला— तुम...तुमने मुझे विष पिलाना चाहा...मारना चाहा...आखिर क्यों...चंद चांदी के सिक्कों के लिए। डॉक्टर होकर दवा के बहाने विष...इतना सब झूठ...फरेब...क्या अब तक तुम्हारा प्रेम दिखावा था...आखिर यह सब किस लिए...तुम्हारी दृष्टि में शरीर का सौंदर्य इतना बड़ा हो गया...मन भावना और उसके सौंदर्य का कोई महत्व नहीं। वैसे तो मैं ही तुम्हारे जीवन से हटना चाहती थी...किंतु तुम्हारे प्रेम ने बांध लिया था...शायद वह मेरा भ्रम था।

लेकिन तुम तो मुझसे कह सकते थे...इतने छल प्रपंच की क्या आवश्यकता ? क्या पति-पत्नी के बीच इतनी सच्चाई जरूरी नहीं? (कुछ निश्चित से) लाओ तो मुझे जहर...यदि मेरी मौत से तुम्हें सुख मिलता है तो घोट दो मेरा गला...बढ़ाओ हाथ...”⁹

‘रत्नगर्भा’ में सामाजिक संघर्ष मुख्यतः पति-पत्नी के संबंधों के धरातल पर प्रस्तावित हुआ है। इस जड़ व्यवस्थाओं की रुद्धियों में स्त्री ने सदैव संघर्ष किया है। इन व्यवस्थाओं के द्वंद के मूल में स्त्री ही है जिसने सदा से चली आ रही मानव जीवन की सभ्यताओं को जन्म दिया है। किंतु मानवीय संबंधों ने स्त्री को सदैव सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं शारीरिक संबंधों के भ्रम जाल में फँसाए रखा है। इला भी इन्हीं संबंधों में फँसी रही। वह अपने लिए कुछ न कर सकी। अपना सर्वस्य जीवन नष्ट कर दिया, सुनील के प्रेम में। किंतु सुनील ने इला से प्रेम न करके व्यापार किया। इला ने गहने, जेवरों, रुपयों एवं शारीरिक सुंदरता से ऊपर सदैव प्रेम को रखा। किंतु समय की मार से वह कुरुपता की शिकार क्या हुई कि पूरा समाज एवं परिवार उससे मुंह मोड़ने लगा। इला के बुरे वक्त में क्या सुनील को इला का साथ देने की बजाय उससे दूरी साधना उचित था?

संदर्भ ग्रन्थ

1. रत्नगर्भा, डा. शंकर शेष, शंकर शेष : समग्र नाटक, भाग -1, संपादन, हेमंत कुकरेती, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2015, पृ. 50
2. वही, पृ. 54
3. वही, पृ. 56
4. वही, पृ. 57
5. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान, पृ. 15, राजकमल प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण, 2018
6. रत्नगर्भा, डा. शंकर शेष, शंकर शेष: समग्र नाटक, भाग -1, संपादन, हेमंत कुकरेती, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2015, पृ. 63,
7. वही, पृ. 87
8. वही, पृ. 87
9. वही, पृ. 90-1

—वृजेश यादव

शोध छात्र

आनन्द आर्ट्स कालेज, आणंद
सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर,
आणंद, गुजरात

सजातीय विवाह जाति प्रथा की जड़ है—डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

—डॉ. दीपा

डॉ. बी. आर अम्बेडकर का कथन है—“भारतीय समाज विजातीय है।”¹ अर्थात् भारतीय समाज कई जातियों में विभाजित है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रमुख हैं जहाँ एक जाति दूसरी जाति को स्वयं से अधीनस्थ मानती है। यह जातिगत विभाजन ही एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य से, एक समुदाय को दूसरे समुदाय से, एक समाज को दूसरे समुदाय से तथा एक जाति को दूसरी जाति से अलग करता है। यह जातिभेद समाज में जातिप्रथा को जन्म देता है। दरअसल, “जातिप्रथा-वर्ग व्यवस्था का नया संस्करण है जिसे वेदों से आधार मिलता है।”² इस जातिप्रथा के कारण ही इन जातियों में वैवाहिक संबंध कायम नहीं हो पाते। इसलिए डॉ. अम्बेडकर इसका प्रमुख कारण सजातीय विवाह को मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर सजातीय विवाह का प्रश्न इसलिए उठाते हैं क्योंकि सजातीय विवाह में जाति की जड़ मौजूद है जिसे खत्म किए बिना जातिप्रथा का उन्मूलन संभव नहीं है। सजातीय विवाह यानी एक ही जाति में विवाह करना। “सजातीय विवाह के लिए वर और वधु का एक ही जाति उपजाति लेकिन एक ही छत में होना जरूरी है।”³ अभी तक यही माना जाता रहा है कि जातिप्रथा की जड़ हिंदू धर्मशास्त्रों में मौजूद हैं क्योंकि धर्मशास्त्रों ने जाति के आधार पर वर्णव्यवस्था का निर्माण किया है जो इसका लिखित प्रमाण है। किंतु यदि व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि जातिप्रथा का मूल कारण सजातीय विवाह है जिसके कारण सर्वर्ण समाज अवर्ण समाज से रोटी-बेटी का व्यवहार करने से कतराते रहे हैं।

भारतीय हिंदू धर्मग्रंथों में कई प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। जैसे ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, रमैनी विवाह, अर्श विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह आदि। प्राचीन कालीन समाज में अंतरजातीय विवाह प्रचलित थे। उसके दो रूपों का उल्लेख मिलता है—अनुलोम और प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह वह है जिसमें वर उच्च जाति का और कन्या निम्न जाति की हो। प्रतिलोम विवाह के अंतर्गत उच्च जाति की कन्या का विवाह निम्न जाति के पुरुष के साथ होता था। लेकिन जैसे-जैसे जातिप्रथा की जड़ मजबूत होती गई विजातीय विवाह कम होने लगे। इनका स्थान सजातीय विवाह ने ले लिया क्योंकि “जाति विवाह की निर्धारक इकाई है।”⁴

डॉ. अम्बेडकर सजातीय विवाह को एक प्रथा मानते हुए कहते हैं, “सजातीय प्रथा भारत के लिए विदेशी प्रथा है।

भारत में विभिन्न गोत्र हैं और ये बर्हिंगोत्र विवाह से संबंधित हैं। ऐसे ही अन्य वर्ग भी हैं, जो टोटम अर्थात् देवों को मानते हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत में बर्हिंगोत्र विवाह का एक विधान है और इसका उल्लंघन संभव नहीं, यहाँ तक कि जाति भीतर विवाह के बावजूद, गोत्र बाहर विवाह पञ्चति का कठोरता से पालन किया जाता है। गोत्र बाहर विवाह करने की प्रथा का उल्लंघन करने पर जाति बाहर विवाह करने वाले की तुलना में कठोर दंड का विधान है। बर्हिंगोत्र विवाह का नियम बना दिया जाए तो जातिप्रथा का आधार ही मिट जाए, क्योंकि बर्हिंगोत्र का अर्थ परस्पर विलय है। परन्तु हमारे यहाँ जातिप्रथा है। परिणाम यही निकलता है कि जहाँ तक भारत का संबंध है, यहाँ बर्हिंगोत्र विवाह विधान से अंततः जाति अर्थात् सजातीय विधान भी जुड़ा है। बहरहाल, मूल रूप से बर्हिंगोत्र समाज में सजातीय विवाह विधान का पालन सरलता से संभव है, जो जातिप्रथा का मूल है और एक गंभीर समस्या है।¹⁵ इसलिए डॉ. अम्बेडकर सजातीय विवाह की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करते हैं क्योंकि “सजातीय विवाह का निषेध या ऐसे विवाह का न पाया जाना ही जातिप्रथा का मूल है।”⁶ इसलिए डॉ. अंबेडकर नेसफाइल के जाति संबंधी विचार का उल्लेख करते हैं—“जाति वह है जिसमें समुदाय, एक वर्ग जो दूसरे वर्ग से संबंधों का बहिष्कार करता हो और अपने सम्प्रदाय को छोड़कर दूसरे के साथ शादी व्यवहार तथा खान-पान से परहेज करता हो।”⁷

डॉ. अम्बेडकर अंतर्जातीय विवाह के समर्थक और सजातीय विवाह के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में “सजातीय विवाह ही जात-पांत का एक मात्र कारण है।”⁸ क्योंकि सजातीय विवाह जाति प्रथा को मजबूत बनाए रखती है। जिस पर प्रहार होना चाहिए। इसलिए उन्हें भय था, “जब तक भारत में जातिप्रथा विद्यमान है, तब तक हिंदुओं में अंतर्जातीय विवाह और बाह्य लोगों से शायद ही समागम हो सके और यदि हिंदू पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों में भी जाते हैं तो भारतीय जातपांत की समस्या विश्व की समस्या हो जाएगी।”⁹ विजातीय विवाह में वे जाति विलीनता का सूत्र तलाश करते हैं क्योंकि “भारतीय समाज का ताना-बाना अभी जाति व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण अभी भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहाँ इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जाति में जन्म लेता है, उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और परिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति

माँ की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है।”¹⁰ यही कारण है कि मौलिक अधिकार मिलने के बावजूद समाज में विजातीय विवाह कम होते हैं।

इसका दूसरा कारण यदि देखा जाए तो यह है कि आज भी समाज में लड़कियों के विवाह के संबंध में उनकी राय नहीं ली जाती, जबकि विवाह उसके जीवन का महत्वपूर्ण निर्णय है। इसलिए वे अपने जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्यारी चीज से वंचित हो जाती हैं। इसलिए विवाह के समय उसकी इच्छा जानना बेहद जरूरी है। समाज और परिवार को यह समझना होगा। यहाँ से जाति विलीनता का बीज बोया जा सकता है।

लेकिन जिसने भी इस सामाजिक दायरे को लांघने का प्रयास किया है उसे सामाजिक बहिष्कार, निंदा, ऑनर किलिंग, दंड आदि का सामना करना पड़ा। डॉ. अम्बेडकर की पहली पत्नी रमाबाई का निधन 1935 में हो गया था। पहली पत्नी के देहांत के बाद उन्होंने 1948 में सविता अम्बेडकर (माई साहब) से दूसरा विवाह किया जो उनसे उपर में 18 साल छोटी थीं और पेशे से एक डॉक्टर थीं। उन्हें स्वयं विजातीय विवाह के कारण सामाजिक आलोचना का सामना करना पड़ा—“सविता अम्बेडकर के विवाह से कबीरपंथी और दलित दोनों समुदायों के अनेक लोग कुपित हुए। अनेक कबीरपंथियों ने डॉ. अम्बेडकर की राजनीति और विचारधारा पर सवाल खड़े किए। दलितों के एक वर्ग ने कहा कि इससे गलत तो कुछ हो ही नहीं सकता था। क्या बाबा साहब को शादी के लिए एक गैर-दलित स्त्री ही मिली थी। कईयों ने इसे गैर-बौद्धों की साजिश कहा। कुछ ने माना कि वह जो करते हैं, सोच समझकर करते हैं, ज्यादा विचारवान और समझदार हैं, इसलिए उन्होंने उचित ही किया होगा। इस शादी के पक्ष में यह तर्क भी दिया गया कि चूंकि गैर-बौद्धों के यहाँ महिलाओं की स्थिति दलित की तरह होती है, इसलिए उन्होंने एक महिला का उद्धार किया होगा।”¹¹

गैर दलित स्त्री जब दलित के साथ विवाह करती है तो उसके लिए ‘उद्धार’ जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो अनुचित है। प्रैम में उद्धार कैसा? यह समर्पण है। डॉ. अम्बेडकर ने सविता अम्बेडकर को एक पत्र लिखा था जिसका उल्लेख सविता अम्बेडकर अपने आत्मकथा अंश—‘डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर और मैं’ में करती हैं, “बाबा साहेब ने मुझे पत्र में लिखा था कि ‘एक जीवात्मा ने दूसरे जीवात्मा को देखा, समान शील को पहचाना’ इस तरह हमारा मनोमिलन हो गया।”¹² बाबा साहेब उस समय बीमार रहने लगे थे। जब उनका परिचय सविता जी से

हुआ था। किंतु दलित साहित्य के चिंतक डॉ. धर्मवीर सजातीय विवाह का पूर्णतः समर्थन करते हैं। उन्होंने गैर-दलित लेखक मस्तरामकपूर के उपन्यास ‘एक सदी बांझ’ हेतु एक आलोचनात्मक कृति का सृजन जो अंतर्जातीय प्रेम और विवाह की विषम परिणति का परिचय देता है। वे उपन्यास की नायिका ‘रूपा’ के माध्यम से समस्त दलित समाज की स्थियों को अंतर्जातीय विवाह एवं प्रेम से दूर रहने का संदेश देते हैं। “रूपा के बारे में यही कहना है कि चमार की किसी भी बेटी को दूसरी गैर दलित जातियों के घरों में जाकर दुःख उठाने से अच्छा है, वे अपनी कौम को मजबूती और गर्व दें।”¹³ यह कथन जाति प्रथा को तोड़ने के बजाय उसे और मजबूत करने वाला प्रतीत होता है।

डॉ. अम्बेडकर विजातीय विवाह का समर्थन करते हैं। इसके पीछे उनके तीन तर्क थे—1. जातिप्रथा को खत्म करना 2. समतामूलक समाज का निर्माण करना 3. सामाजिक सांस्कृतिक विविधता का समन्वय। डॉ. अम्बेडकर परिवर्तनवादी विचारधारा के व्यक्ति थे। सजातीय विवाह का विरोध और सजातीय विवाह का समर्थन उनके इसी वैचारिक चिंतन का प्रतिरूप था। विजातीय विवाह केवल सामाजिक क्रांति ही नहीं लाता अपितु यह सांस्कृतिक एकता का भी सूचक है। जहाँ दो भिन्न सांस्कृतिक परिवेश के व्यक्ति एक सूत्र में बंधते हैं जिससे उनकी संस्कृति विस्तार और समृद्धि प्राप्त करती है क्योंकि संस्कृति जीवन के विविध अंगों का अध्ययन है। जैसे खान-पान, वेशभूषा, भाषा, कला-संस्कृति, लोकनृत्य, शिल्प, उत्पादन, स्थापत्य साहित्य दर्शन आदि। जब दो जातियों के लोगों का मिलन होता है तो वे एक-दूसरे के समाज एवं संस्कृति का अध्ययन करते हैं। इसलिए डॉ. अम्बेडकर सामाजिक क्रांति के अग्रदूत के साथ-साथ सांस्कृतिक क्रांति के उन्नायक भी कहे जा सकते हैं।

आज के संदर्भ में देखें तो भारतीय समाज शिक्षित तो हुआ किंतु जब वैवाहिक संबंधों की बात आती है तो वे जाति के दायरे में ही रहना चाहते हैं। अंतर्जातीय विवाह के कारण पुरुषों से अधिक स्त्रियों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिसमें प्रमुख हैं—पितृसत्ता, ऑनर किलिंग, सामाजिक बहिष्कार आदि। इन चुनौतियों का सामना पुरुष से अधिक स्त्रियों को करना पड़ता है। “पितृसत्ता ने स्त्री को सदैव अधीनस्थ की श्रेणी में रखा है। पितृसत्तात्मक मूल्य स्त्री को समाज में दोयम दर्जे का मानते हुए उसके मानवीय मूल्यों एवं अधिकारों का हनन करते हैं।”¹⁴ जो लैंगिक विषमता एवं भेदभाव को बढ़ाते हैं। अंतर्जातीय विवाह के पश्चात् ऑनर किलिंग का सामना

लड़कों से अधिक लड़कियों को करना पड़ता है क्योंकि लड़के वंश को आगे बढ़ाते हैं। इसलिए पितृसत्ता का फायदा लड़कों को ही मिलता है, लड़कियों को नहीं। पितृसत्ता पुरुषों को अमानवीय बना रही है, उनकी मानवीयता छीन रही है। इसलिए यह पितृसत्तात्मक सोच बदलनी चाहिए। दोष पुरुषों का नहीं पितृसत्तात्मक सोच का है। वहीं अंतर्जातीय विवाह के बाद सामाजिक बहिष्कार का सामना स्त्री-पुरुष दोनों को करना पड़ता है। इसलिए गाँधी जी अस्पृश्यता निवारण के मुद्दे को अंतर्जातीय विवाह और अंतर्जातीय भोज जैसे मुद्दे के साथ जोड़ने के पक्षधर नहीं थे। वे अस्पृश्यता को तो खत्म करना चाहते थे किंतु वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं, जबकि इसकी जड़ जातिप्रथा है जिसका समूल उन्मूलन डॉ. अम्बेडकर चाहते थे। इसलिए उन्होंने विजातीय विवाह का समर्थन किया था।

समाजशास्त्री सुनीता जायसवाल और प्रो. श्योराज सिंह ‘बेचैन’ जी जातिप्रथा तोड़ने के सुझाव देते हैं। सुनीता जायसवाल कहती हैं, “जो निर्धन दलित हैं, यदि सरकार उन्हें सुविधा देती है, तो इससे इस समस्या का हल संभव नहीं है। उस समस्या का हल तभी होगा जब अंतर्जातीय विवाह में तेजी आएगी।”¹⁵ वहीं दूसरी ओर प्रो. बेचैन जी मानते हैं, “समानता तभी आएगी जब आर्थिक के साथ-साथ बौद्धिक स्तर भी समान हो। उदाहरण के तौर पर कोई दलित की बेटी और कोई ब्राह्मण का बेटा एक साथ डॉक्टर-इंजीनियर बन रहे हैं और उनमें मित्रता हो रही है तो ऐसे में स्वभावतः जाति टूटने के कारण पैदा होते हैं।”¹⁶ दोनों विचारक जाति तोड़ने हेतु आर्थिक, शैक्षिक और अंतर्जातीय विवाह की बात करते हैं।

यदि हम आँकड़ों के माध्यम से विश्लेषण करें तो वर्तमान में 5% विवाह जाति का बंधन तोड़ कर हो रहे हैं। जाति उन्मूलन के दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह संख्या समुद्र में बूंद के समान है। किंतु समाज का नजरिया बदलने के लिए बदलाव की बयार बहने लगी है। “यदि राज्यों की ओर नजर झुमाएँ तो अंतर्जातीय विवाह के मामले में टॉप 5 राज्यों में मिजोरम (87%), मेघालय (46%), सिक्किम (38%) जम्मू कश्मीर (35%), गुजरात (13%)। हमें हिंदुत्व को तोड़ने वाली कड़ी मिल गई है किंतु यहाँ गौरतलब है कि ये राज्य उत्तर और पश्चिम भारत के हैं। हिंदी भाषी क्षेत्रों में अंतर्जातीय विवाह करने वालों की संख्या कम है। इसलिए नैशनल काउंसिल ऑफ स्प्लायड इकॉनॉमिक रिपोर्ट और यूनिवर्सिटी ऑफ मेरीलैंड की एक हालिया स्टडी से पता चलता है कि भारत में आज भी 95% शादियाँ जाति के अंदर होती हैं।”¹⁷

अंत में यही कहा जा सकता है कि विजातीय विवाह (अंतर्जातीय विवाह प्रेम की परिणति है जबकि सजातीय विवाह जाति का विकास। जो जातिप्रथा को मजबूत करता है। इसलिए इसे तोड़ने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि जातिगत समन्वय तभी संभव है जब जाति के स्थान पर मानवीय संबंधों की गरिमा को महत्व दिया जाए। इसका एक उदाहरण भारत की जानी-मानी अभिनेत्री स्वरा भास्कर हैं जिन्होंने सपा. नेता फहाद अहमद के साथ 6 जनवरी, 2023 को विशेष विवाह अधिनियम-1954 के तहत विवाह किया जहाँ जाति तो क्या धर्म की सीमा भी समाप्त हो गई।

भारत विविधताओं का देश है। हम इसमें एकता के दर्शन करते रहे हैं। लेकिन जब बात जाति की एकता की आती है तो यह वर्णव्यवस्था दीवार बनकर क्यों खड़ी हो जाती है। हम अपने पसंद का धर्म चुन सकते हैं तो क्यों मनपसंद साथी चुनने के दौरान 'जाति की कैद' में रहना पड़ता है? आखिर समाज जाति का समन्वय क्यों नहीं चाहता? आज हम एक भारत श्रेष्ठ भारत की बात करते हैं तो एक जाति श्रेष्ठ जाति क्यों नहीं हो सकती। भारत G20 की अध्यक्षता कर रहा है। वैश्विक स्तर पर वसुधैव कुटुम्बकम् की बात हो रही है। जहाँ 'एक पृथ्वी, एक परिवार और एक भविष्य' संभव है तो 'एक भारत, एक समाज और एक जाति' क्यों संभव नहीं हो सकती? आखिर जाति के नाम पर वैवाहिक संबंधों में दूरी कब तक बनी रहेगी?

संदर्भ सूची

- बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर खंड-1, भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा उन्मूलन भाषायी प्रांतों पर विचार रनाडे, गांधी और जिन्ना, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली-01, पृ. 18
- बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, खंड-9, अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, डॉ.

- अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अभिकारिता मंत्रालय, भारत संस्करण, नौवां संस्करण, पृ. 16
- जाति समाज में पितृसत्ता (नारीवादी नजरिए से), उमा चक्रवर्ती, अनुवादक, विनय ज्ञा, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, संस्करण-2011, पृ. 21
 - वही, पृ. 37
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर- खंड-1, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 21
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर- खंड-1, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 20
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर- खंड-1, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, पृ. 19
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर-खंड-1, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 27
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर- खंड-1, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, पृ. 18
 - बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर- खंड-1, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, पृ. 22
 - गूगल-सविता अम्बेडकर, विकिपीडिया
 - प्रज्ञासूख डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर, सं. डॉ. शरणकुमार लिंबाले, अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, 4695, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण-2013, पृ. 19
 - चमार की बेटी रूपा, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21, दरियागंज, नयी दिल्ली-02, पृ. 78
 - अस्मिता मूलक विमर्श और हिंदी साहित्य, आलोचना एवं संपादन-डॉ. रजत रानी मीनू, वंदना, पृ. 20
 - हिस्सेदारी के प्रश्न प्रतिप्रश्न, संपादक, उमाशंकर चौधरी, अनामिका प्रकाशन, 4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, पृ. 430
 - वही, पृ. 431
 - जाति के बाहर शादी, नवभारत टाइम्स, 16 मई 2016

—डॉ. दीपा
पोस्ट डॉक्टोरल फैलो
भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद
जे. एन. यू. इंस्टिट्यूशनल एरिया,
अरुणा आसफ अली मार्ग,
नई दिल्ली-110067

दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ की कहानियों में मानवीय मूल्य

—मनीषा

कहानी में कहने की विशेषता बराबर महत्वपूर्ण रही है, लोक और शिष्ट दोनों रूपों में उसका संबंध वाचिक परंपरा से अधिक रहा है। कहानी का हिन्दी साहित्य में आविर्भाव बीसवीं सदी के आरम्भ में होता है। कहानी हर रूप में उपन्यास से पुरानी विधा है। कहा जाता है गीत और कहानी मानव सभ्यता से साक्षरता-काल के पहले से जुड़े हुए हैं, यद्यपि दोनों में लक्ष्य कुछ भिन्न रहे हैं। गीत में मनुष्य ने अपने को व्यक्त किया है। वहाँ कहानी अब मनोरंजन से हटकर एक अनुभूति का सीधा साक्षात्कार उसका विधागत लक्ष्य हो गया है। “जब ‘दलित’ शब्द साहित्य के साथ जुड़ता है, तो एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है।”¹ ऐसे ही दलित साहित्यकार हैं श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ जिनका लेखन मानवीय संवेदना और यथार्थ पर आधारित है। उनकी रचनाएँ भोगे हुए यथार्थ का प्रमाणिक दस्तावेज हैं। उनकी गहरी संवेदना और सूक्ष्म परीक्षण उनके लेखन को और भी प्रभावशाली बना देता है। वे पत्रकार भी रहे हैं इसलिए समसामयिक घटनाओं पर उनकी पैनी नज़र रहती है और महत्वपूर्ण मुद्राओं पर पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहे हैं। उनकी अब तक कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिसमें ‘मेरा बचपन मेरे कन्धों पर’ (आत्मकथा); चमार की चाय, क्रौंच हूँ मैं, नयी फसल, भूर के अंधेरे में (कविता संग्रह); भरोसे की बहन, मेरी प्रिय कहानियाँ, हाथ तो उग ही आते हैं (कहानी संग्रह) प्रमुख हैं। उनके अब तक प्रकाशित हुए तीन कहानी संग्रहों; भरोसे की बहन (2010), मेरी प्रिय कहानियाँ (2019) और हाथ तो उग ही आते हैं (2020) में दलित समाज के जीवन संघर्ष, जातिगत उत्पीड़न और शोषण का चित्रण मिलता है। जिस समाज के लोगों को सदियों तक मनुष्य ही नहीं माना गया हो, उस समाज के लोगों के मूलभूत अधिकारों और मानवीय मूल्यों की यह कहानियाँ पैरवी करती हुई नज़र आती हैं। दलितों के साथ होने वाले जातिगत भेदभाव और अमानवीय व्यवहार को बयान करती कहानी है ‘ओल्ड एज होम’। इस कहानी का मुख्य पात्र तेज गुलाम अनुसूचित जाति का शिक्षित युवक है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए वह अपनी जाति छुपाता है और अपने बूढ़े माता-पिता को वृद्धाश्रम भेज देता है। वहाँ रहने

वाले सभी वृद्धों का दुख लगभग एक जैसा था कि उन सभी के बच्चे उन्हें अपने पास नहीं रखना चाहते। इसके बावजूद, वे जातिगत भेदभाव से मुक्त नहीं हो पाए। जहाँ लोगों को एक-दूसरे का सहारा बनना चाहिए वहाँ तेज गुलाम के पिता मौजीराम को जाति के नाम पर अपमानित और प्रताड़ित किया जाता है। अनुसूचित जाति से होने के कारण सभी उनसे किनारा कर लेते हैं। इस भेदभाव से तंग आकर मौजीराम ज़हर खाकर आत्महत्या कर लेते हैं लेकिन अपनी डायरी में अपनी आपबीती लिख जाते हैं। वे लिखते हैं—‘मैंने जाति-व्यवस्था से लड़ाई में हार मान ली है। यहाँ कुछ भी और कभी भी नहीं सुधरेगा। बदलने का तो सवाल ही नहीं। यहाँ मानवता, सभ्यता, सहयोग-संवेदना किसी के लिए भी हो सकती है, पर चमार के लिए कुछ नहीं होगा। चमार किसी के लिए मनुष्य नहीं है। ऐसे में कहीं से ज़हर मँगा लिया जाए और खा लिया जाये, कह दिया जाये, जो दुनिया में रहेगा सो दुनिया की सोचेगा।’²

इस कहानी में लेखक ने बड़े ही मार्मिक तरीके से दलितों की स्थिति का वर्णन किया है कि कैसे सामाजिक भेदभाव के चलते दलित अपना जीवन समाप्त करने तक को मजबूर हो जाते हैं। भेदभाव के साथ ही राजनीतिक पश्यंत्र भी दलितों के खिलाफ रचे जाते रहे हैं जिससे सरकारी नौकरियों और प्रशासनिक सेवाओं में उनका प्रतिनिधित्व कम हो। ऐसे ही पश्यंत्रों को उजागर करती हैं लेखक श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ की दो कहानियाँ—होनहार बच्चे और क्रीमी लेयर। ‘होनहार बच्चे’ कहानी इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल के दौरान सरकारी विभागों में आरक्षण पूरा करने पर केंद्रित है। इस कहानी का पात्र सदानन्द तिवारी दलितों के लिए नौकरी का विज्ञापन देखता है और अपने बेटे गोविंद को सरकारी नौकरी दिलाने के लिए शातिर वकील सक्सेना के साथ मिलकर एक योजना बनाता है। सक्सेना के परामर्श के अनुसार सदानन्द तिवारी अपने बेटे को कागजी तौर पर धीरा चमार का दत्तक पुत्र बनवा देता है। इसके बाद गोविंद का अनुसूचित जाति का प्रमाण-पत्र बन जाता है और वह नौकरी के लिए आवेदन कर देता है। जब उसे नौकरी मिल जाती है तो वह धीरा चमार से अपना रिश्ता खत्म कर लेता है। इसी तरह सक्सेना वकील सदानन्द तिवारी की भतीजी पुनीता की नियुक्ति के लिए भी योजना बनाता है जिसके अनुसार यदि पुनीता किसी दलित से कोर्ट मैरिज करके सर्टिफिकेट बनवा ले तो उसे दलित कोटे में नौकरी मिल जाएगी। वह ऐसा ही करती है लेकिन एक दिन इस धांधली की खबर अखबार में पढ़कर वह घबरा जाती है तब उसके पिता उसे समझते हैं—‘पकड़े

भी जायें तो क्या 30-40 साल में एस.सी., एस.टी. के वंचित हकदारों के तो घर बर्बाद होते रहेंगे। उन्हें तो नौकरियाँ नहीं मिलेंगी। एक पढ़े-लिखे ब्राह्मण के लिए इससे बड़ा और क्या संतोष चाहिए?’³

दूसरी कहानी है, ‘क्रीमी लेयर’ जिसका मुख्य पात्र सुधांशु सर्वर्ण जाति का युवक है। एक रात वह सपने में देखता है कि संसद द्वारा एक कानून पास किया गया है कि अगले पाँच साल तक किसी भी क्रीमी लेयर को सरकारी-गैर सरकारी नौकरी नहीं मिलेगी, वह चाहे जिस भी धर्म और जाति का हो। इसका सकारात्मक पक्ष यह होगा कि सन् 1947 से आज तक जिन्हें किसी भी प्रकार की सेवा का अवसर नहीं मिला है, वे चाहे किसी भी जाति या धर्म से हो, उन्हें सेवाओं में प्राथमिकता दी जाएगी। सुधांशु को एस.सी./एस.टी. से जाती दुश्मनी थी। उसने कसम खा रखी थी कि एससी/एसटी को नौकरी में नहीं रहने दूँगा। इसके लिए उसने कानून पढ़ा और एससी/एसटी के खिलाफ लेखन किया। सुधांशु की पत्नी प्रणीता दलित विरोधी नहीं है। सर्वर्ण जाति से होते हुए भी वह दलितों का पक्ष लेती है इसलिए कहानी में इन दोनों पति-पत्नी के विचारों में विरोधाभास दिखाई देता है। इन दोनों कहानियों में लेखक ने जातिगत भेदभाव की मानसिकता को उजागर करते हुए उनके द्वारा दलितों के हक पर कब्जा करने और दलितों को बर्बाद होते देख सुख की अनुभूति करने का चित्रण किया है। इसी सर्वर्ण मानसिकता के कारण दलितों का उनका हक नहीं मिल पाता और वे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन भर खट्टे रहते हैं।

दलितों को बोट देने का हक तो मिल चुका है किंतु सरकार में उनका प्रतिनिधित्व न के बराबर है। कोई भी उनके अधिकारों और मुद्रदों के लिए आवाज़ उठाने की तैयार नहीं है। किसी भी राजनैतिक दल के पास उनकी समस्याओं को सुनने का समय नहीं है। इसी को रेखांकित करती हुई अगली कहानी ‘भरोसे की बहन’ है। एक गरीब कार्यकर्ता रामभरोसे की मायावती में आस्था और मोहब्बत की कहानी है। रामभरोसे की पत्नी रामकली उसे यथार्थ स्थिति का बोध करती है और कहती है—‘साठ साल तें ये ही डिरामा चलि रयौ है। कै अब की न्याय मिलेगौ के अबकी बराबरी मिलेगी, सब पढ़ंगे-सब बढ़ंगे; सब सफेद झूठ। अब जे अनाखी भैन जी आयी हैं? जो सीधे सिंहासन देवे की बात करें हैं का वे जानती हैं कै हमारे घर में लत्रा धोवन कूँ साबुन नाँय है।’⁴

लेखक ने इस कहानी के माध्यम से यह रेखांकित करने का प्रयास किया है कि एक दलित व्यक्ति के पास

दो वक्त की रोटी, शिक्षा और रोज़गार नहीं है। सरकार उन पर ध्यान नहीं दे रही है। इस हालत में सरकार में उनका प्रतिनिधित्व स्वप्न के समान है। इस संदर्भ में ‘हमशक्ति’ कहानी एकदम स्टीक बैठती है। यह 60 पृष्ठों की एक लंबी कहानी है। कहानी के दो मुख्य पात्र हैं, प्रेमराय और कर्मदास जो क्रमशः मालिक और नौकर हैं। संयोग से इन दोनों की पलियाँ एक ही दिन दो लड़कियों को जन्म देती हैं जिनकी शक्तें एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती हैं कि वे हमशक्ति लगती हैं। कहानी में माधवी और उसके सुसुर प्रेमराय के बीच दलितों को लेकर एक बहस होती है जिसमें प्रेमराय कहता है—“अच्छेड़करी विद्वानों के सुधारवादी विचार सुन-सुन कर इसका भी हौसल बढ़ गया है। ये अचूत दिमाग के कमज़ोर नहीं होते। कभी ‘मनु’ ने इनकी बौद्धिक क्षमता से डर कर और ब्राह्मणों के दिमागीं तौर पर स्पर्धा में पिछड़ जाने के भय से सुनने वाले के कान में सीसा और पढ़ने वालों की जिह्वा काट कर इनके साहित्य पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। अगर एकलव्य प्रतिभा में अर्जुन से उन्नीस होता तो द्रोणाचार्य को क्या फ़िक्र होती? माधवी प्रश्न करती है, “पर इससे हमारा राष्ट्र तो कमज़ोर ही हुआ ना?”⁵ ‘रावण’ दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह ‘बैचैन’ की एक चर्चित कहानी है। इस कहानी का नायक मूलसिंह चमार जाति का युवक है जो शहर में राजमिस्त्री का काम करता है और शौकिया तौर पर रामलीला में रावण का किरदार भी निभाता है। जब वह अपने गाँव आता है तो गाँव की रामलीला में भी उसे रावण का रोल मिल जाता है। लेकिन उस गाँव के सर्वांग अपने जात्याभिमान में अपने से नीची जाति के युवक को नाटक में भी बड़ा किरदार निभाते हुए नहीं देख पाते और उसे मंच पर ही मार-मारकर अधमरा कर देते हैं। दिल्ली शहर की रामलीला में जिस मूलसिंह के अभिनय की सराहना की जाती है, अचूत होने के कारण उसके अपने गाँव में उसी की वजह से उसे अपमानित होना पड़ता है और वह हमेशा के लिए गाँव छोड़ने का इरादा कर लेता है। गाँव छोड़ते समय वह अपने पिता से कहता है— ‘बाबा तुमउ चलो, यहाँ नफूरत और छूत-छात के अलावा कौन सी हमारी जागीर बची है। गाम में हम अपने हाड़-माँस धुन के पेट भरत है। सो जहाँ रहेंगे वहाँ भर लेंगे।’⁶

‘बस्स इत्ती सी बात’। सर्वांग अपनी झूठी शान को बचाए रखने के लिए किस हद तक क्रूर और अमानवीय व्यवहार कर सकते हैं, इस कहानी के माध्यम से इस बात को रेखांकित किया गया है। ठाकुर कुँवर सिंह अपनी पूर्व पत्नी कीर्ति की हत्या सिर्फ़ इसलिए कर देता है क्योंकि

उसने एक दलित लड़के से शादी कर ली थी। उसे हत्या के लिए जेल होती है लेकिन तब भी उसे अपने कृत्य पर कोई अफ़सोस नहीं होता। वह कहता है—‘मैंने अपनी पूर्व पत्नी का मर्डर किया है। ऐसा करने पर मुझे गर्व है मतानि नहीं। मुझे सात जन्मों में भी सात बीवीयां मारनी पड़े तो भी ऐसा ही करूँगा।’⁷ ‘घूँघट हटा था क्या?’ कहानी में दलित बालक बच्चू चौधरी बालाधीन के घर उसकी पहली पत्नी सावित्री के साथ दो साल के लिए नौकर बनाकर भेजा जाता है क्योंकि बच्चू का पिता दयादास सावित्री के पिता का कर्जदार था। सावित्री की मृत्यु और बच्चू की सेवावधि समाप्त होने के बाद भी मुक्त की सेवा प्राप्त करने का आदी हो चुका चौधरी बालाधीन बच्चू को वापस उसके परिवार के पास जाने नहीं देता। दूसरी तरफ़ चौधरी बालाधीन की पहली पत्नी की मृत्यु के बाद वह लाडो से दूसरा विवाह करता है। लाडो सुन्दर, गुणवान और पढ़ने में तेज़ स्कूली छात्रा है किंतु अपने पिता की उम्र के व्यक्ति से विवाह के पश्चात उसका जीवन घुटन भरा हो जाता है। बालाधीन उसे सख्त हिदायत देता है कि किसी भी हालत में वह अपना घूँघट किसी के भी सामने न हटाए। इसी कारण लाडो के प्रसव के समय उसकी ननद बच्चू को लाडो के पास जाने और उसे अस्पताल ले जाने के बजाय बालाधीन को बुलाने हरिद्वार भेज देती है। प्रसव पीड़ा और अतिरिक्त रक्त बहने से लाडो की मृत्यु हो जाती है। किसी भी प्राणी के लिए उसकी स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण है किंतु इस कहानी में लाडो की स्वतंत्रता छीन कर उसे एक घूँघट में कैद कर दिया जाता है। लेखक ने गाँव की स्त्रियों के संवाद के माध्यम से लाडो की स्थिति को अभिव्यक्त किया है—‘चौधराइन बननो तो घूरे की कुतिया बनने जैसो होइ जावे है। इनके यहाँ तो औरत से गैया-भैसिया सौ गुना अच्छी हैं। ये औरत जात की कदर काहे करेंगे! मरिजाइ तो दूसरी तीसरी और दान-दहेज के नाम पर बाके माँ-बाप के घर दिन दहाड़े डाको डारि लूट-खसोट लावे है।’⁸ यह कहानी महिलाओं की दयनीय स्थिति को तो रेखांकित करती ही है साथ ही बच्चू के माध्यम से बालश्रम जैसे अमानवीय और असर्वैधानिक मुद्दे को भी उठाती है।

बच्चू जैसे ही आज देश में हजारों-लाखों बच्चे हैं जो शिक्षा और सुविधाओं के अभाव में दर-दर भटकने को मजबूर हैं। प्रशासन भी उनकी सुध नहीं लेता। ‘छोटू’ कहानी इसी समस्या को चित्रित करती है। यह एक ऐसे बच्चे की कहानी है जिसने रेड लाइट पर ही होश सम्भाला। उसके माता-पिता कौन हैं, उसका गाँव-घर कहाँ है, उसे कुछ नहीं पता। दूर से वाहन आता देख वह उसके पीछे-पीछे

दौड़ता है। बाबू जी, साहब जी, मालिक जी, माई-बाप आदि बोलता हुआ पेट की ओर हाथ से इशारा करता है। इस प्रकार वह दिन भर भीख माँगता है और उसे जो कुछ भी मिलता है वह एक थैली में जमा करता रहता है। उसे उसके माँगे हुए का दसवाँ हिस्सा मिल पाता है, बाकी उसका मालिक हजम कर लेता है। सड़क पर भीख माँगते हुए जब वह एक दिन घायल हो जाता है तो उसके प्राथमिक उपचार भी नहीं मिल पाता। यह कहानी हमें देश की ऐसी स्थिति से बाकिफ़ करती है जहाँ प्रशासन के पास सड़क से घायल जानवर उठाने का तो समय है लेकिन घायल व्यक्ति की सुध तक लेने वाला कोई नहीं है।

‘हाथ तो उग ही आते हैं’ कहानी में लेखक ने सरकारी अस्पतालों का कुछ ऐसा ही चित्र प्रस्तुत किया है। यह एक दलित महिला रुक्खों की कहानी है। गाँव में हुए दंगों में उसका पूरा परिवार मारा गया था। वह किसी तरह छिपते-छिपाते अपनी और अपने बच्चे की जान बचाकर शहर भाग आई थी। वह सूतो चौधराइन के घर साफ़-सफाई और बर्तन धोने का काम करती है। काम पर आते समय वह अपने बच्चे को पड़ोस के बुजुर्ग अलीजान चाचा के पास छोड़कर जाती थी। ईद के मौके पर अलीजान चाचा गाँव चले जाते हैं तो रुक्खों को मजबूरन अपने बच्चे को अपने साथ काम पर लाना पड़ता है। बच्चे को साथ देखकर सूतो चौधराइन बहुत नाराज़ होती है इसलिए रुक्खों बच्चे को बाहर बिठाकर काम करने चली जाती है। सूतो का बेटा जल्दबाजी में मोटरसाइकिल स्टार्ट करता है तो उसका ध्यान रुक्खों को लम्बा संघर्ष करना पड़ता है। आखिरकार डॉक्टर बच्चे के हाथों की जाँच करता है और कहता है कि यदि बच्चे को ज़िन्दा रखना है तो इसके दोनों हाथ काटने पड़ेंगे। लेकिन नर्स रुक्खों को झूठा दिलासा देती है कि बच्चे के नए हाथ उग आएँगे।

यह कहानी ‘हाथ तो उग ही आते हैं’ कहानी संग्रह की केन्द्रीय कहानी है। इस संग्रह की भूमिका में लेखक ने लिखा है—‘इतिहास में कामगार हाथ के साथ बहुत कुछ बुरा होता रहा है। अद्भुत इमारतें बनाने वाले कारीगरों के हाथ कटवा लेने की कहानियाँ हम बचपन से सुनते आये हैं। चकित करने वाली कलाकृतियाँ देने वाले, अपनी तीरन्दाजी से भौचकका करने वाले (एकलव्य) जैसे कितनों के हाथ असमर्थ बनाये गये हैं। हाथ कुछ अच्छा करते हैं

तो पारितोषिक पाते हैं। कोई ठीक वैसी ही दूसरी कृति न बना दे, इसलिए मज़दूरों के हाथ काट दिये जाते हैं।’⁹ यहाँ हाथ काटना संकेत है दलितों से आगे बढ़ने के अवसर छीनने का। पुराने समय में दलितों को पढ़ने नहीं दिया जाता था और आज भी उनके साथ भेदभाव और शोषण की घटनाएँ कम नहीं हो रही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ का लेखन सम्पूर्ण मानवतावादी मूल्यों का लेखन है। लेखक की मानवीय संवेदना और यथार्थवादी दृष्टिकोण अन्य लेखकों से अलग बनाता है। श्यौराज सिंह बेचैन की कहानियाँ कल्पना और मनोरंजन की नहीं बल्कि भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। जिसमें सामाजिक, वर्णगत, जातिगत और क्रूर हिंसा से लेकर दया और मानवीय गरिमा की व्याख्या दर्ज है। दलित साहित्यकार श्यौराज सिंह बेचैन का जीवन ही कारुणिक महाकाव्यात्मक आख्यान है। साहित्यकार श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ के बारे में आजीवक दार्शनिक, दलित विन्तक डॉ. धर्मवीर उर्दू शायर मिर्ज़ा गालिब का हवाला देते हुए लिखते हैं—

“रंज से खुँगर हुआ इंसा तो मिट जाता है रंज।
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसां हो गर्मी॥”¹⁰

संदर्भ

- ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 67
- श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, भरोसे की बहन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 37
- वही, पृ. 63
- वही, पृ. 168
- श्यौराज सिंह, ‘बेचैन’, हाथ तो उग ही आते हैं, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 69
- श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, भरोसे की बहन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 74
- श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 36
- श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, हाथ तो उग ही आते हैं, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 21
- वही, भूमिका
- श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. बैक कवर।

—मनीषा

शोधार्थी, पीएच.डी. (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अज्ञेय-काव्य में बुद्ध

—डा. विनीता गुप्ता

अज्ञेय का काव्य मात्र हिंदी साहित्य का ही नहीं अपनी विशिष्टता एवं गहरी मानवीय संवेदना के कारण समस्त भारतीय साहित्य की सम्पत्ति है। इनकी कविताओं में जीवन की आलोचना भी है तो जीवन की वह रहस्यानुभूति भी जिसमें सच्चे साधक को आनंद की प्राप्ति होती है। उन्होंने अपने काव्य में विभिन्न भावों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न दर्शन का भी वर्णन किया है चाहे वो भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन। अज्ञेय-काव्य में बौद्ध दर्शन का प्रभाव व वर्णन अपने आप में विशेष है। अज्ञेय पर बौद्ध चिंतन के प्रभाव का विचार करते हुए उनके अतीत पर विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि बौद्ध चिंतन का प्रभाव उनकी जीवन यात्रा के प्रारम्भ में ही उन पर पड़ने लगा था। पिता हीरानंद वात्यायन पुरातत्त्व विभाग में उच्च पद पर आसीन थे। भगवान बुद्ध की निर्वाणस्थली कुशीनगर अज्ञेय की जन्मस्थली बनी। यह भी एक कारण हो सकता है कि उनकी रचनात्मकता पर गौतम बुद्ध का प्रभाव अनेक रूप में पड़ा। अज्ञेय ने ‘शेखर एक जीवनी’ जिसे उनका आत्मकथात्मक उपन्यास कहा गया है, में शेखर के जन्म का विवरण देते हुए लिखा है कि ‘जिन खंडहरों के मध्य शेखर का जन्म हुआ था वे बौद्ध विहार के खंडहर थे; वहाँ उसी दिन गौतम बुद्ध के अस्थियों की एक मंजूषा निकली थी जिसकी उपासना करके वे भिक्षु उसके पिता के पास अतिथि होकर आये थे वहाँ आकर जब उन्होंने देखा कि उसी दिन शिशु का जन्म हुआ है तब उन्होंने पिता से कहा—यह शिशु बुद्ध का अवतार है। इसको बौद्ध धर्म की दीक्षा देना।’¹

अज्ञेय ने बौद्ध धर्म की दीक्षा तो नहीं ली किन्तु बुद्ध के विचारों का उन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जिस प्रकार भगवान बुद्ध ने ‘अप्प दीपे भव’ की भावना को अपनाने की बात कही है और समृच्छी मानवता की श्रेयसिद्धि की कामना करते हुए व्यष्टि के समष्टि के प्रति आत्मदान की बात कही है ठीक उसी प्रकार अज्ञेय ने भी आत्मदान के समर्पण का चित्रण अपनी कविता ‘यह दीप अकेला’ के माध्यम से किया है। यहाँ दीप ‘व्यष्टि’ का प्रतीक है। वह स्वयं जलकर जितनी पीड़ा सहन करता है समष्टि का उतना ही अधिक हित होता है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो²

यह सर्वाविदित है कि बौद्ध ने जरा, रोग तथा मृत्यु के कारण दुःख से छुटकारा पाने के लिए सर्वस्व त्याग कर निर्वाण प्राप्ति हेतु प्रव्रज्या ग्रहण की। बौद्ध धर्म में जिन चार आर्य सत्यों की प्रतिष्ठा हुई है उनमें पहला सत्य यही है कि संसार दुःखमय है। संसार के सभी धर्मों में यही बात रही है कि दुःख है। इसी आधार पर अज्ञेय ने पीड़ा के दर्शन को आत्म-परिष्कार का माध्यम माना है। उनके विचार में, दुःख एक तरह की तपस्या है और उससे आत्मा की शुद्धि होती है। अपनी कविता—“पहला दौँगरा” में वे लिखते हैं—

दुःख सबको मांजता है
और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जानें, किन्तु
जिनको वह मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।³

उपरोक्त पंक्तियों में करुणा भाव के दर्शन भी होते हैं जो बौद्ध दर्शन का नैतिक मानदंड है। सन् 1960 में यूरोप की यात्रा के समय वे ‘पियेर द क्ववीर’ के मठ में भी रहे थे। “अरि ओ करुणा प्रभामय” की एक कविता “सप्राङ्गी का नैवेद्य दान” में यह अंकित है कि जापान की सप्राङ्गी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मंदिर में बिना फूलों के कैसे आत्मनिवेदन करती है, दर्शनीय है—

हे महाबुद्ध!
मैं मंदिर में आयी हूँ
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी।
औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाग्रात, अस्पृष्ट, अनाविल
हे महाबुद्ध !
वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुंदर आनंद निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश !
हे महाबुद्ध !

अज्ञेय ने जीवन की समस्याओं का समाधान बौद्ध-दर्शन में ढूँढ़ने का प्रयास किया। वे बौद्ध जीवन-दर्शन को सार्वभौम अंतश्चेतना से जोड़कर उसे एक सशक्त आधार देना चाहते हैं। उनकी कविताओं में ‘महाशून्य’ की अवधारणा भी जीवन-दर्शन के रूप में आती है। बौद्ध धर्म में महाशून्य का विवेचन अनेक रूपों में हुआ है यहाँ तक कि बौद्ध का निर्वाण भी महाशून्य के रूप में अंकित किया गया है। आत्मा का इस महाशून्य से गहरा सम्बन्ध है, बौद्ध -दर्शन का शून्य अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच में रहा है। शून्य का जो भी विस्तार हुआ है उसका सम्बन्ध अतीत या भविष्य से जुड़कर नहीं थमा है, यह तो एक निरंतर विस्तार का प्रतीक है। वह काल का अतिक्रमण भी कर लेता है। शून्य की अनेक इकाइयां होती हैं जिनका कोई अस्तित्व नहीं होता। वह अनंत की ओर जाती हैं। अज्ञेय की कविताओं में महाशून्य की यह व्यापकता एक विराट परिकल्पना के रूप में मिलती है। वे कहते हैं—“महाशून्य आकाश हमारा पथ है छोड़ो चिंता बार-पार की।” अपनी चर्चित कविता ‘असाध्य वीणा’ के माध्यम से वे अंतस और बाह्य जगत की एकाकारता का बड़ा ही सुन्दर और सजीव चित्रण करते हैं और अंततः सबकुछ का महाशून्य में विलय होने की बात कहते हैं—

“श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सबकुछ को सोंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सबकुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त अद्रवित अप्रमेय
जो शब्दहीन सब में गाता है।”⁴

कवि ने इन पंक्तियों के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि कुछ सत्य केवल अनुभूत किये जाते हैं, उन्हें वाणी से अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती तथा असाध्यवीणा (महाशून्य) को वही साध पाता है जो सत्य एवं स्वयं को शोधता है। वह परिवेश को भूलकर उसी के प्रति समर्पित हो जाता है। यह बाहर से भीतर मुड़ने की प्रक्रिया है जिसे अंतर्मुखी होना भी कहा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में इसे ही ‘तथता’ कहते हैं। स्वयं को देकर ही सत्य को पाया जा सकता है यही जीवन की सर्वोच्च परिणति है जिसमें

साधक सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर आनंद की प्राप्ति करता है। उनकी यह कविता मौन के अनुगूंज को उद्घाटित करती है, इसमें प्राकृतिक उपादानों तथा विराट मौन का सामंजस्य इस ढंग से किया गया है कि पाठक को एक नयी अंतर्दृष्टि मिलती है। ऐसी सूक्ष्म एवं वैविध्यपूर्ण दृष्टि अपने विराट मौन में परिचित पदार्थों का एक नया अध्याय सृजित करती है। उनके अनुसार “मौन भी अभिव्यंजना है।”

ध्यातव्य है कि बुद्ध ने भी मौन को अभिव्यंजित करते हुए कहा है—“जो जानते हैं, वे मेरे कहे बिना भी जानते हैं, वे मेरे शब्दों से नहीं जान पाएँगे। जिसने जीवन का स्वाद नहीं चखा उससे जीवन के बारे में बात करने का कोई मतलब नहीं है। इसलिए मैं चुप हूँ। शब्द समाप्त हो जाते हैं जहाँ जीवन शुरू होता है।”

बुद्ध मौन की अभिव्यक्ति थे। उनका मौन अभाव से नहीं तृप्ति से आया था। अभाव शिकायत और शोर पैदा करता है, संतृप्ति मौन लाती है।

जिस तरह से बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के माध्यम से जीवन को सहज एवं सरल बनाने का उपदेश दिया उसी तरह अज्ञेय मानते हैं कि आधुनिक जटिल संवेदनाओं को व्यक्त करना प्रतीकात्मक और रहस्यवादी भाषा में संभव नहीं है, इसलिए वे कविता में भाषा को और अधिक सपाट और पठनीय बनाने के पक्ष में हैं जिससे आधुनिक संवेदनाओं से युक्त आधुनिक कविता सीधे और सहज रूप से सम्प्रेषित हो सके। वे शब्द और अर्थ के निष्ठावान साधक हैं। वे अनुभूति को अभिव्यक्ति में बदलने के लिए ‘आलोक-स्फुरण’ की तलाश में रहते हैं ताकि अनुभूति के सत्य को शब्द में उतार सकें।

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक
कभी-कभी मिलता है

दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रयोजन मेरा बस इतना है
ये दोनों जो सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं।
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ
दोनों जो हैं बंधु, सखा, चिर सहचर मेरे ।

उनके अनुसार “भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।” जिस प्रकार बौद्ध धर्म में आत्म कल्याण के साथ लोक कल्याण की भावना निहित है उसी प्रकार अज्ञेय भी मानते हैं कि व्यष्टि के भावों का परिष्कार समष्टि कल्याण में निहित है। उनकी बौद्धिक संवेदना ‘बुद्ध का हृदय’ लेकर लोक कल्याण की भावना को प्रसारित करती है। वे काव्य को जीवन की सिद्धि मानते हैं—

“अकेला निर्वाण ?
वह भी है अगर उसकी चाह
सभी के कल्याण के हित
स्वेच्छया छोड़ी गयी हो”⁶

सन्दर्भ

1. शेखर : एक जीवनी (ऊषा और ईश्वर) पृ. 30, अज्ञेय
2. यह दीप अकेला, बावरा अहेरी, अज्ञेय
3. पहला दौंगरा, सदानीरा भाग-1, अज्ञेय
4. असाध्य वीणा, आँगन के पार द्वार, अज्ञेय
5. शब्द और सत्य, अरी ओ करुणा प्रभामय, अज्ञेय
6. नया कवि : आत्मोपदेश, अज्ञेय रचनावली-2 पृ. 65

—डा. विनीता गुप्ता
सहायक प्राचार्य, हिन्दी विभाग
कालेज आफ आर्ट्स एंड साइंस, पटना (पाटलिपुत्र
विश्वविद्यालय), बिहार-800020

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के काव्य में प्रेम और सौन्दर्यवादी चेतना

—रुबी सिंह

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद हिन्दी साहित्य के एक ख्यातिलब्ध कवि के रूप में हिन्दी साहित्य जगत में प्रतिष्ठित हैं। हिन्दी को एक ऊँचाई देने में विश्वनाथ प्रसाद का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विश्वनाथ प्रसाद ने काव्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की है। हिन्दी की नई कविता को नया आयाम देने में उनका योगदान अत्यन्त सराहनीय रहा है। हिन्दी कविता को अज्ञेयवाद से अलग करने का और उसे एक नई जमीन देने का कार्य डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने किया है। ये हिन्दी गीत धारा को नवीन ऊँचाई देने वाले महत्वपूर्ण कवि हुए हैं। हिन्दी की नवगीत परम्परा को सुदृढ़ व सरस और सुविकसित करने में इनका अत्यन्त सराहनीय योगदान रहा है। प्रेम और सौन्दर्य जीवन के सबसे महत्वपूर्ण घटक माने हैं। तथा यही दोनों (प्रेम और सौन्दर्य ही) जीवन में सबसे अहम भूमिका निभाते हैं। दोनों ही तत्वों से मानव की आत्मा का विस्तार और उत्तरोत्तर विकास होता है। व्यक्ति के जीवन में करुणा, सहानुभूति, प्रेम, बंधुत्व आदि की भावना का विकास होता है। मनुष्य की अनेक अनुभूतियों में प्रेम की अनुभूति को सर्वोपरि माना गया है। विश्व का समूचा साहित्य प्रेम के नामा रूपों से जगमगा उठा है। कोई सहदय व्यक्ति मनोनुकूल सुन्दर वस्तु, व्यक्ति या दृश्य को देखता है तो उसके प्रति अनायास ही उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार सुन्दर वस्तु, व्यक्ति, दृश्य आदि के प्रति दृष्टा के रागात्मक सम्बन्ध को प्रेम कहते हैं।

प्रेम शब्द अपने आप में ही एक व्यापक अर्थ को समाहित किए हुए हैं जिसका अर्थ है ‘प्रीति देने वाला’, ‘अनंत तृप्ति प्रदान करने वाला’। मानव जीवन में प्रेम का सर्वोच्च स्थान है। प्रत्येक जाति के व्यक्ति का समाज प्रेम पर ही आधारित होता है। जीवन जीने के लिए प्रेम की डोरी से अधिक शक्तिशाली अवलंबन अन्य कोई नहीं है। प्रेम मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करता है तथा प्रेमी को दुर्लभ उदार गुणों से युक्त करता है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद की प्रेम भावना में निरंतरता है तथा आदि से लेकर अंत तक वे प्यार की तलाश करते हैं। उनके प्रेम में जिस उच्चता का निर्धारण होता है उसमें प्रेम की महत्ता सबसे अधिक है। प्रेम के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने ‘रोशनी ही नदी की धारा है।’ नामक काव्य संग्रह के अन्तर्गत ‘प्यार और थकान’ नामक कविता में लिखा है—

प्यार की थकान, और थकान का प्यार
दोनों दो चीजें हैं/ पहले के एहसास से
लोग टूटने लगते हैं और दूसरा हर टूटन को
सवार देता है/ लेकिन जिन्दगी तो दोनों हैं/
फिर चाहें एक पुर्जे को तोड़कर बिखरे दो
या कड़ी-कड़ी जोड़ कर सवार दो।

जिन्दगी को सीधा देखने के बाद/ थोड़ा उल्टा
करके देखने में क्या बुरा है/ सारी संरचना को नए
सिरे से सजने के लिए/ बिखरना भी जरूरी है।

प्रेम के अन्तर्गत पीड़ा का महत्वपूर्ण स्थान होता है।
या कहें कि प्रेम और पीड़ा एक दूसरे के पर्याय है तो
असंगत न होगा। प्रेम में पीड़ा की खोज वही कर सकता है
जो प्रेम के सच्चे अर्थ को समझता है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद
जी ने पीड़ा को ही प्रेम का दूसरा रूप माना है। उनका
मानना है कि प्रेम की पीर ही जीवन की वास्तविक सच्चाई
है। अपने मानस पटल पर पीड़ा की खोज करते हुए वे
“जीवन के अनगिन दरवाजे” नामक काव्य संग्रह के
अन्तर्गत ‘एक सब की पीर’ नामक कविता में लिखा है—

यहाँ तो दर्द की गहराई है/ धीर धर उतरो मेरे मन/
धीर धर उतरो/ यहाँ कोई नहीं है साथ/ सिर्फ अपनी
पीर/ गहरी हो रही है/ सिर्फ अपनी पीर मेरे
मन/ संभल कर पीर में उतरो/
किसे आवाज देकर/ तुम बुलाओगे/ सुनेगा कौन
सब है मौन/ मेरे मन संभल कर/ मौन में उतरो
बेदर्द कोई है नहीं/ सब का धना है दर्द/ अपने दर्द
को ही बाँटने में सब यहाँ बेचैन/ मेरे मन/ तुम
हुए बेचैन इन्हीं बेचैनियों में/ धीर धर उतरो/
यहाँ से तुम समझ लोगे/ सभी की पीर/ छोटा हो,
बड़ा हो/ साथ सबके पीर/ लेकिन एक सबकी पीर
मेरे मन/ पीर को समझो/ समझ कर पीर में उतरो
बहुत ही धीर से उतरो।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मुख्य रूप से प्राकृतिक सौन्दर्य
के प्रेमी कवि है। उनकी कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य
चारों तरफ दृष्टिगोचर है। नदी, पहाड़, तालाब, बादल
आदि सभी दृश्यों में उन्होंने सौन्दर्य का नया रूप उजागर
कर दिया है। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर उनकी कविताएं
सचित्र पाठक के मन पर प्रभाव डालती हैं। डॉ. विश्वनाथ
प्रसाद ने प्राकृतिक सौन्दर्य से एकात्मक स्थापित कर लिया
था। वे प्रकृति में इस प्रकार रम गए थे जैसे पानी में नमक

समा जाता है। प्रकृति के अनेक चित्र उनकी कविताओं में
दीख पड़ते हैं। ‘रोशनी ही नदी की धार है’ कविता में नदी
का कितना सुन्दर वर्णन डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने किया है।
इसका, अन्दाजा उनकी इस कविता से लगाया जा सकता
है।

‘किसी चमकती हुई नदी का
रोशनी की तलाश में-
रात के अंधेरे में खो जाना भी एक सवाल है
जिसका उत्तर न रात दे सकती है
उसका अंधेरापन है।
उसका उत्तर किसी मौसम के पास भी नहीं है
नदी और उसकी रवानी भी नहीं
बल्कि रोशनी खुद-व-खुद जवाब बन सकती है
क्योंकि इर्द-गिर्द के सारे
कदावर प्रतिबिम्बों को समेट कर
ठहरे हुये जल का दर्पण
बड़ी तेज उफान के साथ भाँवरें भरते हुये
जोश-खरोश का पारा उसी में, चढ़ता और उतरता है।

यह रोशनी नदी का यात्रा कथा है
जिसे वह रात के काले सीने पर
लिखती हुई आगे बढ़ जाती है।
इसकी दरदराहट से
अंधेरे का सीना चाक हो जाता है
और वहाँ कोई पौरुष-सिद्धि का गीत
गुनगुनाने लगता है-
नदी की खानी धीरे-धीरे से सरक जाती है।
इस तरह पूरी रात
रोशनी नदी की धारा के साथ बढ़ती रहती है।
यह नदी से रोशनी का प्यार नहीं बल्कि जुगलबंदी है।

विश्व नाथ प्रसाद के काव्य में प्राकृतिक दृश्य की जो
छटा दिखाई देती है। वह हिन्दी कविता में बहुत कम रूपों
में दिखाई देती है। उनका प्रकृति चित्रण अनुशासित और
श्रृंखलाबद्ध है। उनकी कविताओं में प्रकृति पूरे अनुशासित
रूप में प्रकट होकर दिखाई देती है।

‘बसंत कई दिनों से
नीम की पत्तियों पर फहराता हुआ
जग को अनुशासित कर रहा था।
इसका एक झोंका मेरे कमरे में धुसा
तो कैलेण्डर की तारीखें
फड़फड़ा कर धूलि में दब गईं

आज मेरी कोई भी तारीख नहीं है-
 सूखी पत्तियों से मेरे कैलेण्डर पर
 बसंत लिख दिया
 यह मेरी जवानी का
 अनुशासित बसंत है।⁴

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने प्राकृतिक वर्णन के अन्तर्गत बसंत पर अनेक कविता लिखी हैं। उनकी कविताओं में बसंत का प्रेम अत्यधिक मात्रा में दिखाई देता है। ‘बसंत, जरा ठहर कर आना’ कविता की यह पर्कितयां देखिए।

“मैंने बस उनसे कह दिया है
 कि फिलहाल न आये
 हालांकि लोगों ने उसके नाम की पताकाएँ
 फहराना शुरू कर दिया है
 नारे लगाए जा रहे हैं
 बड़ा शोर सरापा है
 लेकिन ये सब बात में आत्म विज्ञापनी देबढ़ है।
 बसंत के नाम पर लोग
 अपने को उछाल रहे हैं
 आत्म पूजन की इस धिनोनी जमीन पर
 मक्खियाँ भिनक रही हैं
 ये वे हैं जो बसंत को उलट कर उसका इस्तेमाल
 किसी तमगे की तरह करते हैं
 और ढोल पीट पीटकर कहते हैं
 कि बसंत हमै लाए।⁵

विश्वनाथ प्रसाद की कविताओं में चांदनी का सौन्दर्य अपने चरम पर पहुंच गया है। उन्होंने चाँद की प्राकृतिक सौन्दर्य को नजदीक से देखा है। उनकी ‘चांदनी’ नामक कविता चाँद पर गहन शोध करती हुई दिखाई देती है। उनकी इस कविता में लय का कितना सुन्दर और सजीव वर्णन हुआ है यह देखते ही बनता है। प्रवाहमयता में बेजोड़ यह कविता अत्यन्त अनूठी है-

“दुलके के फुटबाल सी/पारद सी चांदनी
 चंदन के छाप सी/मधुर-मधुर चांदनी
 * * *

लहरों में धंसती हैं/शीशे सी चांदनी
 टेलीफोन के तारों पर/रोमिल है चांदनी

मैने-सी चहक रही कामिनी/बालों में चांदनी
 शहनाई सी रिसती चांदनी।⁶

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद की कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य बोध सर्वत्र विद्यमान है। मानव प्रेम और प्रकृति प्रेम के प्रति कवि ने निर्बाध लेखनी चलाई है। मानव प्रेम के सन्दर्भ में तीव्र और सघन भावानुभूति जिसके आधार पर पारिवारिक व सामाजिक रिश्ते सुदृढ़ता के साथ जीवन सौन्दर्य के ताने बुनते रहते हैं। इनकी कविताओं में एक ओर जहाँ प्रेम सहज सरल और सात्त्विकता से परिपूर्ण है। वहाँ प्रकृति प्रेम के प्रति कवि की तीव्र पीपासा भी यत्र-तत्र प्रकट होती है। रोशनी ही नदी की धारा के रूप में नदी के वेग पर झिलमिलाती हुई रोशनी जहाँ पाठक वर्ग के मन को मोहित करने में सक्षम है। वहाँ कविता का वास्य व आन्तरिक सौन्दर्य भी कल्पना के अतिरेक के साथ पाठक वर्ग को विमुग्ध कर देता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद की रचनाओं में प्रेम और सौन्दर्य का मणिकांचन योग बन पड़ा है और डॉ. विश्वनाथ प्रसाद का काव्य हृदय प्रेम सौन्दर्य के भावातिरिक में पाठक वर्ग को निमग्न करने की शक्ति सामर्थ से युक्त है। अतः हम कह सकते हैं कि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. रोशनी ही नदी की धार है, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1985, पृ. 31
2. जीवन के अनगिन दरवाजे, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, संस्करण-2005, पृ. 113
3. रोशनी ही नदी की धार है, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, प्रभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1985, पृ.3
4. वही, पृ. 51
5. वही, पृ. 57
6. वही, पृ. 55-56

-रुबी सिंह

शोध छात्रा

ज्ञाला देवी विद्या मन्दिर पी.जी. कालेज,
 आनन्दबाग, कानपुर नगर

1857 के महासंग्राम में महाकौशल अंचल के विस्मृत नायक : अमर शहीद राजा शंकरशाह एवं कुँवर रघुनाथ शाह

—गोविन्द पाण्डेय
—पूजा दाहिया

1857 के महासमर पर आज पुनः विचार करने की आवश्यकता है। भारतीय इतिहास के उन तथ्यों एवं संदर्भों से पुनः टकराने की आवश्यकता है।¹ जिन्हें पूर्वाग्रहों और कल्पित कथाओं के द्वारा छिपा दिया गया। इतिहास में प्रथम जंग-ए-आजादी ‘1857 की क्रांति’ को ही स्वीकार्य किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण स्थानों को केंद्र में रखकर लिखे गए इतिहास में स्थानीय स्तर पर किए गए विद्वाहों एवं बलिदानों को इतिहासकारों ने स्वयं के ग्रंथ में स्थान देना शायद उचित नहीं समझा। इसी के चलते आज हमें नवीन तथ्यों के अन्वेषण एवं क्षेत्रीय इतिहास को प्रकाश में लाने हेतु प्रयास करने होंगे।

बात करते हैं यदि 1857 के संग्राम की तो शहीद मंगल पाण्डेय के बलिदान के साथ ही पूरे देश में प्रथम स्वाधीनता संग्राम का शंखनाद हो गया।² ब्रितानी सरकार के द्वारा भारतीय शासकों के साथ किये गए उपेक्षापूर्ण व्यवहार, नित-नवीन अमानुषिक नीतियाँ, राज्यों को हड्डपने के हथकंडों जैसे-हड्डप नीति, सहायक संधियों के आरोपण, सैनिकों के धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप तथा कृषकों, श्रमिकों आदि पर किये गए अत्यचारों का सामूहिक प्रतिरोध था यह 1857 का स्वाधीनता समर। 1857 की क्रांति का अभ्युदय तो मेरठ की छावनी में हुआ था लेकिन देखते ही देखते यह पूरे देश का स्वातंत्र्य समर बन गया था। क्रांति की चिंगारी रोटी और कमल के फूल जैसे सांकेतिक कूटों द्वारा पूरे राष्ट्र में संचारित हो चुकी थी। तत्कालीन भारत के मध्यप्रांत का महाकौशल क्षेत्र भी आजादी के इस समर में अपनी सहभागिता देने के लिए आतुर था जिसमें महाकौशल के रणबांकुरे भी अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु ब्रिटिश सरकार से सीधे संघर्ष में उतर गए। गोंड राजवंश के अद्भुत शौर्य से पोषित राजा शंकर शाह और उनके पुत्र रघुनाथ शाह ने जबलपुर क्षेत्र में 1857 की क्रांति का बिगुल फूँका। जबलपुर नगर में 1857 के संग्राम के पूर्व भी विरोध की झलक तो यदा-कदा अंग्रेज अधिकारियों पर भारतीय सिपाहियों द्वारा किए गए हमलों में मिल जाती है, लेकिन क्रांति की व्यवस्थित कार्य योजना और क्रियान्वयन

हमने राजा शंकर शाह और उनके पुत्र रघुनाथ शाह के समय ही देखने को मिला।

वीरांगना रानी दुर्गावती का गोंडवाना साम्राज्य मुगलों द्वारा धोखे से जीतने के पश्चात ही अराजकता और निर्वासन जैसे संचालित हो रहा था। 18 वीं सदी में मराठा वर्चस्व गोंडवाना क्षेत्र में स्थापित हुआ जिसमें गोंड अधिपति मात्र मराठा आदेश के अनुरूप चल रहे थे। सन् 1818 में गोंडवाना साम्राज्य मराठों के हाथ से निकल गया, तब तक अंग्रेजों ने मंडला को भी अपने अधीन कर लिया और मध्य प्रांत में मिला लिया। गोंड राजवंश के वृद्ध राजा शंकर शाह अपने पुत्र कुँवर रघुनाथ शाह के साथ जबलपुर क्षेत्र की गढ़ी में रहते थे जहां उन्हें 3 गाँव की जागीर पेंशन के रूप में दी गई थी। राजा शंकर शाह ब्रिटिश सरकार के इस दुर्व्यवहार से असन्तुष्ट थे और अंग्रेजों से स्वतंत्रता हेतु एक अवसर की तलाश में थे।

सागर और दमोह में सैनिकों ने जो विद्रोह किए उसका प्रतिकार जबलपुर में भी स्पष्ट दिखाई दिया। ब्रिटिश सरकार की एक गुप्त सूचना थी जिसमें मद्रास से एक सैन्य टुकड़ी जो सागर और दमोह के लिए जबलपुर मार्ग से भेजी जानी थी, कि गोपनीय सूचना जबलपुर के सैनिकों को किसी तरह मिल गई। 52 वीं नेटिव इन्फैन्ट्री जिसे कर्नल जमीसन संभालते थे में विद्रोह के स्वर प्रबल होने लगे थे।¹⁴ इसी बीच सूचना मिली कि उनकी सैन्य टुकड़ी के सिपाही पेंशन पर जी रहे राजा शंकर शाह के साथ मिलकर किसी घड़वन्त्र की तैयारी कर रहे हैं जिसमें सारे अंग्रेजों को मारने की योजना है। तफतीश करने के बाद यह जानकारी कतिपय सही पाई गई कि सैन्य टुकड़ी के लगभग 8-10 सिपाही गोंड राजा शंकर शाह एवं उनके पुत्र कुँवर रघुनाथ शाह के संपर्क में हैं, साथ ही इलाके के कुछ असन्तुष्ट मालगुज़ार और जर्मीदार भी इस घड़वन्त्र में राजा एवं उनके पुत्र के सहयोगी हैं। विद्रोह कि प्रकृति मात्र सैन्य विद्रोह या जनविद्रोह तक सीमित नहीं था, वरन् यह एक समेकित विद्रोह की प्रतिपृष्ठी थी। सिर्फ महाकौशल प्रांत ही नहीं बल्कि मध्यप्रांत के कई इलाकों के असन्तुष्ट मालगुज़ारों एवं जर्मीदारों ने राजा शंकर शाह एवं उनके पुत्र कुँवर रघुनाथ शाह से संपर्क कायम किया हुआ था।

महाकौशल क्षेत्र में विद्रोह की विस्तृत योजना के तहत मुहर्रम के दिन केंटोनमेंट पर हमला करना रखा गया था। 5 लेकिन राजा के ओर से भाग लेने वाले जर्मीदारों और मालगुज़रों में से दो जर्मीदारों ने विद्रोह में शामिल होने में अपनी असमर्थता प्रकट की। साथ ही राजा शंकर शाह को अपनी ओर से विद्रोह में भाग लेने वाले सैनिकों की संख्या

का भी स्पष्ट भान नहीं था। अतः इसी कारण से हमले की योजना को मुहर्रम के दिन नहीं कर बल्कि दशहरे के दिन तक के लिए स्थगित कर दिया गया।¹⁵ अंततः मुहर्रम का दिन बिना किसी हमले और विरोध के शांति से गुजर गया।¹⁶

इसी बीच महाकौशल क्षेत्र में होने वाले विद्रोह की अस्पष्ट सूचना जबलपुर के डिप्टी कमिश्नर कैप्टन क्लार्क को मिली। इस जानकारी की पुष्टि के लिए क्लार्क ने अपने एक चपरासी को फकीर का भेष बनाकर राजा शंकरशाह के पास भेजा। तत्समय परिस्थिति के अनुरूप राजा को सभी अपने सहयोगी ही मालूम पड़ते थे, अतः उस छद्मवेशी फकीर को राजा शंकरशाह ने विद्रोह की सारी योजना बता दी और उसे आदेश भी दिया कि योजना को आगे भी फैला दे। इस प्रकार चपरासी से जानकारी क्लार्क के पास पहुँच गई।¹⁷ प्रतिक्रिया स्वरूप क्लार्क ने अपनी टुकड़ी के 20 घुड़सवार तथा कुछ पैदल सैनिकों के साथ 14 सितंबर को राजा के निवास स्थान पुरवा गाँव को घेर लिया।¹⁸ पूरे गाँव को घेर लिए जाने के बाद डिप्टी कमिश्नर क्लार्क ने राजा शंकरशाह के साथ कुँवर रघुनाथ शाह एवं उनके परिवार के 13 सदस्यों को गिरफ्तार कर 14 सितंबर, 1857 को कैंटोनमेंट के मिलिट्री जेल में डाल दिया। राजा के निवास स्थान की तलाशी लेने के बाद अंग्रेजों को कुछ कागजात, जिसमें राजा शंकर शाह के हस्तालिखित पांडुलिपि मिली¹⁹ जिसमें देवी से प्रार्थना की गई थी, जिससे विद्रोह किए जाने की पुष्टि हुई। उक्त कागजात में एक कविता प्राप्त हुई जिसकी कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं :

“मूँद मुख डंडिन को चुगलों को चबाई खाई,
खूँद डार दुष्टन को शत्रुसंधारिका,
मार अंगरेज रेज पर दई मात चंडी,
बचे नहीं बेरी बाल बच्चे संहारिका,
संकर की रक्षाकर दास प्रतिपाल कर,
दीन की पुकार सुन जाय मात हालिका,
ले म्लेच्छन को झेल नहीं करो मात,
भच्छन कर तत्छन ही बैरिन को धौर मात कालिका।”²⁰

राजा शंकर शाह एवं कुँवर रघुनाथ शाह की गिरफ्तारी की खबर से विद्रोह फैलना स्वाभाविक था। अतः राजा और उनके पुत्र को कमिश्नर हाउस में भेज दिया गया। 52वीं रेजीमेंट फौज के सिपाही राजा की गिरफ्तारी से उत्तेजित हो उठे।²¹ और रात में गोलियाँ चला दी साथ ही पास के बैरक में तथा एक बंगले में आग लगा दी। कुछ ईसाई नागरिकों की भी मृत्यु भी इस हमले में हुई थी।²² स्थिति की गंभीरता

को देखते हुए छावनी में सुरक्षा के कड़े प्रबंध की गए। राजा के ऊपर फौजी अदालत में एक मुकदमे का नाटक किया गया और परिणाम जिसे सब पूर्ववत जानते ही थे 'मृत्युदंड' दिया गया।¹⁴ अंततः 18 सितंबर, 1857 को राजा शंकरशाह उनके पुत्र रघुनाथ शाह साथ ही उनके 13 संबंधियों को भारी जनसमूह के सामने रेसीडेंसी मैदान में (वर्तमान सेंट्रल पोस्ट ऑफिस) तोप के मुंह से बांधकर उड़ा दिया गया। उनके शरीर के टुकड़े मैदान में लगभग 50 गज दूर जाकर गिरे। उनके चेहरों को बिल्कुल क्षति नहीं पहुंची थी¹⁵ जिसे बाद में राजा शंकर शाह की विधवा रानी फूलकुंवर ने उनके शवों को एकत्रित कर उनका अंतिम संस्कार करवाया।¹⁶

राजा शंकरशाह के निवास पुरवा गाँव की गढ़ी गिरा दी गई। उनकी सम्पूर्ण संपत्ति जब्त कर ली गई। अंततः मृत्यु का आवरण कर राजा शंकर शाह और कुँवर रघुनाथ साह ने समस्त महाकौशल में 1857 कि क्रांति के प्रति अलख जगाई और अपने प्राणों की आहुति दी।

इतिहास के पन्नों को पलटकर देखने पर ज्ञात होता है कि प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के ऐसे वीर बलिदानियों को कम महत्व या न महत्व का मानकर उचित स्थान ही नहीं दिया गया। ब्रिटिश शासन जिस प्रकार से विभिन्न अनीतिक नीतियों के माध्यम से हमारे भारत को अंदर ही अंदर खोखला कर रहे थे। इतने पुरजोर विरोध बगावत-ए- सत्तावन के बाद भी ब्रिटिश सेना अपने अनुचित नीतियों और व्यवहारों के साथ भारत में 1947 तक काबिज रही।

आजादी के मतवाले तो सदा से ही अपने लाहू को देश के लिए न्योछावर करते रहे हैं। भले ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप समस्त भारत के शासकों ने अपने साम्राज्य हेतु एवं ब्रिटिश सेना में रहे भारतीय सिपाहियों ने अपने ताल्कालिक कारणों से विरोध किया। लेकिन जब इस संग्राम को और अधिक गहराई से आँकलित किया जाए तो एक नवीन पक्ष प्राप्त होता है—यह था अपना 'अस्तित्व बचाए रखना'। 1857 का विद्रोह मात्र सैनिक या शासक विद्रोह कहना अनुचित होगा, क्यों कि इस विद्रोह में किसान वर्ग, छोटे व्यापारियों ने भी अपना सहयोग दिया। प्रत्येक गाँव में रोटी को ग्राम सीमा रक्षकों द्वारा गाँव-गाँव पहुंचाया जाना हो या प्रत्येक सैनिक टुकड़ी में कमल का फूल विस्तारित होना। उस हर बड़े-छोटे कार्य में प्रत्येक भारतीय ने अपने स्तर में अपना अविस्मरणीय सहयोग दिया था। इसके विपरीत कुछ देशद्रोहियों ने भी अपनी ब्रिटिश सेना के प्रति निष्ठा बखूबी निभाई थी।

1857 के संग्राम ने देश में एक नवीन ऊर्जा का संचार किया था। इस क्रांति की ज्याला ने न सिर्फ अंग्रेजों

को यह महसूस करा दिया कि भारतीय शौर्य और शक्ति के सम्मुख अभी भी अंग्रेज तुच्छ हैं। ब्रिटिश शासन मात्र भारतीयों की आंतरिक कलह और कुछ गद्दारों के विश्वासघात के कारण काबिज है। विद्रोह के परिणाम स्वरूप कई स्थानों में ब्रिटिश सत्ता को कुछ समय के लिए जड़ से ही उखाड़ ही दिया था। 1857 के क्रांति के शहीदों को जिस तरह से ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होना था उस तरह से नहीं मिल पाया और शायद इसीलिए आज आवश्यकता है इतिहास के पुनर्लेखन की। आज आवश्यकता है इतिहास में विस्मरित कर दिए गए नायकों को उनके सम्मान को वापस दिलाने की।

इतिहास में जब हम झाँकते हैं और क्रांति के असफल होने कि बात करते हैं को विभिन्न इतिहासकारों ने कई कारण गिनवाए हैं जैसे कि सेना संगठन में कमी, आधुनिक शस्त्रों का अभाव, आंतरिक एकता की कमी, केन्द्रीय नेतृत्व का अभाव, अव्यवस्थित निष्पादन आदि आदि। लेकिन क्या कभी इसके मौलिक कारण की तरफ देखा गया। मेरे शोध पत्र के माध्यम से मैं देशद्रोहियों के किये गए विश्वासघात को असफलता का सबसे मुख्य कारण मानता हूँ। चाहे दिल्ली में बहादुर शाह कि गिरफ्तारी में इलाहीबक्श का हाथ हो या शिवपुरी में तात्या टोपे की फांसी में मानऋषसह का या फिर उस फकीर रूप चपरासी का जिसने राजा शंकर शाह की कार्ययोजना क्लार्क को बता दी थी। सभी जगहों में जहां-जहां विद्रोह एकाएक दबा दिया गया हर उस स्थान में कोई न कोई गद्दार ही था। मीरजाफर की गद्दारी परंपरा का रक्त अब पूरे भारत में फैल चुका था, और इसी के परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने गद्दारों के सहयोग से 1857 कि क्रांति को अंततः नियंत्रित कर लिया। इसी विश्वासघाती परंपरा ने सदा से ही भारतीय साम्राज्य विघटन में अपना योगदान दिया था बस इसके स्वरूप समय पर बदले दिखे जो अंततः भारत विभाजन के कारक सिद्ध हुए।

उपर्युक्त शोध पत्र में निष्कर्षतः यह तथ्य उजागर करने का प्रयास किया गया है कि कैसे हमारे क्षेत्रीय इतिहास में भी विभिन्न स्थानों में 1857 की क्रांति में बगावत का बिगुल फूँका गया था और इतिहास में हमारे कई योद्धाओं ने अपने रक्त से इस भारत भूमि को ऋक्षसंचित किया था।¹⁷ यदि हम 1857 क्रांति को पुनः लेखन की बात करते हैं तो एक बात तो निश्चित है कि हमें कई ऐसे अज्ञात और विस्मरित नायक नायिकाओं के बलिदान और शौर्य की गाथा प्राप्त होगी जो भारतीय इतिहास में एक स्वर्णिम पृष्ठ अंकित करेगी।¹⁸

इतिहास के पन्नों की स्थाई से जिस प्रकार से हमारे बलिदानियों को महत्वहीन समझकर अलग-थलग कर दिया था आज आवश्यकता है कि फिर से उनके आत्मसम्मान को, गैरव को स्थापित किया जाए और ऐतिहासिक पृष्ठों में राजा शंकर शाह और कुँवर रघुनाथ शाह का बलिदान अंकित किया जाए। राजा शंकर शाह का बलिदान देश में किसी शासक को तोप के मुख में बांधकर उड़ाया जाना देश में ऐसा पहला बलिदान था। देश में कई अलबेले शहीद हुए लेकिन पिता-पुत्र की इस जोड़ी ने समस्त महाकौशल ही नहीं वरन् पूरे देश को अचंभित कर दिया था। लेकिन दुर्भाग्य की ही बात थी कि देश में आजादी के बाद भी लिखी गई पुस्तकों में इनके बलिदान को यथोचित स्थान नहीं मिला। इस शोध पत्र के माध्यम से यह प्रयास किया गया है कि जब मध्यप्रांत और महाकौशल के इतिहास को पुनः सँजोया जाए तो निश्चित ही राजा शंकरशाह और कुँवर रघुनाथ शाह का बलिदान और इनके अडिग आत्मविश्वास को राष्ट्रीय स्तर के लेखों एवं पुस्तकों में स्थान दिया जाए।

आज के अध्येताओं को आवश्यकता है कि फिर से इतिहास के उन महान स्वतंत्रता संग्राम नायकों को याद करें और हमारे समाज को उनका बलिदानी शौर्य गाथा बताएं। हमारी आने वाली पीढ़ी को क्षेत्रीय स्तर पर हुए विभिन्न आंदोलनों और उसके लिए शहीद हुए हमारे बलिदानियों की शहादत को उचित सम्मान दिलाया जाये।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- वद्रीनारायण, चौधरी रश्मि और नाथ संजय, 1857 का महासंग्राम वैकल्पिक इतिहास की ओर, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2010, पृ. 45-50
- सावरकर, विनायक दामोदर, 1857 का स्वातंत्र्य समर, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 98-99
- मरकाम, लक्ष्मण राज सिंह, राष्ट्रीय राजा शंकरशाह व कुँवर रघुनाथ शाह, रानी दुर्गवाती शोध संस्थान, जबलपुर, पृ. 25-26
- Jubbulpore Divisional Records, Bundle correspondence, case file No. 20 1857, p. 246-247
- Jubbulpore Divisional Records, Bundle correspondence, case file No. 20 1857, p. 217

- चौबे, महेशचंद्र और उपाध्याय मदनमोहन, जबलपुर अंतीत दर्शन, इंटेक जबलपुर, 2018, पृ. 120-121
- Madhya Pradesh district gazetteers (here by MPDG) Jabalpur, 1968, p.103
- स्वर्णकार, चंदादेवी, स्वाधीनता संग्राम में जबलपुर नगर का योगदान, अखिल भारतीय स्वतंत्रता सेनानी उत्तराधिकारी संगठन, जबलपुर जिला इकाई, पृ. 556
- गुरु, रामेश्वर और शुक्ल शंकरलाल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ. 7-8
- पाण्डेय, अनिल कुमार, मध्यप्रांत में स्वाधीनता संग्राम, गोंडी पब्लिक ट्रस्ट संस्कृति भवन, पृ. 46
- मिश्रा, जयप्रकाश, मध्यभारत में 1857 का विद्रोह, रिसर्च इंडिया प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 60-63
- Kumar, Raj, 1857A Great Rebellion, Raj Publications, New Delhi, page no. 120
- Husain, Azizuddin s- m-, 1857 Revisited, point & 98 Jabalpur, Kanishka Publishers, New Delhi, page no. 94
- गुरु, रामेश्वर और शुक्ल शंकरलाल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ. 7-8
- मिश्रा, जयप्रकाश, मध्यभारत में 1857 का विद्रोह, रिसर्च इंडिया प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 60-63
- पाण्डेय, अनिल कुमार, मध्यप्रांत में स्वाधीनता संग्राम, गोंडी पब्लिक ट्रस्ट संस्कृति भवन, पृ. 2-3
- बद्रीनारायण, चौधरी रश्मि और नाथ संजय, 1857 का महासंग्राम वैकल्पिक इतिहास की ओर, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2010, पृ. 11-12
- चौबे, देवेन्द्र बद्रीनारायण और पटेल हितेन्द्र, 1857 भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली पृ. 16-19

-गोविन्द पाण्डेय

शोध छात्र, इतिहास विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय
विश्वविद्यालय अमरकंटक मध्यप्रदेश

-पूजा दाहिया

शोध छात्रा, इतिहास विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय
विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्यप्रदेश

दिव्या उपन्यास में अभिव्यक्त राजनीतिक दृष्टिकोण

—मौहम्मद समीर मनिहार

यशपाल एक मानववादी रचनाकार हैं और मानववादी रचनाकार सम्पूर्ण व्यक्ति समुदाय के हित को केंद्र में रखकर विचार-विमर्श करता है। आधुनिक युग की यह विचारधारा सम्पूर्ण ईश्वर और परलोक के विश्वासों को खारिज कर मानव और मानव जगत को केंद्र में रखती है। मानववाद के कई रूप हैं कुछ मानववादी जैसे 'एम.एन. रॉय' और 'सार्त्र', व्यक्ति को अधिक महत्व देते हैं, जबकि कुछ मानववादी जैसे 'जवाहरलाल नेहरू', 'कार्ल मार्क्स' जैसे विचारक सामाजिक हित को केंद्र में रखते हुए व्यक्ति को स्वायत्त नहीं मानते। यशपाल चूंकि मार्क्सवादी विचारक हैं इसलिए उन्होंने मानववाद के उस प्रारूप पर बल दिया है जिसमें सामाजिक वंचन, शोषण एवं दमन आदि के विरुद्ध प्रतिरोध दर्ज किया जाता है।

दिव्या एक ऐतिहासिक उपन्यास है और यशपाल ने अपनी अंतर्दृष्टि से न केवल ऐतिहासिक परिवेश को बखूबी चित्रित किया है बल्कि अपने समाज की हर घटना और हर पहलू को यशपाल ने काल्पनिक आधार बनाकर अभिव्यक्त करने कि कोशिश की है। अपने समय में होते परिवर्तन को देखकर यशपाल चुप बैठने वालों में से नहीं थे, वे अपने समक्ष हो रही उथल-पुथल को दिव्या उपन्यास के माध्यम से उसे यथार्थ रूप देते हैं। स्वयं प्राक्कथन में लेखक यशपाल का कहना है—“दिव्या इतिहास नहीं ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।” दिव्या उपन्यास के अंतर्गत यशपाल ने राजनीति के कई पहलुओं को उजागर किया है जिसमें तत्कालीन राजनीति के स्वरूप को ऐतिहासिक जामे के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज में जिस प्रकार हमेशा से ही राजनीति सभी व्यवस्थाओं से ऊपर रही है और समक्ष शासन के अंतर्गत राजनीति का ही दखल रहा है। चाहे वह 1976 का आपातकाल का समय रहा हो या प्रायः कुछ विचारकों की माने तो वर्तमान का। इसी प्रकार उसका संबंध ऐतिहासिक काल से भी रहा है। यशपाल 'धर्मस्थ देव शर्मा' जो की सागल की न्याय व्यवस्था के सर्वोच्च न्यायविद या सर्वोच्च स्तम्भ हैं, के माध्यम से यह बताने का प्रयास करते हैं कि न्याय की धारणा वस्तुनिष्ठ नहीं होती बल्कि शक्तिशाली वर्ग के दृष्टिकोण से तय होती है। इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहते हैं—“धर्मस्थान कोई स्वयंभू और स्वतंत्र वस्तु नहीं है। वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जित्वा है। इतने समय पर्यंत न्याय की

व्यवस्था देते रहने से मैं यही समझ पाया हूँ की न्याय व्यवस्थापक के अधीन है’। दिव्या में तत्कालीन राजनीति का व्यांग्यपूर्ण चित्र भी प्रस्तुत किया गया है जिसके अंतर्गत शासक वर्ग का ऐसा सामंती स्वरूप उजागर होता है जिसमें वे जनता के आयकरों द्वारा प्राप्त संसाधनों का प्रयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए करते नजर आते हैं। वहीं दूसरी ओर उसी जनता का शोषण भी इस सामंतवादी शासन की व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है। जैसा की मारिश कहता भी है—‘मित्र यहीं तो अनोखी चाल है। कुत्ता कुत्ते को काटता है और मालिक के अन्न की रक्षा करता है। वैसे ही हम-तुम राजपुरुषों की प्रसन्नता के लिए एक-दूसरे का हनन करते हैं।’

उपन्यास में वर्णित इस सामंती वर्ग की प्रवृत्ति सत्तालोलुपता की ओर है न कि जनकल्याण के प्रति। मनुष्य अपनी सामान्य प्रवृत्ति में लालची ही है, इसी के कारण तो इतने भीषण नरसंहार व युद्ध हुए हैं, संसार में। इसी प्रकार की सत्ता के लालच के कारण उत्पन्न एक युद्ध का वर्णन उपन्यास ‘दिव्या’ में भी है और उससे उत्पन्न विभीषिकाओं का भी। इस सत्ता के खेल में एक चीज जो कभी नहीं बदलती वे यह की जनता सदैव ही राजनीतिज्ञों व राजनीति के हाथों की कठपुतली मात्र बनकर रह गई है। उसकी एकमात्र नियति यही है कि वे इन सत्ता के लोभी शासकों के अनियंत्रित व्यवहारों से उत्पन्न युद्धों को झेलें और उनकी जय-जयकार भी करें। इस प्रकार जनता केवल और केवल शासकों की स्वार्थपूर्ण राजनीतिक हितों की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह जाती है। ‘महाश्रेष्ठी प्रेस्थ’ भी अपने पुत्र पृथुसेन को इसी संदर्भ में समझाता है कि राजनीति में सत्ता संपत्ति एवं वर्चस्व पाने का अवसर मिलता नहीं, बनाना पड़ता है। ‘जन यदि असन्तुष्ट है तो संतुष्ट भी हो सकता है। जन का संतोष और सहयोग आवश्यक है परंतु वह संतोष और सहयोग सामंत स्वार्थ और आचार्य प्रबर्धन के प्रति नहीं, गणपति, श्रेष्ठी प्रेस्थ, और सेनापति पृथुसेन के प्रति होना चाहिए। समझो!।’

केन्द्र से युद्ध की स्थिति उत्पन्न होने पर भोग विलास में लिप्त सामंत जनता पर राज्य बलि को बढ़ाकर तथा लोगों को बलात सेना में सम्मिलित करके जनता को युद्ध को युद्ध की विभीषिका से युद्ध होने से पहले ही त्रस्त कर देते हैं। गरीब जनता इस शोषण का सर्वाधिक शिकार होती है जबकि व्यापारी, श्रेष्ठी व अन्य उच्च वर्ग इस अवसर का लाभ उठाकर अपनी तिजोरियाँ भरने में लगे रहते हैं। जनता के इतने शोषण के बावजूद सागर के सामंतों का केंद्र से युद्ध के प्रति दृष्टिकोण पूरी तरह निष्क्रिय दिखाई

पड़ता है। इस युद्ध के द्वारा भी वह अपने निजी स्वार्थ की पूर्ति करने का मार्ग ढूँढ़ने की योजनाएं बनाते हुए दिखते हैं। जहां एक ओर पौरव वंश के कुमार इंद्रीप पौरव वंश की पुनर्स्थापना द्वारा हवाई महल बनाने के सपनों में रत हैं, तो वहीं आचार्य प्रवर्धन वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्स्थापना का विचार लिए हैं। जो मगध-राज पुष्यमित्र की रक्षार्थ, राह देख रहे हैं। तीसरी ओर महाश्रेष्ठी प्रेस्थ है जो इस अवसर का लाभ उठाकर अपनी व अपने पुत्र पृथुसेन की स्थिति को मजबूत करना चाहता है और उसे महा सेनापति बनाना चाहता है। पृथुसेन स्वयं इन सब घड़यंत्र से त्रस्त होकर कहता है—‘दुर्दीर्त केंद्रस मद्र की ग्रीवा पर अपना निर्मम पादत्राण रखे हैं और मद्र के नायकों में यह घड़यंत्र चल रहा है। इसके तुरंत बाद वह दिव्या को संबोधित करता हुआ कहता है कि कोई नहीं सोचता पुष्यमित्र हो या केंद्रस मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिए कोई अपना रक्त बहाने नहीं आएगा। उन्हें प्रयोजन है अपने साम्राज्य अपने साम्राज्य विस्तार से मद्र की भूमि के धन द्रव्य से।’

यशपाल ने तत्कालीन जीर्ण होती शासन व्यवस्था पर करारी चोट की है। सामंती शासकों के अत्याचारों से त्रस्त जनता स्वयं भी उनकी आतंक से अनभिज्ञ नहीं है बल्कि वह इस विषय पर शराब के नशे में ही सही परंतु खुलकर अपने विचार रखते हैं। शराब बेचने वाली एक वृद्धा से सैनिक का मूल्य को लेकर विवाद होने पर वह खुलकर राज्य व शासकों की नीति की भर्त्सना करता है—संग्राम यज्ञ की विशेष बलि एकत्र करने से राज पुरुषों का धन खूब बढ़ेगा। बुढ़िया तेरे दो स्वर्ण मुद्रा में से एक धन कोष में जाएगा और एक राज पुरुषों के घर में। केंद्रस हमें क्या लूटेगा? उससे पूर्व मद्र के राज पुरुष ही हमें लूट लेंगे।’ नारी शोषण के विषय में वर्तमान युग की बात ही मध्ययुग की या प्राचीन युग की, नारी को सदैव ही राजनीति के पंजों का शिकार होना पड़ा है। उसके स्वत्व, उसकी गरिमा, उसकी कोमल भावनाओं का कभी विचार नहीं किया गया। ‘दिव्या’ में भी तत्कालीन समाज में राजनीतिक घड़यंत्रों का शिकार होती नारी का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास की प्रधान-पात्र ‘दिव्या’ ही वास्तव में सर्वाधिक राजनीतिक दांव-पेचों की पीड़िता के रूप में नजर आती है। उपन्यास में नारी को केवल पुरुष की भोग्या एवं उस पर आश्रित के रूप में चित्रित किया गया है। महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के द्वारा यशपाल उसी भोगवादी दृष्टिकोण को उजागर करते हैं जिसमें नारी सिर्फ भोग की जाने वाली वस्तु है जैसा कि आज के उपभोक्तावादी दौर में भी नारी के वस्तुकरण की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यह पृथुसेन को स्त्री के संदर्भ में

समझाते हुए कहता है—“पुत्र, स्त्री जीवन की पूर्ति नहीं, जीवन की पूर्ति का एक उपकरण और साधन मात्र है। सामर्थ्यवान्, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियां प्राप्त कर सकता है परंतु सफलता के अवसर जीवन में अनेक नहीं आते।” राजनीतिक परिस्थितियों के बदलाव के साथ ही शतरंज की विसात पर मोहरों के समान ही स्त्रियां भी बदल जाती हैं। महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के दृष्टिकोण से स्त्री केवल पुरुषों के हितों को पूर्ण करने का साधन मात्र के रूप में उपयोगी है। पहले जब पृथुसेन के लिए राजनीतिक हित में दिव्या का साथ उपयोगी था तब तक दिव्या का महत्व रहा किंतु जब युद्ध के पश्चात महा गणपति की पौत्री सीरो से विवाह करने में प्रथुसेन का अधिक राजनीतिक हित दिखाई देने लगा तो दिव्या को ऐसे निकाल फेंका जैसे उसका कोई मोल ही न था।

तत्कालीन समाज पर बौद्ध धर्म का भी अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। बौद्ध धर्म अपने समय का बहुत ही प्रगतिवादी, उदारवादी एवं सुधारवादी तथा वर्ण-व्यवस्था की कुरीतियों के निदान की आवश्यकता से उपजा एक धर्म था जिसने इतिहास को व्यापक रूप में प्रभावित किया। देखा जाए तो इतिहास, धर्म और राजनीति, वस्तुतः एक ही हैं। राजनीति कम समय के लिए अपनाया गया धर्म है और धर्म लंबे समय के लिए अपनाई गई राजनीति। इसी को लिखकर इतिहास का नाम दे दिया जाता है परंतु बौद्ध धर्म के इतिहास में भी नारी के हिस्से में असहिष्णुता ही आती है। दिव्या जब दासी दारा के रूप में अपने और अपने पुत्र शाकुल के लिए शरण मांगने जाती है तब स्थिर उसे उत्तर देते हैं—“देवी, धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति के बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।” दिव्या निवेदन करती है—“परंतु देव, भगवान् तथागत ने तो वैश्या आप्नपाली को भी संघ में शरण दी थी।” इस पर स्थिर उत्तर देते हैं—“‘वैश्या’ स्वतंत्र नारी है, देवी।” यह दृष्टिकोण सिर्फ बौद्ध धर्म का ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय दर्शनों का भी है (चरवाको के अतिरिक्त)। इस प्रकार यशपाल बौद्ध धर्म की दोहरी मानसिकता को यहां प्रदर्शित करते हुए दिखाते हैं कि जो बौद्ध धर्म, वर्ण संबंधी मामलों में अत्यधिक क्रांतिकारी था, नारी के संबंध में वह भी किस प्रकार तत्कालीन समाज की मानसिकता की बेड़ी में उलझ कर रह जाता है। ये सभी दर्शन नारी को त्याज्य मानते रहे हैं।

दिव्या उपन्यास के अंतर्गत यशपाल ने मानववादी विचारधारा को केंद्र में रखते हुए मानवीय संबंधों का सूत्रपात किया है। उन्होंने मानवीय भावनाओं को विभिन्न रूपों में

चित्रित किया है तथा स्पष्ट किया है कि समाज की सभी समस्याएं स्वयं मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और यदि मनुष्य विद्रोह करने की ताकत रखता हो तो वह बड़े से बड़े ढांचों को तोड़ सकता है। जैसा कि वे प्राक्कथन में कहते हैं—“मनुष्य भोक्ता नहीं करता है। सम्पूर्ण माया मनुष्य की क्रीड़ा है।” दिव्या में विभिन्न मानवीय संबंधों में गंभीर उठा-पटक की स्थिति दिखाई पड़ती है जो कि कई बार राजनीतिक अंतर्द्धारों के कारण बहुत हद तक संचालित एवं प्रभावित होती है। सबसे प्रमुख तो दिव्या एवं पृथुसेन का ही प्रेम संबंध आता है जो पृथुसेन के पिता महाश्रेष्ठी प्रेस्थ की राजनीतिक महत्वाकांक्षा की बलि चढ़ जाता है। अपने पुत्र को मद्र का महा-सेनापति बनाकर उसे वे स्वयं के कुल को मद्र में महत्ता दिलाने की उनकी महत्वाकांक्षा के कारण, पृथुसेन का विवाह गणपति की पौत्री सीरो से करके, दिव्या को उसके हाल पर छोड़ दिया जाता है। इसी संदर्भ में प्रेस्थ पृथुसेन से कहता है—“पुत्र, आवेग एक वस्तु है, जीवन दूसरी। जीवन जल का पात्र है, आवेग उसमें एक बुद्धिमता है। जीवन की सफलता के लिए किसी समय आवेग का दमन आवश्यक हो जाता है।”

मानवीय संबंधों की कतार में दूसरा रिश्ता जो राजनीति की बेदी पर भेट होता है वह है पृथुसेन और सीरो का। पृथुसेन वास्तव में दिव्या को प्रेम करता है और उसी से विवाह करना चाहता है परंतु अपने पिता की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण उसे सीरो से विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वहीं सीरो, पृथुसेन से विवाह करके भी उग्र नारीवादी विचारधारा का अनुनय करती हुई स्वच्छ जीवन शैली को अपना लेती है। वस्तुतः यह पति-पत्नी का संबंध प्रेम में समर्पण के स्थान पर पूर्णतः राजनीतिक लाभ की प्रेरणा से निर्मित एक संबंध है जिसमें पृथुसेन और सीरो दोनों ही प्रसन्न नहीं हैं। इसलिए वे अपनी प्रसन्नता को अन्य स्त्रियों वे पुरुषों से संबंध बनाकर प्राप्त करना चाहते हैं। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं तथा सत्ता का लालच इन मानवीय संबंधों के समस्त भावनात्मक धारणों को तोड़कर इन्हें राजनीतिक संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक दलदल में ले जाकर धकेल देता है जिसकी अंतिम परिणति में दिव्या एक छिप कुमारी कुलीन कन्या से ‘वैश्या’ और पृथुसेन ‘भिक्षु पृथुसेन’ के रूप में बाहर निकलते हैं और पृथुसेन का समस्त कुल इसी राजनीतिक संघर्ष की अग्नि में जलकर स्वाहा हो जाते हैं।

यशपाल आधुनिक काल के प्रगतिशील उपन्यासकार है। इसलिए वह स्वयं को घोषित रूप में मार्क्सवादी विचारक के तौर पर स्वीकार करते हैं। उनके कई अन्य उपन्यास

जैसे ‘पार्टी कॉमरेड’, ‘दादा कॉमरेड’ आदि में यह साफ तौर पर दिखाई भी देता है। जहां तक दिव्या का सवाल है तो दिव्या का कथानक बौद्ध काल से संबंधित है इसलिए मार्क्सवाद का स्थूल प्रभाव इसमें नजर नहीं आता। परंतु हाँ मार्क्सवाद के मूल्यों का प्रक्षेपण सूक्ष्म स्तर पर रचना के अंतर्गत देखा जा सकता है। मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है इसलिए वह शरीर से भिन्न आत्मा और इहलोक के सिवा किसी परलोक या ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। उस परियेश के अनुसार मार्क्सवाद को सीधे नहीं दिखा सकते थे लेकिन भारत के लोकायत दर्शन परंपरा के चारोंकार दर्शन जो की नास्तिक दर्शन है का प्रयोग कर मार्क्सवाद के मूल्य, मारिश के माध्यम से प्रक्षेपित करने का प्रयास करते हैं। दूसरी तरफ मार्क्सवाद समतामूलक दर्शन है जो हर प्रकार की विषमता का विरोध करता है जिसकी मान्यता है समाज में होने वाली सभी विषमताएँ अन्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था से ही जन्म लेती हैं। दिव्या में दो तीन जगह विषमताएँ दिखाई गई हैं जिसमें सबसे भयावह स्थिति दासों तथा दासियों की है। आदिम साम्यवाद के बाद मनुष्य के इतिहास में सबसे ज्यादा यदि अमानवीय अवस्था आई है तो वह दास प्रथा की दिखाई देती है। यह व्यवस्था सबसे अमानवीय इसलिए भी थी क्योंकि इसमें शोषित वर्ग अर्थात् दास वर्ग के पास अपने शरीर या संतानों का भी अधिकार नहीं था। यशपाल ने कई जगह दास-दासियों का मर्मभेदी वर्णन किया है उदाहरण के लिए—‘वे (दासियाँ) प्रति अठारह मास पश्चात् संतान उपन्न करती थी। प्रतूल इन दासियों को न बेचकर उनकी संतान बेचता था। अभ्यास हो जाने के कारण ये दासियाँ संतान वियोग के दुख सहज ही सह जाती थी।’ जब दिव्या स्वयं दासी बनती है, तब उसकी स्थिति भी इतनी ही दारुण हो जाती है—‘स्वामिनी की आज्ञा थी पहले स्वामिनी के पुत्र को स्तन-पान करवाकर वह अपने पुत्र को स्तन्य दे।’

उपन्यास में जो विषमताएँ दिखाई गई हैं उनमें से एक वर्णगत या जातीय विषमता भी है। जातीय विषमता किसी व्यक्ति को उसके जन्म के संयोग के आधार पर जीवन भर के लिए कई अधिकारों से वंचित कर देती है और महत्वपूर्ण संसाधनों को विशिष्ट वर्ग के लिए आरक्षित कर देती है। पृथुसेन इस उपन्यास का सर्वाधिक योग्य व सक्षम व्यक्ति है किंतु उसका अवर्ण होना उसकी सबसे बड़ी योग्यताओं पर भी भारी पड़ता है। वह सोचता है—‘जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार संभव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती।...जन्म के

अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य देव से ले?...या उन लोगों से ले जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए जन्म से असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है?...

वर्तमान युग में राजनीतिक तख्ता पलट केवल स्थानांतर, बांग्लादेश या श्रीलंका जैसे देशों की घटना नहीं है, अपितु यशपाल ने दिव्या के माध्यम से अपनी शंकाओं को अपने समय में भी व्यक्त करने का प्रयास किया है। पृथुसेन का अवर्ण होने के बावजूद राज्य के सबसे बड़े पद पर बैठ जाना वर्ण व्यवस्था के समर्थकों को बुरी तरह खटक रहा था जिसके परिणाम स्वरूप रुद्रधीर को देश निकाला से लौटते ही वह पृथुसेन को गढ़ी से हटाने का घड़यन्त्र रचते हैं और अंततः प्रेस्थ और उसके समस्त समर्थकों को खत्म करके अपने आप को विजय घोषित कर लेते हैं जो इस बात का संकेत देता है कि गणतंत्र कितना भी परिपक्व हो, शासन केवल भ्रष्ट हाथों में ही फंसा रहता है। दिव्या में राजनीतिक चेतना के संबंध में ‘रामविलास शर्मा’ का कथन है—“यशपाल का सबसे प्रभावशाली उपन्यास दिव्या है। कारण कि यहाँ राजनीति की स्लिप लड़खड़ाती नहीं है” इस प्रकार यशपाल न केवल सामंत कालीन भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं, बल्कि राजनीति के दांव-पेंच में फंसी जनता के शोषण और दमन का चित्र भी प्रस्तुत करने में सफल रहते हैं।

संदर्भ एवं आधार ग्रंथ सूची

1. दिव्या (बौद्ध कालीन उपन्यास) यशपाल, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण, 2019
2. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984
3. यशपाल का उपन्यास, गोपाल कृष्ण शर्मा, साहित्य नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2004
4. यशपाल—एक समग्र मूल्यांकन, सुनील कुमार लवट पराग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1984
5. यशपाल और हिंदी कथा साहित्य—सुरेशचंद्र तिवारी, पृ. 83
6. यशपाल के उपन्यासों में नारी जीवन की समस्याएँ, डॉ. योगेश कुमारी सुरी, पृ. 229

—पौहम्पद समीर पनिहार

शोधार्थी

140 गली नंबर 9 इकरा मस्जिद के पास,
वजीराबाद गाँव, नई दिल्ली-110084

वर्तमान सामाजिक परिवेश में बुजुर्ग पीढ़ी : एक व्यावहारिक अध्ययन

—डॉ. हरिन्द्र कुमार
—डॉ. हरिन्द्र कुमार

इस यथार्थ से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक परिवार की नींव परिवार के बुजुर्ग से ही मजबूत होती है परिवार की बुजुर्ग पीढ़ी विशेष रूप से भारतीय समाज में तो यह माना जाता रहा है कि जिस घर में बड़े-बुजुर्गों का आशीर्वाद होता है वहां हमेशा समृद्धि का वास होता है। पर क्या आज भी लोग ऐसा ही सोचते या मानते हैं, संभवतः नहीं, अधिकांश लोग ऐसा नहीं सोचते। अगर सोचते तो हेल्पएज इंडिया द्वारा बुजुर्गों पर किये गए सर्वे में इस तरह के परिणाम सामने नहीं आते जो कि सामाजिक सम्बन्धों के लिए किये गये सर्वे में देखने को मिले हैं। हेल्पएज इंडिया द्वारा किए गए एक सर्वे के अनुसार 82 फीसदी बुजुर्ग अपने परिवार में रहते हैं लेकिन उनमें से अधिकांश बुजुर्ग अपने बेटों और बहुओं से खुद को पीड़ित असहाय महसूस करते हैं। घर वालों के अमानवीय व्यवहार या दुर्व्यवहार के कारण तीन चौथाई से ज्यादा बुजुर्ग परिवार में रहने के बावजूद अकेलेपन का शिकार हो रहे हैं।

सर्वे के मुताबिक देश में 59 फीसदी बुजुर्गों को यह लगता लगता है कि समाज में बुजुर्गों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। हालांकि केवल 10 फीसदी ने ही इस बात को स्वीकार किया कि वे भी दुर्व्यवहार के शिकार हैं। संभवतः अपने प्रति होने वाले दुर्व्यवहार को स्वीकार न करना या किसी भी पारिवारिक परिस्थिति के चलते किसी न किसी कारण से साझा करना या मजबूर होकर समझौता करने का कारण परिवार का सोशल स्टेटस होता है कि लोग उनके परिवार, उनकी परवरिश के बारे में क्या सोचेंगे। इसलिए अधिकांश बुजुर्गों ने यह स्वीकार नहीं किया कि वे परिवार में किस तरह के अकेलेपन या उपेक्षा के शिकार हैं। सर्वे में यह भी सामने आया कि इनमें से 36 फीसदी बुजुर्ग अपने रिश्तेदारों, 35 फीसदी बेटे और 21 फीसदी बहू से परेशान हैं। वहीं 57 फीसदी अनादर, 38 फीसदी मौखिक दुर्व्यवहार, 33 फीसदी उपेक्षा, 24 फीसदी आर्थिक शोषण और 13 फीसदी बुजुर्गों ने शारीरिक शोषण को झेला है।

इन सभी आंकड़ों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि इन घटनाओं के लिए बहुत हद तक परिवारों की

भौतिकवादी संस्कृति ही जिम्मेदार है। प्रारम्भ से ही भारत में यह प्रथा रही है कि परिवार में माता-पिता अपने बच्चों के भविष्य के लिए अपनी सारी जमा पूँजी अपने बच्चों के पालन-पोषण और करियर बनाने में लगा देते हैं। इस उम्मीद के साथ कि उनके बुढ़ापे में वे उनका सहारा बनेंगे। इसलिए वे अपने भविष्य की चिंता किये बिना उनकी शिक्षा और भविष्य को सुधारने के लिए एवं अच्छे कल की उम्मीद पर और उनका अच्छा भविष्य बनाने पर सब कुछ खर्च कर देते हैं। लेकिन जब बच्चे अपने करियर में सफल होकर अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं या यूं कहें कि कमाने लगते हैं तो वे अपने माता-पिता को छोड़कर अपने देश, राज्य या शहर से बाहर जाकर अपनी नयी दुनिया बसा लेते हैं। क्योंकि आज की पीढ़ी के लिए परिवार का मतलब पति-पत्नी और उसके बच्चे हैं। उन्हें अपने माता-पिता या भाई-बहनों से कोई सरोकार नहीं होता। या फिर मासिक खर्च भेजकर अपने कर्तव्य को पूरा करे या पैसा देकर अपनी अहम जिम्मेदारी से दूर होते चले जाते हैं। यह भी मान कर चलते हैं कि हम अपनी जिम्मेदारी पैसा देकर पूर्ण कर देते हैं। आज के डिजिटल युग में भावनाओं का महत्व समाप्त हो चुका है। उन्हें अपने माता-पिता से केवल धन और संपत्ति चाहिए होती है लेकिन उनकी जिम्मेदारी लेने के लिए वे तैयार नहीं होते। क्योंकि उनका मानना है कि माता-पिता ने उनके लिए जो भी किया है वो उनका फर्ज था कोई एहसान नहीं किया। ऐसी सोच वाली पीढ़ी से देखभाल की उम्मीद रखना रेगिस्तान में पानी ढूँढ़ने जैसा ही है परन्तु ऐसा भी नहीं कि लोग इन बातों से परिचित नहीं हैं। इसके बावजूद, समाज की इस गंभीर समस्या के प्रति लोगों में जागरूकता फैलाने के लिए समय-समय पर कई फिल्में और धारावाहिक बने जो समाज का एक दर्पण ही होता है। उनमें अनेक प्रकार के उदाहरण पेश भी किये जाते हैं कि परिवार के लोगों की क्या जिम्मेदारी है कि कितने के द्वारा समाज के अनेक देखे अनदेखे पहलुओं को दर्शाया जाता रहा है। इसी का एक उदाहरण फिल्म 'बागावान' सभी को याद होगी किस तरह इस फिल्म में बच्चे अपने माता-पिता को कुछ-कुछ समय के लिए बारी-बारी से अपने पास रखने को तैयार होते हैं ताकि किसी एक बच्चे पर उनका भार न पड़े और उनके साथ न केवल दुर्घटनाकरते हैं बल्कि उनकी स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को फिजूलखर्ची समझ कर उनकी उपेक्षा भी करते हैं। इसी तरह आजकल टेलीविजन पर 'स्वरण घर' नामक एक धारावाहिक दिखाया जा रहा है उसमें भी तीन-तीन बेटे होते हुए भी पिता की बीमारी का खर्च उठाने से वे मना कर देते

हैं और विदेश में अपने-अपने परिवार के साथ ऐश के साथ जीवन व्यतीत करते रहते हैं। पिता के मरने पर उनकी संपत्ति में से हिस्सा लेने के लिए भारत लौट आते हैं और माँ के विरुद्ध मुकदमा दायर कर अपने हिस्से की माँग करते हैं। सच ही कहते हैं कि फिल्म या नाटक जीवन दृश्य भी है। यह यह कहते भी हैं न कि मीडिया समाज का आइना होता है और यह सच ही तो है।

लेकिन विरोधाभास तो देखिये यही पीढ़ी जब इन धारावाहिकों या फिल्मों को देखती है तो उनकी आंखे नम हो जाती हैं और सिनेमाहाल से बाहर आकर वे भी वैसा ही व्यवहार अपनी बुजुर्ग पीढ़ी के साथ करने में कोई कसर नहीं छोड़ती। सोशल मीडिया पर यांगी फेसबुक, व्हाट्सएप पर अपने स्टेटस में ऐसे-ऐसे मैसेज या स्लोगन लगाते हैं जिनसे पता चलता है कि वे रिश्तों की कितनी कदर करते हैं। उनके माता-पिता, परिवारी-जन उनके लिए कितने महत्वपूर्ण हैं। लेकिन वास्तव में उनके पास अपनी बुजुर्ग पीढ़ी के लिए समय ही नहीं होता तो भावनाएं कहाँ से आएँगी। यह उम्र का ऐसा पड़ाव होता है जहाँ इंसान का मन और शरीर दोनों शिथिल होने लगते हैं। ऐसे में उन्हें अपने बच्चों के सहारे की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है विशेष रूप से भावनात्मक सहारे की जरूरत ज्यादा होती है। ऐसे में बुजुर्गों में तनाव, निराशा और अकेलापन जैसे लक्षण उभरना सामान्य बात है। अनेक शोधों में यह सामने आया कि अकेलेपन के कारण बुजुर्गों में डिमेंशिया (दिमाग की क्षमता का निरंतर कम होना) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। चिकित्सकों के अनुसार डिमेंशिया का मरीज शारीरिक रूप से नहीं बल्कि मानसिक रूप से कमजोर हो जाता है। यहाँ तक कि दैनिक कार्यों को पूरा करने के लिए भी उसे दूसरों की मदद लेनी पड़ती है। यह त्रासदी ही तो है कि ऐसे में उन्हें जब परिवार की और अपने बच्चों की सबसे ज्यादा जरूरत होती है तब वे उनके पास नहीं होते। अनेक घटनाएँ सुनने और देखने में आती हैं कि बंद घर/फ्लैट में बुजुर्ग व्यक्ति या दंपति मृत मिले अथवा घरेलु नौकर ने लूट की नियत से उनकी हत्या कर दी आदि आदि।

आज के उपभोक्तावादी समाज में अनेक लोग अपने परिवार के बुजुर्गों के साथ ही दोहरी जिन्दगी का मॉडल पेश करते हैं जब उन्हें अपने बुजुर्गों की आवश्यकता होती है तो अपने मतलब के लिए गिरगिट की तरह रंग बदलकर अपना मतलब निकाल ही लेते हैं और जैसे ही मतलब निकल जाता है उसके बाद फिर दोबारा से उनको उनके हाल पर जीवन व्यतीत करने के लिए छोड़ देते हैं। उनके

लिए परिवार के बुजुर्गों के लिए संवेदना, अपनापन, संबंध, भावनाएं, प्रतिबद्धता और त्याग जैसे भाव अब अर्थहीन हो चुके हैं। इनके स्थान पर भौतिकतावादी वस्तुएं जैसे गजेट्स, ब्रॉडेंड सामान, सोशल मीडिया पर अपने उच्च स्टेटस का दिखावा युवा पीढ़ी पर इतना हावी हो गया है कि परिवार के बुजुर्ग सदस्य और उनकी समस्याएं उन्हें दिखाई ही नहीं देती। साथ ही सोशल मीडिया पर आज की पीढ़ी ऐसे स्टेट्स बदलती है जैसे कोई व्यक्ति अपनी दिनचर्या में कपड़े बदलता है। साथ ही अपने माता-पिता की संपत्ति तो सभी बच्चों को चाहिए पर उन्हें अपने साथ रखने, उनकी देखभाल करने से उनकी आजादी में व्यवधान पड़ने के साथ-साथ उनके लिंगिंग स्टैण्डर्ड में भी फर्क पड़ता है। माता-पिता अगर बच्चों को फिजूलखर्चों के लिए टोके या अनुशासन सिखाएं तो उन्हें लगता है कि वे सठिया गए हैं, रुढ़िवादी हैं अपनी जिन्दगी तो जी ली हमारी खराब कर रहे हैं। यही सोच इस नयी पीढ़ी को अपने बुजुर्गों से दूर कर रही है।

आज के आधुनिक डिजिटल समाज में अधिकांश काम ऑनलाइन होने लगे हैं लेकिन यह भी सच है कि आज भी अधिकांश बुजुर्ग डिजिटल तकनीक या विभिन्न ऑनलाइन सुविधाओं का उपभोग आसानी से नहीं कर पाते हैं। सर्वे के अनुसार 71 फीसदी बुजुर्गों के पास स्मार्टफोन नहीं है और जो लोग स्मार्टफोन का उपयोग करते हैं वे भी इसके लाभों से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। और वे इसका उपयोग मुख्य रूप से कॉलिंग (49 प्रतिशत), सोशल मीडिया (30 प्रतिशत) और बैंकिंग लेनदेन (17 प्रतिशत) के लिए करते हैं। वे जब भी अपने बच्चों से स्मार्टफोन के इस्तेमाल को सिखाने के लिए कहते हैं तो वे यह कहकर टाल जाते हैं कि आप को अब इसकी क्या आवश्यकता है या इसे सीख कर आपको क्या करना है या यह सब आपके बस की बात नहीं इसलिए आप तो रहने दो आपको नहीं आएंगा। बच्चे भूल जाते हैं कि जब बचपन में उन्हें एक ही चीज कई बार सिखाने पर भी नहीं आती थी तो यही माता-पिता उन्हें वही चीज बार-बार हंसकर सिखाते थे। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज में पीढ़ी अन्तराल तो सदियों से चला आ रहा है, दो पीढ़ियों की सोच और व्यवहार में अंतर सामान्य सी बात है। लेकिन एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को हाशिए पर खड़ा कर देना, उन्हें अर्थहीन मानना या खुद पर बोझ मानना समाज के समक्ष अनेक तरह के जोखिम उत्पन्न कर रहा है। अध्ययन के दौरान 40 फीसदी बुजुर्गों ने यह भी स्वीकार किया कि वे स्वयं को आर्थिक रूप से सुरक्षित महसूस नहीं

करते। परम्परागत परिवारों में माता-पिता हमेशा से ही अपनी सारी बचत और जमा पूँजी अपने बच्चों पर खर्च करते आये हैं। उन्होंने कभी यह सोचा ही नहीं होगा कि उनके बच्चे उनके साथ उपेक्षित व्यवहार करेंगे। सारी उम्र वे अपनी इच्छाओं को मारते रहते हैं। यह सोचकर वे अपनी इच्छाओं पर खर्च नहीं करते कि उनके बच्चों के लिए काम आयेंगे। परंतु वही बच्चे उन्हें बुढ़ापे में बोझ मानकर उन्हें बृद्धाश्रम भेज देते हैं या फिर घर में ही उन्हें उपेक्षित जीवन जीने के लिए बाध्य कर देते हैं। इसलिए परिवार में अब इनकी न तो पहले जैसी प्रतिष्ठा है, न परिवार इनकी देखभाल कर पा रहा है, और न ही राज्य इनके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर पा रहा है। इसलिए ये पीढ़ी सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा और भावनात्मक व मनोवैज्ञानिक असुरक्षा का शिकार हो रही है। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक और निजी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में परिवार की भूमिका अब कम महत्वपूर्ण हो गई है। इसके लिए दोष किसे दिया जाये, यह एक चिंतन का विषय हो सकता है? इन परिवर्तनों ने समाज में असुरक्षा, अस्थिरता, तनाव को बढ़ावा दिया है जो अब परिवारों में भी प्रवेश कर चुके हैं। रिपोर्ट के अनुसार 47 फीसदी बुजुर्ग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए परिवार पर निर्भर हैं, 34 फीसदी पेंशन पर निर्भर हैं और 21 फीसदी बुजुर्ग अभी भी खुद काम कर रहे हैं और कमा रहे हैं। 57 फीसदी अपने खर्चे अपनी बचत या आय से अधिक होने के कारण आर्थिक रूप से असुरक्षित महसूस करते हैं। 45 फीसदी ने पेंशन की अपर्याप्तता और 38 फीसदी ने रोजगार की कमी की सूचना दी। इसके अतिरिक्त 67 फीसदी बुजुर्गों के पास कोई स्वास्थ्य बीमा भी नहीं है। इन अनेक कारणों से समाज के वरिष्ठ नागरिक घुट-घुट कर जीवन जीने को बाध्य हुए हैं। ऐसे अलगावित व्यक्ति आज के उपभोक्तावादी दौर में घुट-घुट कर जीवन जीने को मजबूर हैं या यह हिस्सा कि ये समाज का कटा हुआ वह हिस्सा है जो न तो परिवार में जीवन व्यतीत कर पा रहे हैं और न ही अपने समाज में सामजिक बैठा पा रहे हैं। इसलिए ये समाज का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है और, आश्चर्य की बात यह है कि वे लागे अपने जीवन अलगाव में जीने को तैयार हैं परन्तु अपने जीवन में बदलाव को व्यर्थ समझते हैं या यह कहकर अपनी बात खत्म करते हैं कि अब जीवन की कोई ऐसी इच्छा नहीं है जैसा है वैसा ही ठीक है। इसलिए वे स्वयं के अलगाव को समाप्त करने का कोई प्रयास भी नहीं करना चाहते। इसलिए परिवार में भय और हिंसा के पक्ष उभरे हैं। मनुष्य एवं मनुष्य के मध्य

संबंधों में अनास्था या अविश्वास उभरा है, वह अलगाव का शिकार हैं, क्योंकि अमानवीय परिवेश इतना सघन हुआ है कि वह किसी से भी अपनी इच्छाओं को साझा नहीं कर सकते। देखा जाए तो एक तरफ तो समाज में स्वतंत्रता बढ़ी है परंतु पहले की तुलना में व्यक्ति आज अधिक जकड़न में है क्योंकि उसके पास स्वाभाविक और स्वतंत्र जीवन जीने का समय ही नहीं बचा है। चूँकि अविश्वास, अधीनस्थता, धोखा, स्वार्थपरकता, भावनाओं का व्यवसायीकरण, प्रसिद्धि के द्वारा स्वयं को स्थापित करने की कोशिश जैसे पक्ष अब जीवन में शामिल हो चुके हैं। वस्तुतः वह इतना एकाकी है कि किसी पर भी भरोसा नहीं करता, उसकी आंतरिक शक्ति समाप्त हो चुकी है।

यह कह सकते हैं कि पीढ़ी अन्तर्राल को हर किसी के द्वारा समान रूप से अनुभव नहीं किया जाता है। चूँकि विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों से व्यक्ति अपनी मान्यताओं और दृष्टिकोणों को आकार देते हैं। दो पीढ़ियों के बीच पीढ़ी का अंतर तब और भी बढ़ जाता है जब दो अलग-अलग समय अवधि के विरोधाभासी सामाजिक मूल्य आपस में टकराते हैं। समाज में होने वाला तकनीकी विकास भी संस्कृति और मूल्य प्रणाली में अंतर को उत्पन्न करता है। स्मार्टफोन और 4 जी नेटवर्क जैसे आविष्कारों ने अचानक हमारे दैनिक जीवन में गति और दक्षता का स्तर तीव्र कर दिया है और मूल्यों में उसके अनुरूप ही परिवर्तन भी तीव्र हुए हैं। उदाहरण के लिए वैश्विक स्तर पर सभी शिक्षण संस्थानों में ऑनलाइन कक्षाओं की शुरुआत के साथ किताबों, कागज और कलम से सीखने की पद्धति में व्यापक बदलाव आया है। परिणामस्वरूप स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर और लैपटॉप को संचार की एक मात्र विधि के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य-सा हो गया है। डिजिटल कनेक्टिविटी तेजी से व्यक्तिगत संबंधों को खत्म कर रही है। जहां लोग एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से मिलते-जुलते थे वहां अब सोशल मीडिया के माध्यम से टेक्स्ट मैसेज या पिक्चर मैसेज कर अपनी मूल जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेते हैं। अब तो यहाँ तक चलन बढ़ गया है कि विवाह या अन्य किसी भी प्रकार के कार्यक्रम का निमंत्रण भी सोशल मीडिया के माध्यम से देकर अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया जाता है। इस चलन से समाज में यह महसूस होने लगा है कि आज की भागदौड़ वाली जिन्दगी को केवल सोशल मीडिया के द्वारा ही सम्बन्ध निभाने की परम्परा है। वृद्ध पीढ़ी सामान्यतः इस डिजिटल युग की तीव्र गति के साथ सामंजस्य नहीं कर पाती और स्वयं को अपने और समाज के बीच उपेक्षित महसूस करती है।

सन्दर्भ

1. Bookman, Ann and Delia Kimbrel, 2011, 'Families and Elder Care in the Twenty-First Century', The Future of Children 21:117-140.
2. Gilleard, Chris and Paul Higgs, 2007, 'The Third Age and the Baby Boomers: Two Approaches to the Social Structuring of Later Life' International Journal of Ageing and Later Life 2(2):13-30.
3. HelpAge India Report (2022), 'Bridge The Gap 'Understanding Elder Needs'
4. Palit, Kahini, (2020), Generation Gap: How Values Are Shaped with the Passage of Time,
5. Hussain, Samshad (2006), Dynamics of Human Behaviour Agra, H.P. Bhargava Book House.
6. Bhargava. Mahesh and Aurora, Saroj (2006) Human Behaviour and Organizational Excellence, Delhi Sunrise Publications.
7. <https://adamasuniversity.ac.in>
8. spaneshashi.blogspot.in/2016/12/blog-16.html?m=1
9. रानी वन्दना : वृद्धों की पारिवारिक स्थिति (1999), राधाकमल मुकर्जी चिन्तन परम्परा, सामाजिक विज्ञानों की शोध पत्रिका, समाज विज्ञान विकास संस्थान, चांदपुर, बिजनौर (उ. प्र.) अंक-1, जनवरी-27, पृ. 67
10. द्वेरी, परेष (2014), वृद्धावस्था के विविध आयाम, समस्याएं एवं चुनौतियाँ, राधा कमल मुकर्जी : चिन्तन परम्परा, वर्ष 16 (1), जनवरी-जून, 21-23
11. यादव, ललन (2014), वृद्धाश्रम में निवास करने वाले वृद्धों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, राधा कमल मुकर्जी : चिन्तन परम्परा, वर्ष 16(1), जनवरी-जून, 84-86
12. उमाचरण एवं अन्जू राठौर (2015), “वरिष्ठ नागरिकों के परिवेश में होने वाले परिवर्तनों की उनके सामाजिक अपवर्जन में भूमिका, राधा कमल मुकर्जी : चिन्तन परम्परा, वर्ष 17 (1) जनवरी-जून 2015, 23-26.

—डॉ. हरेन्द्र कुमार
असि.प्रो. एवं अध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग
जे. एस. हिन्दू (पी. जी.) कालेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश, पिन कोड-244221

—डॉ. हरिन्द्र कुमार
असि. प्रो. समाजशास्त्र
जे. एस. हिन्दू (पी. जी.) कालेज, अमरोहा राजकीय महाविद्यालय, बी. बी. नगर बुलन्दशहर

महर्षि दयानन्द जी के विचारों पर आधारित आर्य समाज का कन्या शिक्षा के लिए किए गये प्रयासों का अध्ययन

—डॉ अनीता सिंह
—लता शर्मा

भारतीय समाज में शिक्षा का महत्व प्राचीन समय से ही है। जिस समय विश्व का अधिकांश भू-भाग अज्ञानता के अंधकार से ग्रसित था, तब भारत व यूनान में ज्ञान फैला हुआ था। परन्तु भारत की शिक्षा व्यवस्था यूनान की तुलना में बेहतर थी, क्योंकि यूनान में स्त्री को आत्महीन समझा जाता था। उसकी स्थिति निम्नतर थी। भारत में स्त्री ज्ञान का आधार रही है। आज भी भारतीय समाज में ज्ञान की देवी सरस्वती को पूजा जाता है। हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थ वेदों की रचनाकार शत्र्या, लोपमुद्रा गार्गी व इन्द्राणी जैसी विदुषी महिलाएं रही हैं। उत्तरवैदिक काल में महिलाओं की स्थिति में थोड़ी गिरावट हुई जो जैन व बौद्ध काल में पहले से बिगड़ी, लेकिन शिक्षा पर रोक नहीं थी। मध्यकाल में विदेशी आक्रांताओं के कारण महिलाओं को बहुत सारे सामाजिक बन्धन झेलने पड़े। उनकी शिक्षा पर रोक लग गयी। अब राजपरिवारों की महिलाओं को घर पर शिक्षा मिलती थी परन्तु साधारण परिवारों में शिक्षा का प्रबन्ध न हो सका। इसके साथ ही समाज में अंधविश्वास बढ़ता गया। पर्दा प्रथा, बाल-विवाह व कन्या हत्या होने लगी। हांलाकि, उस समय में रानी दुर्गावती, रानी कर्णवती, रानी नायकी देवी व रानी संयोगिता आदि अस्त्र-शस्त्र व नीति शास्त्र में पारंगत महिलाएं भी थी। इसी क्रम में अंग्रेजों का शासन आया जिसमें महिलाओं की शिक्षा के लिए भी प्रबन्ध किया। 1854 वुड डिस्पैच, 1882 हंटर कमीशन आदि योजनायें बनायी परन्तु इन योजनाओं का कार्य शिक्षा देना नहीं ईसाईकरण करना था जो भारतीय समाज के लिए हानिकारक था। इसी समय महर्षि दयानन्द जी ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को पुनः जागृत करना। इसलिए महर्षि दयानन्द जी ने अपने शैक्षिक विचारों का पदार्पण किया जिसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा का विशेष प्रावधान था, परन्तु स्वामी जी की आकस्मिक मृत्यु के कारण उनका अधूरा कार्य आर्य समाज ने पूरा करने का प्रण लिया। इसी क्रम में आर्य समाज ने बालिकाओं के लिए शिक्षण संस्थाओं का निर्माण किया जो प्रधान रूप से दो वर्गों में बांटा जा सकता है—एक कन्या गुरुकुल और दो कन्या पाठशालायें।

कन्या गुरुकुल में उस समय के ब्रिटिश के शैक्षिक पाठ्यक्रम को नहीं लिया गया था। सरकारी विधि-विधानों से संचालित होने वाली संस्थाओं से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। ये अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम तथा नियमों को स्वीकार नहीं करते थे। ये अपना पाठ्यक्रम स्वयं निर्धारित करते तथा स्वयं के बनाये नियमों का पालन करते थे। इनके पाठ्यक्रम के अन्तर्गत वेद, वेदांग, संस्कृत, साहित्य, दर्शन, इतिहास आदि विषय थे। ये संस्थाएं आर्य जनता से एकत्र किये जाने वाले दान की सहायता से अपना खर्चा उठाती थी। 1947 में भारत के स्वतंत्र होने तक इन संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली उपाधियों को केन्द्रीय सरकारी व सरकारी विश्वविद्यालयों तथा राज्य सरकारों से कोई मान्यता नहीं ली। कन्या पाठ्यशालाओं में सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा बनाया गया पाठ्यक्रम को अपनाया गया। इसके साथ सरकार द्वारा बनाये गये कायदे-कानून अपनाया गया। इन्होंने सरकार से अपनी शैक्षिक संस्थाओं के लिए शैक्षिक अनुदान प्राप्त करने का प्रयास किया। परन्तु इनके पाठ्यक्रम की एक विशेषता भी थी, इसमें कन्याओं को आर्य संस्कृत और सभ्यता का ज्ञान धर्म शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में वेद, गीता, उपनिषद्, दर्शन तथा सत्यार्थ प्रकाश पढ़ाये जाते थे।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में कन्या गुरुकुलों का विशेष महत्व रहा है, जैसे कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली दयानन्द सरस्वती के शिक्षा दर्शन को अक्षरण: मूर्तरूप देने के लिए विकसित की गई थी। जिस प्रकार बालकों के लिए गुरुकुलों की स्थापना जैसे कि कांगड़ी वृद्धावन व ज्यालापुर स्थापित किये गये, उसी प्रकार बालिकाओं के लिए भी अनेक गुरुकुलों की स्थापना की गई, जो इस प्रकार से है :

कन्या गुरुकुल, देहरादून की स्थापना आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने की जिसका पंजीकरण गवर्नरमेन्ट ऑफ इंडिया एक्ट 21, 186. के अन्तर्गत 1884 में हुआ था। 26 नवम्बर, 1886 को आर्य प्रतिनिधि सभा ने कन्या गुरुकुल खोलने का निश्चय किया तथा इसकी परिभाषा इस प्रकार की—‘गुरुकुल उस वैदिक शिक्षणालय का नाम है जिसमें वे बालक या बालिकाएं जिनका यथोचित वेदारम्भ संस्कार हो चुका है, शिक्षा व विद्या प्राप्त करें।’¹ परन्तु यहां भी समस्या हुई क्योंकि छात्राओं के लिए भावी जीवन में काम आने वाली गृहोपयोगी विषयों का पाठ्यक्रम में शामिल करना था। इसी उलझन में कई वर्षों का समय लग गया। “1919 में आर्य रामदेव ने पाठ्यक्रम में बदलाव करके कन्या शिक्षण संस्थानों को प्रदान किया।”² प्रारम्भ में इस संस्था में विद्यालय का आठ वर्षों का तथा महाविद्यालयों

का तीन वर्षों का पाठ्यक्रम था। इसकी पाठ्यविधि व परीक्षाओं का संचालन “गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के द्वारा किया जाता था और महाविद्यालय की शिक्षा पूर्ण करने पर ‘विद्यालंकृत’ की उपाधि दी जाती थी। 1954 से चौदह वर्षों का पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इस संस्था में विद्यालय तथा महाविद्यालय विभाग है। इसके अन्तर्गत पाठ्यक्रम में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, विज्ञान, नागरिक शास्त्र, भूगोल, मनाविज्ञान, तर्कशास्त्र, ड्राइंग, अर्थशास्त्र, इतिहास, संगीत, गृहविज्ञान व समाजशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है।”³

कन्या गुरुकुल, हाथरस की स्थापना का प्रयास 1909 में हुई, “दक्षिण भारत की श्रीमती विद्यावती द्वारा दिये गये दो लाख की आर्थिक सहायता से हाथरस में गुरुकुल की स्थापना की। इसमें शिक्षा प्राप्त करने के लिए भारत के अनेक प्रान्तों से बालिकायें आती थीं परन्तु अच्छे प्रबन्ध के अभाव में 1914 में यह संस्था बन्द हो गई। लगभग 17 वर्षों के बाद इस संस्था की पुनर्स्थापना श्रीमती लक्ष्मीदेवी के प्रयासों से 28 जुलाई, 1931 को हुई। इस गुरुकुल में प्रमुख रूप से वैदिक, साहित्य, दर्शन, उपनिषद, संस्कृत, व्याकरण, साहित्य, हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, गृहविज्ञान व संगीत की शिक्षा दी जाती है। इस गुरुकुल का 14 श्रेणियों तक चार भागों में बांटा गया—प्रथम विभाग, माध्यमिक विभाग, महाविद्यालय विभाग तथा स्नातकोत्तर विभाग। 8वीं श्रेणी का पाठ्यक्रम गुरुकुल की शिक्षा समिति द्वारा निर्धारित होती है। 8वीं श्रेणी की कन्याएं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अन्तर्गत होती थी। इसके बाद 9 वीं तथा 10 वीं श्रेणी के गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृद्धावन की अधिकारी परीक्षा का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है। यह हाईस्कूल के समक्ष है। 11वीं और 12 वीं श्रेणियों में गुरुकुल विश्वविद्यालय वृद्धावन की पंडित परीक्षा तथा 13 वीं तथा 14 वीं श्रेणियों में शिरोमणि का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है।

कन्या गुरुकुल, हरिद्वार (करनाल) की स्थापना शुद्धि महासभा और अछूतोद्धार कमेटी के कार्यकर्ता ठाकुर संसार सिंह ने 27 मई, 1933 को की। इस संसार का उद्घाटन डी. ए. वी. कॉलेज के प्राचार्य लाला हंसराज द्वारा कराया गया। इस संस्था की एक मात्र विशेषता यह है कि इसमें कन्याओं को संस्कृत और आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए पूर्ण सुरक्षात्मक आवास है। इसमें भी 14 श्रेणियां हैं जिसमें संस्कृत, हिन्दी, गणित, अंग्रेजी, धर्म, इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा आयुर्वेद पाठ्यक्रम सम्मिलित हैं। 10 वीं

उत्तीर्ण करने वाली बालिकाओं के पूर्वमध्यमा 12 वीं के लिए उत्तरमध्यमा तथा 14वीं के लिए शास्त्री की उपाधियां दी जाती है। इस संस्था में सर्वप्रथम केवल कन्याओं के लिए आयुर्वेद की आचार्य श्रेणी तक की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। 1955 में इसके आयुर्वेद महाविद्यालय भवन की आधारशिला पूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने की थी तथा भवन का उद्घाटन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने किया। पहले वहां “आयुर्वेदालंकृता” की उपाधि दी जाती थी, परन्तु बाद में सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सम्बद्ध होने से यहां की छात्राओं को शास्त्री की उपाधि दी जाने लगी।

आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रेरणा पाकर गुजरात के आर्य समाजियों ने कन्या गुरुकुल की स्थापना की। 1916 में कच्च के निवासियों ने आपसी आर्थिक सहयोग से व मालवाड़ा निवासी मुकुंदजी कुंवरजी के द्वारा गुरुकुल को दिए गए 5 बीघे भूमि पर कन्या गुरुकुल की स्थापना की गई। इस गुरुकुल में हिन्दी, संस्कृत, गृह प्रबंध, पर्यार्थ विज्ञान, नृत्य व संगीत के प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था थी।¹⁵ कुछ वर्षों के बाद इस गुरुकुल को बड़ौदा में स्थापित किया गया, जहां छात्राओं को शारीरिक शिक्षा विषय पढ़ाया जाने लगा। 1933 में यहां महाविद्यालय विभाग खोला गया जिसका पाठ्यक्रम 3 वर्षों का था तथा स्नातिकाओं को “भारती समेलकृता” की उपाधि दी जाती थी। 1934 ई. में सेठ नानाजीमाई कालिदास मेहता के सुझाव पर तथा उनके व्यय पर इस महाविद्यालय की 22 छात्राएं अफ्रीका की यात्रा पर गई तथा अपने कौशल व बुद्धिमत्ता के बल पर उनको गुरुकुल के लिए दान मिला।¹⁶

जिज्ञासु स्मारक पाणिनी कन्या महाविद्यालय, वाराणसी की स्थापना स्व. पंडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की स्मृति में 1971 में 4 कन्याओं से की गई। इस विद्यालय में अष्टध्यायी, महाभाष्यादि, उच्चस्तरीय ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाता है। इसके साथ ही आधुनिक विषयों को भी पढ़ाया जाता है। श्रीमद्दयानन्द कन्या महाविद्यालय, जामनगर की स्थापना 16 जून, 1947 की हुई। यह विद्यालय सौराष्ट्र के कन्या महाविद्यालय से सम्बद्ध हो गया। कन्या गुरुकुल खानपुर कला (सोनीपत) की स्थापना 1936 में हुई तथा 1967 में यह गुरुकुल स्नातक विद्यालय तथा बाद में प्रशिक्षण महाविद्यालय बना। इसमें बी. एड. ओ. टी. आर्ट एण्ड क्राफ्ट आदि की शिक्षा आरम्भ हुई। 1972 में यहां आयुर्वेदिक महाविद्यालय खोला गया।⁷

आर्य कन्या माध्यमिक विद्यालय, भारतनगर, गाजियाबाद की स्थापना 1950 ई. में हुई। इस विद्यालय की यह

विशेषता है कि यहां पढ़ने वाली दलित कन्या व विधवाओं को निःशुल्क शिक्षा मिलती थी।⁸ उपरोक्त विवरण आर्य समाज द्वारा स्थापित गुरुकुल प्रणाली की 8 प्रमुख शिक्षण संस्थाओं का है। इसके अलावा गुरुकुल ने अन्य कन्या गुरुकुलों की स्थापना की है जो कन्या शिक्षा में बहुत उपयोगी है।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुलों की तुलना में डी. ए. वी. संस्थाओं द्वारा लड़कियों के लिए विद्यालय स्थापित करने का कार्य कुछ देर में शुरू किया तथापि इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं की वृद्धि गुरुकुलों की तुलना में अधिक हो रही है। स्वाधीनता के बाद स्त्री शिक्षा के लिए डी. ए. वी. कन्या विद्यालयों का अधिक विकास हुआ।

हंसराज महिला विद्यालय, जालंधर की स्थापना 1927 ई. में लाला हंसराज ने लाहौर में की थी। 1947 में आजादी के बाद जालंधर कॉलेज आ गया।⁹ छात्राओं को शारीरिक शिक्षा देने पर महाविद्यालय में विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें संस्कृत व हिन्दी की शिक्षा पर भी जोर दिया जाता था, जिस कारण से यह पंजाब के अन्य विद्यालय से बेहतर था क्योंकि यहां का वातावरण वैदिक शिक्षा के लिए उपयुक्त था।

दयानन्द गर्ल्स कॉलेज, कानपुर की स्थापना 1919 में हुई। स्त्रियों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध आर्य समाज द्वारा किया गया था। पहले इस कॉलेज में छात्रों के साथ छात्राएं भी पढ़ती थी। महिलाओं में उच्च शिक्षा की लोकप्रियता को देखते हुए डी. ए. वी. कॉलेज की प्रवर्धन समिति ने उनके लिए 1959 में दयानन्द गर्ल्स कॉलेज के नाम से पृथक संस्था स्थापित की।¹⁰ इस महाविद्यालय में कला व विज्ञान के सभी विषयों के अध्ययन की व्यवस्था है तथा दस विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएं चल रही थी। छात्राओं को धर्म व नैतिकता की शिक्षा देने का भी यहां विशेष प्रबन्ध है।

डी. ए. वी. महिला कॉलेज, यमुनानगर, दिल्ली की स्थापना 1958 में हुई थी। इसका प्रबन्ध पहले स्थानीय मैनेजिंग कमेटी द्वारा किया जाता था, बाद में डी. ए. वी. मैनेजिंग कमेटी, नई दिल्ली से सम्बद्ध कर दिया। यहां आधुनिक शिक्षा के साथ संस्कृत, हिन्दी, व धर्म शिक्षा का भी केन्द्र है।¹¹ वी. बी. के. डी. ए. वी. महिला महाविद्यालय, अमृतसर की स्थापना 1967 में आर्य समाज अमृतसर के प्रयासों तथा मेहरचन्द्र महाराज के आर्शीवाद से हुई। इस संस्था की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यहां प्रतिदिन संध्या हवन किया जाता है। इसमें आर्ट्स और कॉर्मस विषयों की शिक्षा व्यवस्था है तथा यह गुरुनानकदेव

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है।¹²

डी. ए. वी. वीमेन कॉलेज व सुशीलवती डी. ए. वी. पॉलिटेक्निक फॉर वीमेन रूकेला (उड़ीसा) की स्थापना क्रमशः 1967 तथा 1968 में की गई थी। पहली संस्था में मुख्यतः विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिकी, वनस्पतिशास्त्र, जैविकी व गृहविज्ञान के विषय हैं तथा दूसरी संस्था लायब्रेरी साईंस, वाणिज्य, लिपिक तथा दूरसंचार में स्त्रियों का डिप्लोमा स्तर तक शिक्षा देने के लिए है। इस संस्था की मुख्य विशेषता है कि आदिवासी और गरीब महिलाओं के निवास के लिए छात्रावास भी है।

आर्य कन्या इन्टर कॉलेज मुट्ठीगंज, इलाहाबाद की स्थापना 13 नवम्बर, 1905 में हुई। यह संस्था प्रादेशिक आर्य सभा उ. प्र., लखनऊ के अन्तर्गत विद्यार्थी सभा के मान्य संविधान द्वारा संचालित है। इसकी स्थापना में सक्रिय भूमिका थी लाला जसवंतराम, लक्ष्मीनारायण व पंडित गंगप्रसाद आदि। इस संस्था में धर्म शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था है। दैनिक प्रार्थना होती है। प्रति शनिवार को साप्ताहिक सत्संग, संध्या और यज्ञ होता है।¹³

लक्षण प्रसाद चतुर्वेदी आर्य कन्या इन्टर कॉलेज, मथुरा की स्थापना 1914 में प्राईमरी पाठशाला के रूप में लक्षण प्रसाद चतुर्वेदी के दिए दान से हुआ था। 1964 में इस विद्यालय को इन्टर कॉलेज की मान्यता उ. प्र. के माध्यमिक शिक्षा आयोग से प्राप्त हुई थी। इस विद्यालय में धार्मिक शिक्षा व सप्ताह हवन अनिवार्य था।¹⁴ आर्य कन्या इन्टर कॉलेज, सिकंदराराऊ (अलीगढ़) की स्थापना 1942 में हुई। यह संस्था माध्यमिक शिक्षा परिषद से सम्बन्धित है। यहाँ संध्या में वेदमंत्राचाप व प्रतिमास हवन होता है।¹⁵

19 वीं सदी से अनेक भारतीय विदेशों में रोजगार के लिए गये तथा वहाँ बस गये। विदेशों में बसे हुए भारतीयों में ज्यादातर हिन्दी भाषी व आर्य समाज से जुड़े हुए थे। इस कारण यहां के भारतीयों को अपनी धार्मिक व सांस्कृतिक परंपरा से जुड़ाव रहा है। “अपनी इसी विरासत को अपने बच्चों को देने के लिए विदेशों में आर्य समाज ने डी. ए. वी. विद्यालय खोले जिसमें प्रमुख विद्यालय, मॉरिशस, फिजी, तंजानिया, केनिया तथा पूर्वी अफ्रीका देशों में है”।¹⁶

प्रस्तुत शोध कार्य में महर्षि दयानन्द जी के विचारों पर आधारित आर्य समाज द्वारा भारतीय समाज में उन्नति हेतु महिला शिक्षा पर किये गये कार्य की व्याख्या है। हांलाकि आर्य समाज ने कई कन्या शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की

है परन्तु उन सभी शिक्षण संस्थाओं का शोध कार्य में शब्दों की परिसीमा के कारण वर्णन नहीं हो सकता है इसलिए कुछ विशेष कन्या विद्यालयों की ही समीक्षा की गई है। इन विद्यालयों के कारण ही कन्या शिक्षा में क्रांतिकारी बदलाव हुआ जिसके द्वारा महिलाओं की समाज में उन्नति व प्राचीन भारत में मिलने वाले गौरव को पुनः प्राप्त करने का सराहनीय प्रयास किया गया है जो कि वर्तमान समय में भी निरन्तर प्रगति पर है।

संदर्भ साहित्य

1. डॉ विद्यालंकार, सत्यकेतु, आर्य समाज का इतिहास, भाग-3 आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 2016, पृ. 465
2. वही, पृ. 471
3. वही, पृ. 474
4. वही, पृ. 459
5. लेखराम पंडित, दयानन्द जी का जीवन-चरित्र, आर्य साहित्य पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 510
6. वही, पृ. 492
7. वही, पृ. 504
8. उपाध्याय, गंगा प्रसाद, फाउण्डेशन हेड ऑफ रिलिजन, आर्य साहित्य मण्डल, जयपुर, 1961, पृ. 146
9. डॉ विद्यालंकार, सत्यकेतु : आर्य समाज का इतिहास, भाग-3 आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 2016, पृ. 616
10. वही, पृ. 617
11. उपाध्याय, गंगा प्रसाद : वैदिक दर्शन आधरित जीवन, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद 2018, पृ. 12
12. डॉ विद्यालंकार, सत्यकेतु : आर्य समाज का इतिहास, भाग-3 आर्य साहित्य मण्डल, जयपुर, 1996, पृ. 233
13. वही, पृ. 249
14. वही, पृ. 624
15. वही, पृ. 624-25
16. वही, पृ. 685

—डॉ. अनीता सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर (इतिहास विभाग)
के.एम.जी.जी.(पी.जी.) कॉलेज,
बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर (उ.प्र.)

—लता शर्मा
शोधछात्र (इतिहास विभाग)
के.एम.जी.जी.(पी.जी.) कॉलेज,
बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर (उ.प्र.)

आदिवासी अस्मिता और स्वतंत्र भारत के उपनिवेश

—प्रफुल्ल कुमार रंजन

भारत अपनी आजादी के पचहत्तर वर्ष पूरे कर चुका है इस उपलक्ष्य में सरकारी तौर पर स्वतंत्रता के “अमृत महोत्सव” का आयोजन पूरे उत्साह के साथ संपूर्ण भारतवर्ष में किया जा रहा है। एक लोकतांत्रिक राष्ट्र राज्य होने के कारण देश की सभी इकाइयों को जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण और नस्त के तहखानों से बाहर निकल कर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व की भावना को एंटरटेन करने का पूरा अधिकार है। आज स्वतंत्रता के पचहत्तर वर्षों के बाद भी हम देश के एक ऐसे समूह के बारे में बात करने जा रहे हैं जिसे संविधान में अनुसूचित जनजाति के नाम से वर्गीकृत किया गया है। अनुसूचित जनजाति एक सर्वैथानिक शब्द है जिसके माध्यम से सरकारी योजनाओं और अधिकारों को लक्षित किया जाता है। संविधान निर्माण के समय संविधान सभा में आदिवासी नेता जयपाल सिंह मुण्डा ने अनुसूचित जनजाति के समानांतर आदिवासी पद के उपयोग पर जोर दिया। अनुसूचित जनजाति आदिवासी एकता और संघर्षों की परंपरा का बोध नहीं करा पाता। “आदिवासी शब्द उस चेतना का प्रतीक है जिसकी मदद से उन्होंने अपने दुख दर्द को समझा और जो उन्हें मुक्ति की राह में आगे बढ़ा रही है। आदिवासी पद में एक आंदोलन धर्मिता है जो जनजाति में नहीं है।” भारत के औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के संघर्ष में जितनी भागीदारी गैर आदिवासी समाजों की थी उतनी ही भागीदारी इस देश के आदिवासी समुदायों की भी थी। राष्ट्र के सांस्कृतिक रचना में इन आदिवासियों का केवल योगदान ही नहीं अपितु मातृभूमि की रक्षा में इनका सर्वस्व त्याग भी बहुत बड़ा है। अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध विद्रोह करके मातृभूमि को दासता से मुक्त करने के लिए विरसा मुण्डा, सिल्लू कानू टंट्या भील, तिलका मांझी जैसे आदिवासी वीरों ने अपनी जान दे दी। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति का संघर्ष समूचे भारतवर्ष का था जिसमें देश के हर वर्ग व वर्ण के लोग शामिल थे लेकिन ऐसा क्या हुआ कि देश के अन्य वर्गों ने जितनी तेजी से विकास किया उतनी तेजी से आदिवासी समाज में विकास नहीं हो सका। 2011 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी में अनुसूचित जनजातियों का हिस्सा 8.6 प्रतिशत यानी 10.45 करोड़ है। अनुसूचित जनजातियों की आबादी का लगभग 92 प्रतिशत हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। यह जनजातियां पूरे देश में बड़े पैमाने पर वन और पहाड़ क्षेत्रों में फैली हुई हैं। संविधान में इन जनजातियों के विकास वह संरक्षण के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। अनुच्छेद

15(4), 16(4), 275(1), 330, 332, 325, 340 व 342 के साथ-साथ अनुसूची 5 व अनुसूची 6 में इनके अधिकारों व हितों को ध्यान में रखते हुए सर्वैथानिक संरक्षण दिया गया है। लेकिन इतने सारे सर्वैथानिक प्रावधान होते हुए भी एक आंकड़े के अनुसार पिछले 50 सालों में 2.5 करोड़ लोग विस्थापित हुए जिनमें 90 लाख आदिवासी हैं। विभिन्न किस्म की आपदाओं, अभाव, अंतर जनजातीय संघर्षों और अदालत के आदेशों की वजह से बताया जा रहा है कि फिलहाल 10 लाख से अधिक लोगों के सिर पर विस्थापन का खतरा मंडरा रहा है। वे अपने ही देश में लगातार शरणार्थी बन रहे हैं। औपनिवेशिक सत्ता की समाप्ति और देश का स्वतंत्र होना आदिवासी समाज के लिए भी उत्साहजनक था। अन्य देशवासियों की तरह आदिवासियों ने भी सोचा अंग्रेजों के जाने के बाद अबुआ दिसुम अबुआ राज (हमारा देश, हमारा राज) आएगा लेकिन इस देश की संसद और बुद्धिजीवियों के पास वह दृष्टि व संवेदनशील इच्छाशक्ति नहीं थी कि आदिवासियों के हितों को आगे बढ़ाने वाले सर्वैथानिक प्रावधानों को लागू करते। आजादी के बाद देश की बागडोर जिन हाथों में सौंपी गई वे लोग पूंजीवादी व साम्राज्यवादी सांचे में ढले लोग थे। स्वतंत्र भारत का पूरा प्रशासनिक ढांचा औपनिवेशिक संस्कारों और नीतियों से ग्रसित था। नए भारत के सिपहसालार उन्हीं नीतियों, सिद्धांतों व आदर्शों को ध्यान में रखकर भारत का भविष्य देख रहे थे। उनकी नजरों में यह आदिवासी लोग नंग धड़ंग, अशिक्षित, गंवार, कुपोषित, जंगली और भोले-भाले ही लगे। यही कारण है कि आजादी के 75 वर्षों बाद भी आदिवासी अपने हक अधिकार के लिए उसी तरह संघर्ष कर रहे हैं जैसा संघर्ष अंग्रेजी शासन में करते थे।

वर्तमान में आदिवासी समाज जिन क्षेत्रों में निवास करते हैं वे भौगोलिक क्षेत्र खनिज संपदा और प्राकृतिक संसाधनों से पूरे भारत में सबसे अधिक संपन्न हैं। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, बिहार, राजस्थान के साथ-साथ पूर्वोत्तर भारत के असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम जैसे राज्य हैं जहां सबसे अधिक आदिवासी समाज के लोग रहते हैं। इन राज्यों में लौह अयस्क, कोयला, मैग्नीज, तांबा, जस्ता, बॉक्साइट, यूरेनियम व पेट्रोलियम जैसे खनिज उत्पादन के भंडारण हैं। पीआईबी की वार्षिक आर्थिक रिपोर्ट 2022 के अनुसार उड़ीसा खनिज उत्पादन में प्रथम स्थान पर है। उसके बाद छत्तीसगढ़ राज्य कोयला उत्पादन में प्रथम स्थान पर है। वित्तीय वर्ष 2020-21 में छत्तीसगढ़ राज्य का लगभग 27 प्रतिशत

राजस्व खनिजों से प्राप्त हुआ है। कोयला उत्पादन में अग्रणी होने के कारण छत्तीसगढ़ बिजली उत्पादन का प्रमुख केंद्र है। भारत का पठार क्षेत्र उत्तर पूर्वी भारत जिसमें छोटानागपुर उड़ीसा का पठार छत्तीसगढ़ के क्षेत्र शामिल है। लौह अयस्क, कोयला, बक्साइट व अभ्रक सहित अन्य खनिजों की एक विस्तृत श्रृंखला है। उत्तर पश्चिम में राजस्थान के धारवाड़ शैलों में कापर व जिंक की बहुलता है। राजस्थान बलुआ पत्थर, ग्रेनाइट, संगमरमर के साथ-साथ जिप्सम व अपने नमक के विशाल भंडार के लिए भी प्रसिद्ध है। मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश और छत्तीसगढ़ हीरा उत्पादन में शीर्ष राज्य हैं। सबसे अधिक चांदी का उत्पादक राज्य राजस्थान है। मैग्नीज व तांबा में मध्य प्रदेश अग्रणी है। असम का डिब्बगढ़ पेट्रोलियम पदार्थों का प्रमुख केन्द्र है।

इतने सारे खनिज संपदा से संपन्न होने के बाद भी यह राज्य स्वास्थ्य, शिक्षा और गरीबी के दर्द से कराह रहे हैं। विस्थापन और बेरोजगारी इन राज्यों की सबसे बड़ी समस्या है। राज्य स्वास्थ्य सूचकांक 2019-20 की रिपोर्ट में सबसे नीचे के पायदान पर उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान राज्य शामिल हैं। दूसरी ओर बहुआयामी गरीबी सूचकांक के अनुसार बिहार, झारखंड, उत्तरप्रदेश देश के सबसे गरीब राज्यों के रूप में सामने आए हैं। मानव विकास सूचकांक जो स्वास्थ्य शिक्षा व आय को ध्यान में रखकर जारी किया जाता है में सबसे खराब स्थिति बिहार, उत्तर प्रदेश, झारखंड व मध्य प्रदेश की है। केरल पहले स्थान पर है। स्कूली शिक्षा गुणवत्ता सूचकांक जो नीति आयोग जारी करता है में सबसे खराब स्थिति उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, पंजाब, बिहार, झारखंड व मध्य प्रदेश है। यहां तक कि प्रति व्यक्ति आय के मामले में भी बिहार व उत्तर प्रदेश सबसे निचले पायदान पर हैं। दुनिया की छठी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था का दर्जा भारत में हासिल तो कर लिया है लेकिन आज भी देश का एक वर्ग ऐसा है जो हाशिए पर है। इस वर्ग के अंतर्गत वे आदिवासी आते हैं जो सुदूर इलाकों में अपना जीवन यापन कर रहे हैं और अनेक समस्याओं को झेल रहे हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार आदिवासी समाज का 80 प्रतिशत से अधिक श्रमबल प्राथमिक क्षेत्रों में कार्यरत है। उनकी साक्षरता दर औसत साक्षरता दर से 14 प्रतिशत कम है। भारत की औसत जनसंख्या वृद्धि दर 17.7 की तुलना में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या वृद्धि दर 23.7 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। यह एक चिंता का विषय है। हालांकि लिंगानुपात के मामले में अनुसूचित जनजातियों की स्थिति

सामान्य लिंगानुपात से बेहतर है।

ऐसा नहीं है कि आदिवासी बहुलता वाले राज्य केवल खनिज संपदा से ही संपन्न है बल्कि प्राकृतिक संपदा से भी संपन्न है। 1865 के पूर्व भारत के आदिवासी समाज के अधीन देश के लगभग आधे जंगल, जमीन का स्वामित्व था जो 1927 के भारतीय वन अधिनियम के लागू होते होते केवल 35 प्रतिशत रह गया। वनों के संरक्षण के नाम पर आदिवासियों को जंगलों से भगाया गया लेकिन 1988 में राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार देश में कम से कम 35 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्रफल पर वन होना चाहिए था परंतु 2021 के भारत वन सर्वेक्षण के अनुसार केवल 24.62 प्रतिशत क्षेत्र पर ही उपस्थित हैं। उसमें भी सबसे अधिक वन उन क्षेत्रों में है जहां आदिवासी जनसंख्या अधिक है।

ऊपर दिए गए आंकड़ों के विश्लेषण से एक बात उभरकर सामने आती है कि खनिज व प्राकृतिक संसाधनों से संपन्न होने के बाद भी वे राज्य जहां आदिवासी समाज अधिक संख्या में हैं शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, कुपोषण और विस्थापन जैसी समस्याओं से तुलनात्मक रूप से अधिक पीड़ित हैं। आदिवासी बहुल इलाकों की जमीन हड्डपने के लिए निर्वाचित सरकार व पूंजीपतियों ने मिलकर ऐसी आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक स्थितियां पैदा की जिसमें संसाधनों को हड्डपने में सुविधा हो। आदिवासी अपने संरक्षण के लिए न्यायालयों की ओर गए लेकिन उन्हें निराशा ही हाथ लगी। यही कारण है कि आजादी के कुछ सालों बाद आदिवासी समाज का मोहभंग हो गया। 70 के दशक के आते-आते यह मोह भंग एक विद्रोह में बदल गया और 1967 के नक्सलबाड़ी की घटना घटित हुई। 1975 में आपातकाल भी लागू हुआ। इसी दौरान कई आदिवासी विस्थापन विरोधी आंदोलनों में जल, जंगल और जमीन को लेकर विद्रोह पूरे उत्तर भारत और पूर्व भारत में फैल गया। उसको दबाने के लिए सरकारों ने सलवा जुड़म से लेकर ग्रीन हॉट जैसी खूनी नरसंहार करके आदिवासी विद्रोह को दबा दिया। इसी उथल-पुथल के बीच हिंदी के प्रमुख कवि धूमिल लिखते हैं—“एक ही संविधान के नीचे भूख से रियती हथेली का नाम दया है/ और भूख में तनी हुई मुट्ठी का नाम/ नक्सलबाड़ी है।”

90 के दशक के उदारवादी नीतियों ने नव साम्राज्यवादी युग के रास्ते को वैशिक स्तर पर खोल दिया। इन नीतियों ने आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के ऊपर बड़े सवाल खड़े कर दिए। कथित विकास के नाम पर केवल जंगलों को ही नहीं उजाड़ा जा रहा है बल्कि पूरी आदिवासी सभ्यता व संस्कृति को कुचला जा रहा है। आजादी के बाद के नीति

निर्धारकों ने कभी यह समझा ही नहीं कि आदिवासी समाज का जंगलों से संबंध सहजीवी का है। इनके लिए कानून तो बनाए गए लेकिन कभी उनका पालन ईमानदारी से नहीं किया गया। सरकारें आत्मनिर्भर होने का और बनने का दावा हर दिन कर रही हैं लेकिन आदिवासी इलाकों में सड़कों, इमारतों, कारखानों, माल जैसी तथाकथित विकास के परियोजनाओं के निर्माण की जिम्मेदारी किसी वैशिक कंपनी को दे देती हैं। सर्वेधानिक संरक्षण होने के बाद भी इस देश की संसद ने आदिवासियों के साथ सामंती व्यवहार बनाए रखा है। आदिवासी समाज को असभ्य, जंगली और पिछड़ा समझने का उनका पौराणिक औपनिवेशिक दृष्टिकोण आजादी के बाद खुलकर सामने आया है। आदिवासियों के विस्थापन व विनाश के नींव पर खड़ी विकास की यात्रा ने इस देश के प्रथम नागरिक के पूरी संस्कृति और सभ्यता को उखाड़ फेंका है। आदिवासियों का पर्यावरण से सहजीवी संबंध है जो पूरी मानवता व सृष्टि के लिए हितकर है। हाल के उत्तराखण्ड के चमोली जिले के जोशीमठ में होने वाली घटनाओं को देखकर हमें सीख लेने की जरूरत है। जितना जरूरी प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण है उतना ही जरूरी उन प्रकृतिक स्थलों पर रहने वाले लोगों के संरक्षण की भी जरूरत है क्योंकि ये प्राकृतिक स्थल उन्हीं लोगों की बदौलत सुरक्षित हैं।

संदर्भ

1. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 22, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली 2019
2. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, पृ. 25 रमणिका फाउंडेशन, 2018
3. कुरुक्षेत्र,(पत्रिका), पृ. 5, सितंबर 2022 सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
4. वागर्थ (पत्रिका) अप्रैल 2022, पृ. 5 भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली
5. विष्णु चंद्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, 2018
6. धूमिल, सांसद से सड़क तक, पृ. 127, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

—प्रफुल्ल कुमार रंजन
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारत में महिला सशक्तीकरण

—डॉ. ज्योति सिंह
—रिचा संगर

सशक्तीकरण से आशय केवल कुछ क्षेत्रों में मामूली अधिकार मिलने से नहीं है। महिला सशक्तीकरण से आशय है जब कोई महिला स्वयं से जुड़े प्रत्येक निर्णय लेने के लिए किसी और पर निर्भर नहीं रहती है। वर्तमान समय में महिलाओं का प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं से निर्णय लेना बहुत आवश्यक है। स्वयं के लिए निर्णय लेने के लिए प्रत्येक महिला का आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना बहुत आवश्यक है। संविधान द्वारा महिलाओं को प्रत्येक क्षेत्र में समान अधिकार प्रदान किये गये हैं परन्तु वास्तविकता में उसे आज भी अपने अधिकारों के लिए अनेकों संघर्षों का सामना करना पड़ता है। समाज में आज भी पितृसत्तात्मक सोच को ही बढ़ावा दिया जाता है जिस कारण महिलाओं को प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से कम ही आंका जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में हमेशा से ही पुरुषों ने अपना वर्चस्व स्थापित करके रखा है। पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के कारण महिलाओं को राजनीति पर एकाधिकार स्थापित करना बहुत ही कठिन कार्य है। यद्यपि संविधान द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में महिलाओं का आरक्षण प्रदान किया गया है जिससे वो भी देश की प्रगति में अपना सहयोग दे सके परन्तु पार्टी द्वारा उन्हें टिकट न मिलना या उन्हे पूर्णतः सहयोग न मिल पाने के कारण वे अभी भी इस क्षेत्र में अपना सम्पूर्ण योगदान देने में असमर्थ हैं। महिला सशक्तीकरण बहुआयामी और बहुमुखी होता है। यह पुरुष निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष विमर्श होता है और इसके लिए महिलाओं को पुरुषों से भी आगे निकलना होगा। महिलाओं को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी दावेदारी प्रबल करने की आवश्यकता है जिससे वे स्वयं अपने जीवन के सभी निर्णय लेने में समर्थ हों। महिला सशक्तीकरण से अभिप्राय ऐसी शक्ति से है जो महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी रूप से सोचने, समझने और जीने की स्वतन्त्रता देती है। सशक्तिकरण का संबंध महिलाओं के जीवन के आत्म निर्णय से है। सशक्तीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा महिलाओं में आत्मविश्वास, चेतना, सकारात्मकता आदि भावनाओं का विकास होता है। वर्तमान समय में यह एक बहुत महत्वपूर्ण विषय है। यह एक बड़ी चुनौती के रूप में समाज में विद्यमान है क्योंकि ज्यादातर महिलाएं अपनी आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए पुरुषों पर निर्भर हैं। किसी भी समाज की प्रगति के लिए उसकी सम्पूर्ण आबादी का सहयोग आवश्यक होता है। महिलाओं की आबादी किसी भी समाज में पुरुषों के बराबर ही है। अतः लगभग आधी आबादी

का समाज की प्रगति में सहयोग न दे पाना बड़ी दुर्भाग्य की बात है।

पैलिनी थूराई के अनुसार महिला सशक्तीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विकास की प्रक्रिया में राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर मान्यता दी जाती है।” लीला मीहेन के अनुसार, ‘महिला सशक्तीकरण निडरता, सम्मान और जागरुकता तीनों शब्द महिला सशक्तीकरण में सहायक है। यदि डर से आजादी महिला सशक्तीकरण का पहला कदम है, तो तेजी से न्याय से उसकी आवश्यकता पूरी हो सकेगी। यदि महिलाओं को वास्तव में न्याय दिलाना है तो उनकी जांच-परख प्रणाली को और अधिक कार्य कुशल बनाना होगा तथा अराजकता फैलाने वाले तत्वों को सजा देनी होगी।’ भारत में पहली नारीवादी लहर पुरुषों द्वारा प्रारम्भ की गई। पहली लहर का उद्देश्य भारत में व्याप्त अंधविश्वास और पौराणिक जैसे सती प्रथा, देवदासी प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों को समाप्त करना था। इन कुरीतियों को समाप्त करने के लिए कई समाज सुधारकों द्वारा प्रयास किये गये और कई कानून भी बनाये गये। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, डॉ. घोड़े, केशव कर्वे, सर सर्यैद अहमद खान आदि महत्वपूर्ण समाज सुधारकों द्वारा भारत में नारीवादी लहर की शुरुआत हुई। इस सुधार के लिए अनेक संगठन जैसे—आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ने भी उल्लेखनीय प्रयास किये। इन सुधारों की ओर समाज के सभी वर्गों और समूहों का ध्यान खींचने के लिए कई पत्र-पत्रिकाओं में निबन्धों, संपादकीय आदि का लेखन शुरू किया गया तथा कई कुरीतियों और अंधविश्वासों का खुले तौर पर विरोध किया गया।

भारत में नारीवाद की दूसरी लहर ने न सिर्फ महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागृत किया बल्कि उनमें राष्ट्रवाद जैसी भावनाओं को भी विकसित किया। यह लहर अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके अंतर्गत महिलाओं की स्थिति में काफी परिवर्तन आये। उनके हित के लिए उनके कानून बनाये गये जिसमें शारदा एक्ट, बाल विवाह के विरुद्ध कानून, महिलाओं के लिए सम्पत्ति से संबंधित कानून आदि प्रमुख स्थान रखते हैं। इस लहर में महिलाओं ने देश के विकास में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजकुमारी अमृत कौर, सुचेता कृपलानी, सरला देवी चौधरानी, मुथुलक्ष्मी रेडी, सुशीला नायर, अरुणा आसफ अली, विजय लक्ष्मी पंडित, स्वर्ण कुमारी धोषाल, सरोजिनी नायडू इत्यादि महिलाओं ने अपना महत्वपूर्ण योगदान भारत के स्वतंत्रता संग्राम में देकर राजनीतिक क्षेत्र में इतिहास रचा।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात तीसरी लहर के अंतर्गत महिलाओं द्वारा कई महत्वपूर्ण आंदोलन चलाये गये। SEWA द्वारा घरेलू महिलाओं को विभिन्न प्रकार के कौशल जैसे—सिलाई, कढ़ाई, रचना, टंकण आशुलिपि आदि सिखाकर उन्हें सशक्त बनाने के प्रयास किया गया। 1972-73 में चिपको आंदोलन चलाया गया जो कि एक पर्यावरणीय आंदोलन था। इस आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई क्योंकि वे इससे ज्यादा प्रभावित थीं। ग्रामीण महिलाओं के लिए अपने पर्यावरण को बचाना, अपनी आजीविका को बचाने जैसा था। इसी प्रकार महिलाओं द्वारा विभिन्न आंदोलन चलाये गये तथा देश के विकास और प्रगति में उन्होंने अपना योगदान भी दिया। भारत सरकार द्वारा महिला सशक्तीकरण के लिए किये गये प्रयास। भारत सरकार द्वारा महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण प्रयास किये गये—बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, पुरालेख-वन स्टॉप सेंटा योजना, पुरालेख—महिला हेल्पलाईन योजना, उज्ज्वला—तरक्की की रोकथाम और बचाव, तस्करी के पीड़ितों के पुनर्वास और पुनः एकीकरण और वाणिज्यिक यौन शोषण के लिए एक व्यापक योजना, सखी निवास, मंत्रालय उज्ज्वला योजना के तहत नई परियोजनाओं को मंजूरी देता है। और मौजूदा परियोजनाओं को जारी रखता है। कठिन परिस्थितियों में महिलाओं के लिए एक स्वाधार गृह योजना, नारी शक्ति पुरस्कार, महिला हेल्पलाईन योजना, महिला शक्ति केन्द्र, निर्भय, महिला पुलिस बालांटियर्स। इन सभी के अलावा कुछ अन्य कानून भी लागू किये गये हैं—दहेज निषेध अधिनियम-1961, अनैतिक व्यापार (रोकथाम) अधिनियम-1956, महिलाओं का अश्लील प्रतिनिधित्व (निषेध) अधिनियम-1986, सती आयोग (रोकथाम) अधिनियम-1987 और नियम राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम-1990, घरेलू हिंसा अधिनियम-2005 से महिलाओं का संरक्षण, बाल विवाह निषेध अधिनियम-2006, कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और निवारण) अधिनियम 2013 इसके इलावा भारत सरकार द्वारा महिलाओं के लिए प्रशिक्षण और रोजगार कार्यक्रम STEP की भी शुरुआत की है। इसके द्वारा महिलाओं को रोजगार के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के कौशल और दक्षताओं को सिखाया जाता है जो उन्हें रोजगार प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो।

सरकार द्वारा महिलाओं के उत्थान के लिए अनेकों योजनायें भी चलाई जा रही हैं। भारत सरकार द्वारा स्कूल बीच में ही छोड़ देने वाली महिलाओं या बालिकाओं के लिए किशोरी बालिका योजना चलाई गई जिसके अंतर्गत एक बालिका मंडल का गठन किया गया। इसके द्वारा महिलाओं

को विभिन्न प्रकार के कौशलों, उनके अधिकारों, और सरकार द्वारा समय समय पर चलाये जा रहे कार्यक्रमों, नीतियों आदि के बारे में जानकारी दी जाती है। इसके साथ ही उन्हें अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों व सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों के खिलाफ निर्णय लेने के लिए भी तैयार किया जाता है। सरकार द्वारा समय-समय पर उनके स्वास्थ्य की जांच भी की जाती है तथा उन्हें आवश्यक दवाइयां भी मुफ्त में उपलब्ध कराई जाती हैं। आगे चलकर बालिकाएं अपनी आजीविका के लिए किसी पर निर्भर न रहें इसके लिए उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। भारत सरकार द्वारा बालिकाओं के लिए ही नवीन सबला योजना भी 19 नवंबर, 2010 में शुरू की गई थी। इसकी शुरूआत 200 जिलों में पायलट प्रोजेक्ट के रूप में की गई। इसके अंतर्गत किशोरियों के लिए पोषण आहार, आई एफ ए टेबलेट वितरण, स्वास्थ्य, जांच एवं स्वास्थ्य एवं पोषण शिक्षा, परिवार कल्याण, बच्चों की देखभाल एवं गृह प्रबंधन पर मार्गदर्शन, लाईफ स्किल एंजुकेशन एवं लोकसेवाओं तक पहुंच और व्यवसायिक प्रशिक्षण सम्मिलित है। इस योजना का एक अन्य नाम राजीव गांधी किशोरी बालिका सशक्तीकरण योजना है।

भारत सरकार ने 2004 में कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना शुरू की। यह योजना अनुसूचित जाति, जनजाति व पिछड़े वर्ग की बालिकाओं के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में आवासीय उच्च प्राथमिक विद्यालयों को बनाने के लिए शुरू की गई थी। बालक-बालिकाओं के बीच साक्षरता के अंतर को कम करना, बालिकाओं के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना और उन्हें आवासीय विद्यालय उपलब्ध करवाना इस योजना का प्रमुख लक्ष्य था। प्रोजेक्ट उड़ान की शुरूआत मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा की गई इसका उद्देश्य 11वीं और 12वीं कक्षा में पढ़ने वाली बालिकाओं को प्रतिष्ठित इंजीनियरिंग कॉलेजों में दाखिला दिलाना था। इसके अन्तर्गत देश से 1000 बालिकाओं को मेरिट के आधार पर चुनकर ऑनलाइन स्टडी मैट्रियल, टेबलेट, वित्तीय सहायता और पर्सनल कानेक्ट कक्षाओं की व्यवस्था की गई। भारत में महिला आबादी पुरुष आबादी की लगभग आधी है। अतः हमें यह आंकलन करना चाहिए कि महिलाओं ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में कितनी प्रगति की है जिससे हम यह पता लगा सकें कि सही मायने में उनका सशक्तीकरण हुआ है या नहीं। महिलाओं को प्रसव काल में अनेकों परेशानियों का सामना करना पड़ता है जिस कारण उनकी जान भी चली जाती है। इससे माताओं की मृत्यु दर भी बढ़ती

जा रही है। महिलाओं की एक अन्य समस्या उनकी साक्षरता से संबंधित भी है। बालिकायें जैसे ही किशोरावस्था में पहुंचती हैं। उनकी पढ़ाई बन्द करवा दी जाती है। स्कूलों में भी कई बार बालिकाओं के लिये अलग शौचालय की भी व्यवस्था नहीं होती है। इसी कारण महिलाओं का शिक्षा स्तर पुरुषों की तुलना में कम है। महिलाओं के खिलाफ बढ़ रहे अत्याचारों के कारण वे कहीं भी सुरक्षित महसूस नहीं करती हैं। महिलायें हमारे समाज का अभिन्न अंग हैं और उन्हें साथ लिये बिना इस देश की प्रगति संभव नहीं है। दृष्टिकोण को बदला जा सकता है और तभी महिला सशक्तिकरण का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

- परमार, शुभ्रा (2015) : ‘नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार’ ओरियट ब्लैकस्पॉन प्राइवेट लि., हैदराबाद
- सिंह, रूपा (2012) : ‘स्वातंत्र्यवोत्तर स्त्री विमर्श और स्त्री-अस्मिता’, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
- कुमारी, डॉ. स्मिता (2013) : ‘इक्कीसवीं सदी में महिला राजनीतिकरण राजनीतिक सशक्तीकरण एवं महिला नेतृत्व की वास्तविकताएं’ सत्यम् पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली
- पौलिनी थूराई, जी (2016) : ‘इंडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन’ वैल्यूम-32, माह जनवरी-मार्च
- डॉ. जोशी गोपा (2016) : ‘भारत में स्त्री असमानता’ हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली
- मौर्य, श्यामगृह (2012) : ‘नारीवाद एक दार्शनिक अध्ययन मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
- डॉ. सिंह, आभा (2017) : ‘महिला अधिकार सम्पत्ति के विशेष संदर्भ में’ किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली
- मेनन, निवेदिता (2017) : ‘नारीवादी निगाह से’ हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली
- सुजाता (2019) : ‘आलोचना का स्त्रीपक्ष पद्धति परंपरा और पाद’ सामाजिक न्याय सन्देश पत्रिका, उज्जैन
- आर्य सुधा (2017) : “‘महिला लैंगिक समानता’ राजदीप और दीप प्रकाशन, नई दिल्ली

[.samajkaryshiksha.com](http://samajkaryshiksha.com) [Wikipedia.org](https://en.wikipedia.org)

—डॉ. ज्योति सिंह गौतम
शोध निर्देशिका/असि. प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान),
राजकीय महिला महाविद्यालय, झांसी,

—रिचा सेंगर
शोध लात्र (राजनीति विज्ञान)
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

टूटता-बिखरता प्रवासी जीवन

—डॉ. ब्रह्मा नंद

प्रवासी साहित्य का कैनवस बहुत बड़ा है, इसमें भाँति-भाँति के रंग हैं। इन रंगों में समूचा प्रवासी-जीवन अपनी अच्छाईयों और बुराईयों के साथ जीवंत रूप में विद्यमान है। प्रवासी साहित्य को किसी एक देश या महाद्वीप तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता है। सीमाओं के कृत्रिम बँधन में बाँधना इसके साथ अन्याय करने-जैसा है। अलग-अलग देशों में बसे भारतीय मूल के लोगों ने अपने अनुभव जगत से प्रवासी साहित्य को समृद्ध करते हुए परंपरागत रूप से चली आ रही तमाम साहित्यिक मान्यताओं को नकार कर नये युग का सूत्रपात किया है। यह नयापन हिन्दी भाषी समुदाय की वैश्विक-संवेदना का घोतक है। विदेशों में बसे हिन्दी के लेखकों ने विदेशी जमीन पर खड़े होकर भारतीय-गैर भारतीयों के मनोजगत को जिस ढंग से देखा व महसूस किया है, प्रवासी साहित्य उसकी सार्थक अभिव्यक्ति है। गौरतलब है कि प्रत्येक देश में बसे भारतीय व गैर-भारतीयों का मनोजगत एक दूसरे से न केवल अलग है बल्कि उनकी बुनावट में भी पर्याप्त भिन्नता है। यही कारण है कि मॉरीशस में लिखी जा रही हिन्दी कहानियों की संवेदना लंदन या फिर अन्य किसी दूसरे देश में लिखी जा रही कहानियों से अलग है।

पिछले कुछ दशकों में हुए प्रवासी-लेखन में तेजेन्द्र शर्मा ने अपनी अलग जगह बनाई है। तेजेन्द्र शर्मा उन गिने चुने कथाकारों में से हैं जिन्होंने अपने विदेश प्रवास को न केवल पूरे मन से स्वीकार किया है बल्कि उसे जी भर के जीया भी है। लंदन का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और वहाँ की जलवायु उनके लेखकीय व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है, उनकी कहानियों को पढ़ते समय यह बात शिद्दत से महसूस की जा सकती है। गौरतलब है कि तेजेन्द्र शर्मा अपने लंदन प्रवास को सहज रूप से देखते हैं। वह न तो अपने विचार लंदन की संस्कृति पर थोपते हैं और न ही लंदन की संस्कृति को अपने ऊपर हावी होने देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों के पात्र सजीव लगते हैं। कहानियाँ पढ़ते हुए पाठक कब विदेशी किरदारों के मनोजगत का हिस्सा बन जाता है उसे खुद भी पता नहीं चलता है। लंदन में बसे भारतीय और लंदन के मूल निवासियों का भेद खत्म-सा हो जाता है, दोनों की अनुभूति एक हो जाती है। निसंदेह भारतीय परिवेश और लंदन के परिवेश में जमीन-आसमान का अंतर है। इस अंतर के कुछ ठोस कारण हैं। तेजेन्द्र शर्मा की कहानियाँ को पढ़ते हुए ये अंतर बार-बार सामने आ खड़े होते हैं। लंदन में बसे भारतीयों को

एक-साथ अनेक धरातल पर संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष को रोजी-रोटी के संदर्भ में देखना ठीक नहीं है। रोजी-रोटी का सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना हम भारत में महसूस करते हैं। रोजी-रोजी के बाद उठने वाले सवाल तेजेन्द्र शर्मा की चिंता का विषय है।

तेजेन्द्र शर्मा के लगभग प्रत्येक किरदार असंतुष्ट हैं। झल्लाये-खीझें हुए हैं। उन्हें या तो अपने जीवन साथी से शिकायत है या फिर वे खुद अपने से परेशान हैं। ज़खरत से ज्यादा खुलापन स्त्री और पुरुष दोनों की परेशानी का कारण बन चुका है। ‘ओवर-फ्लो पार्किंग’, ‘बेतरतीब जिंदगी’, ‘कोख का किराया’, ‘हाथ से फिसलती ज़मीन’ जैसी कहानियाँ लंदन में बसे भारतीयों के जीवन की जटिलताओं एवं अंतर्द्वारों को उजागर करती हैं। इन कहानियों के केन्द्र में बिखरते परिवार हैं। ‘कोख का किराया’ की मनप्रीत उर्फ मैनी की महत्वाकांक्षाएँ ही उसकी त्रासदी का कारण बन जाती हैं। मनप्रीत का जीवन उसी के बुने हुए जाल में उलझ कर रह जाता है। वह अपने विद्रोही स्वभाव का पहला परिचय लंदन मूल के गैरी से विवाह करके देती है। उधर ‘हाथ से फिसलती ज़मीन’ कहानी के मुख्य किरदार नरेन को लगता है कि वह लंदन मूल की जैकी से विवाह करके भारतीय समाज को चुनौती दे रहा है। दिल्ली के करोल बाग के रैगरपुरा का रहने वाला नरेन जातिगत शोषण व अपमान से बचने के लिए लंदन चला जाता है। रेलवे में ड्राइवरी करते हुए उसकी मुलाकात जैकी से होती है। कुछ ही मुलाकातों के बाद जैकी उससे विवाह कर लेती है। जैकी अक्सर नरेन से कहा करती थी कि “नरेन तुम्हारे बदन का रंग कितना खूबसूरत है! हम तो पूरे साल गर्मियों का इंतजार करते रहते हैं। फिर समुंद्र किनारे टैन लोशन लगा कर अपने शरीर के रंग को बदलने के लिए मेहनत करते फिरते हैं। उसके बावजूद तुम जैसा रंग नहीं बना पाते हैं। आइ लव यू एंड युअर बॉडी”¹ दूसरी ओर ‘कोख का किराया’ में बीफी डेविड को लगता है कि “भारतीय मूल की लड़कियाँ विवाहित जीवन को अधिक स्थायित्व प्रदान”² करती हैं। भारतीय मूल की मनप्रीत उर्फ मैनी के पति गैरी के भाव भी कुछ इसी तरह के हैं। गैरी को “बचपन से ही भारतीय मूल की लड़कियाँ ही पंसद आती हैं। उसे गोरी चमड़ी हमेशा ही बदरंग और बेजान-सी लगती है”³ कहने का तात्पर्य यह है कि संबंधों की दृष्टि से इंग्लैंड के मूल निवासियों को भारतीय ज्यादा भरोसेमंद लगते हैं। भारतीय-परिवार और विवाह नामक संस्था उन्हें आकर्षित करती हैं।

भारतीय मूल के लोगों के प्रति आकर्षित होने के बहुत से कारण हैं लेकिन भारतीय मूल के लोग जिस कारण से अंग्रेजों के प्रति आकर्षित हो रहे हैं, उसका कोई ठोस कारण दिखाई नहीं देता है। नरेन या मनप्रीत जिस विद्रोह की बात कर रही हैं, उसका ठोस कारण कम से कम लंदन में तो दिखाई नहीं देता है। दरअसल लंदन में इसे विद्रोह माना ही नहीं जाता है, वहाँ स्त्री-पुरुष के संबंधों में खुलापन है। मनप्रीत उर्फ मैनी का उन्मुक्त समाज एक यूटोपिया सिद्ध होता है, एक ऐसा यूटोपिया जिसे भारतीय मन कभी स्वीकार नहीं करेगा। मजेदार बात तो यह है कि लंदन का मूल निवासी अब संबंधों में स्थायित्व चाहता है, लेकिन वहाँ बसे भारतीय मूल के लोगों का झुकाव दिशानीन स्वछंदता की तरफ हो रहा है, स्थायित्व में उनका दम घुटता है। तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद भारतीय मूल के ये किरदार विदेशी परिवेश में जीने के लिए अभिशप्त हैं। यहाँ यह बात विशेष रूप से रेखांकित की जानी चाहिए कि तेजेन्द्र शर्मा की कहानियाँ लंदन में बसे भारतीय मूल के लोगों के बिखरते हुए कथित सपनों की दुर्दशा को बयान करती हैं।

छुआछूत से भाग कर नरेन लंदन चला जाता है और जैकी से विवाह करता है, लेकिन जिन सपनों को लेकर वह लंदन गया था, वे कभी पूरे नहीं होते हैं। यही सपने उसे अलगाववाद की ओर ले जाते हैं और त्रासदी का कारण बनते हैं। ‘हाथ से फिसलती ज़मीन’ में लेखक ने दो पीढ़ियों का अंतर्दृद दिखाया है। नरेन की पत्नी जैकी जिसे पहले काला रंग अच्छा लगता था, बाद में यही काला रंग उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाने लगता है। नरेन के बच्चे जै और शीला, उसे पिता के रूप में स्वीकार नहीं कर पाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जैकी ने वे परिस्थितियाँ ही पैदा नहीं होने दी जिससे कि जै और शीला के अंदर नरेन के प्रति अपनत्व जाग सके। जैकी उसे धोखा नहीं देती है लेकिन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन जाती हैं कि जैकी भारतीय मूल के नरेन के साथ तालमेल नहीं बैठा पाती है। भारतीय परिवारों की तरह उनमें लड़ाई-झगड़ा नहीं होता है, बस घर में अवसाद का माहौल छा जाता है। तर्क-वितर्क का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। एक छत के नीचे कई ‘घर’ बन जाते हैं। अपमान, धृणा, नफरत, अजनबीपन के लिए नरेन को कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता है, ये सब उसे घर में ही मिल जाते हैं। धीरे-धीरे नरेन घर में ही अलगाव का शिकार हो जाता है। वह टूटे-फूटे बेजान समान की तरह घर के एक कोने में पड़ा रहता है। गौरतलब है कि नरेन न तो अपने बच्चों को भारत के प्रति आकर्षित

कर पाता है और न ही अपनी पत्नी को। जब नरेन की पौत्री उससे सवाल करती है कि ‘‘ग्रेंडपा, आपके हाथ इतने काले क्यों हैं? आपका रंग मेरे जैसा सफेद क्यों नहीं है? आप मुझसे इतने अलग क्यों दिखते हैं?’’⁴ नरेन खुद को छला हुआ महसूस करने लगता है। उसे लगता है कि जिस भारतीय समाज से विद्रोह करके लंदन में भागकर आया था वो आज लंदन में भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा है।

‘‘कोख का किराया’’ में मनप्रीत उर्फ मैनी को सामाजिक-सांस्कृतिक ‘‘जड़ताएँ’’ तोड़ने में ‘‘अभूतपूर्व’’ सुख मिलता है। वास्तविकता तो यह है कि जिसे मनप्रीत जड़ताएँ मानती हैं दरअसल वो जड़ताएँ न होकर भारतीय संस्कृति के बे तन्तु हैं जिनसे विवाह और परिवार नामक संस्थाएँ जुड़ी हुई हैं। मनप्रीत अपनी तथाकथित महत्वाकांक्षाओं को विद्रोह का नाम देती है। मनप्रीत अर्थहीन विद्रोह करती है। इस विद्रोह का आधार कथित महत्वाकांक्षाएँ और उन्मुक्त यौन इच्छाएँ हैं। इसमें सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों की जगह व्यक्तिगत इच्छाओं की प्रधानता है। मनप्रीत अपनी भारतीय मूल की सखी जया के पति और इंग्लैड के युवा फुटबॉलर बीफी डेविड के साथ संभोग करने की इच्छा व्यक्त करती है। दरअसल ये न तो देह मुक्ति है और न ही स्त्री चेतना। यह कथित महत्वाकांक्षाओं व सपनों को पूरा करने की अंतहीन दौड़ है, जो कभी पूरी नहीं होती है। इसकी परिणति अवसाद के रूप में होती है। मनप्रीत की सखी जया किसी कारण माँ नहीं बन पाती है, पति डेविड जया को तलाक न देकर मनप्रीत की कोख किराए पर लेता है। मनप्रीत की आर्थिक स्थिति ठीकठाक है, पैसे की इतनी कमी नहीं है कि कोख को किराये पर दे कर धन कमाया जाए। फुटबॉलर बीफी डेविड का सामाजिक रूतबा मनप्रीत को आकर्षित करता है। जब जया मनप्रीत की कोख किराये पर माँगती है तो वो झट से तैयार हो जाती है। लंदन मूल का उसका पति गैरी मना करता है लेकिन मनप्रीत अपने पति से कहती है “तुम भी गैरी कैसी मिडल क्लास बातें करते हो। तुम सोचो हमारा बच्चा डेविड की सारी संपत्ति का मालिक बनेगा।”⁵ मनप्रीत भ्रम में जी रही है। उसने अपने चारों ओर एक ऐसा मायालोक रख लिया है कि वे सब कुछ जानते हुए भी अनजान बनी रहती है। वह डेविड की देह और उसके रूतबे के आगे खुदबखुद समर्पण करती चली जाती है, वह किसी भी कीमत पर उसे पाना चाहती है। अपनी महत्वाकांक्षा व्यक्त करते हुए एक जगह कहती है “फुटबॉल के मैदान में खेल समाप्ति के पश्चात उसके पसीने की गंध मुझे दिवाना बना देती है। क्या डेविड मुझे एक गहरा चुम्बन नहीं दे सकता है।”⁶

कृत्रिम गर्भधारण करना उसे अच्छा नहीं लगता है। मनप्रीत सोचती है “यदि मैं डेविड के साथ संसर्ग भी कर लेती, तो होना भी यही था मुझे उसके बच्चे की माँ ही तो बनना था।”⁷ अनुबंध की शर्त के अनुसार उसके खाते में पचास हजार पाउंड जमा कर दिए जाते हैं। इधर उसका पति गैरी चाहकर भी कुछ नहीं कर पाता है, गौरतलब है कि उसने मनप्रीत पर किसी भी तरह का दबाव नहीं बनाया, लेकिन उसके बच्चे कार्ल और रीटा धीरे-धीरे उससे कटते चले गए। दूरिया बनने लगीं और संबंध विच्छेद होना लगा। संबंध टूटने की प्रक्रिया सहज रूप से चलती है। बेटा पैदा होते ही डेविड और जया बच्चे को अस्पताल से सीधे अपने घर ले चले जाते हैं मनप्रीत अभी आराम ही कर रही थी। जागने पर वह बेचैन हो जाती है। कठोर यथार्थ उसके सामने आ जाता है, तथाकथित विद्रोह उसे निरर्थक लगने लगता है। लेखक ने मनप्रीत की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए लिखा है “थकी हारी मैनी अस्पताल से मिनी कैब लेकर घर पहुँची तो घर में कोई नहीं था। उसने अपने पर्स से चाबियाँ निकालकर दरवाजा खोला। घर में वीरान भयभीत कर देने वाली चुप्पी छाई हुई थी। टेलीविज़न पर कुछ पत्र रखे हैं, सबसे ऊपर गैरी के हाथ से लिखा रूक्का है। वह अपने दोनों बच्चों को लेकर नीना के साथ रहने चला गया है। अब उसे मैनी में कोई दिलचस्पी नहीं रही। उसने लिखा है कि उसे वापस बुलाने की कोशिश बेकार होगी। अब मैनी चाहे तो अपनी कोख को किराए पर देने का धंधा शुरू कर सकती है। बहुत से ग्राहक मिल सकते हैं।”⁸ जया को फोन करने पर मनप्रीत को दो टूक जवाब मिलता है—“देखो मैनी, मैं आज तक तुम्हें साफ-साफ कहने से बचती रही कि तुम्हारा दिल टूट जाएगा। नाऊ मस्ट रीयलाइज कि जेफ हमारा बेटा है, मेरा और डेविड का। हम दोनों अपने बच्चे से बेहद प्यार करते हैं। अगर तुम हमारे बच्चे से मिलोगी तो हम लोगों के बीच कंपलीकेशंस बढ़ेंगी। हम सब के लिए बेहतर यही है कि तुम अपना जीवन जियो और हम अपना जिएँ। ठीक है कि हमने अपने बच्चे के लिए तुम्हारी कोख का इस्तेमाल किया है पर उसका पूरा किराया भी तो हमने दिया है।”⁹ यह सुनकर मनप्रीत अंदर तक हिल जाती है। उसे अपनी स्थिति का ज्ञान हो जाता है। वह सोचती है “कोख का किराया ! क्या यही औक़ात है मैनी की ? जेफ जया और डेविड के पास है और गैरी अपने बच्चों समेत नीना के पास। मैनी के चारों ओर सन्नाटे से भरी चीखती दीवारें हैं।”¹⁰ तेजेन्द्र शर्मा के पात्रों की यही नियति है। उनके पात्र सन्नाटे में कहीं गुम हो जाते हैं। उनकी कथित

महत्त्वाकांक्षाएँ जीवन के रस को समाप्त करके सूखा और बेजान बना देती हैं।

यहाँ यह बात विशेष रूप से रेखांकित किए जाने की जरूरत है कि लंदन में बसे भारतीय लोगों की मानसिक बुनावट मॉरीशस जैसे देशों में बसे भारतीयों से अलग है। अभिमन्यु अनत की कहानियों के किरदार इस बात की पुष्टि करते हैं। प्रवासी भारतीयों की प्राथमिकताएँ देश के अनुसार अलग-अलग हैं। अभिमन्यु अनत की कहानियों में भारत के प्रति गहरी आस्था है। अतीत की स्मृतियाँ उन्हें कचौटी हैं। इच्छा के विरुद्ध भारतीयों को धोखे से मॉरीशस ले जाया गया था, ‘शर्तबंदी’ के नाम पर वहाँ जबरन बसाया गया था। मॉरीशस-सूरीनाम-फिजी जैसे देशों को प्रवासी भारतीयों ने अपनी इच्छा से नहीं चुना था जबकि यूरोपीय देशों का चयन खुद भारतीयों ने किया है। ‘अभिशप्त’ कहानी का पात्र महेश इस सच्चाई को जानता है। वह ठीक ही कहता है—“यह जीवन किसी ने हम पर थोपा नहीं है। हमने सब कुछ सोच-समझकर यह जीवन चुना है। फिर शिकायत कैसी ? अपने वतन में तो ग्रेजुएट होकर भी किसी नौकरी का जुगाड़ नहीं कर पा रहे थे। यहाँ तो कुलीगिरी करके ही, ओवर-टाइम मिला कर दो हजार पाउंड महीना कमा लेते हैं। एक लाख बीस हजार रुपए एक महीने में। अपने देश में तो इतना एक साल में भी नहीं कमा सकते थे।”¹¹

यह कहानी अकेले महेश की नहीं है। उन लाखों-करोड़ों युवा बेरोजगारों की कहानी है, जो रोजगार की तलाश में यूरोपीय देशों में धक्के खा रहे हैं। इन युवाओं ने बहुत बड़ी कीमत चुकाकर यहाँ नौकरी पाई है, जिसे ये ही जानते हैं। यूरोपीयन संस्कृति ने इन्हें पूरी तरह नकार दिया है, लेकिन ये लोग वहाँ की संस्कृति को अपनाने के लिए बेताब हैं। मॉरीशस-सूरीनाम-फिजी जैसे देशों की कहानी अलग है। यहाँ बसे भारतीय मूल के लोगों ने इन देशों को अपना मान लिया है, सच तो यह है मॉरीशस- सूरीनाम-फिजी ने भी इन्हें स्वीकार कर लिया है। जंगलों को काटकर, पथरों-पहाड़ों को तोड़कर जिस बंजर धरती को इन लोगों ने उपजाऊ बनाया था उस धरती में उनके पूर्वजों का पसीना खून बनकर मिला हुआ है। भारतीय संस्कृति ने उनकी जीजिविषा को जगाए रखा है, वे भरपूर जीवन जीना चाहते हैं। यही कारण है कि अतीत की कटु स्मृतियाँ और यातना के दुखद चिह्न वर्तमान की मुस्कुराहट में तब्दील हो गई हैं। उनके हृदय में मॉरीशस-सूरीनाम-फिजी के प्रति अपनत्व जाग

गया है। वे वर्तमान प्रति पूरी तरह आश्वस्त हैं, बेहतर भविष्य इंतजार कर रहे हैं। मॉरीशस इनका अपना देश है। वहाँ के राष्ट्रीय प्रतीक-चिह्नों को इन्होंने पूरे मन से अपनाया है। अभिमन्यु अनत की ‘सत्य’ नामक कहानी इस बात की तस्दीक करती है। वयोवृद्ध रामौतार अपने पौते-पौतियों को मॉरीशस की आजादी की कहानी सुनाते हुए कहते हैं—“तुम लोग भाग्यशाली हो। आजाद देश की आजाद संतान हो। मेरी पीढ़ी के लोगों को इस बात का गर्व है कि हमने अपनी औलादों को गुलाम देश में नहीं, स्वतंत्र देश में जनमने का अवसर दिया।”¹² रामौतार का यह कथन मॉरीशस में बसे भारतीयों की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। तेजेन्द्र शर्मा का रचना संसार अपने किरदारों को ‘ठोस भूमि’ पर खड़े होने का अवसर नहीं देता है। तेजेन्द्र शर्मा के पात्र यूरोपियन समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। ‘खिड़की’ कहानी का मुख्य पात्र ‘वह’ जो कि भारतीय मूल का है, आधारहीन होकर लंदन में अपनी जिंदगी को ढो रहा है, घसीट रहा है। बिखराव उसकी नियति बन गई है। लेखक ने उसका मार्मिक ढंग से चित्रण किया है। ‘परिवार के बारे में सोचते ही उसके विचारों में दर्द का अहसास शामिल हो जाता है। न जाने उससे कहाँ क्या गलती हो गई कि सब रिश्ते जीवित होते हुए भी वह अपना परिवार खोज रहा है। उसने अब सोचना बंद कर दिया है। कि गलती किसकी थी। दो रिश्तों के बीच पैदा हुई दरार के बारे में सच्चाई उन दोनों को ही मालूम होती है। बाकी सब तो झूठ ही कहलाएंगा।’¹³

संदर्भ

1. तेजेन्द्र शर्मा, तेजेन्द्र शर्मा की श्रेष्ठ कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2014, दिल्ली, पृ. 05
2. वही, पृ. 89, 3. वही, पृ. 101, 4. वही, पृ. 01, 5. वही, पृ. 94, 6. वही, पृ. 97, 7. वही, पृ. 97, 8. वही, पृ. 102
9. वही, पृ. 102, 10. वही, पृ. 102, 11. वही, पृ. 57
12. अभिन्यु अनत, मातमपुरसी, प्रतिभा प्रतिष्ठान, 2007, नई दिल्ली, पृ. 13
13. तेजेन्द्र शर्मा, तेजेन्द्र शर्मा की श्रेष्ठ कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2014, दिल्ली, पृ. 48

—डॉ. ब्रह्मा नंद
सहायक प्रवक्ता,
पटना वीमेंस कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

मुक्तिबोध के काव्य में मार्क्सवादी प्रेरणा

—राकेश कुमार

मुक्तिबोध संभवतः हिंदी के अद्वितीय रचनाकार हैं जो मानव जीवन के भीतरी परतों को खोलते हुए बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से गहराई में उतरते हैं और उसमें से अपने रचना विधान के लिए कुछ नया, जीवन्त एवं मूल्यवान उपलब्ध कराते हैं। मुक्तिबोध की सबसे बड़ी खासियत यही रही है कि वे अपने समय में उत्पन्न होने वाली विसंगतियों की पहचान लगातार करते रहें। आजादी के पश्चात जिस जनतंत्र की स्थापना हुई थी वह आज भी अपनी पुरानी सामंती परंपरा से विछिन्न नहीं हुई थी। उसमें शासकवर्गीय तानाशाही आज भी मौजूद है अर्थात् जिस जनतंत्र में हम निवास कर रहे हैं उसमें आज भी सामंती खून दौड़ रहा है। जनतंत्र में अभिव्यक्ति की आजादी का अर्थ ही बदल गया था। जहां वर्चस्वशाली सर्वसहमति को सवालों के धेरे में खड़ा करना था। वहां सर्वसहमति को सिर झुका कर स्वीकार करना पड़ रहा था। मुक्तिबोध को जनतंत्र के रूप में जो विसंगतियाँ दिखाई दीं उसकी भी शिनाख्त इन्होंने की। भारत के आजादी के पूर्व एवं उसके पश्चात उत्पन्न परिस्थितियों को उन्होंने झेला एवं जीया भी। इसी बीच मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा से पूर्ण रूप से एकाकार हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अपने को बुद्धिजीवी कहने वाला वर्ग सरकार एवं कुछ लंपट, पूजीवादियों के हितैषी बन राजनीति में लीन हो गए और सत्ता का सुख भोगने में लगे रहे पीड़ितों की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। किंतु मुक्तिबोध ने अपने व्यक्ति जीवन संघर्ष एवं सामाजिक जीवन संघर्ष को अपने साहित्य में उद्घाटित किया इन्होंने मार्क्सवाद के वैज्ञानिक भौतिकवाद का अध्ययन कर समस्त मानव जाति को गतिशील एवं प्रेरित करने का कार्य आजीवन किया। मुक्तिबोध मार्क्सवाद के बारे में कहते हैं, ‘मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है; यथार्थ विकास का, मानव संज्ञा के विकास का दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्वपूर्ण है, जीवन-तथ्यों की वास्तविकता, जो राजनीति, समाजनीति, कला आदि को उपस्थित कराती है।’¹ मुक्तिबोध का साहित्यिक व्यक्तित्व मार्क्सवाद के विचारों का अनुयायी रहा है, ये पुराने सड़े-गले मूल्यों के जितने विरोधी रहे, उतने ही नई पीढ़ी, नए सृजन, एवं नई प्रगति के प्रति सजग और सतर्क। मार्क्स के इतिहास विश्लेषण, समाज दर्शन, क्रांति चेतना एवं उसके लक्ष्य को लेकर मुक्तिबोध ने सृजन के क्षेत्र में प्रवेश किया है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मार्क्सवादी सिद्धांत इनकी रचनाओं में समाहित होते गए। इनके रचना संसार में मार्क्स के सिद्धान्त स्पष्ट रूप

से परिलक्षित होते हैं। कविता एक सामाजिक प्रक्रिया एवं कवि एक सामाजिक प्राणी होता है, जो इसी समाज में जीता है और समाज में घटित हो रही घटनाओं को अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर संतोष प्राप्त करता है। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में अनेक वादों का उदय हुआ, जैसे—छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद। इन वादों के पश्चात भी आधुनिक युग में ऐसा कोई साहित्यकार नहीं हुआ जो मार्क्सवाद से प्रभावित न हुआ हो। जो कवि अपने समाज के लोगों के प्रति ईमानदार उनके दुःखों के प्रति संवेदनशील रहेगा वह मार्क्सवाद से दूरी बना ही नहीं सकता, ऐसे में मुक्तिबोध का इसके प्रति प्रभावित होना लाजमी था। मुक्तिबोध प्रारम्भ में छायावाद से प्रेरित रचनाएं लिखते हैं, किंतु बाद में इनका रुझान प्रगतिवाद की ओर अग्रसर हो जाता है, जो मार्क्सवाद का ही एक रूप है। प्रगतिवाद से जुड़े जाने के बाद इनके व्यक्तित्व ने जनवाद का रूप ग्रहण कर लिया और सर्वहारा एवं मेहनतकशों के जीवन को समीप से देखा एवं अनुभव किया। अपनी कहानी विपात्र में वे स्वयं लिखते भी हैं, ‘मैं क्या करता हूँ? ज्यादा-से-ज्यादा ढीमरों, महारों और कुनवियों के मोहल्ले में चाय पीता हूँ। जी हाँ, मैंने वहाँ के दृश्य देखे हैं, लेकिन साफ-साफ बात यह है कि खुद कहार, कुनवी, ढीमर, मुसलमान या ईसाई नहीं हो सकता। जी हाँ मेरे हमदर्दों ने मुझे हजार बार कहा कि यह छोटा शहर है, तुम यहाँ के बड़े आदमी हो, वहाँ जाकर चाय वगैरह न पिया करो। लेकिन मुझे वहाँ आराम मिलता है।’² मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचारों को अपनाया है। इस संदर्भ में हम कुछ विद्वानों के विचार देख सकते हैं जैसे डॉ. राम मनोहर त्रिपाठी लिखते हैं, ‘मुक्तिबोध कम्प्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी थे और मार्क्सवादी चिंतन से गहरे रूप से जुड़े भी इसलिए साठोत्तरी पीढ़ी के विद्रोही व नव प्रगतिवादी कवियों के प्रेरणा पुरुष भी थे तो यह आश्चर्य की बात नहीं है।’³ मार्क्सवाद एक विश्व व्यापी दर्शन है, जो गरीबों, मज़दूरों एवं मजलूमों को शोषण की अधिकता होने पर मुक्ति दिलाने के लिए क्रांति का मार्ग प्रशस्त करता है, क्योंकि किसी भी क्रांति के लिए क्रांतिकारी विचारों का होना आवश्यक है। मुक्तिबोध सर्वहारा, मेहनतकशों में क्रांतिकारी भावों का विकास अपनी कविता ‘आ-आकर कोमल समीर’ के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं—

नए मनुज की वक्र, भृकुटि जलती आँखों में
एक विश्व व्यापी सपने के मद को

चिर-दिन तिरते देखा
मैं जो भी एक नगण्य व्यक्ति
करता-रहता दिन-रात काम।⁴

मार्क्सवाद ईश्वर एवं धर्म में विश्वास नहीं रखता। वह उत्पादन के समस्त साधनों पर मेहनतकशों का अधिकार चाहता है। इस बाद में लोभ, यश, अहंकार के लिये कोई जगह नहीं है। एक ओर जहाँ अवसरवादी बुद्धिजीवी वर्गों द्वारा पुरस्कार, प्रशस्तिपत्र जैसी रेवड़ियां प्राप्त करने के लिए भागदौँ मची हुई थी, वहाँ दूसरी ओर मुक्तिबोध ने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया। इसका प्रमुख कारण मार्क्स के विचार ही थे। इन विचारों के कारण ही वे ऐसे अवसरवादी बुद्धिजीवों पर व्यंग्य कसते हैं और उनके साहित्य को काल्पनिक एवं अयथार्थवादी सिद्ध करते हैं। अपनी कविता में मुक्तिबोध साफ कहते हैं—

शुद्ध प्रशंसा की मेहराबों में जो साज-सवार के,
सुन्दर परदे गए लगाये भव्य प्रतिष्ठा द्वार के—
खुले आज वे पन्ने सब अखबार के
अखबारों पर, पुस्तक पत्रों पर यह वंदन वार-सी
नाम-छपाई-बड़े पने की पंक्ति-पंक्ति थी लार की
सोते में भी आकांक्षा की लार की अपरस्पार थी
निज महत्व का लेबल चिपकाकर छाती से रात-दिन
स्वप्न देखते रहते बौद्धिक-भावुक-कल्पक-भूतगण।
गहन भावना की परछाई औड़े बहुरूपिये कई-
फिरती है पुरस्कार पाने अब कलाकार मूरते कई
रासायनी कविता-प्रतिभा की जादूगर- की मिया नयी
अपनी प्रयोगशाला में आत्माएं-भूत बनायी गयी
.....भूतों की है सूरते कई।⁵

मुक्तिबोध में मौजूद समस्त गुण मार्क्सवादियों जैसे ही हैं क्योंकि इनका भी एकमात्र लक्ष्य है, सर्वहारा वर्ग की खुशहाली और शोषण से मुक्ति। मुक्तिबोध सच्चे अर्थों में मार्क्सवादी थे। उन्होंने पद, प्रतिष्ठा आदि की कभी लालसा ही नहीं की। इसके उलट सर्वहारा वर्ग को जागृत करने में लगे रहे। पूँजीवादी एवं अवसरवादी लेखकों के द्वारा इनके जीवन को असफल, बेगानगी, अपूर्ण कहा गया लेकिन मुक्तिबोध इनकी इस तुच्छ, ओछी बातों को विद्वत्तापूर्ण माना और इन पर व्यंग करते हुए कहा है—

कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं—
सफल जीवन विताने में हुए असमर्थ तुम
तरक्की के गोल-गोल, युमावदार-चक्रदार
उपर चढ़ते हुए जीने पर चढ़ने की

चढ़ते ही जाने की, उन्नति के बारे में
तुम्हारी ही जहरीली उपेक्षा के कारण,
निरथक तुम, व्यर्थ तुम।¹

मुक्तिबोध पर मार्क्सवाद के प्रभाव के संबंध में नरेश मेहता ने लिखा है, ‘मुक्तिबोध पार्टी सेल की मीटिंगों में बैठे हुए शास्त्र मार्क्सवादी नहीं थे, बल्कि मार्क्स से प्रेरणा प्राप्त समाज की तंग अंधेरी गलियों में भटकते भयग्रस्त सर्जक थे जो जानते थे कि मनुष्य के नंगे सीने और व्यवस्था की गोली के बीच शायद कोई दर्शन करवा नहीं हुआ करता।’² मुक्तिबोध बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व के साहित्यकार थे। इनके साहित्य में अनेक वादों से संबंधित रचनाएं दिखाई देती हैं। इसके ही आधार पर अनेक विद्वानों ने इन्हें रहस्यवादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी जैसे वादों से प्रभावित मानते हैं किंतु मुक्तिबोध किसी एक वाद से लिपटे नहीं रहे, लेकिन यह प्रमुख रूप से मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित रहे। शमशेर बहादुर सिंह ने मुक्तिबोध के विषय में लिखा है, ‘मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएं लांघकर प्रगतिवाद से मार्क्सवादी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांशतः हथियार संभाल और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि से सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर निराला की सुधरी और खुली मानवतावादी परंपरा को बहुत आगे बढ़ाया।’³ इसी प्रकार मुक्तिबोध के वाद संबंधित जुड़ाव पर डॉ. नरेंद्र कुमार शर्मा ने लिखा है, ‘मुक्तिबोध की कविताओं को लेकर विद्वानों में पर्याप्त वाद-विवाद है। कोई इनको प्रगतिवाद के साथ, कोई प्रयोगवाद के साथ और कोई बिल्कुल नया कवि मानता है। वे स्वयं किसी वाद में बंधना नहीं चाहते थे उनकी कवितायें उपयुक्त तीनों वादों को अपने अंदर सहेजती हैं।’⁴

मुक्तिबोध आधुनिक युग के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनका संपूर्ण जीवन आर्थिक और सामाजिक संघर्ष का पर्याय बना रहा, मुक्तिबोध ने वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों स्तरों पर समाज की विसंगतियों एवं संघर्ष की चुनौतियों को झेला एवं देखा और इन्हीं को अपनी कविताओं में प्रकट किया। समाज के यथार्थ की रचना करते हुए स्वयंमेव ही उनके भीतर एक ऐसे दर्शन का विकास हुआ जिसका स्वरूप मार्क्सवाद प्रस्तुत करता है। आगे चलकर इन्होंने मार्क्स के विचारों का अध्ययन कर अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को अनुप्राणित किया। जिस प्रकार मार्क्सवाद पूँजीपतियों का विरोधी एवं सर्वहारा वर्ग का हितैषी है, वैसे ही मुक्तिबोध भी सामान्य जनता के हितों की रक्षा और उनके उन्नति के लिए लगातार लड़ते दिखाई देते हैं। मुक्तिबोध में मध्यवर्गीय

बुद्धिजीवियों सी कमजोरियां नहीं थी। वे निरंतर इसका विरोध करते रहे एवं सामान्य शोषित वर्ग के हितों के लिए अपनी आवाज बुलंद करते हैं। मार्क्सवाद में जो विशेषताएं विद्यमान थीं वो सभी विशेषताएं मुक्तिबोध में मौजूद रहीं हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएं मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रही हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मुक्तिबोध स्वदेश की खोज, रामजी राय, नवारुण प्रकाशन, गणियावाद उत्तरप्रदेश, पहला संस्करण, 2022, पृ. 21.
2. मुक्तिबोध समग्र खंड-4 कहानी, संपादक, नेमीचंद जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2019, पृ. 69.
3. हिंदी कविता संवेदना और दृष्टि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1986, पृ. 61.
4. मुक्तिबोध समग्र खंड-1, संपादक, नेमीचंद जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2019, पृ. 140
5. वही, पृ. 386
6. मुक्तिबोध समग्र खंड-2, संपादक नेमीचंद जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2019, पृ. 336.
7. मुक्तिबोध एक अवधूत कविता, नरेश मेहता, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1988, पृ. 8
8. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् 1964, पृ. 24
9. प्रयोगवाद और मुक्तिबोध एक नव मूल्यांकन, डॉ. नरेंद्र कुमार, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1986, पृ. 90

—राकेश कुमार
शोधार्थी, हिंदी विभाग
कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सेक्टर 7, भिलाई नगर, दुर्ग
छत्तीसगढ़

निर्मला पुतुल की कविताएं व आदिवासी स्त्री

—डॉ. ज्योति गौतम

जल जंगल और जमीन की लड़ाई के साथ एक लड़ाई स्त्री असिंहता की भी है जो सदियों से चली आ रही है। स्त्री को सिर्फ भोग्य वस्तु के रूप में देखना नयी बात नहीं, फिर चाहे वह उसका मन, देह, विचार, स्वतन्त्रता, विकास, श्रम, भावनाएं आदि कुछ भी हो, सभी तत्व शोषण के दायरे में आ जाते हैं। निर्मला पुतुल समस्त नारी जाति में आदिवासी नारी के जटिल जीवन पर, उसके शोषित जीवन पर तथा उन तमाम प्रश्नों पर जो स्त्री के मन के भीतर दम तोड़ते हैं, पर अपनी कविताओं का विषय बनाती हैं। स्त्री सौन्दर्य को वह तन से नहीं मन और विचारधारा से पूर्ण मानती है। सरल और तीखे लहजे में निर्मला पुतुल अपनी बात कविताओं में कहते हुए नजर आती हैं। जो उनके बेबाक नजरियों को स्पष्ट करता है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से पुरुष प्रधान सामाज की घड़यां भरी राजनीति का भाण्डा फोड़ती दिखाई देती हैं। बाजारवाद का एक हिस्सा स्त्री को भी बनाया गया है। बाजारवाद की शिकार लड़कियों के लिए वे कहती हैं—“कहाँ हो तुम माया/कहाँ हो कहीं हो भी सही सलामत या/दिल्ली निगल गई/तुम्हें” निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री की वह आवाज हैं जिसे शोषित आदिवासी स्त्री वर्षों से तलाश कर रही थी। वे आदिवासी स्त्रियां जो धोखे की संस्कृति का हिस्सा बनती चली आयी सदियों से ऐसी स्त्री कभी प्रेम के नाम पर तो कभी विवाह करके और कभी उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर उन्हें बाजार में बिकने वाली वस्तु बनाया जाता रहा। कभी लौट कर न आने वाली वस्तु जिसे निर्मला पुतुल ने अपनी कविता में खोजने की कोशिश की है। आदिवासियों में पहचान के आंदोलन और अपनी संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, जमीन और लाग-जलावन को बचाने की मुहिम का हिस्सा नहीं तो और क्या है? वे अपने समाज की विकृतियों को भी दूर कर आज के समाज के समकक्ष सशक्त होकर खड़ा होना चाहता है। निर्मला पुतुल अपने समाज में व्याप्त कुप्रथाओं, जड़-परंपराओं और प्रयासों पर तीव्र चोट करती हैं, जब वे कहती हैं—बस रहने दो/कुछ मत कहो सजोनी किस्कू/मैं जानती हूँ कि अपने गांव बागजोरी की धरती पर/जब तुमने चलाया था हल/तब डोल उठा था बस्ती के माझी थान में बैठे/देवता का सिंहासन/गिर गई थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठे/मगज हीन माझी हाड़ाम की पगड़ी/तब बैल बनाकर हल में जोता था/जालिमों ने तुम्हें/खूटें में बांधकर खिलाया था भूसा”।

खेती करने से रोकना आदिवासी स्त्री के लिए आसान नहीं रहा। कई सजाओं से गुजरना पड़ा है। इस कविता से

स्पष्ट है कि कितने सामन्ती विचारधारा के लोगों द्वारा एक स्त्री को उसके हक से रोका जाता है। आदिवासी स्त्री का हल चलाने का यह प्रयास सिर्फ अपने विकास की ओर रहा लेकिन वह शोषक वर्ग की हार न बन जाये इस भय से कमज़ोर वर्ग को उठने न देने की यह परम्परा आज भी देखी जा सकती है। आज हिन्दी साहित्य में आदिवासी साहित्य अपनी पहचान बनाने की कोशिश में है। आदिवासी समाज के लेखन में निर्मला पुतला की कविताएं एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। वे अपने लेखन में व्यक्तिगत सामूहिक एवं संस्थागत स्तर पर सतत् सक्रिय दिखाई देती हैं। अनेक संगठनों व संस्थाओं की संस्थापक सदस्या, स्वास्थ परिचायिका के रूप में संथाल परगना के ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष कार्य इनके द्वारा किया जा रहा है। निर्मला पुतला भारत के आदिवासी स्त्री संघर्ष को अपनी कविताओं के माध्यम से सामने ला रही हैं। इनकी कविताओं को मुख्यतया तीन भागों में देखा जा सकता है। स्त्री होने के कारण, आदिवासी होने के कारण, संथाल परगना होने के कारण देशज आधार। निर्मला जी की कविताएं तिरस्कार, पीड़ा, शोषण आदि जकड़न में फंसी आदिवासी महिलाओं के जीवन संघर्ष को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करती है। वह अपनी ‘कविता क्या जानते हो’ के माध्यम से साफ यह कह देना चाहती है कि स्त्री अब रसोई और बिस्तर के गणित को समझ चुकी है। यह वे जात हैं जिसमें उलझाकर स्त्री को विचारने से रोका जा सकता है—‘क्या जानते हो तुम/पुरुष से भिन्न/एक स्त्री का एकान्त/अगर नहीं/तो फिर जानते क्या हो तुम/रसोई और बिस्तर के गणित से परे/एक स्त्री के बारे में’²

भारतीय समाज में स्त्री के लिए या तो अन्नपूर्णा का स्थान है। देवी के रूप में या भोग्या के रूप में या दासी के रूप में। समानता का कोई सामाजिक रूप यथार्थ में दिखाई नहीं देता। समानता प्राप्त कर अपने विचारों को अभियक्त करना किसी सामाजिक कार्य में दखल देना स्वीकार्य नहीं है। निर्मला पुतला अपनी कविता ‘तुम्हें आपत्ति है’ में बात करती हुई कहती हैं। किस तरह स्त्रियों में बोल चाल रहन-सहन के तौर तरीकों पर पुरुषों के द्वारा बनाई गयी मर्यादा का प्रभाव बनाये रखने की बातों को शोभनीय और अशोभनीय के दायरों से बांध दिया जाता रहा है—‘आपत्ति है तुम्हें/मेरे विरोध जताने के तरीके पर/तुम्हारा मानना है कि/उतनी ऊँची आवाज में बोलना/हम स्त्रियों को शोभा नहीं देता/धारणा है तुम्हारी कि/स्त्री होने की अपनी एक मर्यादा होती है/अपनी एक सीमा होती है स्त्रियों की/सहनशक्ति होनी चाहिए उसमें/मीठा बोलना

चाहिए/लाख कड़वाहट के बाबजूद’³

निर्मला पुतला आदिवासी स्त्रियों के बीच मौजूद शोषण को तो बताती ही हैं, साथ ही साथ अपने वैयक्तिक जीवन की कई प्रकार की समस्याओं को व्यक्त करती हैं। जिस कारण आदिवासी स्त्री के हर प्रकार की विषमताओं का यथार्थ चित्रण इनकी कविताओं में दिखाई दे जाता है। इनकी कविता ‘उतनी दूर मत व्याहना बाबा’ के माध्यम से हम देख सकते हैं कि किस प्रकार आदिवासी स्त्री दूर व्याह होने के डर से व्याकुल है। इसका एक मुख्य कारण लड़कियों का अपने पहाड़, नदियाँ, जमीन, जंगल के जुड़ाव का है अपनी जड़ों से अलग होने का दर्द कविता में स्पष्ट दिख जाता है—‘बाबा/मुझे उतनी दूर मत व्याहना/जहाँ मुझसे मिलने जाने खातिर/घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें/मत व्याहना उस देश में/जहाँ आदमी से ज्यादा/ईश्वर बसते हों/जंगल नदी पहाड़ नहीं हो जहाँ/वहाँ मत कर आना मेरा लगन’⁴ वे आगे कविता में कहती हैं कि बाबा ऐसा वर चुनना जो मेरे दुःख को भी अपना दुःख समझे और मेरे सुख को अपना सुख माने मेरा ध्यान रखे—‘वसंत के दिनों में ला सके जो रोज़/मेरे जुड़े के खातिर पलाश के फूल/जिससे खाया नहीं जाए/मेरे भूखे रहने पर/उसी से व्याहना मुझे’⁵

निर्मला पुतला और भी बहुत सारी घटनाओं को अपनी कविता के माध्यम से कहती हैं फिर चाहे वह मेले में बेची गयी स्त्री हो या समाज में उपेक्षित स्त्री, घर की चार दीवारों में कैद स्त्री हो या वैचारिक बन्धनों में बंधी स्त्री। आदिवासी स्त्री नहीं चाहती अपने क्षेत्र से दूर जाना जिसका रूप विवाह से मना करना होता है। निर्मला पुतला की कविताओं में प्रतिरोध के स्वर निहित हैं। खुली मानसिकता रखने वाली स्त्रियों के विषय में कई गलत मनोभाव पुरुषों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाकर जीवन जीने वाली स्त्रियाँ इन पुरुषों के लिए हीन होती हैं। इस स्थिति में वे कहती हैं कि विरोध नहीं तो क्या करें। जब विरोध करती हैं तब भी यह पिरूसत्तात्मक समाज स्त्री को बार-बार अपने सवालों से प्रहार करते रहते हैं ये लिखती हैं—‘तुम कहते हो/मेरी सोच गलत है/चीजों और मुदों को/देखने का नजरिया ठीक नहीं है मेरा/आपत्ति है तुम्हें/मेरे विरोध जताने के तरीके पर’⁶ दोयम दर्जे से स्त्री को सदा ही नवाजा जाता रहा है। स्त्री की कुशल गृहस्थी का लाभ लेकर आगे बढ़ना पुरुष’ उसी को हर वक्त गलत ठहराता रहता है। इनकी कविता ‘नगाड़े की तरह बजते शब्द’ के माध्यम से वह सम्पूर्ण आदिवासी के अस्तित्व को उजागर करती है। आदिवासी जीवन में नगाड़े का महत्वपूर्ण

स्थान है। वह अपने जीवन के हर महत्वपूर्ण अवसर पर नगाड़े बजाते हैं। यह धुन उनके जीवन की धुन है निर्मला पुतुल अपनी सारी संवेदनाओं को इस कविता के माध्यम से कह देना चाहती है—‘सिद्धों मैं पीटती हूँ नगाड़ा/कि इसकी आवाज सुन/तुम आजोगे कहीं न कहीं से/मैं पीटती हूँ नगाड़ा।’

निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्री प्रश्न के साथ-ही साथ अपनी जमीन, जल, जंगल और जमीर को बचाए रहने के हजारों प्रश्न दिखाई देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासी समाज से स्त्रियाँ सशक्त रूप में सामने आ रही हैं। अपनी जमीन तलाशती बैचेन स्त्रियों का धार्मिक चित्रण हमें यहाँ मिलता है। आदिवासी साहित्य के उद्देश्य और सौन्दर्यशास्त्र के सवालों पर वरिष्ठ कनाडियन आदिवासी लेखिका जीनेट आर्मस्ट्रोंग कहती हैं—‘सौन्दर्य बोध के सम्बन्ध में मेरा ध्यान नजरिया शैली और रूप पर जाता है। आदिवासी-भाषी होने के कारण मेरे लिए यह समझना बहुत ही मुश्किल है कि कहने की वाचिक परम्परा का सौन्दर्य क्या है। हमारी आदिवासी भाषा अंग्रेजी से बिल्कुल भिन्न है। शायद यह मेरी समझदारी की कमी है या मैंने बहुत कम पढ़ा है, या फिर मैं अभी तक वंचित हूँ उस बौद्धिक काम से जिसे आदिवासी कथा वाचकों ने किया है। अगर किया है तो मैं बाहर नहीं गई हूँ, इसलिए मुझे जरूर बताएं। आदिवासी साहित्य अभी तक उन स्कूलों में भाषा व साहित्य की सबसे ज्यादा माँग है। इसलिए पहली समस्या तो यही है कि आदिवासी साहित्य एक ‘पाठ’ के रूप में चाहे वाचिक हो या लिखित, अभी बहुत छोटे हिस्से को ही उपलब्ध हुआ है। ऐसे में आदिवासी साहित्य और सौन्दर्य बोध विषय ही विरोधाभासी जान पड़ता है।’⁸

निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन को कहते हुए नजर आती हैं, उनकी हर कविता आदिवासी समाज के अलग-अलग पहलू पर समाज के सामने कई प्रश्न उठाती है। आदिवासी महिलाओं को सामाजिक, अशिक्षित, भौतिक सभी स्तरों पर पिछड़े रूप में देखा जा सकता है। यह भौतिक संसाधनों के रूप में हम पौष्टिक आहार, पक्के घर, सड़क, स्वास्थ्य एवं परिवहन संबंधी सुविधाएं शिक्षा आदि को देखते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो संस्कृति समाज का निर्माण करती है। संस्कृति का निर्माण मानव द्वारा होता है और संस्कृति हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है, उसी तरह आदिवासी का धार्मिक रूप खुला आकाश होता है—वृक्ष, धरती, आकाश, हवा आदि के वह सबकुछ मानते हैं। उनके जन्म और जीवन का आधार प्रकृति है, इनके ईश्वर एक हैं, मृत्यु के पश्चात् भी आदिवासी

जिस खेत में कृषि करते रहे हैं उसी का दाना पानी आस्था के स्वरूप देते रहते हैं। इन सभी धार्मिक आस्थाओं के चलते निर्मला पुतुल अपनी कविता ‘उतनी दूर मत व्याहना बाबा’ में कहती हैं कि बाबा इतनी दूर मत व्याहना मुझे कि मुझसे मिलने के लिए तुम्हें अपना घर खेती बेचनी पड़े। निर्मला पुतुल की और कवितायें जैसे, ‘मर के भी अमर रहते हैं’ ‘सच्चाई के लिए लड़ने वाले’, ‘बाज मैंने अपने आंगन में गुलाब लगाए’ ‘एक बार फिर क्या हूँ आदि में वह विषय की गम्भीरता को कहाँ भी भटकने नहीं देती हैं। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री के शोषण और दासता का पूरा मानवित्र पूरे दायित्व के साथ प्रकट करती हैं। वे आदिवासी अस्मिता के बीच आदिवासी स्त्री के अस्तित्व को खोजती रही हैं। हक की लड़ाई का यह नगाड़ा आज अपनी पूरी ताकत के साथ शोषकों के सामने बज रहा है।

सन्दर्भ सूची

1. श्रविका गुप्ता, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, प्रकाशन, सामाजिक ऐपे बैक्स, नई दिल्ली, पृ. 22
2. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
3. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
4. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
5. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
6. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
7. निर्मला पुतुल, नगाड़े से बजते शब्द कविता संग्रह
8. वंदना टेटे, वाचिकता : आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य बोध, राधाकृष्ण, पेपर बैक्स, दिल्ली

—डॉ. ज्योति गौतम

असि. प्रोफेसर

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय,
लखनऊ, उ.प्र.

आदिवासी जीवन संघर्ष और वर्तमान चुनौतियाँ

—शुभम यादव

आदिवासी समाज की लड़ाई जल, जंगल, जमीन की लड़ाई है जिसको बचाने के लिए आदिवासी समाज लगातार संघर्ष कर रहा है। यह लड़ाई सिर्फ औद्योगिक विकास के साथ नहीं शुरू हुई है बल्कि इसका एक लंबा इतिहास है। आदिकाल और मध्यकाल में भी तमाम राजाओं ने समय-समय पर जंगलों पर अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश की है। महाभारत काल में अर्जुन ने राज्य विस्तार के लिए खांडव वन जलाकर नागवंश का संहार कर दिया था। सिकंदर ने अपने भारत विजय अभियान के दौरान उत्तर पश्चिम के आदिवासियों पर हमला किया था। अजातशत्रु ने राज्य विस्तार के लिए लिच्छवी जनजातियों का सफाया कर दिया था। मध्यकाल में लगातार बाहरी आक्रमणों के कारण कई आदिवासी सत्तायें समाप्त हो गयीं जिनमें गोंड जनजातियों की सत्ताएँ मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। राज्यों द्वारा जंगलों पर आधिपत्य कायम करने से होने वाले लाभ पर रोमिला थापर और अमित भाटुड़ी ने अपने एक संयुक्त लेख में लिखा है—“विभिन्न राजवंशों के जंगलों में विस्तार से जो हित जुड़े थे, उसके स्पष्ट कारण हैं। जंगलों से सेना के लिए हाथी मिलते थे, लोहा समेत दूसरी खनिज संपदा वहाँ थी, मकान के लिए लकड़ी मिलती थी, जंगलों की सफाई से खेती की जमीन में इजाफा होता था और इसके परिणामस्वरूप ज्यादा जमीन पर खेती से राजस्व में बढ़ोतरी होती थी”¹ औपनिवेशिक शासन से पहले के शासकों का आदिवासियों के जीवन व जंगलों पर व्यापक हस्तक्षेप नहीं था। वे अपनी जरूरतों के लिए जंगल का उपयोग जरूर करते थे लेकिन औपनिवेशिक दौर में जंगलों को एक मुनाफे के रूप में देखा गया और उसका व्यापक दोहन हुआ। इसके लिये सन् 1864 में वन विभाग की स्थापना हुई और सन् 1865 में वन अधिनियम पारित किया गया। मेटकॉफ के अनुसार, “रेलवे विकास की जरूरतों और 1857 की बगावत के बाद भारत में मौजूद वित्तीय संकट ने भारतीय वन अधिनियम के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके अलावा, अंग्रेज भारत का उपयोग अपने साम्राज्यवादी हितों को बढ़ावा देने के लिए करना चाहते थे। वे यहाँ से अपने राजस्व को ज्यादा-से-ज्यादा बढ़ाना चाहते थे।”²

इस वन अधिनियम के माध्यम से वन विभागों को सीमित मात्रा में अधिकार प्राप्त हुआ था। वनों पर आदिवासियों के प्रभाव को कम करने के लिए सन् 1878 में एक नया वन अधिनियम कानून लाया गया। इसमें जंगलों की जमीन पर अधिकार करने वाले लोगों से लिखित दस्तावेज की माँग की गई और इस तरह अंग्रेजों ने जंगलों को राज्य के अधीन कर

दिया जिसके कारण जंगलों में निवास करने वाले आदिवासी अपनी ही जमीन पर अतिक्रमित हो गए। सन् 1927 में भारतीय वन कानून अधिनियम के तहत वन कानून को एक नया स्वरूप प्रदान किया गया जिसमें चौकीदार से लेकर वनों के रेंज ऑफिसर तक की नियुक्ति की गयी। इन अधिकारियों को तमाम अधिकार प्रदान किए गए और कानून सम्मत तरीके से आदिवासियों के शोषण का प्रबंध ब्रिटिश सरकार द्वारा किया गया। वन अधिनियम की धाराओं में वन विभागों को असीम शक्ति प्रदान की गयी। बकौल नदीम हसनैन, “भारतीय वन अधिनियम की धारा 64 में कहा गया है कि कोई भी फॉरेस्ट अफसर बिना वारंट के किसी भी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है जिस पर वन कानून तोड़ने के जुर्म का तर्कसंगत संदेह हो और वह जुर्म एक महीने या उससे ज्यादा अवधि की सजा के लायक हो। धारा 68 जुर्म के समन संबंधी अधिकार के बारे में है। धारा 70 में बताया गया है कि 1871 का पशुओं के अतिचार संबंधी अधिकार संबंधी कानून लागू रहेगा और वह प्रशासन को अतिचारी पशुओं को पकड़ने और जब्त करने का अधिकार देता है।”³

इस तरह की तमाम धाराएँ आदिवासियों के शोषण का हथियार बनी। इन कानूनों का जबरन प्रयोग करके आदिवासियों को जंगल से अलग-थलग कर दिया गया। ब्रिटिश शासन के दौर में जंगलों का दोहन और आदिवासी हितों के साथ खिलवाड़ साम्राज्यवादी हितों के लिए किया जा रहा था लेकिन आजादी के बाद इन्हीं वन नीतियों की निरंतरता भारत में जारी रही और ‘राष्ट्रीय हित’ और ‘राष्ट्रीय विकास’ के नाम पर आदिवासियों और जंगलों का दोहन होता रहा है। सन् 1952 की वन नीति इस बात की पुष्टि करती है। इस वन नीति में कहा गया, “किसी जंगल के फायदे से संपूर्ण राष्ट्र को सिर्फ इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता है कि क्योंकि संयोगवश कोई गाँव एक जंगल के नजदीक बसा है।”⁴ आज विकास के घटाटेप ने आदिवासी समाज की लड़ाई को और पेचीदा बना दिया है। अब यह लड़ाई जल, जंगल, जमीन के वृहत्तर अर्थ में लड़ी जा रही है जहाँ औद्योगिक विकास के नाम पर आदिवासी समाज को विस्थापन, बेरोजगारी, भुखमरी, कुपोषण, अशिक्षा, ऋणग्रस्तता, वेश्यावृत्ति आदि चीजें प्राप्त हो रही हैं। वह अपना स्वतंत्र जीवन छोड़कर बँधुआ मजदूरी का जीवन जीने को अभिशप्त हैं। बकौल रमणिका गुप्ता, “आदिवासी और जनजातीय लोग जिनकी आबादी सात करोड़ से ऊपर है, क्रूर पूँजीवादी और अर्ध-सामंती शोषण के शिकार हैं। जमीनें उनके हाथ से निकल गई हैं, जंगल के अधिकार छीन गए हैं और वे

ठेकेदारों तथा भूस्वामियों के लिए सस्ती और बँधुआ मजदूरी के स्रोत बनकर रह गए हैं।”⁵

औपनिवेशिक शासन में साम्राज्यवादी हितों के लिए और आजादी के बाद ‘राष्ट्रहित’ और ‘राष्ट्रविकास’ के नाम पर आदिवासी हितों के साथ खिलवाड़ किया जाता रहा है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आदिवासियों के लिए पंचशील सिद्धांत दिया था जो सिर्फ किताबी पन्नों में ही दर्ज रहा जिसका कभी व्यावहारिक रूप में उपयोग नहीं हुआ। आजादी के बाद विकास के नाम पर शुरू हुई पंचवर्षीय योजनाओं में आदिवासियों को विस्थापन ही मिला। विकास के नाम पर सिर्फ झारखंड में करोड़ों लोग विस्थापित हुए हैं। प्रभाकर तिकी ने लिखा है, “जमशेदपुर में टिस्को औद्योगिक इकाई की स्थापना की गई जिसमें 3564 एकड़ आदिवासी जमीन का अधिग्रहण किया गया। 1958 ई. में राँची में भारी अभियंत्रण निगम (एच.ई.सी.) की स्थापना हुई जिसमें 9200 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया गया। इस परियोजना में 25 गाँव और 12990 आदिवासी परिवार पूरी तरह विस्थापित हो गए और उनमें से मात्र 10 प्रतिशत लोगों की चतुर्थवर्गीय पदों पर नियुक्ति की गई। इसी तरह बोकारो स्टील प्लांट बनने से 46 गाँव और 12,487 आदिवासी परिवार विस्थापित हुए। 1981-85 के बीच झारखंड क्षेत्र में जो कोयला उत्खनन का काम शुरू हुआ, उसमें 32,709 आदिवासी परिवार विस्थापित हुए तथा सी.सी.एल. और बी.सी.सी.एल. द्वारा 1,50,300 एकड़ भूमि अधिकृत की गई।”⁶

आदिवासियों के विस्थापन की त्रासदी का कारण सिर्फ औद्योगिक विकास नहीं बल्कि ऐसी तमाम सरकारी नीतियाँ भी हैं जो जंगल, जंगली जीव-जंतु और पर्यावरण को ध्यान में रखकर बनाई जा रही हैं। भारतीय शासक अभी उस औपनिवेशिक मानसिकता से उबर नहीं सके हैं जिसमें आदिवासियों को जंगल की क्षति पहुँचाने वाले लोगों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। आदिवासियों की तमाम बस्तियाँ जंगलों में हैं, आजाद भारत में औद्योगिक विकास के इतर आदिवासियों का विस्थापन राष्ट्रीय उद्यान, अभयारण्य, पार्क आदि के निर्माण में बहुतायत हुआ है। डॉ. के. कुमार अप्पन ने लिखा है, “देश के सभी वनों में 75 राष्ट्रीय पार्कों और 421 वन्यजीव अभयारण्यों के निर्माण के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ा है। कुल छह लाख विस्थापित लोगों में से पाँच लाख से अधिक आदिवासी हैं, जो राष्ट्रीय पार्कों और वन्यजीव अभयारण्यों के निर्माण के कारण विस्थापित हुए हैं।”⁷

औद्योगीकरण और विकास के नाम पर विस्थापित इन आदिवासियों का आज तक पुनर्वास नहीं हो सका है। इस संबंध में डॉक्टर स्वामीनाथन द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट के तथ्य बेहद अचंभित करने वाले हैं, “आजादी से वर्ष 1990 तक की अवधि में जो आदिवासी विस्थापित हुए उनका पूरी तरह पुनर्वास नहीं हुआ। विस्थापित आदिवासियों की कुल संख्या 85.39 लाख रही जो कुल विस्थापितों का 55.16 प्रतिशत थी। विस्थापित आदिवासियों में 64.23 प्रतिशत अब भी पुनर्वास से वंचित हैं। निश्चित रूप से अपनी जड़ व जमीन से उखड़ी यह अपुनर्वासित मानवता झोपड़-पट्टियों व फुटपाथों के सहारे रहती है या फिर शरणार्थियों अथवा डेरबन्द घुमकड़ी जीवन जीने को विवश है”⁸ आदिवासियों ने विस्थापन के खिलाफ लगातार आवाज उठायी है। औद्योगिक विकास के अश्वमेधी रथ के खिलाफ उनकी आवाज को एक बगावत के रूप में घिन्हित किया गया है और उन्हें विकास विरोधी तथा नक्सलवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सन् 1967 में नक्सलबाड़ी आंदोलन के क्रूर दमन के बाद नक्सलवादी नेताओं ने बस्तर के इलाके में अपना पैर जमाना शुरू किया था। उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों की समस्याओं को समझा और आदिवासियों के साथ खड़े हुए। नक्सलवादी संगठनों ने समय-समय पर आदिवासियों की समस्याओं को संज्ञान में लिया है और उन्हें कुछ हद तक साहू-महाजनी और जमींदारी व्यवस्था से निजात दिलाई है। नक्सलवादियों के खिलाफ चले सलवा जुड़ूम आंदोलन में आदिवासी समाज बुरी तरह प्रभावित हुआ है। हरिराम मीणा ने अपनी पुस्तक ‘आदिवासी दुनिया’ में सलवा जुड़ूम से जुड़े तथ्यों पर लिखा है, “जब से आंदोलन आरंभ हुआ तब से वर्ष 2011 के मध्य तक उस इलाके में 250 आदिवासियों की हत्याएँ हुई, 100 आदिवासी महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार हुआ, आदिवासियों के 3000 घर जलाए गए। यह सब 600 आदिवासी गाँवों में हुआ और परिणामस्वरूप 50,000 आदिवासी विस्थापित होने को विवश कर दिए गये, जो पुनर्वास शिविरों में रहने की त्रासदी भोगते रहे।”⁹

सरकार और सत्ता पक्ष के विचारक आदिवासियों को माओवादी और नक्सलवाद के रूप में परिभाषित करते रहे हैं, जो कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों रूपों से गलत है। दोनों में वैचारिक स्तर पर कोई समानता नहीं है। आदिवासी माओवादी नहीं हैं, आदिवासियों के जरूरी मुद्दों पर हस्तक्षेप करने के कारण आदिवासियों के बीच माओवादियों की गहरी पैठ जरूर है। सन् 2008 में योजना आयोग के विशेषज्ञों ने एक रिपोर्ट पेश की, ‘अतिवादी

प्रभावित क्षेत्र में विकास की चुनौतियाँ’। इस रिपोर्ट में कहा गया था, “नक्सलवादी (माओवादी) आंदोलन को ऐसे राजनैतिक आंदोलन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए जिसका भूमिहीन और गरीब किसानों और आदिवासियों के बीच एक मजबूत आधार है। उसके पैदा होने और फलने-फूलने को उन लोगों की सामाजिक स्थितियों और अनुभवों के संदर्भ में देखने की जरूरत है जो उसका हिस्सा हैं। राज्य की नीति और उसके अमल के बीच की गहरी खाई इन स्थितियों का एक लक्षण है। हालाँकि, उसकी घोषित दीर्घकालीन विचारधारा बलपूर्वक राज-सत्ता पर कब्जा करने की है, अपनी रोजमर्रा की अभिव्यक्ति में उसे इस रूप में देखा जाना चाहिए कि वह बुनियादी तौर पर सामाजिक न्याय, बराबरी, सुरक्षा और स्थानीय विकास के लिए की जा रही लड़ाई है।”¹⁰ आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा की कोई ठीक व्यवस्था नहीं है। ग्रामीण अंचल और दूरदराज के क्षेत्रों में निवास करने वाले आदिवासी या तो अशिक्षित हैं या फिर साक्षर। आदिवासी इलाकों में विद्यालय बहुत दूर-दूर है। जहाँ पर शिक्षकों की भी संख्या बहुत कम है। तमाम जगहों पर स्कूल महज रजिस्टरों कि खानापूर्ति के पर्याय हैं। आदिवासी क्षेत्रों में छात्रवृत्ति, पुस्तक, सहायता सामग्री, प्रोत्साहन आदि भी सीमित मात्रा में हैं जो बच्चों को शिक्षा की तरफ आकर्षित करने में असफल हैं। रूपचंद वर्मा ने लिखा है, “जहाँ संस्थान व स्कूल खोले भी गए हैं, वहाँ लगभग 40 प्रतिशत केंद्र भवन हीन हैं।”¹¹

आदिवासी क्षेत्रों में बहुतायत मात्रा में गैर आदिवासी क्षेत्रों के शिक्षकों की नियुक्तियाँ हुई हैं। इन गैर आदिवासी शिक्षकों को आदिवासी संस्कृति का ज्ञान नगण्य है और वे एक खास तरह के श्रेष्ठताबोध के दम्भ से ग्रसित हैं। रामशरण जोशी ने अपने बस्तर के अध्ययन के दौरान पाया था, “प्रशासक से लेकर सर्वण अध्यापक तक प्रायः इस विश्वास के थे कि आदिवासी लोग जाहिल, काहिल, जंगली होते हैं और कभी सभ्य नहीं बन सकते। इनकी शिक्षा पर सरकार जो खर्च कर रही है, वह सब व्यर्थ है।”¹² आदिवासियों की शिक्षा में सबसे बड़ा रोड़ा भाषा का है। आज आजादी के 70 वर्ष बाद भी हम उन्हें मातृभाषा में शिक्षा उपलब्ध नहीं करा सके हैं। आदिवासी बच्चों के लिए बने पाठ्यक्रमों में आदिवासी संस्कृति का अभाव है। उनपर गैर आदिवासी संस्कृतियों को पढ़ने और समझने के लिए लाद दिया गया है। उनकी किताबों में उनका समाज व उनकी संस्कृति के उदाहरण नदारद हैं जिसके कारण उनकी रुचि शिक्षा के तरफ बहुत अधिक नहीं है। आधुनिक शिक्षा के नाम पर आदिवासी हितों के साथ हो रहे खिलवाड़

पर वेरियर एल्विन ने कहा था, “इन उत्तीर्णित वन-संतानों की आधुनिक सभ्यता के कथित प्रतिनिधियों से सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा और शालाओं को आदिवासी संस्कृति, परंपरा तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ जोड़ा जाए। आज इन स्कूलों में हिंदू, मुसलमान और ईसाइयों के जो पर्वोत्सव मनाए जाते हैं, उन्हें रोका जाए।”¹³

आदिवासी भाषाओं और लिपियों को बचाना बेहद जरूरी है। भाषायी साम्राज्यवाद ने आदिवासी भाषाओं के सामने संकट पैदा कर दिया है। राष्ट्रीय भाषा और व्यापार भाषा के नाम पर कुछ चुनिन्दा भाषाओं के प्रचार-प्रसार में तमाम भाषाओं को नजरअंदाज किया जा रहा है। भाषाओं के प्रति यह उपेक्षा भाव सिर्फ भाषा ही नहीं बल्कि आदिवासी संस्कृति के लिए भी घातक है, क्योंकि भाषाओं और संस्कृतियों का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। किसी समाज की संस्कृति को समझने के लिए उस समाज की भाषा को समझना बेहद जरूरी है। इसलिए जरूरी है कि आदिवासी भाषाओं के प्रति पर्याप्त सतर्कता बरती जाय और उनको प्रोत्साहित किया जाय। इन भाषाओं के संयोजन के उपाय हों। इनमें किताबें तैयार की जाएँ ताकि भाषाएँ बची रहें। सन् 2001 में अंडमान की बोआ सीनियर की मृत्यु के साथ ‘बो’ भाषा का इतिहास समाप्त हो गया। भारत में सन् 1961 की जनगणना में चिन्हित साढ़े 7: सौ भाषाओं में से चालीस प्रतिशत के समाप्त होने के आसार हैं। यूनेस्को की रिपोर्ट के हवाले से हरिराम मीणा ने लिखा है, “यूनेस्को की वर्ष 2009 की रिपोर्ट विश्व की कुल 6000 भाषाओं में से गत 75 वर्षों में 200 भाषाओं के लुप्त हो जाने का तथ्य उजागर हुआ है, साथ ही 2500 भाषाओं को खतरे में बताया गया है। इनमें से 196 भाषाएँ भारत की हैं जिनमें अधिकांश आदिवासी भाषाएँ हैं। आदिवासी भाषाओं के लुप्त होने का प्रमुख कारण आदिवासी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनना है। दूसरा प्रमुख कारण लिपियों का अभाव है।”¹⁴

पिछले कई वर्षों से तमाम मिशनरियाँ शिक्षा के प्रसार व आदिवासियों के सहयोग के नाम पर आदिवासी इलाकों में अपनी संस्कृति और धर्म का प्रचार कर रही हैं तथा आदिवासियों को लालच देकर उनका धर्म परिवर्तन करा रही हैं। शिक्षा और सहयोग के नाम पर यह मिशनरियाँ आदिवासियों का कल्याण कम, अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार-प्रसार ज्यादा कर रही हैं। इन मिशनरियों के

अपने धर्म को महान और श्रेष्ठ बताने की कुटिल भावना के चलते आदिवासियों के भीतर हीनताबोध घर कर गया है। मिशनरियों ने अपने धर्मों को आदिवासियों पर थोप दिया है। कहीं-कहीं पर इन मिशनरियों ने आदिवासियों का तथा उनके गाँवों का अपने धर्म के अनुसार अलग नामकरण कर दिया है। आदिवासियों का मूल धर्म जिसे वे ‘सरना’ कहते हैं, सरकारी तौर पर अभी रेखांकित नहीं हो सका है। इस समस्या की वजह से अक्सर जनगणना करने वाले लोग इस विकल्प की अनुपस्थिति में अपने समझ से उन्हें किसी धर्म में शामिल कर देते हैं।

संदर्भ सूची

1. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2013, पृ. 24
2. चौबे, कमल नयन, जंगल की हकदारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 62
3. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2013, पृ. 192
4. चौबे, कमल नयन, जंगल की हकदारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 87
5. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी : विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 16
6. वही, पृ. 43
7. वही, पृ. 59
8. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2013, पृ. 146
9. वही, पृ. 144
10. राँची, अरुंधति, नीलाभ (अनु.), आहत देश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृ. 19-20
11. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियां, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2003, पृ. 97
12. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2013, पृ. 124
13. वही, पृ. 124
14. वही, पृ. 130

—शुभम यादव

म. नं. 15, चौथा तल, कोणार्क रेजिडेंसी
नम्बरदार कॉलोनी, बुराड़ी, दिल्ली-110084

प्रारंभिक औपनिवेशिक काल के भारत में वन नीति और वन संरक्षण

—महेन्द्र सिंह

1757 में प्लासी की विजय के कुछ समय बाद से ही अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति को लकड़ी की जरूरत ने प्रभावित किया। जब 1760 में बंगाल प्रेसीडेंसी के गवर्नर काउंसिल की बैठक¹ में लकड़ी की आपूर्ति में कमी पर चर्चा की गयी और यह विचार सामने आया कि लकड़ी की कमी को पूरा करने के लिए बंगाल पर पूर्ण अधिकार किया जाना चाहिए। रिचर्ड बेकर² ने 1770 में पता लागाया कि कैसे नदी के रास्ते हिमालय की तराई से लकड़ी को कलकत्ता में प्राप्त किया जा सकता है, फिर भी अभी इस रास्ते से लकड़ी प्राप्त करने में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसी बीच 1776 में अमेरिका ने स्वतंत्रता की घोषणा³ कर दी तो ब्रिटेन लकड़ी की आपूर्ति के लिए भारत पर निर्भर हो गया। इससे बंगाल और बॉम्बे दोनों ही प्रेसीडेंसी में लकड़ी की आपूर्ति में कमी हो गयी। इससे अंग्रेजों को उन क्षेत्रों में राजनीतिक विस्तार करने का बल मिला जहाँ से लकड़ी की आपूर्ति की जा सकती है। 1775 में बॉम्बे प्रेसीडेंसी को मराठों के मामले में हस्तक्षेप का मौका प्राप्त हुआ। अंग्रेजों ने मराठा मामले में हस्तक्षेप राजनीति से अधिक लकड़ी व्यापार पर अधिकार के रूप में देखा क्योंकि बंगाल का गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स सूरत की सन्धि से असहमत था और बॉम्बे प्रेसीडेंसी से जवाब मांगा तो बॉम्बे प्रेसीडेंसी ने जवाब में कहा कि पहले हमारे पास लकड़ी का व्यापार था लेकिन अब हमारे पास वह देश है जहाँ सागौन की लकड़ी का व्यापार होता है।⁴ इसी उद्देश्य को आगे बढ़ाते हुए अंग्रेजों ने 1801 में अवध के नवाब सआदत अली से कुछ क्षेत्रों को अंग्रेजी क्षेत्र में शामिल करते वक्त तो रिचर्ड बेकर के बताये नदी के रास्ते को ध्यान दिया जाता है और हिमालय से लेकर बस्ती⁵ तक गंगा नदी के किनारे का क्षेत्र ले लिया। वन क्षेत्रों को प्राप्त करने के बाद वन प्रशासन की बात सामने आयी। कम्पनी में वन प्रशासन को लेकर दो मत थे। पहला मत था कि कम्पनी सरकार को वन प्रशासन में सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। दूसरा मत था कि कम्पनी को वन प्रशासन पर सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। समस्या के समाधान के लिए भारत स्थित बंगाल तथा बॉम्बे प्रेसीडेंसी ने 1800⁶ में कमेटी का गठन किया। कमेटी को वनों की क्षमता का आकलन करने के साथ वन सम्पदा के अधिकारों का पता लगाने को कहा गया। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में

माना कि वनों के प्रशासन को अपने हाथ में लिया जाना चाहिए। साथ ही प्रशासन को प्रभावी बनाने के लिए नियम और कानून बनाये जायें। इस कमेटी की रिपोर्ट ठण्डे बस्ते में पड़ी रही। लेकिन 1805 तक आते-आते ब्रिटिश रॉयल नेवी में लकड़ी की अबाध आपूर्ति की समस्या होने लगी। इंग्लैण्ड की सरकार पर लकड़ी आपूर्ति का दबाव पड़ने लगा। अतः 1805 में पुनः एक फारेस्ट कमेटी⁷ का गठन किया गया जिसका काम था कि नौसेना के जहाजों को बनाने के लिए कितने समय तक मालाबार के वनों पर निर्भर रहा जा सकता है। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया कि मालाबार के वनों की पहले ही बहुत कटाई की जा चुकी है। इन वनों का आकलन क्षमता से अधिक किया गया है। इन वनों को संरक्षित किए जाने की आवश्यकता है ताकि वनों की कीमती सम्पत्ति को बचाया जा सके। वन संरक्षण के लिए समिति नये नियम कानून लाने के साथ प्रशासन के प्रयोग की सलाह दी। समिति का मानना था कि प्रशासन के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना संरक्षण किया जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि समिति ने स्थानीय लोगों के प्रथमतः अधिकारों के बारे में कोई चर्चा नहीं की फिर भी कमेटी ने सलाह दिया कि वन अधिकारी को स्थानीय लोगों की भाषा और आदतों का अनुभव हो। वनों की कटाई बिना अनुमति के नहीं किये जाने की सलाह दी। कमेटी की अनुशंसा में वनों की कटाई में लाइसेंस राज की शुरूआत हुई। कमेटी की सलाह के आधार पर 1806⁸ में वॉटसन नामक पुलिस अधिकारी को भारत का पहला वन संरक्षक नियुक्त किया गया। वॉटसन को वन मामलों में अनियमित अधिकार प्रदान किए गए जिसका परिणाम यह हुआ कि वॉटसन ने दक्षिण भारत में लकड़ी के व्यापार में कम्पनी का एकाधिकार स्थापित कर दिया। 1813 में चार्टर एक्ट⁹ के माध्यम से कम्पनी का भारत के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। इसी बीच 1816 में नेपाल से सगौली की सन्धि¹⁰ हुई जिससे हिमालय के तराई का काफी क्षेत्र प्राप्त हुआ। 1820 तक मराठों की पूर्ण पराजय के बाद मध्य भारत का बड़ा वन क्षेत्र प्राप्त हुआ। इस बजह से ऐसा लगने लगा कि 1806 में आयी लाइसेंस व्यवस्था और वन संरक्षण की जरूरत नहीं है। इधर लकड़ी व्यापार की असीम संभावना देखकर अंग्रेजी व्यापारी लकड़ी के व्यापार में भी प्रवेश करना चाह रहे थे लेकिन कम्पनी का एकाधिकार अंग्रेजी व्यापारियों की महत्वाकांक्षा में रोड़े अटका रहा था।

अतः इस वन संरक्षण को खत्म करवाने का प्रयास करना प्रारम्भ किया और 1823¹¹ में मद्रास प्रेसीडेंसी गवर्नर

मुनरो के द्वारा फारेस्ट कंजरवेटर का पद समाप्त कर दिया। फारेस्ट कंजरवेटर समाप्त करने के पीछे मुनरो का मानना था कि वन अधिनियम राजनीतिक अधिक है जबकि इसका लाभ कुछ भी नहीं है। मुनरो का मानना था कि लकड़ी के व्यापारी इतने शौकीन हैं कि लकड़ी के व्यापार में स्वतंत्रता को बहाल रखना चाहिए। वनों को उनके प्राचीन संरक्षकों द्वारा संरक्षित किया जाना चाहिए न कि अजनबी कलेक्टर के द्वारा। मुनरो ने कहा हमें वह सारी लकड़ी मिलेगी जो देश में किसी भी प्रतिबन्ध से मिल सकती है।¹² निजी व्यापारी लकड़ी के व्यापार में प्रतिस्पर्धा लायेंगे और लकड़ी की कीमत बढ़ेगी। इससे व्यापार और कृषि की निराशा से निजात मिलेगी। इस तरह स्वच्छन्दतावादी मुनरो ने वनों को निजी व्यापारियों के हाथों में छोड़ दिया। मुनरो ने इस बात का ध्यान बिल्कुल नहीं दिया कि वन संसाधन सीमित हैं और इनका सीमित प्रयोग किया जाना चाहिए। मुनरो ने अपने इस फैसले को करते समय स्थानीय किसानों के प्रतिरोध और परम्परा को भी ध्यान में रखा और एक झटके में वन संरक्षण प्रणाली को समाप्त कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब निजी व्यापारी वनों की अन्धाधुन्ध कटाई करवाने लगे जिससे लकड़ी की कीमत में भारी गिरावट आ गयी।

अंग्रेजों का मानना था कि भारत के वनों के विनाश का कारण भारत में जनसंख्या का बढ़ना है जिससे संसाधनों की मांग बढ़ी और इस मांग को पूरा करने के लिए वनों की कटाई की जाती रही थी। वनों के ग्रामीणों के, जानवरों के प्रवेश को भी वनों का संकट माना था। ब्रिटिश लोगों का मानना था कि ये जानवर वनों में नये उगते पेड़ों को समाप्त करते हैं और नये पेड़ों के उगने की उत्तम दशा को भी प्रभावित करते हैं। फाकनर¹³ ने भी ग्रामीणों के द्वारा वन विनाश की बात का समर्थन किया गया और कहा कि संयुक्त प्रांत में साल का पेड़ नया हो या पुराना प्रत्येक वर्ष ग्रामीणों द्वारा काटा जाता है। ये ग्रामीण अपनी स्थानीय जरूरतों के लिए वन काटते हैं। यह कटाई इतनी अधिक की जाती है कि वनों का विनाश जल्द ही हो जायेगा। फाकनर आगे कहते हैं कि अभी तक साल और सागौन के वृक्ष स्वयं उग जाते थे लेकिन अब ग्रामीणों के हस्तक्षेप किए जाने से इनके अंकुरण की दशा खराब होगी और यह बिना रोपण के टिक न सकेगा।¹⁴ यद्यपि औपनिवेशिक नीति व्यापारिक आवश्यकता और लाभ से प्रेरित रही लेकिन डॉक्टर राक्सबर्ग¹⁵ ने वनों के मामले में सरकारी हस्तक्षेप की वकालत की। 1770 के बंगाल में आये भीषण अकाल पर अंग्रेजी सरकार की आलोचना की। अपनी आलोचना

का आधार राक्सबर्ग ने 1723-1793 के बीच के तथ्यों को संकलित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 1770 के अकाल के प्रभाव को कम किया जा सकता था। अकाल आने का कारण भी वनों की अत्यधिक कटाई को माना था। 1787-1793 के बीच के मौसमी तथ्यों का संकलन करके राक्सबर्ग ने यह पता लगाया कि 1787-1793 के बीच मद्रास के आने वाले अकाल का प्रमुख कारक प्रशंसांत महासागर से चलने वाली अलनीनो है।¹⁶ राक्सबर्ग ने अलनीनो के प्रभाव को कम करने के लिए वृक्षारोपण की सलाह दी। राक्सबर्ग का मानना था कि वृक्षारोपण से एक तरफ फल प्राप्त होते हैं वहीं यह वर्षा की सम्भावना को बढ़ाते हैं। राक्सबर्ग ने वृक्षारोपण के लाभ को मद्रास सरकार के सामने सुझाव रखा और मद्रास सरकार ने इन सुझावों को मान लिया। कोलम्बो, कोच्ची तथा त्रावणकोर¹⁷ आदि जगहों पर नारियल पेड़ों के साथ फलदार पेड़ लगाने का काम किया। 1793 में राक्सबर्ग का स्थानांतरण बंगाल हो गया। अतः राक्सबर्ग ने अपना वृक्षारोपण कार्य बंगाल प्रेसीडेंसी, संयुक्त प्रांत आदि क्षेत्रों में करने लगे। इसके लिए सागौन के बीज राजामुंद्री से मंगाया जाता था। वृक्षारोपण का यह कार्य 1813 तक राक्सबर्ग की मृत्यु तक चलता रहा। वृक्षारोपण से उगाये वृक्षों की देखभाल के लिए दोषी कैदियों को रखा जाता था।

राक्सबर्ग की मृत्यु के बाद वालिस 1816 में कलकत्ता गार्डन के अधीक्षक बनाये गये। 1823 में लॉर्ड हेस्टिंग्स ने एक प्लाटेशन कमेटी¹⁸ का गठन किया, वालिस को इसमें सदस्य बनाया गया। प्लाटेशन कमेटी ने राक्सबर्ग के वृक्षारोपण की प्रशंसा की तथा यह भी कहा कि राक्सबर्ग द्वारा किये गये कार्यों की सीमायें थीं। कमेटी ने शीशम व साल के वनों के संरक्षण की सलाह दी और वृक्षारोपण को प्रोत्साहित करने के लिए धन का आवंटन भी किया। हेस्टिंग्स ने अपने कार्यकाल में संयुक्त प्रांत की नहरों के दोनों किनारों में वृक्षारोपण को प्रोत्साहन दिया। कैप्टन आर. वेयर्ड स्मिथ ने पश्चिमी और पूर्वी यमुना नहर में 1820-21 व 1830-31 के बीच दोनों किनारों में वृक्षारोपण कराया था।¹⁹ इस काम को कैप्टन ब्लेन और टिकेल ने आगे बढ़ाया था लेकिन विस्तृत व्यवस्थित रूप से नहरों के किनारों में वृक्षारोपण का काम कर्नल काल्विन ने 2000 रुपये का भत्ता लगाकर किया था।²⁰ बाद में इस भत्ते को बढ़ाकर 3000 रुपये कर दिया। यह वृक्षारोपण यमुना नहर के दोनों किनारों में साल, सागौन, कीकर, आम, जामुन के पेड़ों को लगाकर किया गया था, वृक्षारोपण का दोहरा लाभ

हुआ। पहला तो इन वृक्षों से नहर के किनारों का कटान कम हो गया तथा इसमें खर्च की गयी रकम से कई गुना अधिक मुनाफा हुआ।

1824 में विशेष हेबर ने उत्तर भारत की यात्रा की। संयुक्त प्रांत के कुमायुं और शिवालिक के वनों की कटाई की आलोचना की²¹ और चेतावनी दी कि यह वन कटाई विनाश का कारण बनेगी। हेबर ने वनों की कटाई का कारण बढ़ती हुई आबादी को जिम्मेदार बताया और कहा कि स्थानीय निवासी भवन, झोपड़ी के लिए लकड़ी तथा कृषि के लिए वनों की सफाई करते हैं। साथ ही जो पशु स्थानीय लोगों के साथ पहाड़ों में जाते थे वह स्वयं उग रहे वृक्षों को प्रभावित करते हैं। हेबर ने चिंता प्रकट की कि अत्यधिक कटाई उत्तर भारत में शुष्कता का कारण बनेगी।

इन सब प्रयासों के बाद भी 1830 तक वनों के संरक्षण का औपनिवेशिक सरकार का कोई इरादा नहीं था। लेकिन 1831 में इंग्लैण्ड के रायल नेवी बोर्ड ने इंग्लैण्ड फारेस्ट कंजरवेटर के पद की पुर्नस्थापना करने की सलाह दी।²² इसी बीच भारत में 1831-37 के बीच में लकड़ी के व्यापारियों ने वनों की कटाई तेज कर दी और उनकी गतिविधियों को बिना किसी गम्भीर ज़ाँच के विस्तारित होने दिया गया। राजस्व बोर्ड ने इन व्यापारियों के साथ सहानुभूतिपूर्वक कार्य किया।²³ साथ ही इनके विस्तार के पीछे रायल नेवी और सैन्य बोर्ड की अकर्मण्यता भी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि वनों की कटाई से सभी चित्तित होने लगे और वनों पर सरकार के नियंत्रण को समर्थन करने लगे। हाउस ऑफ कामंस की सेलेक्ट कमेटी के सामने नाथन वालिस ने वनों के राजकीय नियंत्रण के दीर्घकालीन लाभ बताया। इन दबाव के चलते राजस्व बोर्ड से 1838 में वनों के संरक्षण की सलाह दी। यह संरक्षण राजस्व विभाग के कर्मचारियों द्वारा किया जाना था।²⁴ राजस्व बोर्ड ने एक अलग विभाग की स्थापना को खारिज कर दिया।

वनों के संरक्षण के इतने दबाव को देखते हुए प्रांतीय सरकारों ने वन संरक्षण में काम करना प्रारम्भ कर दिया। 1847 में गिब्सन को बॉम्बे प्रेसीडेंसी के फारेस्ट कंजरवेटर²⁵ के पद पर नियुक्त किया गया। 1855 में लॉर्ड डलहौजी ने फारेस्ट चार्टर²⁶ निकाला जिसमें वन संरक्षण की रूपरेखा दी गयी और राजकीय संरक्षण को स्पष्ट किया गया। इससे वन नीति और वन संरक्षण की प्रक्रिया थोड़ा देरी से आयी। तमाम प्रयासों के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा 1865 में विस्तृत वन नीति लायी गयी।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट पता चलता है कि औपनिवेशिक भारत में वन नीति पूर्णतया औपनिवेशिक हितों से प्रेरित थी। रायल नेवी की जरूरत के लिए फारेस्ट कंजरवेटर का पद सृजित किया गया फिर वैसे ही ब्रिटिश व्यापारियों के लाभ को देखते हुए इस पद को समाप्त कर दिया गया। पुनः 1838 में रायल नेवी के हस्तक्षेप के कारण राजकीय संरक्षण पर काम किया जाने लगा। यद्यपि वन संरक्षण के लिए कुछ व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रयास किए गए और ये लोग वन संरक्षण के लिए सरकार पर दबाव बनाते रहे।

इस तरह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक भारत के प्रारम्भिक काल में विनाश और संरक्षण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रही थी। वन विनाश अत्यधिक तेजी से हो रहा था जबकि वन संरक्षण की पहल तब तक शैशवास्था में थी जिसके बारे में आवश्यकता के अनुसार विचार बदलते रहते थे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Grove Richard H., Green Imperialism Colonial Expansion, tropical island Eden and the origins of Environmentalism 160-1860 First published Cambridge University Press 1, Printed at United States of America, 1995, Page 388
2. Ibid, Page 388
3. वर्मा लाल बहादुर, आधुनिक विश्व का इतिहास, प्रथम संस्करण, हिन्दी माध्यम कार्यालय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2015, पृ. 284
4. Grove Richard H., Op. Cit., Page 389
5. Imperial Gazetteer of India Provincial Series United Provinces of Agra and Oudh, Vol-1, Superintendent of Government Printing Calcutta, 1908, Page 30
6. Grove, Richard H., Op.Cit., Page 393
7. Ibid, Page 394
8. Stabbing E.P., The forest of India Vol-1, John Lane The Boodle Head Limited London, 1923, Page 64
9. ताराचन्द्र, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास खण्ड 1, चतुर्थ संस्करण, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रलय, भारत सरकार, 2007, पृ. 288
10. Atkishan T. Edwin, Himalayan Districts of the North Western provinces of India, Vol- Eastern Provinces and Oudh Government Press, Allahabad, 1884, Page 679
11. Ribbentrop B., Forestry in British India, Office of the superintendent of Government Printing, Culcutta, 1900, Page 65
12. Grove Richard H, Op.Cit., Page 397
13. Stabbing E.P., Op.Cit., Page 66
14. Ibid , Page 67
15. Grove Richard H., Op. Cit., Page- 356
16. Ibid, Page 403
17. Ibid, Page 403
18. Ibid, Page 405
19. Stabbing E.P., Op.Cit., Page 201
20. Ibid, Page 201
21. Ibid, Page 408
22. Stabbing E.P., Op.Cit., Page 65
23. Ibid, Page 211
24. Grove Richard H, Op.Cit., Page 441
25. Ribbentrop B., Op.Cit., Page 68
26. One Hundred Years of Indian Forestry, Vol- 1, The Manager Government of India Press Simla, 1961, Page 73

—महेन्द्र सिंह
शोध छात्र
पाश्चात्य इतिहास विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

1857 का महान विद्रोह एवं लखनऊ रेजीडेंसी की घेराबंदी : एक पुनरावलोकन

—अभय पाण्डेय

वर्ष 1857 में प्रथम स्वाधीनता संग्राम में लखनऊ की घेराबंदी का एक प्रमुख स्थान है। दिल्ली के उपरांत विद्रोह का सर्वाधिक संकेदण लखनऊ में ही बना रहा। लगभग 5 माह की घेराबंदी तथा इससे जुड़े तमाम संस्मरण एवं डायरियां विश्व-पटल पर प्रसारित हुईं जिनमें ब्रिटिश नागरिकों, विशेषकर महिलाओं की व्यथा के किसी प्रमुखता से रखे गये। किंतु इन सभी के बीच भारतीय सेनानियों की सैन्य-कुशलता, घेराबंदी के दौरान युद्ध-तकनीकों तथा अभियांत्रिकी के प्रयोग पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। यह शोधपत्र क्रांतिकारियों तथा ब्रिटिश सेनानायकों एवं अभियंताओं के सैन्य अभियानों के सूक्ष्म पहलुओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है। लॉर्ड डलहौजी की व्यपगत नीति के तहत अवध का प्रांत ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन आ चुका था तथा अवध के नवाब वाजिद अली शाह को सन 1856 में कोलकाता निर्वासित कर दिया गया था। नवीन अधिकृत प्रांत में कॉवरले जैक्सन को प्रथम ब्रिटिश कमिश्नर के रूप में नियुक्त किया गया। तत्पश्चात मार्च-अप्रैल 1857 में सर हेनरी मोंटगोमरी लॉरेंस को जो कि पंजाब में अनुभवी प्रशासक रह चुके थे, अवध का चीफ-कमिश्नर नियुक्त किया गया। सर लॉरेंस ने इससे पहले भी प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध, प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध, प्रथम आंग्ल-सिख युद्ध एवं द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध में ब्रिटिश पक्ष की ओर से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और साथ ही लाहौर में प्रेसिडेंट मिनिस्टर भी रह चुके थे। दूसरी ओर बंगाल प्रेसिडेंसी में लगातार सैनिकों के असंतोष की भावना उग्र रूप लेती जा रही थी। सिपाहियों को अपने धर्म तथा जाति पर एक आशकित खतरा महसूस हो रहा था। सर लॉरेंस को उन भारतीय सैनिकों के प्रति जो पूर्ववत देशी सेना में कार्यरत थे तथा अब ब्रिटिश सेना में अनियमित रूप से कार्य कर रहे थे, के विद्रोही रवैये का अंदेशा हो गया था। इसी कारण उन्होंने 18 अप्रैल को गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिंग को सिपाहियों के बदलते दृष्टिकोण के बारे में आगाह किया तथा यह मांग की कि अन्य प्रांतों से कुछ सैनिक बुलवाकर उन्हें सहायता मुहैया कराई जाए, किंतु उन्हें मनोवांछित सैन्य सहायता नहीं मिल सकी। विद्रोह का तात्कालिक कारण नई एनफील्ड राइफल थी जो कि पुरानी ब्राउन बेस बंदूक की जगह इस्तेमाल की जानी थी यह बंदूकें पुरानी बंदूकों से अधिक तीव्र,

चलाने में आसान तथा अचूक थी किंतु सिपाहियों का यह कहना था कि इन बंदूकों की कारतूसों में गाय तथा सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया है जिसके चलते सिपाहियों के व्यवहार में उप्रता आ गई। इसका कारण संभवत धार्मिक एवं सामाजिक था। जहां एक ओर हिंदुओं में गोमांस का सेवन वर्जित माना जाता है वहीं मुस्लिम समुदाय में भी सूअर का मांस व चर्बी को अशुद्ध माना जाता है। सिपाहियों की शिकायतों को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा यह घोषित किया गया कि इन अफवाहों में कोई सच्चाई नहीं है और वे जल्द से जल्द अपनी परेड पर लौटें तथा अपने अधिकारियों के आदेशों का यथाशीघ्र पालन करें। किंतु धर्म-च्युत होने का भय सैनिकों के बीच इस तरह बैठ चुका था कि वह यह मान चुके थे कि अंग्रेज उन्हें उनके धर्म से बेदखल करना चाहते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे पूर्व भी लखनऊ में ऐसी कई घटनाएं घटित हो चुकी थीं जिन्होंने सैनिकों के इस भय को पुखा करने में योगदान दिया था, जैसे ब्रिटिश सर्जन डॉ. वेल्स द्वारा सैनिकों को दवा देने के लिए जूठी बोतल का इस्तेमाल करना।

इसी क्रम में 1 मई को अवध की अनियमित सैनिक टुकड़ियों ने इन विवादित कारतूसों का उपयोग करने से साफ इंकार कर दिया। 3 मई को उन सैनिकों से उनके हथियार वापस ले लिए गए और 4 मई को लखनऊ की मूसा बाग छावनी में सातवीं अनियमित टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया। हालांकि इस विद्रोह को तत्परता से दबा दिया गया एवं विद्रोही सैनिकों को कठोर दंड दिया गया, किंतु इस घटना से देशी सैनिक और भी विक्षुब्ध हो गए एवं उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। यह अवसर उन्हें तब प्राप्त हुआ जब 10 मई को भारतीय सिपाहियों ने अपने यूरोपीय अफसरों के खिलाफ हथियार उठाकर विद्रोह किया और उनकी हत्या करने के बाद अपने कैदी साथियों को मुक्त कराके दिल्ली की ओर कूच कर गए। जब यह खबर लखनऊ पहुंची तो सर लॉरेंस ने इस मुद्दे की गंभीरता को समझते हुए अपने विश्वस्त सैनिकों की टुकड़ियों को तैयार करना शुरू कर दिया जिसमें कुछ सिख टुकड़ियां भी थीं और इनके तथा ब्रिटिश सैनिकों के छोटे से समूह की सहायता से हेनरी लॉरेंस ने लखनऊ रेजीडेंसी की सुरक्षा की तैयारियां प्रारंभ कर दीं।

विद्रोह की आशंका से प्रेरित होकर 23 मई, 1857 को सर लॉरेंस ने मच्छी भवन किले एवं रेजीडेंसी परिसर की सुरक्षा की तैयारियां शुरू कर दी। उन्होंने पर्याप्त मात्रा में रसद-पानी, हथियारों एवं गोला-बारूद की व्यवस्था

करवाई और आसपास के क्षेत्र में रहने वाले ब्रिटिश नागरिकों को जल्द ही रेजीडेंसी परिसर में सुरक्षित कर दिया। मच्छी भवन की सुरक्षा की जिम्मेदारी मुख्य अभियंता एंडरसन को दी गई, वहीं रेजीडेंसी परिसर की सुरक्षा-व्यवस्था अन्य अभियंताओं को सौंपी गई। पत्र-व्यवहार एवं गुप्त-सूचनाओं का कार्यभार, वित्तायुक्त मिस्टर गविन्स के जिम्मे था जिन्होंने अंगद नामक जासूस-संदेशवाहक को अपनी सेवा में लिया और आने वाले 6 महीनों में लखनऊ और कानपुर के बीच संचार का एकमात्र साधन यही जासूस अंगद रहा।

30 मई की रात्रि को भारतीय सिपाहियों ने मडियॉव छावनी में विद्रोह कर दिया। जहां एक तरफ विद्रोही क्रांतिकारियों की भारी संख्या थी वहीं दूसरी ओर सर लॉरेंस के पास भी कुछ चुनिंदा बेहतरीन सिपाही, कुछ वफादार देशी सैनिक तथा ब्रिटिश 32वीं रेजीमेंट की पैदल सेना थी जो विद्रोही सैनिकों का मुकाबला करने के लिए तैयार थी। भीषण संघर्ष के बाद अंततः विद्रोहियों को बंधक बना लिया गया। किंतु विद्रोह का यह सिलसिला यहीं नहीं रुका और 4 जून को लखनऊ से 51 मील दूर सीतापुर में एक विद्रोह हुआ। सीतापुर एक महत्वपूर्ण सैनिक केंद्र था। इसी के साथ फैजाबाद में भी विद्रोह की ज्याला जल उठी तथा उसके पश्चात दरियाबाद एवं सुल्तानपुर में भी विद्रोह की चिंगारियां प्रस्फुटित होने लगीं तथा 10 दिन के भीतर इन क्षेत्रों में ब्रिटिश हुकूमत बहुत कमजोर पड़ गई।

अवध के नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में अंग्रेज अफसरों की पकड़ बनाये रखना धीरे-धीरे असंभव होने लगा, वहीं दूसरी ओर भारतीय क्रांतिकारी नेता व तालुकदारों ने अपनी सेनाओं को आने वाले संघर्ष के लिये तैयार कर लिया। इनमें फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला शाह, अमेठी के लाल माधो सिंह, कालाकांकर के राजा हनुमंत सिंह व उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रताप सिंह, शंकरपुर के तालुकदार राजा बेनी माधो सिंह बछा आदि सम्मिलित थे। क्रांतिकारियों ने लखनऊ पर आक्रमण की योजना बनाई एवं शहर से कुछ मील की दूरी पर चिनहट नामक गांव के पास अंग्रेजों की फंसाने के लिए चक्रव्यूह रचा। उन्होंने अपने ही गुप्तचरों के माध्यम से अंग्रेजों तक यह सूचना पहुंचवा दी कि विद्रोही सेना का अग्रभाग बाराबंकी की ओर से लखनऊ की ओर कूच करने का प्रयास कर रहा है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह रणनीति इस तरह से बनाई गई थी कि सर हेनरी लॉरेंस जैसे पारंगत सैन्य-अधिकारी को कोई भी संदेह न होने पाये। यह सूचना मिलते ही सर

लॉरेंस ने तुरंत कार्यवाही करते हुए 30 जून की चिलचिलाती गर्मी में स्वयं सेना का नेतृत्व किया और चिनहट की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने सूचनानुसार क्रांतिकारियों की खोज में कुकरैल का पुल पार कर लिया और इस्माइलगंज नामक गांव में पहुंच गये, जहां पर आम के बाग में छिपे क्रांतिकारियों ने 8 इंच हाउटीजर तोपों की गोलाबारी से उन पर हमला कर दिया। यह आक्रमण इतना नियोजित था कि जब तक अंग्रेजों को क्रांतिकारियों की सही स्थिति का पता चला, तब तक उनके कई अधिकारी एवं सैनिक मारे जा चुके थे।

इस संघर्ष के दौरान 32वीं सैन्य टुकड़ी की दो तोपें छीन ली गईं और सैनिक जान बचा कर भागने लगे।

क्रांतिकारियों की ओर से तोपखाने तथा घुड़सवार सेना का नेतृत्व बरकर अहमद कर रहे थे। दोनों पक्षों के बीच भयंकर संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप थके हुए अंग्रेज सिपाही पीछे हटने लगे। बहादुरी से मुकाबला करने के पश्चात भी अंततः लॉरेंस को अपने सिपाहियों सहित वापस रेजीडेंसी की ओर लौटना पड़ा। क्रांतिकारी उनका पीछा करते हुए गोमती नदी के किनारे तक आ गये किंतु मच्छी भवन व रेजीडेंसी की तोपें ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया। सर हेनरी ने सभी अंग्रेज तथा स्वामित्व भारतीय सैनिकों को मच्छी भवन से रेजीडेंसी में 30 जून की रात्रि को बुला लिया और मच्छी भवन किले में एकत्रित 200 बैरल बारूद तथा अन्य युद्ध-सामग्री को क्रांतिकारियों के हाथ में पड़ने से बचाने के लिए विस्फोट द्वारा उड़ा दिया।

रेजीडेंसी परिसर 37 एकड़ क्षेत्रफल में फैला था जिसमें 855 ब्रिटिश अधिकारी तथा सैनिक, 712 भारतीय तथा 153 स्वयंसेवक तथा 1280 अन्य लोग शामिल थे, जिनमें बच्चे और औरतें भी थीं। रेजीडेंसी पर प्रथम आक्रमण 30 जून की संध्या को हुआ, तत्पश्चात् आने वाले 6 माह तक लगातार रेजीडेंसी पर आक्रमण होता रहा। 2 जुलाई को रेजीडेंसी भवन के बिलियूर्स रूम में बैठे सर लॉरेंस को तोप के एक गोले ने घायल कर दिया। घायल सर लॉरेंस की जगह 32वीं रेजीमेंट के कॉलोनल जॉन इंग्लिश ने कमान सभाली तथा लॉरेंस द्वारा नियुक्त मेजर जॉन बैंक कार्यरत कमिश्नर बने। 4 जुलाई को हेनरी लॉरेंस एवं उसके कुछ दिन बाद ही मेजर बैंक की गोली लगने से मृत्यु हो जाने के पश्चात जॉन इंग्लिश प्रधान सैन्याधिकारी बने।

लखनऊ से 48 मील दूर कानपुर शहर में कार्यरत मेजर-जनरल हेनरी हैवलॉक ने उन्नाव में क्रांतिकारियों से युद्ध जीतने के उपरांत लखनऊ में घेराबंद सेना व नागरिकों

की सहायता का प्रयास किया। उन्होंने एकमात्र जासूस-संदेशवाहक अंगद के माध्यम से रेजीडेंसी के अधिकारियों से संचार जारी रखा। हैवलॉक ने ब्रिगेडियर जेम्स को कानपुर में सुरक्षा हेतु नियुक्त किया तथा कुछ सैनिकों व तोपों के साथ लखनऊ की ओर कूच किया। किंतु इसी बीच 11 अगस्त को जेम्स ने सूचना दी कि कानपुर पर पुनः खतरा मंडरा रहा है अतः सर हेनरी हैवलॉक को वापस कानपुर लौटना पड़ा। कानपुर में हालात अनुकूल होने के उपरांत उन्होंने उन्नाव में क्रांतिकारियों को हराते हुए लखनऊ की सहायता का फिर से प्रयास किया लेकिन उस समय भी वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाए।

उधर सर जेम्स आउटरम ने कानपुर में विद्रोहियों पर नियंत्रण बनाया और उनके आदेश पर हैवलॉक ने जॉन इंग्लिश को पत्र लिखकर शीघ्र सहायता का आश्वासन दिया। 15 सितंबर को आउटरम तथा हैवलॉक 3179 सैनिकों की टुकड़ी के साथ, जिसमें 6 अंग्रेज व एक सिख टुकड़ी, तथा कुछ घुड़सवार शामिल थे, के साथ लखनऊ की ओर कूच किया। 23 सितंबर को हैवलॉक की टुकड़ी आलमबाग पहुंची तथा क्रांतिकारियों को पीछे हटने हेतु बाध्य कर दिया। शहर के भीतर प्रवेश करने वाली सेना को दो भागों में बांटा गया जिनकी कमान नील तथा हैमिल्टन के हाथों में थी। चारबाग को पार करने के प्रयास में ब्रिटिश सेना की काफी क्षति हुई तथा 78वीं हाइलैंडर टुकड़ी भूलवश कैसरबाग की ओर मुड़कर मुख्य टुकड़ी से अलग हो गई। शहर की तंग गलियों में घमासान युद्ध के बाद मीत्र एक-चौथाई ब्रिटिश सैनिक ही रेजीडेंसी परिसर तक पहुंच सके। चंद सैनिकों के साथ रेजीडेंसी पहुंची हैवलॉक व आउटरम की सेना भी रेजीडेंसी परिसर में घेराबंद हो गई। आउटरम भली-भाली जानते थे कि रेजीडेंसी से जल्द से जल्द निकलना आवश्यक है किंतु यदि वे ऐसा करते तो आलमबाग पहुंचने से पहले ही वे सभी क्रांतिकारियों के हाथों मारे जाते चौकसी कर रखी थी। अंग्रेजों व भारतीयों के बीच लगातार युद्ध होता रहा और अंग्रेजों ने छतर मंजिल व कोठी फरहत बख्ता पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था।

आगरा के युद्ध के उपरांत दिल्ली तथा कानपुर के बीच कोई रुकावट नहीं रह गई थी तथा ब्रिटिश फौज सुगमता से कानपुर तक पहुंच सकती थी। इसी बीच जेम्स होप ग्रांट के नेतृत्व में एक सैन्य टुकड़ी दिल्ली से सहायता के लिए भेजी गई। कमांडर-इन-चीफ सर कॉलिन कैंपबेल

के आदेशानुसार ग्रांट आलमबाग की ओर कूच कर गया। कैंपबेल ने 600 युद्धसवार और 5125 पैदल सैनिकों तथा 42 तोपों के साथ आलमबाग की ओर कूच किया। दूसरी ओर ब्रिटिश युद्धपोत एवं शैनन की 64वीं टुकड़ी हांगकांग से कोलकाता की ओर सहायतार्थ पहुंच चुके थे। ये सभी कैंपबेल के नेतृत्व में 8 इंच, 24 इंच तथा 64 इंच की भारी तोपों के साथ लखनऊ पहुंच गये।

नवंबर के महीने तक भारतीय सैनिकों की संख्या 30000 से 70000 तक पहुंच चुकी थी। वे सभी पूर्णरूप से प्रशिक्षित तथा कुशल योद्धा थे और हैवलॉक और आउटरम द्वारा की गई सहायता के जवाब में लगातार सैन्य कार्यवाही में लगे हुए थे। ब्रिटिश सेना ने चारबाग पुल के निकटवर्ती क्षेत्र पर नियंत्रण कर लिया। युद्ध नीति में पारंगत सर कैंपबेल ने चारबाग की बजाय, पूर्व दिशा में स्थित दिलकुशा बाग की ओर कूच किया तथा ला मार्टिनियर स्कूल के भवन पर नियंत्रण स्थापित करके रेजीडेंसी व आलमबाग से संचार-सुविधा बहात करने में सफलता पाई। इसके बाद उन्होंने सिकंदर बाग की ओर कूच किया। सिकंदर बाग और रेजीडेंसी के बीच स्थित छतर मंजिल पर पहले से ही हैवलॉक और आउटरम ने नियंत्रण कर रखा था। 15 नवंबर को रेजीडेंसी को तत्काल खाली करने का सदेश पहुंचा दिया गया। भारी तोपों की मदद से ब्रिटिश सेना ने सिकंदर बाग पर फतह हासिल की। इसके बाद अंग्रेज टुकड़ियों ने शाहनजफ, मोती महल और कदम रसूल की ओर कूच किया जहां उन्हें भारतीय सैनिकों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जिन्होंने बंदूकों तथा तोपों के माध्यम से अंग्रेजों का सामना किया तथा कैसरबाग से लगातार गोलीबारी करते रहे। इस तरह अंग्रेज टुकड़ियों को भारी क्षति उठानी पड़ी। इसी बीच 5वीं हाइलैंडर टुकड़ी ने शाहनजफ तक पहुंचने का एक अन्य रास्ता ढूँढ़ लिया तथा मध्य रात्रि तक कैंपबेल ने शाहनजफ क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हुए शिविर लगाया।

यद्यपि हैवलॉक और आउटरम चाहते थे कि कैसरबाग में स्थित मकबरों एवं भवनों को तबाह कर दिया जाए ताकि विद्रोही सैनिकों का मनोबल टूट जाए। लैकिन कैंपबेल ने सुझाव दिया कि कानपुर तथा अन्य नगरों को विद्रोहियों से सुरक्षित करने के लिए तुरंत ही लखनऊ से निकासी की जानी चाहिए और विद्रोहियों से संघर्ष करने से बचना चाहिए। कैंपबेल ने रेजीडेंसी परिसर से क्रांतिकारियों का ध्यान हटाने के लिए विपरीत दिशा में कैसरबाग की ओर गोलीबारी शुरू की ताकि रेजीडेंसी परिसर को चुपचाप खाली किया जा सके। इसी अफरा-तफरी

के बीच ब्रिटिश औरतों तथा बच्चों सहित सभी नागरिकों को आलमबाग के रास्ते कानपुर की ओर सुरक्षित भेज दिया गया। आउटरम को आलमबाग की सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंप कर कैंपबेल 27 नवंबर को कानपुर की ओर प्रस्थान कर गए। लखनऊ रेजीडेंसी की पहली घेराबंदी 87 दिनों तक रही। कैंपबेल ने 6 मार्च, 1858 को वापस आकर लखनऊ को अधिकृत करने के लिए युद्ध शुरू किया तथा 21 मार्च, 1858 तक लखनऊ को वापस ब्रिटिश नियंत्रण में ले लिया गया। घेराबंदी के दौरान बहादुरी का प्रदर्शन करने वाले ब्रिटिश पक्ष के सैनिकों को विक्टोरिया क्रॉस का सम्मान दिया गया जिसमें 16 नवंबर, 1857 के दिन बहादुरी के प्रदर्शन हेतु सर्वाधिक 24 सम्मान दिए गए। इस सम्मान में सर्वाधिक सम्मान सिकंदर बाग के संघर्ष के दौरान ब्रिटिश सैनिकों की बहादुरी के लिए दिए गए।

लखनऊ रेजीडेंसी में घेराबंद व्यक्तियों ने आत्मकथाएं तथा डायरियों के माध्यम से लगभग 5 माह की घेराबंदी के दौरान अपनी व्यथा को विश्व के समक्ष रखा है, किंतु भारतीय क्रांतिकारियों का पक्ष आज भी अनछुआ ही है। अंग्रेज सेनाधिकारियों की कुशलता तो अनगिनत डायरियों तथा संस्मरणों में मिल जाती है किंतु शर्फुदौल्ला, बेनी माधो, लाल माधो सिंह, राजा जय लाल सिंह जैसे क्रांतिकारी सेनाधिकारियों के किस्से अभी भी लोकगाथाओं तक ही सीमित हैं। भारतीय क्रांतिकारियों ने किस तरह 5 माह तक विश्व के बेहतरीन सैनिकों को बंदूक, तोप, बर्छी और यहां तक कि खंडक व सुरंग युद्धनीति के माध्यम से छकाये रखा, इसके बारे में हमें अपर्याप्त एवं अत्यंत जानकारी ही मिलती है। हालांकि, शासकीय फाइलों एवं अन्य प्राथमिक स्रोतों के माध्यम से जिनका उपयोग इस शोधपत्र में किया गया है, में भारतीयों के सैन्य-अभियानों का वर्णन मिलता है, किंतु अभी भी लखनऊ रेजीडेंसी की घेराबंदी तथा तत्कालीन युद्धनीति के विषय में गहन शोध की आवश्यकता है।

संदर्भ

- Anderson, Robert Patrick, A Personal Journal Of The Siege Of Lucknow, Edited With A Preface And Introduction by T. Carnegy Anderson, W. Thacker And Co., Newgate Street, London, 1858.
- Bartrum, Katherine Mary, A Widow's Reminiscences Of The Siege Of Lucknow,

- James Nisbet & Co., 21, Berners Street, London, 1858.
- Case, Adelaide, Day By Day At Lucknow, Richard Bentley, New Burlington Street, London, 1858.
 - Forbes-Mitchell, William, Reminiscences Of The Great Mutiny 1857-59, Macmillan And Co. And New York, London, 1894.
 - Germon, Maria, Journal Of The Siege Of Lucknow: An Episode Of The Indian Mutiny, Edited by Michael Edwards, Constable Publishers, Printed by Novello & Co., London, London, 1958.
 - Germon, R. C., A Lady's Diary During The Siege Of Lucknow, Waterlow And Sons, Carpenters' Hall, London Wall, London, 1857.
 - Greenhow, Henry Martineau, Notes, Medical and Surgical taken during the late Siege of Lucknow.
 - Groom, William Tale, With Havelock From Allahabad To Lucknow 1857, Sampson Low, Marston & Company, Fetter Lane, Fleet Street, E,C, London, 1894.
 - Gubbins, Martin Richard, An Account of mutinies in Oudh and the siege of Lucknow Residency, Richard Bentley, New Burlington Street, London, 1858.
 - Harris, G., A Lady's Diary Of The Siege Of Lucknow: Written For The Perusal Of Friends At Home, John Murray, Albemarle Street, London, 1858.
 - Hilton, H. Edward, A Tourist's Guide To Lucknow, Printed At The London Printing Press, Lucknow, 1891.
 - Hutchinson, G., Narrative Of The Mutinies In Oude, Compiled From Authentic Records, Smith, Elder & Co., 65, Cornhill, London, 1859.
 - Inglis, Lady Julia, The Siege Of Lucknow: A Diary, James R. Osgood, McILvaine & Co., 45, Albemarle Street, 1892.
 - Innes, J.J. McLeod, Lucknow And Oude In The Mutiny: A Narrative Study, A.D. Innes And Co., Bedford Street, London, 1895.
 - Joyce, Michael, Ordeal At Lucknow: The Defence Of The Residency, John Murray, Albermarle Street, W, London, Frist Edition, 1938.
 - Lewin, Malcolm, Has Oude Been Worse
- Governed by Its Native Princes Than Our Indian Territories By Leadenhall Street?, James Ridgway, No. 169, Piccadilly, London, 1857.
- Marshman, John Clark, Memoirs Of Major General Sir Henry Havelock, K.C.B., Longman, Green, Longman, And Roberts, London, 1861.
 - Morrison, C., Siege Of Lucknow, Brigade Orders Issued between October 2nd and November 18th, 1857, Printed by Richard Clay And Sons, Limited, London And Bungay, 1897.
 - Rees, L. E. Ruutz, A Personal Narrative Of The Siege Of Lucknow: From Its Commencements To Its Relief By Sir Colin Campbell, Lonman, Brown, Green, Longmans, & Roberts, London, 1858.
 - Ruggles, J., Recollections Of A Lucknow Veteran 1845-1876, Longmans, Green, And Co., 39 Paternoster Row, London New York And Bombay, 1906.
 - Selection From The Letters, Despatches, And Other State Papers Preserved In The Foreign Department Of The Government Of India, 1772-1785., Edited by George W. Forrest, Vol. i, ii, iii, Printed by The Superintendent Of Government Printing, India, Calcutta, 1890.
 - Sen, S. N., Eighteen Fifty-Seven, with a foreword by Maulana Abul Kalam Azad, The Publication Division, Ministry Of Information & Broadcasting, government Of India, Printed In India by S.N. Guha Ray at Sree Saraswat Press Ltd., Calcutta And Published by The Director, The Publication Division, Delhi.
 - Taqui, Roshan, Lucknow 1857 (The Two Wars Of Lucknow: The Dusk Of An Era), New Royal Book Co., Lucknow, First Published 2001.
 - The Defence Of Lucknow, A Diary, By a Staff Officer, Smith, Elder And Co., 65 Cornhill, 1858.

-अभय पाण्डेय

शोधार्थी (यू. जी. सी. एस. आर. एफ.)
पाश्चात्य इतिहास विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारत-म्यांमार सांस्कृतिक, धार्मिक एवं पारस्परिक सम्बन्ध : एक दृष्टि

—डॉ. पुष्कर पाण्डेय

म्यांमार, भारत के पूर्व स्थित एशियाई देश है। इसे वर्मा संघीय गणराज्य के नाम से जाना जाता है। यह बौद्ध जनसंख्या बाहुल्य देश है। वर्तमान समय में यहां संसदीय सर्वेधानिक गणराज्य आधारित शासन व्यवस्था पाई जाती है तथापि कई विषयों पर सेना का अत्यधिक प्रभाव है। म्यांमार की जनसंख्या 5 करोड़ 14 लाख है। म्यांमार में भारतीय मूल के चेह्टियार बड़ी संख्या में निवास करते हैं। नागा जनजाति के लोग भी म्यांमार में हैं। म्यांमार के साथ भारत की 1433 किलोमीटर सीमा उच्चरी पूर्वी राज्यों के साथ लगती है। भारत की पूर्वी सीमा पर दक्षिण पूर्वी एशिया का एक महत्वपूर्ण राज्य मार्ग स्थित है। पहले इसका नाम बर्मा था। अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर तथा मिजोरम सीमावर्ती प्रदेश हैं। भारत तथा म्यांमार की तटीय सीमाएं भी साथ-साथ लगती हैं। इस तरह दोनों देशों में से कोई भी देश दूसरे की सुरक्षा स्थिति से प्रभावित नहीं रह सकता है। म्यांमार, भारत एवं चीन के मध्य एक अवरोधक का कार्य करता है। पटकोई पर्वत शृंखला, घने जंगलों तथा बंगल की खाड़ी दोनों देशों के मध्य प्राकृतिक सीमा है।

म्यांमार हिंदू संस्कृति से इतना अधिक प्रभावित है कि इसके नगरों के नाम जैसे अयशिया अथवा अयोध्या संस्कृत नामों पर रखे जाने लगे थे और बाद में अशोक के काल में बौद्ध धर्म की संस्कृति का म्यांमार में इतना अधिक प्रसार हुआ कि आज भी वहां के बहुसंख्यक बौद्ध मतावलंबी हैं। बर्मा के अधिकतर लोगों के बौद्ध होने के कारण हमारा सांस्कृतिक संबंध एवं पड़ोसी देश होने के कारण भारत के लिए बर्मा अर्थात् म्यांमार का आर्थिक, राजनीतिक और रणनीतिक महत्व भी है। भारत एवं म्यांमार के संबंध आजादी के बाद अत्यधिक मधुर थे। पॅडित नेहरू और म्यांमार के राष्ट्रपिता ऊनु के मध्य मित्रतापूर्ण संबंध थे। परंतु साठ के दशक में दोनों देशों के मध्य संबंधों में दरार उत्पन्न हो गई। वर्ष 1962 में मेवाड़ में सैनिक शासन स्थापित हुआ। सैन्य शासन के द्वारा समाजवाद एवं राष्ट्रीयकरण की नीतियां अपनाई गईं व म्यांमार का झुकाव चीन की ओर होने लगा। म्यांमार सरकार द्वारा अपनाए गए राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम से चेह्टियार मूल के भारतीय लोग बड़ी मात्रा में म्यांमार से विस्थापित हुए। इंदिरा गांधी के कार्यकाल और उसके बाद भारत ने म्यांमार में लोकतंत्र का समर्थन किया। 70

के दशक में म्यांमार की लोकतंत्र समर्थक शरणार्थियों को राजनयिक शरणार्थियों का दर्जा दिया गया। 80 के दशक में जनरल नेविन की सैन्य सरकार आर्थिक मोर्चे पर विफल हुई तथा पूर्व छात्रों द्वारा लोकतंत्र की बहाली का मुद्दा उठाया गया। भारत ने इस लोकतांत्रिक आंदोलन का समर्थन किया। वर्ष 1990 में पहली बार में म्यांमार में स्वतंत्र चुनाव कराए गए। इस चुनाव में आंग सांग सू ची का दल 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' विजयी हुआ परंतु सैन्य सरकार ने चुनावी जनादेश मानने से इनकार कर दिया। भारत के द्वारा व्यापार का सैनिक सरकार ने विरोध किया तथा आंग सांग सू ची को समर्थन किया गया और भारत ने लोकतंत्र की बहाली का जोरदार समर्थन किया जिससे म्यांमार एवं भारत के बीच संबंध अत्यधिक कटु हो गए। परंतु बाद में भारत ने म्यांमार के साथ संबंध को बेहतर करने का प्रयास किया।

वर्ष 1988 में राजीव गांधी द्वारा म्यांमार से संबंधों को सुधारने का प्रयत्न किया गया क्योंकि उत्तरी पूर्वी राज्यों में उग्रवादी घटनाओं पर म्यांमार के सहयोग के बिना नियंत्रण स्थापित करना कठिन है तथा म्यांमार में चीन के बढ़ते प्रभाव से भारत सतर्क हो गया। वर्ष 1990 में भारत की व्यापार नीति में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। यह उल्लेखनीय है कि वर्ष 1990 के बाद अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान ने सैन्य शासन का विरोध किया तथा लोकतंत्र की बहाली का नारा दिया। भारत द्वारा म्यांमार का सीधा विरोध नहीं किया गया बल्कि मध्य मार्ग की विदेश नीति अपनाते हुए लोकतंत्र की बहाली को म्यांमार का आंतरिक मुद्दा माना और म्यांमार के साथ संबंध सुदृढ़ करने पर बल दिया गया। इसलिए भारत के द्वारा म्यांमार की सैनिक सरकार के साथ बेहतर संबंधों का निर्माण किया गया। भारत के अनुसार, किसी दूसरे देश पर बाहर से लोकतंत्र थोपना उचित नहीं है तथा म्यांमार में लोकतंत्र की बहाली म्यांमार के नागरिकों का दायित्व है। भारत के अनुसार भारत लोकतंत्र का समर्थन करता है लोकतंत्र के निर्यात का नहीं, क्योंकि लोकतंत्र के निर्यात का अभिप्राय भारत द्वारा दूसरे देश पर लोकतंत्र आरोपित करना है।

वर्ष 1992 में 'पूर्व की ओर देखो नीति' से पुनः दोनों देशों के मध्य संबंध मधुर होने लगे और म्यांमार के प्रति भारत के द्वारा व्यवहारिक नीति अपनाई गई। म्यांमार के प्रति भारत की इस परिवर्तित नीति के निम्नलिखित कारण हैं—

- चीन का शांतिपूर्ण उदय तथा चीन का प्रभावी सैन्य और आर्थिक रूप में उभार।

• चीन ने पाकिस्तान को भी म्यांमार के साथ बेहतर संबंध बनाने के लिए प्रेरित किया जिससे भारत की सुरक्षा चिंताओं में वृद्धि हुई।

• भारत में कार्यरत उत्तर पूर्वी राज्यों के आतंकवादी संगठनों ने म्यांमार में शरण ली।

• भारत के लिए समस्या इसलिए और गंभीर हो गई जब बांग्लादेश ने भी उत्तरी पूर्वी राज्यों के आतंकवाद को शरण दी तथा नेपाल में भी माओवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। अतः भारत की सुरक्षा के लिए चीन, म्यांमार, बांग्लादेश से सीधे खतरे उत्पन्न हुए। इसलिए म्यांमार के प्रति संबंधों को पुनरावलोकित किया गया।

• वर्ष 1991 में नरसिंह राव ने 'पूर्व की ओर देखो विदेश नीति' का नारा दिया जिससे म्यांमार का स्वाभाविक महत्व बढ़ गया। भारत और म्यांमार के मध्य लगभग 1600 किलोमीटर की लंबी सीमा आपस में मिलती है। उत्तरी पूर्वी राज्यों में अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, और मिजोरम की सीमाएं म्यांमार से मिलती हैं। अभी भी म्यांमार में 2.5 मिलियन भारतीय मूल के लोग निवास करते हैं तथा नागा जनजातियों के लोग सीमाओं के दोनों ओर स्थित हैं।

• वर्ष 1991 में भारत में आर्थिक उदारीकरण की नीति अपनाई तथा भारतीय अर्थव्यवस्था इस समय विश्व में दूसरी सबसे तेजी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था है। इस आर्थिक वृद्धि दर को बनाए रखने के लिए भारत को विशाल मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता है। ऊर्जा सुरक्षा के अंतर्गत भारत का यह भी प्रयत्न है कि वह तेल पर निर्भरता को कम करे इसलिए म्यांमार की प्राकृतिक गैस भारत के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

म्यांमार आसियान का एकमात्र राज्य है जिसके साथ भारत की समुद्री और भू-भागीय दोनों सीमा मिलती हैं। म्यांमार में प्राकृतिक गैस का भंडार भारी मात्रा में पाया जाता है। चीन, कोकोद्वीप (म्यांमार) पर अपना सैन्य अड्डा स्थापित कर रहा है तथा म्यांमार की भौगोलिक स्थिति भारत की सुरक्षा दृष्टि से महत्वपूर्ण है। म्यांमार, भारत की 'पूर्व की ओर देखो विदेश नीति' का प्रवेश द्वार है।

वर्ष 2012 में म्यांमार में सैनिक शासन का औपचारिक अंत हो गया तथा बहुदलीय लोकतंत्र की स्थापना हुई, जिसमें नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी की नेता आंग सांग सू ची ने भी निर्वाचन में भाग लिया। म्यांमार के लोकतांत्रिक शासन में अभी भी सूना का प्रभुत्व बना हुआ है, परंतु लोकतंत्र की स्थापना के बाद भारत, म्यांमार के साथ संबंध सुदृढ़ करने पर अत्यधिक महत्व दे रहा है और अब अमेरिका का भारत पर

पड़ने वाला दबाव भी समाप्त हो गया। इसीलिए भारतीय प्रधानमंत्री की म्यांमार यात्रा निर्धारित हुई। यद्यपि म्यांमार के लोकतंत्र में अभी भी सेना का प्रभाव बना हुआ है और सैनिक अधिकारियों के लिए संसद में सीटें आरक्षित की गई हैं। म्यांमार के वर्तमान संविधान में उल्लिखित है कि जिस व्यक्ति का वैवाहिक संबंध किसी विदेशी व्यक्ति के साथ है, वह म्यांमार के राष्ट्रपति के चुनाव में भाग नहीं ले सकता। आंग सांग सू ची का विवाह एक विदेशी व्यक्ति के साथ हुआ है, इसलिए यह माना जा रहा है कि संविधान वर्णित प्रावधान आंग सांग सू ची को राष्ट्रपति निर्वाचन में भाग लेने से रोकने के लिए है, परंतु भारत के द्वारा म्यांमार के साथ संबंधों पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है।

भारत के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह की तीन दिवसीय म्यांमार यात्रा (27-29 मई, 2012) सम्पन्न हुई। भारत के किसी प्रधानमंत्री द्वारा म्यांमार की यह राजकीय यात्रा 25 वर्षों के अंतराल पर हुई। दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय सहयोग के तहत उस समय के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने म्यांमार को 50 करोड़ डॉलर की क्रेडит सहायता देने की घोषणा की। प्रधानमंत्री की म्यांमार की इस ऐतिहासिक यात्रा के दौरान दोनों देशों ने व्यापार, ऊर्जा एवं यातायात संपर्क जैसे क्षेत्रों में सहयोग के कुल 15 समझौते भी किए। भारत के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह और म्यांमार के राष्ट्रपति थीन सीन के नेतृत्व में दोनों देशों के प्रतिनिधिमंडल स्तर पर व्यापक चर्चा हुई और द्विपक्षीय संबंधों की विस्तृत समीक्षा की गई। इस यात्रा के दौरान भारत के एक्सिस बैंक और म्यांमार के विदेश व्यापार बैंक के बीच समझौता हुआ है, जिसके तहत म्यांमार को 5 अरब डॉलर का रियायती कर्ज दिया जाएगा। इससे दोनों देशों के आपसी कारोबार को बढ़ावा मिलेगा। भारतीय बैंक म्यांमार में प्रतिनिधि शाखाएं खोलने की इजाजत देंगे। भारतीय रिजर्व बैंक और सेंट्रल बैंक ऑफ म्यांमार ने करेसी प्रबंधन के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसके अलावा अकादमिक सहयोग के लिए भी समझौता हुआ जिसके तहत दागोन विश्वविद्यालय और कोलकाता विश्वविद्यालय आपस में सहयोग करेंगे।

प्रधानमंत्री की म्यांमार यात्रा से इंफाल-मांडले बस सेवा पर सहमति बनी तथा इसके जरिए सड़क मार्ग द्वारा दोनों देशों के लोग कम खर्च में आ-जा सकते हैं। इंफाल-मांडले बस सेवा शुरू होने से पूर्वोत्तर के राज्यों में विकास की रोशनी फैलेगी। यह बस सेवा नई दिल्ली-लाहौर और कोलकाता-दाका बस सेवा की तर्ज पर भारत और म्यांमार के बीच संबंध सुधारने का काम करेगी। एक प्रमुख समझौता सीमा सड़क

मार्ग के विकास को लेकर हुआ और प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि भारत तामू-कलेवा मार्ग पर 71 पुलों की मरम्मत कराएगा एवं दोनों देश एक प्रमुख मार्ग को राजमार्ग में तब्दील करने का काम करेंगे। यह बांग्लादेश की सीमा पर स्थित हॉट की तरह काम करेगी। इससे पूर्वोत्तर के लिए व्यापार की संभावनाएं बढ़ेंगी जिनका लोग पहले से भी ज्यादा इस्तेमाल कर रहे हैं। सरहदी हाट खोलने से इस तरह की वस्तुएं आसानी से पूर्वोत्तर के गांवों में उपलब्ध हो सकेंगी।

प्रधानमंत्री की यह यात्रा पूर्वोत्तर के लिए एक और मामले में अहम रही, उन दिनों 'यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट आफ असम' (उल्फा) के प्रमुख परेश बरुआ म्यांमार में थे, क्योंकि जब से बांग्लादेश की शेख हसीना सरकार ने उल्फा सहित पूर्वोत्तर के विभिन्न आतंकवादी संगठनों के खिलाफ अपना अभियान तेज कर दिया है, तबसे इन संगठनों के लोगों ने म्यांमार को अपनी शरण स्थली बना लिया है। यदि म्यांमार सरकार भी बांग्लादेश की तर्ज पर अपना अभियान तेज कर दे तो आतंकवादी संगठन अपने-अपने राज्यों में वापस जाने और देश की मुख्यधारा से जुड़ने के लिए विवश हो जाएंगे। म्यांमार ने कहा भी है कि वह आतंकवादियों को भारत विरोधी गतिविधियों के लिए अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं करने देगा। सेना ने पूर्वोत्तर क्षेत्र के चरमपंथियों से कहा है कि वे अभिलंब म्यांमार छोड़ दें।

भारत-म्यांमार की सीमा के दोनों ओर नागा, कूकी जनजातियों की बड़ी आबादी है, जिनके बीच सांस्कृतिक एवं साझे सामाजिक संबंध भी हैं। इसीलिए दोनों देशों के बीच 16 किलोमीटर के क्षेत्र में मुक्त आवागमन फ्री मूवमेंट का प्रावधान है। दोनों देशों के बीच सुरक्षा के मुद्दे पर प्रभावी सहयोग बना हुआ है और उग्रवादी संगठनों के विरुद्ध साझी सैनिक कार्यवाही भी की गई है। एन.एस.सी.एन. नामक उग्रवादी संगठन के द्वारा भारतीय सेना पर हमला किया गया था। जवाब में वर्ष 2015 में भारतीय सेना के द्वारा म्यांमार की सीमा में घुसकर उग्रवादियों को मार गिराया। यह उग्रवाद के प्रति भारत की आक्रामक कार्रवाई प्रतीत होती है। यद्यपि यह सरकार कि कोई व्यवस्थित नीति नहीं है बल्कि एक कार्यवाही है जिस पर अनेक विवाद भी विद्यमान हैं।

म्यांमार में वर्ष 1990 के बाद पहली बार लोकतांत्रिक निर्वाचन वर्ष 2016 में संपन्न हुआ, जिससे म्यांमार में लोकतंत्र की प्रगति का मार्ग साफ हो गया है। संसदीय चुनाव में नेशनल लीग को बहुमत प्राप्त हुआ और तिन क्या म्यांमार के नए राष्ट्रपति निर्वाचित हुए जो आंग सांग सू ची के अत्यधिक विश्वसनीय हैं, क्योंकि नेशनल लीग के

नेता सूची के बच्चे इंलैंड के नागरिक हैं। इसलिए सबैधानिक रूप से सूची राष्ट्रपति नहीं हो सकतीं। इसलिए उन्होंने अपने विश्वासपात्र तिन क्या को राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित कराया। सूची ने तीन मंत्रालय अपने पास रखे हैं इसलिए शासन की वास्तविक प्रधान सूची ही प्रतीत होती हैं। अभी भी म्यांमार की संसद में सेना का एक चौथाई प्रतिनिधित्व है और सेना के अधिकारियों को तीन मंत्रालय भी प्रदान किए गए हैं। म्यांमार के संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति, गृह मंत्री, रक्षा मंत्री तथा सीमा मामलों का मंत्री सेना का अधिकारी होगा। इसलिए म्यांमार का लोकतंत्र की ओर संक्रमण अभी भी चुनौतीपूर्ण है। म्यांमार में लोकतंत्र के प्रभावी होने से भारत एवं म्यांमार के संबंध सुदृढ़ होंगे।

रोहिंग्या मुस्लिम धर्म को मानने वाले लोग हैं, जो म्यांमार के खाइन प्रांत में रहते हैं। म्यांमार की पूर्व सैनिक सरकार के द्वारा इनको नागरिकता नहीं प्रदान की गई है और उन्हें अवैध शरणार्थी कहा जा रहा है। म्यांमार की सैनिक सरकार ने वर्ष 1982 में नागरिकता कानून बनाते हुए 8 लाख रोहिंग्या मुसलमानों को देश विहीन या राज्य विहीन करार दिया। जून, 2012 में बर्मी मूल और रोहिंग्याओं के बीच हिंसक झड़पें हुई, जिससे लगभग 2 लाख रोहिंग्या व्यक्तियों ने म्यांमार छोड़ दिया और वे बांग्लादेश आ गए तथा बांग्लादेश होते हुए भारत के उत्तरी पूर्वी राज्यों में भी प्रवेश कर गए। वर्ष 2015 में पुनः बर्मियों और रोहिंग्या के बीच हिंसक संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप रोहिंग्या समुदाय के लोगों ने इंडोनेशिया, मलेशिया तथा सिंगापुर में शरण लेने का प्रयत्न किया परंतु इन देशों ने रोहिंग्याओं को शरण देने से इंकार कर दिया इसलिए रोहिंग्या समस्या मानवाधिकार की समस्या बन गई। संयुक्त राष्ट्र संघ शरणार्थीयों के उच्चायुक्त द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों को सहायता प्रदान करना तथा म्यांमार से इस समस्या के समाधान का अनुरोध करता है। रोहिंग्या और बर्मियों के बीच संघर्ष से भारत भी प्रभावित होता है और रोहिंग्या भारत में आकर बौद्ध धार्मिक स्थानों पर हमला करने की योजना बनाते हैं।

भारत जापान और म्यांमार तीनों देशों में बौद्ध धर्मावलीवियों का साझा सांस्कृतिक आधार है। इसलिए आधारभूत संरचना के विकास में जापान म्यांमार का अत्यधिक सहयोग कर सकता है। जापान के द्वारा पूर्वोत्तर राज्यों में

भारत की आधारभूत संरचना के विकास में सहयोग किया जा रहा है और जापान के म्यांमार में बढ़ते प्रभाव से चीन का भी प्रभाव म्यांमार में कम होगा।

वर्तमान सरकार के द्वारा 'एकट ईस्ट नीति' के अंतर्गत म्यांमार को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है और म्यांमार के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंधों के बावजूद व्यापारिक संबंध अपेक्षा से कम हैं और सामरिक संबंधों को प्रगाढ़ बनाने की आवश्यकता है। म्यांमार के विकास में भारत सकारात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकता है और क्षमता निर्माण कार्यक्रम के माध्यम से म्यांमार में कौशल विकास किया जा सकता है। दोनों देशों के बीच पर्यटन में वृद्धि की अत्यधिक संभावना है। भारत के द्वारा म्यांमार में आधारभूत संरचना विकास कार्यक्रम को और प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। कालादान मल्टीमॉडल ट्रांजिट ट्रांसपोर्ट प्रोजेक्ट को त्वारित रूप में पूर्ण करने की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

1. भारत की विदेश नीति : चुनौती और रणनीति, राजीव सीकरी, प्रकाशक, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, भारत, संस्करण 2017
2. स्वतंत्र भारत की विदेश नीति, वी. पी. दत्त, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 2007, छठा संस्करण, 2015
3. भारतीय विदेश नीति : भूमंडलीकरण के दौर में, राजेश मिश्रा, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण, 2019
4. <https://www.drishtiias.com/hindi/daily-updates/daily-news-editorials/india-myanmar-relations>
5. <https://www.insightsonindia.com/international-relations/bilateral-regional-and-global-groupings-and-agreements-involving-india-and-or-affecting-indias-interests/india-and-south-east-and-east-asia/india-myanmar/>
6. <https://byjus.com/free-ias-prep/india-myanmar-relations/>

-डॉ. पुष्कर पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग,
डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर

महाकवि अश्वघोष की कृतियों में सामाजिक एवं धार्मिक जीवन

—डॉ. नीमा जोशी

संस्कृत महाकाव्यों की अजस्र परम्परा में महाकवि अश्वघोष का स्थान विशिष्ट है। वस्तुतः जितने भी बौद्ध कवियों ने संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर रचनाएँ की उन सभी बौद्ध कवियों में महाकवि अश्वघोष अग्रगण्य है। महाकवि अश्वघोष संस्कृत साहित्य जगत में एक उच्चकोटि के कवि, प्रौढ़, दार्शनिक एवं प्रकाण्ड पण्डित के रूप में जाने जाते हैं। महाकवि अश्वघोष का वास्तविक नाम विदित नहीं है। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के बाद उनका नामकरण हुआ। उनका नाम अश्वघोष क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में मनोरंजक कल्पना है जिसमें कहा गया है कि जिस दिन अश्वघोष का जन्म हुआ उस दिन घोड़े हिनहिनाये थे, इसलिए उनका नाम अश्वघोष रखा गया। दूसरी परम्परानुसार यह कहा जाता है कि एक दिन जब वे धर्मोपदेश कर रहे थे तो उनकी मधुर वाणी सुनकर भूखे घोड़े ने अपना दाना-पानी छोड़कर आध्यात्मिक उल्लास में हिनहिनाना प्रारम्भ कर दिया। उसी दिन से लोगों ने उनको ‘अश्वघोष’ कहना प्रारम्भ कर दिया।¹ भौतिकता तथा आध्यात्मिकता जीवन में इन दोनों तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। महाकवि अश्वघोष ने जीवन के इन दोनों तत्वों पर प्रकाश डाला है। भौतिकता और आध्यात्मिकता में मनुष्य की उन आवश्यकताओं एवं क्रियाओं का समावेश होता है जिसके अभाव में उनकी स्थिति की कल्पना तक नहीं की जा सकती। अश्वघोष के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

महाकवि अश्वघोष के सामाजिक जीवन सम्बन्धी विचारों की झलक बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द के प्रथम तथा द्वितीय सर्गों में देखी जा सकती है। समाज में शांति, सुव्यवस्था तथा सन्तुलन स्थापित करने के लिए व्यक्ति में आचार, विनय, नीति तथा क्रियाशक्ति का होना अति आवश्यक है।² महाकवि अश्वघोष ने जिस समाज का चित्रांकन किया है वहां के व्यक्ति चरित्र-धन से सम्पन्न होते हैं। दीर्घदृष्टि, योग्यता, लज्जा, दक्षता तथा पराक्रम उनके गुण होते हैं। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता पर बल दिया है। शरीर के सम्यक् कर्म, वाक् कर्म तथा शुद्ध आजीविका इन तीनों का सम्बन्ध आचरण से होता है।³

अतः आचरण की शुद्धता सुखी सामाजिक जीवन के लिए परम आवश्यक है। विनय और सदाचार ही व्यक्ति के चरित्र को उन्नति की ओर ले जाते हैं तथा क्रियाशक्ति और नीति व्यक्ति के बाय्य जीवन को सफल बनाते हैं। महाकवि अश्वघोष की दृष्टि में व्यक्ति का जीवन तभी सार्थक हो सकता है जब वह आन्तरिक जीवन में सद्गुणों का विकास करके बाय्य जीवन में खुले हुए जागरूक मस्तिष्क से परिश्रमपूर्वक कार्य करेगा। बाय्य जीवन की सफलता के लिए महाकवि अश्वघोष कहते हैं कि जिस प्रकार आत्म विकास के साधन शील, समाधि और प्रज्ञा हैं, उसी प्रकार बाय्य उत्थान के साधन सभा, दान, उत्सव तथा धार्मिक क्रियाएं हैं।⁴ राजा शुद्धोदन के चरित्र द्वारा इनका सम्यक् दर्शन होता है। वह आत्मविकास के साथ ही प्रजाओं के विकास का भी साधक है तथा विविध उपायों से वह समृद्ध जीवन का निर्माण करता है। एक व्यक्ति किस प्रकार स्वार्थ तथा परमार्थ की साधना करें, इस श्लोक में वर्णित है—अवेदीद् बुद्धिशास्त्राभ्यामिह चामुत्र च क्षमं/ अरक्षद्व्यवीर्याभ्यामिन्द्रियाण्पि च प्रजाः।⁵ अर्थात्, उसने बुद्धि और शास्त्रों के द्वारा क्रमशः लोक और परलोक का लाभ प्राप्त किया तथा धैर्य और पराक्रम के द्वारा क्रमशः इन्द्रियों और प्रजा की रक्षा की।

कवि ने नारी को निश्चित रूप से अध्यात्म मार्ग में बाधक माना है। नारी के सम्बन्ध में कवि की धारणा ठोस अनुभव तथा पूर्व पुरुषों के वचनों पर आधारित है। उनके काव्यों में सिद्धार्थ तथा नन्द दोनों के ही मार्ग में नारी बाधक रूप में उपस्थित हुई है, अतः नारी को सब प्रकार से त्याज्य समझकर कवि ने उसे मोहजाल कहा है तथा उससे अलग रहने का उपदेश दिया है—“प्रियाभिधानं त्यज मोहजालम्”।⁶ बौद्ध साहित्य में नारी के गुण एवं दोष दोनों के बारे में बताया गया है। परन्तु नारी के चरित्र में सर्वत्र दोष ही ही हो ऐसा भी नहीं है, उसमें अनेक गुण ऐसे हैं जिन पर पुरुष के श्रेष्ठ गुणों का बलिदान किया जा सकता है। अतः नारी की सहन शक्ति और कोमलता ही ही है जो धर्म के कठोर नियमों को चुपचाप सहन कर लेती है परन्तु कवि के मन्त्र्य का भी कुछ अर्थ है उन्होंने नारी की इतनी विर्गहणा की है कि वह व्यक्ति के अध्यात्म-विकास में बाधक है, उसका वासनात्मक रूप अत्यन्त प्रचण्ड होता है तथा कवि के जो तथ्य हैं वे मनोवैज्ञानिक हैं उनमें सत्यता का अंश छिपा हुआ है। इस नारी निन्दा के भागी केवल महाकवि अश्वघोष ही नहीं है, सभी साधक, सन्त एवं दार्शनिक भी इस बात को मानते हैं। यह सत्य है कि भारतीय विचारकों में अश्वघोष ही प्रथम विचारक हैं जिन्होंने नारी-स्वभाव एवं चरित्र का

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके उन दोषों का प्रकट किया है जो अध्यात्म जीवन में विघटनकारी होते हैं तथा भौतिक जीवन भी इनसे शान्तिपूर्ण नहीं रह सकता है।⁷

महाकवि अश्वघोष सामाजिक जीवन में उदारता के पक्षपाती है। उन्होंने स्वजन-सम्बन्ध विचारों का उद्घाटन करके यह प्रदर्शित किया है कि संसार में अपने और पराये की व्यवस्था नहीं है। वंश वृद्धि के लिए पुत्र का पालन होता है और पोषण के लिए पिता की सेवा की जाती है—कुलार्थं धार्यते पुत्र पोषार्थं सेव्यते पिता।⁸ ‘यह मेरी रक्षा करेगा, ‘यह सोचकर माता पुत्र का पालन करती है तथा इसने मुझे धारण किया है यह सोचकर पुत्र माता की सेवा करता है।⁹ अतः स्वजन और परजन में स्वार्थ तथा कार्य-कारण की प्रधानता है। फल-प्राप्ति में प्रत्येक व्यक्ति अनुकूल हो जाता है। स्वजन स्वजन से स्नेह करते हैं तथा इसके विपरीत होने पर स्वजन भी पराया हो जाता है।¹⁰

अतः इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि माता-पिता तथा पुत्र के कर्तव्यों के पालन में विरोध उत्पन्न करता है, परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। उपर्युक्त कथन के द्वारा कवि ने अकारण होने वाले स्वजन सम्बन्धी वितर्क या मोह का खण्डन किया है, जहाँ तक स्वजन गत सम्बन्ध है उस परिधि में तो सम्पूर्ण समाज आ जाता है। स्वामी तथा सेवक में भी आसीयता होती है। पिता और पुत्र का तो कहना ही क्या? यह अवश्य है कि अपनत्व, सम्बन्ध तथा प्रेम आशय-सहित सप्रयोजन होता है, निष्कारण नहीं—आशयाच्छिलिष्टति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता।¹¹ यह कथन पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संसार के प्रत्येक कार्यों में प्रयोजन होता है। पक्षी भी नीड़ की रचना गर्भस्थ शिशु के लिए करता है।¹² महाकवि अश्वघोष ने अपने सामाजिक-जीवन के वर्णन में मित्र के गुणों पर भी प्रकाश डाला है। सज्जन व्यक्ति पूर्वजों द्वारा की गयी मित्रता का संवर्धन करते हैं।¹³

असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु ।
पूर्वः कृतांग्रीति परम्पराभिस्तामेव सन्तुस्तु विवर्धयन्ति ॥¹⁴

सच्चे मित्र वही हैं जो धनाभाव में मित्रों के सहायक होते हैं।

अहित से रोकना, हित में लगाना तथा विपत्ति में साथ न छोड़ना, अच्छे मित्र के तीन लक्षण हैं—

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥¹⁵

विश्वास, उपकार, सुख-दुख में समान भाव और प्रेम

ही तो सज्जनों की मित्रता है।¹⁶ महाकवि अश्वघोष सामाजिक जीवन में जीवन का आदर्श उसी को मानते हैं जिसमें गति है, समरसता है—‘जिस प्रकार धूल से उत्पन्न स्वर्ण शुद्ध, निर्मल और पवित्र होता है और धूल में रहकर भी वह धूल के दोषों से लिप्त नहीं होता है और जैसे जल में उत्पन्न होकर जल में ही निवास करने वाला कमलपत्र ऊपर या नीचे जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही संसार में उत्पन्न होकर, संसार के ऊपर अनुग्रह करते हुए मुनि अपनी पवित्रता एवं निर्मलता के कारण सांसारिक धर्मों में लिप्त नहीं होते’। अतः योग एवं भोग में दोनों में समान रूप से वही विचरण कर सकता है जो पृष्ठपत्र की भाँति उसमें संसक्त रहकर भी उससे बिलग रहे। इस प्रकार कवि ने सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है। कवि ने सामाजिक जीवन के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन दोनों के सन्तुलन पर बल दिया है। नीति, क्रियाशक्ति तथा सदाचार और विनय ही व्यक्ति के जीवन को सफल बनाते हैं। इस प्रकार आचरण की शुद्धता ही पूर्णरूपेण सुखी सामाजिक जीवन के लिए अति आवश्यक है। धार्मिक जीवन-महाकवि अश्वघोष बौद्धधर्म के अनुयायी तथा प्रचारक थे। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए उन्होंने यथासम्भव प्रयास किये। मण्डलियाँ बनाकर संगीत के माध्यम से जन-जन तक बौद्धधर्म के उपदेशों को पहुँचाया। सामान्य जन को दृश्य-श्रव्य साधनों से बौद्धधर्म के प्रति आकृट करने एवं जटिल सिद्धान्तों को हृदयंगम करवाने के उद्देश्य से ही राष्ट्रपाल नामक गेय नाटक और काव्यों की रचना की।¹⁷ राष्ट्रपाल के अनुसार पाटिलिपुत्र में नाटक के अभिनय में महाकवि अश्वघोष स्वयं भी सम्प्रिलित हुए थे। यद्यपि बौद्ध धर्म के लिए उनका जीवन समर्पित था। फिर भी धर्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण उदार था, वे धार्मिक कट्टरता व संकीर्णता से दूर रहते थे और साथ ही सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे। प्रजा नादीद पच्चेर सर्वधर्म व्यवस्था।¹⁸

महाकवि अश्वघोष दो धर्मों ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के बीच सेतु प्रतीत होते हैं, इसका मुख्य कारण यह है कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वेदाध्ययन, याज्ञिक कर्मकाण्ड, यज्ञ में इन्द्र ध्वज की प्रभुता, जप, होम, जातकर्म संस्कार, अशुभग्रतजन्य, अनिष्ट की सम्भावना में क्रूर ग्रहों के शमनार्थ ब्राह्मणों को गोदान, स्वर्णदान व ग्रहपूजा और पुत्रोत्पत्ति का प्रमुख उद्देश्य निवापसलिल की प्राप्ति आदि मान्यताओं का उल्लेख महाकवि अश्वघोष पर ब्राह्मण धर्म के प्रभाव को संकेतित करता है। बौद्ध होते हुए भी महाकवि अश्वघोष ने वेदों को सम्मान की दृष्टि से देखा है। वेदों के

अपौरुषेयत्व को उन्होंने स्वीकार किया है। महाकवि अश्वघोष वेदाध्ययन को ऋषि गण से मुक्ति तथा यज्ञ को देव ऋण से मुक्ति का साधन मानते हैं।¹⁹

महाकवि अश्वघोष का ब्राह्मण धर्म से धर्म-परिवर्तन करके बौद्ध धर्म में जाने का संकेत उनकी रचनाओं में भी मिलता है—शारिपुत्र प्रकरण में विदूषक शारिपुत्र को कहता है कि ब्राह्मण को क्षत्रिय धर्म स्वीकार नहीं करना चाहिए। शारिपुत्र ‘नीच जाति के वैद्य द्वारा दी गयी औषधि से भी रोग शमन होने’ का दृष्टान्त देकर एक अन्य ब्राह्मण मोद्गतायन के साथ बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेता है।²⁰ महाकवि अश्वघोष जाति प्रथा एवं ऊँच-नीच के भेदभाव के कटु आलोचक थे। बज्रसूची में उन्होंने कई लौकिक तथा शास्त्रीय दृष्टान्तों से जन्म पर आधारित जाति का तर्कसंगत खण्डन करके जाति को कर्म पर आधारित करके जाति में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना निर्धक व महत्वहीन है, क्योंकि यज्ञ आदि पुण्यकर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पुण्यशेष रहने तक तो मनुष्य स्वर्ग में रह सकता है किन्तु पुण्यकीण होने पर स्वर्ग से पतन अवश्यम्भावी है।²¹ कर्मफल तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर महाकवि अश्वघोष का दृढ़ विश्वास था। उनके अनुसार मनुष्य को उसके अच्छे या बुरे कर्म का फल अवश्य मिलता है। नियतं भविष्यति परत्र भवदति च भूयमध्यथो/कर्मफलमपि च लोकगतिनिर्यतेति दर्शनमवाप साधु च।²² बुरे कर्म करके तीर्थों के जल से पाप शुद्धि की आशा को भ्रान्त धारणा बतलाते हुए उन्होंने कर्मशुद्धि पर बल दिया है।²³ कवि के अनुसार मृत्यु के पश्चात् प्राणी स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के आधार पर ही स्वर्ग या नरक में जाता है तथा इसी आधार पर पुनः मनुष्य या पशु-पक्षी आदि योनियों में जन्म लेता है।²⁴ महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस प्रकार धर्म के लिए काल अथवा आश्रम की अपेक्षा नहीं होती, विषय सेवन के लिए समय-असमय का विचार किया जाता है। उसी प्रकार धनोपार्जन के उपाय के लिए भी समय निर्दिष्ट होता है। सब समय में काल संसार को आकर्षित करता है, परन्तु मोक्षप्रद कल्याण के लिए कोई निश्चित समय नहीं है अर्थात् सर्वकाल में धर्माचरण किया जा सकता है।²⁵

तत्कालीन समाज में अनेक स्थलों पर वैदिक धार्मिक मार्ग पालन पर बल दिया है तथा स्वयं कवि ने शुद्धोदन का वेद-विधि विधान पालक नृप रूप में उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने हिंसा प्रथान यज्ञों का खुलकर विरोध किया है। शुद्धोदन भी हिंसा रहित यज्ञों से पूजा करता है—²⁶ यज्ञैश्च हिंसा रहितरयिष्ट। वस्तुतः महाकवि अश्वघोष ने

जिस धर्म का उपदेश दिया है वह सूक्ष्म तथा ब्राह्म्याचारों से पृथक है। उन्होंने धर्म को पूर्ण रूप से एक दैवी एवं आन्तरिक सत्ता का रूप प्रदान किया है जो स्वतः परिपूर्ण है। धर्म के स्वरूप का वर्णन कवि ने रूपकों के आधार पर भी किया है। अन्यत्र धर्म का वर्णन करते हुए कवि ने सत्य, धृति, ज्ञान, समाधि, विनय तथा नियम इसके उपकरण बताये हैं¹⁷ धर्म का क्षेत्र स्वीधीन होता है तथा स्वाधीन ऋद्धि में ही धर्म विचरण करता है—‘स्वाधीनायां ऋद्धौक्वपुनर्न विहरति’—रूपक नाटक

वास्तव में धर्म का सम्यक् स्वरूप “सर्वभूतहितवाद” के द्वारा ही प्रकट होता है क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म के मूल को ही अनावृत्त कर उपस्थित किया जाता है। धर्म के द्वारा योगी का चित्त शान्त हो जाता है और वह परम गति को प्राप्त होता है।¹⁸ महाकवि अश्वघोष के जीवन-दर्शन के आधार पर सुखी जीवन का स्वरूप भिक्षु जीवन में ही दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने आध्यात्मिक सुख को ही एकमात्र सुख कहा है—‘प्रधानमध्यात्म सुखं सुखेभ्य’। तथा आध्यात्म आनन्द को इसी सुख की प्राप्ति करने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि आध्यात्म आनन्द के समान अन्य कोई आनन्द नहीं है अतः जहां तक जीवन के व्यावहारिक स्वरूप का प्रश्न है महाकवि उसमें परम-प्रवीण है, परन्तु जीवन की सैद्धान्तिक व्याख्याएं व्यावहारिक जीवन के साथ मेल नहीं खाती, उनके जीवन पद्धति का निरूपण करने में महाकवि अश्वघोष असावधान नहीं थे। वे जनसंघ के पारखी थे, परन्तु जीवन की सामान्य पद्धति उन्हें इष्ट नहीं थी इसलिए उन्होंने स्पष्टरूपेण कहा है—‘माहात्म्यं न तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः’।¹⁹

सामान्यतः विनाश को प्राप्त होना ही माहात्म्यकारी नहीं है। इस प्रकार महाकवि अश्वघोष का सम्पूर्ण जीवन दर्शन सुदृढ़ सिद्धान्तों पर आधारित है। सामाजिक आदर्श एवं धर्म उनके जीवन-दर्शन का प्रधान तत्व है जिसकी छाप जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप पर पड़ी है। कवि के अनुसार धर्म आन्तरिक सद्गुणों के विकास पर आधारित है। मानसिक शान्ति प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति धर्म का दर्शन करता है। कवि ने प्रज्ञा, शील, समाधि तथा व्रत को धर्म के आधारभूत अंगों की श्रेणी में रखा है।²⁰

महाकवि अश्वघोष ने एक स्थान पर धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया है—“सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः।”²¹ बुद्धचरित-9/17 अर्थात् सब भूतों में दया ही धर्म है।

इस प्रकार विशिष्ट उद्देश्य धर्मचरण था। उनके

सामाजिक जीवन सम्बन्धी विचारों में भी धार्मिकता का समावेश मिलता है। अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि महाकवि अश्वघोष के काव्यों में सामाजिक आदर्शों, क्रियाकलापों एवं धर्म साक्षात्कार के साधनों का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संदर्भ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ. संख्या-683
2. सौन्दरनन्द-1/62
3. सौन्दरनन्द-16/31
4. सौन्दरनन्द-1/55
5. सौन्दरनन्द-2/15
6. सौन्दरनन्द-5/45
7. अश्वघोष-डॉ. विश्वम्भर नाथ तिवारी, पृ. 180
8. बुद्धचरित-6/10
9. सौन्दरनन्द-15/36
10. बुद्धचरित-6/9, सौन्दरनन्द-15/37
11. बुद्धचरित-6/10
12. अश्वघोष, डॉ. विश्वम्भर नाथ तिवारी, पृ. 181
13. बुद्धचरित-11/3
14. बुद्धचरित-11/4
15. बुद्धचरित-4/64
16. सौन्दरनन्द-11/17
17. सौन्दरनन्द-18/63-64
18. सौन्दरनन्द-2/34
19. बुद्धचरित-1/65
20. अश्वघोष-शारिपुत्र प्रकरण।
21. सौन्दरनन्द-11/39-60
22. सौन्दरनन्द-3/36
23. बुद्धचरित-7/30
24. सौन्दरनन्द-10/61
25. बुद्धचरित-9/38
26. बुद्धचरित-2/49
27. सौन्दरनन्द-3/11
28. सौन्दरनन्द-14/50
29. बुद्धचरित-4/91
30. बुद्धचरित-1/71
31. बुद्धचरित-9/17

—डॉ. नीमा जोशी

संविदा शिक्षक
संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय मुवानी
जनपद—पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड

‘कहानी का प्लॉट’ कहानी में चित्रित यथार्थ

—डॉ. जी. वी. रत्नाकर

साहित्य सुजन विविध भाषाओं और विधाओं में किया जाता रहा है। हिंदी की विभिन्न विधाओं कविता, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि के साथ-साथ कहानी भी एक सशक्त विधा है। किसी भी विधा में यथार्थ के चित्रण पर विशेष रूप से जोर दिया जाता है। बाद में इसने एक ‘वाद’ का रूप ले लिया। इसीलिए वर्तमान में ‘यथार्थवाद’ शब्द भी खूब प्रचलन में है। ‘यथार्थ’ और ‘यथार्थवाद’ शब्द की चर्चा करते हुए ‘अङ्गेय’ जी लिखते हैं, ‘यथार्थ और यथार्थवाद की चर्चा के पीछे अंग्रेजी शब्द के ‘रिएलिटी’ और ‘रिएलिज्म’ हैं। यह नहीं कि अंग्रेजी में भी इन शब्दों के साथ अर्थ संबंधी समस्याएँ नहीं जुड़ी हुई हैं, लेकिन अंग्रेजी से शब्द लेकर उनके हिंदी पर्याय प्रचारित करते समय हम मूल शब्दों के साथ जुड़ी हुई समस्याओं का आयात नहीं करते। इन कष्टकर अवयवों को वहाँ पीछे यानी अंग्रेजी में ही छोड़ आते हैं।’ यद्यपि यह ‘यथार्थवाद’ शब्द भारतीय संदर्भों में अनूदित होकर आया है और प्रयोग भी खूब हो रहा है। यह अंग्रेजी के ‘रियलिज्म’ का अनुवाद है। इस विषय में डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं, “यह यथार्थवाद एक दृष्टिकोण भी है और एक पद्धति भी। जहाँ तक दृष्टिकोण का संबंध है यह रोमांटिसिज्म, मिथकवाद और काल्पनिकता के विरुद्ध पड़ता है। पद्धति के रूप में इसमें चरित्र, स्थिति, क्रियाकलाप, आदि का चित्रण दृश्य जगत की जिंदगी के सदृश्य किया जाता है।” इसमें कोई संदेह नहीं है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण से किये जाने वाले लेखन में जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण किया जाता है।

हम यहाँ जिस कहानी की चर्चा करने जा रहे हैं वह कहानी है ‘कहानी का प्लॉट’। इसके लेखक हैं आचार्य शिवपूजन सहाय। आचार्य शिवपूजन सहाय जी पर कलक्टर सिंह ‘केसरी’ ने संस्मरण भी लिखा है। ‘केसरी’ जी की पुस्तक ‘अक्षर पुरुष’ में हिंदी की दस विभूतियों के संस्मरण हैं। इसी में एक संस्मरण ‘अजातशत्रु शिवजी’ भी है। इस संस्मरण में आचार्य शिवपूजन सहाय जी के व्यक्तित्व व कृतित्व पर चर्चा की गई है। कलक्टर सिंह ‘केसरी’ ने लिखा है कि एक बार भोजन के समय शिवपूजन सहाय जी ने ‘केसरी’ जी से कहा, “हाँ, तो केसरी जी, आज आपको राजपूती दिखानी होगी। आज रोटियों पर आपको उसी तरह टूटना होगा जिस तरह मुगल-सेना पर कभी राजपूत टूट पड़ते थे।” यह बात पढ़कर या सुनकर आप अवश्य ही हँस पड़ेंगे। कम से कम मुस्कुरा तो अवश्य ही देंगे। उन्हीं शिवपूजन सहाय की कहानी है ‘कहानी का प्लॉट’ जिसमें अक्षरशः यथार्थवादी चित्रण है। तत्कालीन समय और

परिस्थियों का भी विद्रूप चित्रण है। ‘कहानी का प्लाट’ शीर्षक कहानी में हिंदू समाज में नारी का क्या स्थान होना चाहिए? तिलक, दहेज जैसी सामाजिक बुराइयों पर करारा प्रहार किया गया है। इस बात में कोई सदेह नहीं है कि दहेज की समस्या प्रत्येक धर्म को मानने वाले समाज में व्याप्त है। इसी कारण नवयुतियों को सुयोग्य वर नहीं मिल पाता। समाज में अनाचार व पापाचार में वृद्धि भी होती है। कहानीकार यह बताता है कि उसके गाँव के पास ही एक छोटा सा गाँव है, उसी गाँव में एक मुंशी जी थे। उनके बड़े भाई थे जो दारोगा थे। दोनों अब इस नश्वर संसार में नहीं हैं। मुंशी जी की एक बेटी अवश्य है लेकिन वे उसका नाम बताना नहीं चाहते। इशारों में ही बात करते हैं लेकिन पाठकों को सहृलियत हो इसके लिए वे उसका नाम ‘भगजोगनी’ रखते हैं। कहानी में मुंशी जी की पुत्री को ‘भगजोगनी’ ही कहा गया है। मुंशी जी के भाई दारोगा थे इसीलिए इताके में उनका रौब तो था ही साथ ही साथ उनकी चलती भी थी। दारोगा जी खाने पीने के शौकीन थे। उन्होंने जो कुछ कमाया था उसे अपने जीवन में ही खत्म कर डाला। उनकी एक घोड़ी थी लेकिन उन्होंने जीते जी उसे नहीं बेचा। दरोगा जी की मृत्यु के बाद उनका श्राद्ध कर्म खूब धूमधाम से किया गया। इसके लिए मुंशी जी ने अपने बड़े भाई जो दारोगा थे उनकी घोड़ी को एक अंग्रेज अफसर के हाथों अच्छी खासी रकम पर बेच दिया। लेकिन समय ऐसा बदला कि पूछिये मत जब उनके पास खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी तो उनकी पत्नी के पांच लड़के हुए लेकिन सभी इस संसार से चले गए। अब बुढ़ापा आया तो एक बेटी पैदा हो गई। पैदा होते ही ‘भगजोगनी’ की माँ अर्थात् मुंशी जी की पत्नी स्वर्ग सिधार गई। भगजोगनी की स्थिति का चित्रण शिवपूजन सहाय इसी तरह करते हैं, “अभाग्यवश मैंने उसे देखा था। जिस दिन पहले-पहल उसे देखा वह करीब 11-12 वर्ष की थी। पर एक ओर उसकी अनोखी सुधराई और दूसरी ओर उसकी दर्दनाक गरीबी देखकर सच कहता हूँ—कलेजा काँप गया।” सत्यतः उसकी दर्द भरी जिंदगी का वर्णन सहाय जी ने बिल्कुल यथार्थवादी तरीके से किया है, जिसे पढ़कर आँखों में आंसू आ जाते हैं और जबान से यह निकल पड़ता है हाय रे गरीबी! वे लिखते हैं, “आहा! बेचारी उस उम्र में भी कमर में सिर्फ एक पतला-सा चिथड़ा लपेटे हुए थी, जो मुश्किल से उसकी लज्जा ढँकने में समर्थ था। उसके सिर के बाल तेल बिना बुरी तरह बिखरकर बड़े डरावने हो गए थे। उसकी बड़ी-बड़ी

आँखों में एक अजीब ढंग की करुणा-कातर चितवन थी। दरिद्रता राक्षसी ने सुंदरता-सुकुमारी का गला टीप दिया था।” गरीबी बड़ी खराब चीज होती है साहब! बड़ी खराब चीज होती है।

इस कहानी के काफी भाग को मुंशी जी के संवाद ने पूरा किया है। मुंशी जी से जब सहाय जी मिलने के लिए गए थे तो मुंशी जी ने सहाय जी से जो कुछ कहा था, उसे हू-ब-हू कहानी में लिखा गया है। इसमें जीवन की हकीकत, जीवन के यथार्थ को साफ तौर पर देखा जा सकता है। मुंशी जी कहते हैं, “यह गरीबी की मार इस लड़की की बजह से और भी अखरती है। देखिए इसके सिर के बाल कैसे खुशक और गोरखधन्धारी हो रहे हैं। घर में इसकी माँ होती तो कम-से-कम इसका सिर तो जूँओं का अड़ा न होता।...तेल तो एक बूँद भी मयस्सर नहीं। अगर अपने घर में तेल होता तो दूसरे के घर जाकर भी कंधी-चोटी करा लेती-सिर पर चिड़ियों का धोंसला तो न बनता...” मुंशी जी की इन बातों से घर के दारिद्र्य का साफ तौर पर पता चलता है, तेल नहीं तो सिर पर तेल कैसे लगे? तन पर इतना ही कपड़ा है कि जिससे शरीर को ढँक लिया जाय। इतना अतिरिक्त कपड़ा नहीं कि उसे झोली के रूप में इस्तेमाल कर लिया जाय। यह सत्य है और मानवीय प्रवृत्ति है कि जब हमारा बुरा समय चल रहा होता है तो हम अपने पिछले अच्छे समय को खूब याद करते हैं। भारतीय समाज में लड़की का विवाह कर पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। उसमें भी अगर गरीब घर की लड़की है तो समस्याएँ और भी ज्यादा बढ़ जाती हैं।

आलोच्य कहानी में भी ऐसा ही है। मुंशी जी बताते हैं, “कोई यह कहकर टाल देता कि लड़के की माँ ऐसे घराने में शादी करने से इनकार करती है जिसमें न सास है, न साला और न बरात की खातिरदारी करने की हैसियत। कोई कहता गरीब घर की लड़की चटोर और कंजूस होती है, हमारा खानदान बिगड़ जाएगा। ज्यादातर लोग यही कहते मिले कि हमारे लड़के को इतना तिलक-दहेज मिल रहा है तो भी हम शादी नहीं कर रहे हैं, फिर बिना तिलक-दहेज के तो बात भी नहीं करना चाहते।” विचार कीजिए! ये हैं हमारा समाज जिसके गुण गाते हम अघाते नहीं हैं। जहाँ कन्या का पूजन होता है जहाँ कन्या को देवी का रूप माना जाता है। वहाँ ऐसी हालत है।

लोग कहते हैं क्रोध नहीं करना चाहिए। लेकिन कभी-कभी क्रोध में भी सच्ची बात कह दी जाती है। मुंशी जी हिंदू धर्म में पैदा हुए और हिन्दू धर्म में बड़े भी हुए, फिर हिंदू में रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गए। वे हिंदू

समाज को भलीभांति जानते थे। इसीलिए वे कह उठते हैं, “साले हिंदू-समाज के कायदे भी अजीब ढंग के हैं। जो लोग मोल-भाव करके लड़के की बिक्री करते हैं। वे भले आदमी समझे जाते हैं और कोई गरीब बेचारा उसी तरह मोल भाव करके लड़की को बेचता है तो कमीना कहा जाता है।” मुंशी जी की बात में दम है कि देहज लेकर लड़के की शादी करना लड़के को बेचना ही है। लड़की वाला खरीदता है और लड़के वाले लड़के को बेचते हैं। एक सही आदमी, रईस आदमी समझा जाता है और दूसरा अपनी बेटी को बेचे तो कमीना कहा जाता है। दोनों के बेचने में अंतर भले ही है लेकिन क्रय-विक्रय दोनों जगह होता है।

अंततः उस 11-12 साल की युवती का विवाह एक अधेड़ 41-42 साल के व्यक्ति से होता है। उस व्यक्ति की पहली पत्नी मर चुकी होती है। ‘भगजोगनी’ दूसरी पत्नी के रूप में अपने सुसुराल में जाती है। इधर मुंशी जी भी एक साल में स्वर्ग सिधार जाते हैं। उसका विवाह उसके जोड़ के लड़के से हो, इस हेतु सहाय जी ने भी प्रयास किया था लेकिन असफल रहे थे। समय की बलिहारी देखिए कि उसका 41-42 साल का पति भी अब अर्थात् कहानी लिखने के समय में इस संसार में नहीं था। भगजोगनी का विवाह अपने सौतेले बेटे यानी उसके पति की पहली पत्नी से उत्पन्न पुत्र से हुआ। उसका सौतेला बेटा ही उसका दूसरा पति है। ये कहानी वास्तविक तो है ही समाज को आईना दिखाने वाली भी है। यद्यपि कोई यह कह सकता है कि यह समाज के नियम के विरुद्ध है कि भगजोगनी अपने सौतेले बेटे के साथ पति-पत्नी के रूप में रहे लेकिन यह सच है। आलोच्य कहानी वास्तव में दिल दहलाने वाली है। इस कहानी के विषय में विजय मोहन सिंह का यह कथन अवश्य ही उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं, “1924 में प्रकाशित आचार्य शिवपूजन सहाय की कहानी ‘कहानी का प्लाट’ एक अर्थ में हिंदी की पहली यथार्थवादी कहानी मानी जाएगी क्योंकि तब तक की अधिकांश कहानियाँ अपनी यथार्थवादी सामजिक चेतना के बावजूद, अंत में भावभीने आदर्शवाद या सुधारवाद की ओर मुड़ जाती हैं....कहानी का प्लाट का अंत स्तब्ध कर देने वाला है। ऐसा भयानक यथार्थबोध तब तो अकल्पनीय था ही...आज भी कम अकल्पनीय नहीं है।” इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस कहानी के जैसा अंत आज भी अकल्पनीय ही है। अकल्पनीय ही नहीं हमारा तथाकथित सभ्य समाज इसे आज भी स्वीकार कर पाने

की स्थिति में नहीं है।

यदि हम इस कहानी की भाषा की बात करें तो इसमें ग्रामीण परिवेश के शब्द आए हैं। इसके साथ ही लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है यथा—‘फूंक ताप’, ‘निवुआ नोन चटाना’, ‘धी के दिये जलाना’। ‘एक जून बत्तीस बटेर’, ‘थानेदार की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर हैं’, ‘किस्मत की फटी चादर का कोई रफूगार नहीं हैं’, ‘सुबह के चिराग’, अमीर की कब्र पर हुई गरीबी बड़ी जहरीली होती है। आदि। यहाँ शैली पर गैर करें तो भावात्मक के साथ-साथ पूर्वदीप्ति शैली (फ्लैश बैक) का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, ‘एक दिन वह था कि भाई साहब के पेशाब से चिराग जलता था।’ यहाँ भले ही बात लोकोक्ति-मुहावरे के तौर पर कही जा रही है। लेकिन इसमें पुरानी बातों को याद किया जा रहा है। आलोच्य कहानी वास्तव में एक वास्तविक कहानी है। इस कहानी में जो बाते आई हैं वे सच्ची घटना पर आधारित हैं। ये बात अवश्य है कि सामाजिक मर्यादा आदि को दृष्टिगत रखते हुए कहानीकार ने वास्तविक नाम नहीं बताया है।

संदर्भ

1. अज्ञेय : संपूर्ण कहानियाँ, अज्ञेय, सं. 2002, पृ. 8 (भूमिका), प्रकाशक, राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली.
2. वही पृ. 9 (भूमिका)
3. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, सं. 2010, पृ. 95, प्रकाशक, वाणी प्रकाशन दरियांगंज, नई दिल्ली.
4. गद्य के रूप, संपादक, डॉ. वंशीधर लाल, सं. 2012, पृ. 14, प्रकाशक, जय भारती प्रकाशन, इलाहबाद, उत्तर प्रदेश
5. गद्य सरित, संपादक, सुनील कुमार, सं. 2007, पृ. 14, प्रकाशक, ओरिएंट ब्लैक स्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद
6. वही, पृ. 15, 7. वही, पृ. 15-16, 8. वही, पृ. 16
9. वही, पृ. 16
10. बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, विजयमोहन सिंह, सं. 2005 पहली आवृत्ति, 2010, पृ. 162, प्रकाशक, राजकम्ल प्रकाशन प्रा. लि. दरियांगंज, नई दिल्ली
11. गद्य सरित, संपादक, सुनील कुमार, सं. 2012, पृ. 16, प्रकाशक, ओरिएंट ब्लैक स्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद

—डॉ. जी. वी. रत्नाकर

(एसोसिएट प्रोफेसर व अध्यक्ष)

हिंदी विभाग,

मौलाना आजाद नेशनल उद्यू यूनिवर्सिटी,

हैदराबाद, 500032

दिव्या माथुर कृत 'मेड इन इंडिया और अन्य कहानियाँ' संग्रह में प्रवासी चेतना के सामाजिक आयाम

—डॉ. सपना सैनी

साहित्य भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं होता है। साहित्य की प्रकृति ऐसी है कि इस को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। यह मनुष्य के अनुभव का प्रकटावा होता है। इस तरह भौगोलिक क्षेत्र की विभिन्नताओं में सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साहित्यकार साहित्य की रचना करता है। साहित्यकार दूर प्रदेशों में रहकर वहाँ के रहन-सहन, अपने आस पास के समाज, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनको अपनी रचनाओं का आधार बनाता है। देश से दूर रहकर वहाँ की धरती पर रह रहे लोगों की समस्याओं, उनकी आर्थिक स्थिति, मानसिक अनुभव, नैतिक मूल्यों की तोड़ फोड़, भाषा की समस्या अपने देश के प्रति प्रेम, पश्चिमी जीवन के प्रति खिंचाव को साहित्यकार वर्णित करता है। "डायस्पोरा शब्द का प्रयोग सामान्यः विश्व के विभिन्न देशों में फैले ऐसे नृजातिक समूहों के प्रवर्जन के लिये किया जाता है जिनकी समान संस्कृति और विरासत होती है"¹ इस तरह प्रवास का अर्थ अपने घर, देश से कुछ समय के लिए या हमेशा के लिए चले जाना और कहीं और जाकर बस जाना है अर्थात् हम कह सकते हैं कि अपनी मातृ भूमि या अपना देश छोड़कर बेगानी धरती पर अपने अस्तित्व की पहचान बनाना ही प्रवास है" पराइ धरती पर रोजगार की तलाश में या अधिक आर्थिक साधनों को प्राप्त करने की तलाश में अस्थाई तौर पर रहने वाले व्यक्ति को प्रवासी का नाम दिया जाता है'² द इनसाइक्लोपीडिया इंडिका के अनुसार, "प्रवास का अर्थ विदेश, अपना घर या देश छोड़ कर दूसरे देश में रहना है।"³ इस तरह आर्थिक साधनों और उच्च रहन सहन, दूसरे देशों की चकाचौंध से प्रभावित होकर दूसरे जगह वास करने वाले को प्रवासी कहा जाता है। चेतना शब्द संस्कृत की 'चिति' संज्ञा ने धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ अवबोध है। चेतना के पर्यायवाची शब्दों में इसे संज्ञा, चैतन्य, सुध-बुध, संज्ञान, समझ, होश हवास आदि है।⁴ लेकिन चेतना शब्द मात्र इन्ही शब्दों का पर्याय ना बनकर जागरण की एक निर्णायक शक्ति के रूप में उभरता है। इसमें संपूर्ण विश्व को देख परख कर उसे अपने अनुकूल बनाने की बुद्धि विद्यमान रहती है। चेतना मानस की एक विशेषता है। मन की वह वृत्ति या शक्ति है जिससे प्राणी को आन्तरिक अनुभूतियों, भावों विचारों और बाह्य

बातों का अनुभव होता है। हमारे मानस पटल का जब बाह्य परिस्थितियों से टकराव होता है और उस टकराहट से जो बोध होता है वही चेतना कहलाती है, ‘‘चेतना वह ज्ञानात्मक अनुभूति है जो मानव को विवेक सम्पन्न बनाती है। उसे युग बोध की दृष्टि प्रदान करती है।’’⁵ अंततः चेतना एक संवेदनशील अनुभव बोध है जो मानव को ज्ञान, बुद्धि, होश और निर्णय लेने की शक्ति की ओर ले जाता है। परिणामतः प्रवासी चेतना से भाव विदेशों में अस्थाई तौर पर रह रहे उन व्यक्तियों की मनोस्थिति है जो देश और विदेश की विभिन्न परिस्थितियों के तनाव में पैदा हुई विषादग्रस्त स्थितियों को अनुभव ही नहीं करते बल्कि उसमें विचरन भी करते हैं। इन्हीं विभिन्न परिस्थितियों में रहते हुए प्रवासी जो नई सोच, एहसास को अनुभव करता है उसी को प्रवासी चेतना कहते हैं।

नस्लवाद को racism भी कहते हैं। प्रजातीय पूर्वाग्रह, अर्थात् दूसरी प्रजाति या अन्देशीय संस्कृति के प्रति द्वेष एवं घृणा अपनी प्रजाति के प्रति अपरिमित लगाव और अपनेपन की भावना।⁶ नस्ली भेदभाव का अर्थ मनुष्य को धर्म, जाति, रंग, भाषा के आधार पर नीचा दिखाना है। नस्ली भेदभाव अंतराष्ट्रीय स्तर की एक प्रमुख समस्या है। रंग भेद और जाति भेद कई बार प्रमुख रूप से सामने आते हैं। प्रवासी मजदूरों के प्रति नफरत की भावना के रूप में यह भेदभाव सामने आता है। नस्ली भेदभाव का सशक्त उदाहरण ‘‘गूगल’’ नामक शीर्षक कहानी में मिलता है। जानम, प्रवासी भारतीयों को अपना दुश्मन मानती है और विदेशी गोरों को अपना हिमायती मानती है। सड़क पर घूमती हुई जानम (चूहिया) असुरक्षित महसूस करती है और भारतीयों को दुश्मन मानती है—‘‘थे ब्लडी इंडियांस तो हमारी जान के दुश्मन हैं। गोरों के मन में हमारे लिए कम से कम थोड़ी दया ममता तो है।’’⁷ ‘‘मेड इन इंडिया’’ शीर्षक कहानी में धर्मन्द अपने जीजा सतनाम को डम्ब अथवा मेड इन इंडिया जैसे नामों से पुकारता है। इस तरह विशेष जाति या नस्ल से सतनाम को सम्बोधित करता है। सतनाम का मन अंदर ही अंदर से कचोटता है। ‘‘धर्मन्द अपने जीजा को ‘डम्ब’ अथवा ‘मेड इन इंडिया’ कह कर चिढ़ाता रहता, अवमानना से सतनाम की नसें चटक-चटक उठतीं। जसबीर उसकी कोई शिकायत सुनने को तैयार नहीं थी। राजकुमारी एकाएक ऐसी चुड़ल में बदल गई थी, जिसे आधी रात सम्भोग के सिवा कुछ नहीं सूझता था।’’⁸

इसी तरह धर्मन्द बार-बार सतनाम को कई जाति सूचक नामों से पुकारता है और उसका हंसी मजाक उड़ाता है—‘‘ओह माइ गौड़’। एन्ना मैंगा जग किन्ने सुट्टया?

बीजी ने पूछा। मेड इन इंडिया ने; सतनाम की ओर इंगित करते हुए धर्मन्द बोला। की मतलब? वाट दू यू मीन? जसबीर ने धर्मन्द को धूरते हुए पूछा। ‘‘मेड इन इंडिया, चीप एंड अनरिलाइबल; धर्मन्द फुसफुसा कर हंस दिया।’’⁹ ‘‘3000’’ शीर्षक कहानी में 2092 के मई महीने में बैडफर्ड बर्मिंघम और लंदन में उपद्रवियों को पुलिस ने दबा दिया और सैकड़ों उपद्रवियों को जिनमें छात्रों की संख्या अधिक थी। इनमें राधा, लाना, रघु, लाएनल प्रवासी भारतीय भी थे। ब्रिटिश सरकार के जुल्मों से पीड़ित राधा अपने को ब्रिटिश नागरिक बताती है—‘‘हम भी ब्रिटिश नागरिक हैं, आप हमारे साथ ऐसा सुलूक नहीं कर सकते।’’ राधा के ऐसे जुल्मों पर आततायी, उस पर हंसते कि जैसे वह पागल हो गई थी।¹⁰ व्यक्ति का परिवेश ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। व्यक्ति एक विशेष स्थान पर जन्म लेता है, वहाँ पर उसका पालन पोषण होता है। वहाँ पर अपना जीवन व्यतीत करता है। लेकिन जैसे ही परिस्थिति वश उसे अपना वो विशेष स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर रहना पड़ता है तो उसे कई समस्याएं घेरती हैं। जो उसे आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों से प्रभावित करती हैं। लेखिका ने बदलते परिवेश को बड़े सूक्ष्म रूप से चित्रित किया है—‘‘मेड इन इंडिया’’ शीर्षक नामक कहानी में सतनाम शादी करके जब लंदन पहुँचता है तो वहाँ का बदला हुआ माहौल उसे अकेलेपन का एहसास दिलाता है। धीरे-धीरे वह उसी रंग में रंग जाता है। लेकिन वह अपने आप को पहचान ही नहीं पाता है कि बढ़ती हुई दौड़ में वह अपने सम्मान को कहीं खो चुका है—‘‘सतनाम के लंदन पहुँचते ही हालात तेजी से बदलने लगे। परस्पर-विरोधी मनोभावों से जूझते हुए सतनाम ने अपने को एक ऐसे परिवेश में पाया जिसके लिए वह बिल्कुल भी तैयार न था।’’¹¹

‘‘वाराती धराती और सैम’’ शीर्षक नामक कहानी में माता-पिता की मृत्यु के बाद सैम विदेश से भारत चाचा-चाची के पास लौट आता है। लेकिन भारत के माहौल में वह अपने आप को ढाल नहीं पाता है—‘‘एक पूरा हफ्ता सैम अपने कमरे में लेटा छत और दीवारें ताकता रहा। चाचा-चाची, अनंत और मीरा सब के सब सैम की टहल के लिए एक टांग पर खड़े थे। किन्तु उसे लग रहा था कि वे सब उसकी निजी जिन्दगी में हस्तक्षेप कर रहे थे।’’¹² इस तरह परिवेश बदलने से मनुष्य अजनबी कटा हुआ सा महसूस करने लगता है। अपने रहन-सहन, आस-पास में आए बदलाव के कारण उसके जीवन में कई परिवर्तन आते हैं। इसलिए सामंजस्य विठाने में कई मुश्किलें सामने आ जाती हैं।

मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रवास करता

है। प्रवास के दौरान वह कई कठिनाईयों का सामना करता है। वह शरीरिक तौर पर तो वहां मौजूद होते हैं लेकिन उनकी आत्मा हमेशा उनके बतन के साथ जुड़ी रहती है। प्रवास में आधुनिकता की दौड़ से उत्पन्न अकेलापन, अजनबीपन, नस्ली भेदभाव उसे अपने बतन के प्रति मोहित करते हैं। अपनों से दूर जाने पर जो मानसिक पीड़ा उन्हें मिलती है वह हमेशा बतन के प्रति मोह को जगाए रखती है। ‘मेड इन इंडिया’ शीर्षक कहानी में सुसाराल बालों के बुरे बर्ताव के कारण सतनाम कभी भी इस बतन का नहीं बन पाता। बात-बात पर उसे अपने बतन की याद आती है। बतन की संस्कृति रहन सहन उसे हमेशा अपनी तरफ आकर्षित करता है—‘होर किन्नी रोटी लेगा, पुत्तर; नाश्ते अथवा खाने के बक्त बीजी पूछती तो सतनाम के तन बदन में आग लग जाती। उसे अपनी माँ की याद आती जो बहनों को रोटी-पाठे गिनने पर भी डांटती थी। चाहे बची हुई रोटियां गय को ही क्यों न डालनी पड़े।’¹³ ‘मेड इन इंडिया’ शीर्षक कहानी में सतनाम अपने घर, परिवार, वहां की संस्कृति को भूल नहीं पाता है। विदेश में यह कमी उसे हर पल खलती है—‘जब से मैंने अपना घर छोड़ा मुझे आज तक कभी पेट भर रोटी भी नसीब नहीं हुई। मैं अपने मम्मी-पापा और बहनों से बात करने को भी तरस गया हूँ। आज तक बाउजी ने मुझे कभी पाँच पौँड तक नहीं दिए कि मैं’¹⁴ ‘3000’ शीर्षक कहानी में भी ब्रिटेन में बसे जैन्नी और पीटर जो कि किन्हीं आर्थिक समस्याओं का सामना करते हैं। लेकिन फिर भी वह अपने आप को और बच्चों को वहां स्थापित करने के लिए वहां बने रहते हैं। पर अपने देश में काटे हुए दस दिन उन्हें स्वर्ग की तरह लगते हैं—‘भारत में गुजारे वे दस दिन पीटर और जैन्नी के दिमाग में एक सुंदर सपने की तरह सुरक्षित थे। काश कि भारत सरकार ने उन्हें कुछ देर और रुकने की मोहलत दी होती। पेट भर-स्वादिष्ट भोजन, अच्छी शराब और आरामदायक बिस्तर; उन्हें लग रहा था कि वे जन्मनाम में थे।’¹⁵ ‘जहर मोहरा’ शीर्षक कहानी में महिका विदेशी पति के संबंधों से तंग आकर अंदर ही अंदर घुटती रहती है। इन सब के बीच वह अपने को अकेला महसूस करती है। अपने बतन के प्रति उसकी ललक बनी रहती है कि कब वे अपने बनारस में अपने परिवार के पास पहुँच जाए और इन सब से निजात ले—‘पापा, प्लीज मुझे ले जाओ यहां से। महिका अपने मोबाइल पर पिता के नंबर का बटन दबाते दबाते रुक गई थीं, इस बार वह पापा को दिक नहीं करेगी, यह मामला वह नहीं सुलझा पाएंगे। अपनी घुटी हुई हिचकियों की वजह से वह सांस भी नहीं ले पा रही थी।’¹⁶

दिव्या माथुर ने सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह को अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। व्यवस्था अगर ठीक हो तो तभी समाज सही रूप से चलता है। अगर व्यवस्था के संचालन में ही उथल पुथल हो तो व्यक्ति उसे सही करने के लिए या उसका सही रूप पाने के लिए विद्रोह करता है। लेखिका ने प्रवास के दौरान अव्यवस्था के इस रूप को बड़े सशक्त रूप से अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। ‘गूगल’ कहानी में प्रयोगशाला में मैमल्स पर हो रहे शोध पर विद्रोह करती हुई जानम (चूहिया) वैज्ञानिकों को कोसती है। अपनी जाति पर हो रहे अनाचार का वह विरोध करती है—‘मैं तो उस ललमुहें क्लैरेंस कुक-लिट्टल को दोष देती हूँ जिसने 1909 में घोषणा की थी कि प्रयोगशाला के लिए हमसे अच्छा प्राणी और कोई नहीं; जानम वे भी क्या करे? जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान के लिए हम जैसे सस्ते मैमल्स बहुत उपयोगी हैं।’¹⁷ ‘3000’ शीर्षक नामक कहानी में ब्रिटेन में प्रवासियों के साथ हो रहे बुरे व्यवहार के प्रति विद्रोह सामने आता है। दुष्ट सरकार के प्रति उनका निराशा भरा भाव विद्रोही तेवर सामने रखता है। पीटर जैन्नी जिन्होंने अपने जीवन के कई वर्ष विदेश में गुजारे लेकिन वह अपने बच्चों के लिए कुछ भी नहीं बना पाए। अच्छी शिक्षा, सुविधाओं से भी सरकार द्वारा उन्हें वंचित रखा गया। यहां तक की उपद्रवियों में भी उन्हें दोषी करार दिया गया—‘ओह डियर पीट, तुम शायद ठीक कह रहे हो।’ यदि हमें अपनी जानें गंवानी ही है तो क्यों न हम इस दुष्ट सरकार को हिला कर दम तोड़े। दो एक बम फोड़ दें इन कम्बख्तों के सिर पर, है न पीट? जैन्नी ने जवाब दिया तो पीटर की आखे चमक उठी।’¹⁸ इस तरह व्यवस्था में मची उथल पुथल ही व्यक्ति को विद्रोही बनाती है। यही विद्रोह व्यवस्था में मची हलचल को ठीक करने में अपना योगदान डालता है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ठीक न होने पर समाज की आर्थिक पर प्रभाव पड़ता है। दिव्या माथुर ने देश की आर्थिक स्थिति को वर्णित करने का प्रयास किया है। जहां पर भूख व्यापक है। जरूरतें मानव जीवन की पहली शर्त है। अगर व्यक्ति की मुख्य जरूरतें ही पूरी नहीं होगी तो छीना-झपटी में समाज में अराजकता फैलेगी। ‘गूगल’ नामक कहानी में गरीब व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को दिखाया गया है कि किस तरह वह भूख से बिलखते सड़कों पर ही रहते हैं—‘गठरियों में लिपटे न जाने कितने लोग सड़कों पर सोते मिलते, जिनके सिरहाने या पैताने हमें बचे-खुचे खाने के टुकडे भी मिल जाते थे।’¹⁹ ‘बाराती घराती और सैम’ कहानी में भारत की आर्थिक स्थिति सामने आती है कि किस तरह भूख से व्याकुल

बच्चे कढ़ी में पड़ी चप्पल तक चाट लेते हैं और खाने के लिए छीना-छपटी करते हैं—“तभी एक मरगिल्ला सा फटेहाल बच्चा भीड़ में से निकलकर सैम की ओर आया और कढ़ी से सनी चप्पल उठाकर चाटने लगा। चप्पल चाटकर उसने बारतियों की ओर फेंक दी और फिर वह सैम की पत्तल में रखे खीर से भरे दोने को उठाकर भागा।”²⁰ ‘3000’ शीर्षक कहानी में ब्रिटेन में बसे गरीब लोगों की आर्थिक स्थिति का वर्णन है कि किस तरह भूख की तड़प से वह लोग मरने को विवश हो जाते हैं। ब्लैक रिसेशन के उपरान्त ब्रिटेन में लोगों की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति का चित्रण है—“सुदूर जंगल में बनाई गई कौलोनियों में बसे गरीब और बीमार लोग भूख से तड़प-तड़प कर मरने को छोड़ दिए गए थे, जो यदा-कदा उपनगरों द्वारा फैके हुए शिशुओं के अलावा अपनी ही बस्ती में पैदा हुए अवांछित शिशुओं के गोशत पर निर्भर थे।”²¹ बलात्कार समाज के लिए एक कलंक है। अपनी हवस को पूरा करने के लिए पुरुष स्त्री के साथ निर्दनीय व्यवहार करते हैं। बलात्कार की शिकार नारी को समाज में सम्मानित दर्जा नहीं दिया जाता है। साथ ही उसे कई दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। बलात्कार जैसी समस्या पर भारतीय विचारधारा के यथार्थ को स्पष्ट किया है नारी की इस समस्या के प्रति लेखिका ने व्यक्ति को सचेत किया है। ‘गुंडे’ शीर्षक नामक कहानी में बलात्कार के बाद नारी की दयनीय स्थिति समाजे आती है। समाज में इज्जत खो जाने के डर से किस तरह परिवार वाले बुरा व्यवहार करते हैं। इच्छा के वापिस घर आने पर परिवार वाले उसको बुरी नजरों से देखते हैं। समाज के डर से वह उसे दूर रिशेदारों के घर भेज देते हैं—“वह सोच रही थी कि घर जाकर माँ के सीने से लग कर वह फफक-फफक कर रोएगी और सब ठीक हो जाएगा, किन्तु उन्होंने तो बेटी की तरफ देखा तक नहीं जो उसे डिक्की में ठूंसकर ले भागे थे। वे गुंडे थे, किन्तु ये सब तो उसके अपने थे।”²² समाज में नारी के साथ हो रहा बुरा व्यवहार कहीं ना कहीं उसे मानसिक पीड़ा देता है जिससे कि वह निराश, कुठित हो जाती है और कई बार विद्रोही बन जाती है।

दिव्या माधुर प्रवासी साहित्य को सामने लाने वाली सशक्त हस्ताक्षर हैं। प्रवासी जन जीवन के यथार्थ को इन्होंने अपने साहित्य के द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। प्रवासी व्यक्ति की कठिनाईयों, उनके विकासशील जीवन, दो संस्कृतियों के बीच अंतर, नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति अपने साहित्य के द्वारा की है। इसके साथ ही

प्रवासी जीवन की विडम्बनाओं को चित्रित किया है। वहीं सामाजिक संरचना की जकड़ में संवेदनाओं और भावनाओं को भी साहित्य के द्वारा सामने रखा है। अंततः दिव्या माधुर कृत ‘मेड इन इंडिया और अन्य कहानियां’ संग्रह में प्रवासी चेतना के सामाजिक आयामों की प्रधानता मिलती है। पराई धरती पर हो रहा भेदभाव व्यक्ति को जहां खोखला कर देता है, वहीं अपने आस पास के वातावरण में आए बदलाव के कारण कई बार वह विद्रोही बन जाता है।

संदर्भ-सूची

1. समाज विज्ञान विश्वकोश, जे. पी. सिंह (संपा), (नई दिल्ली : पी. एच. आई. लनिंग प्राइवेट लिमिटेड- 2009), पृ. 171
2. जसविंदर सिंह गुराया, प्रवासी पंजाबी कथा चितन, (चंडीगढ़ : लोकगीत प्रकाशन, 2012), पृ. 14
3. द इनसाइक्लोपीडिया इंडिका, नगेंद्रनाथ वसु, खण्ड-14 (दिल्ली : बी. आर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन), पृ. 06
4. विद्यालंकार धर्मचंद्र, नयी कविता में प्रगतिशील चेतना, (दिल्ली : वीर साहित्य प्रकाशन, 1995), पृ. 22
5. हरि शर्मा, लोक चेतना और हिन्दी कविता, (दिल्ली : निर्मल पब्लिकेशन्स, 1997), पृष्ठ 12
6. समाजविज्ञान विश्वकोश, जे. पी. सिंह (संपा), (न्यू दिल्ली : पी. एच. आई. लनिंग प्राइवेट लिमिटेड, 2009), पृ. 507
7. दिव्या माधुर, मेड इन इंडिया और अन्य कहानियां, (नई दिल्ली : हिन्दी बुक सेंटर, 2013), पृ. 7
8. वही, पृ. 23
9. वही, पृ. 24
10. वही, पृ. 98
11. वही, पृ. 23
12. वही, पृ. 88
13. वही, पृ. 26
14. वही, पृ. 29
15. वही, पृ. 99
16. वही, पृ. 148
17. वही, पृ. 10
18. वही, पृ. 103
19. वही, पृ. 09
20. वही, पृ. 91
21. वही, पृ. 97
22. वही, पृ. 202

—डॉ. सपना सैनी
मकान नं. एच-3/1507, चौधरी हरी सिंह नगर
गली नं. 3, जुडे नगर फाटक के पास,
अमृतसर, पंजाब पिन-143001

समकालीन हिन्दी कविता के सन्दर्भ में समकालीनता

—रघुनन्दन महापात्र

वह कविता जिसमें जीवन की विविधतापूर्ण परिस्थितियों के प्रति सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में सजग व्यक्ति की भाषागत संवेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है वह समकालीन कविता है। जब हम साहित्य इतिहास के किसी युग को रीतिकाल या आधुनिक काल के रूप में पृथक करते हैं तो आखिरकार हम रीति या आधुनिकता जैसे किसी संबंध-सूत्र के जरिए कुछ समकालीन रचनाकारों को ही इकट्ठा करते हैं और उनको हम उनके जीवनकाल से नहीं अपितु उनकी रचनाओं की प्रवृत्तियों से निर्धारित करते हैं। डॉ रवीन्द्र भ्रमर ‘समकालीन’ शब्द के तीन अर्थ कहते हैं—एक तो काल विशेष से संबद्ध, दूसरे व्यक्ति विशेष के काल-यापन से संबद्ध और तीसरे साहित्य समाज अथवा प्रवृत्ति विशेष से संश्लिष्ट कालखण्ड।¹ इनमें से अगर प्रवृत्ति के आधार पर समकालीन की बात करें तो समकालीनता की परिधि और चौड़ी हो जाती है। कुछ कुछ स्तरों पर निराला जैसे कवि भी समकालीन प्रमाणित किए जा सकते हैं। काल विशेष के आधार पर मोहम्मद रफी और अज्ञेय की चर्चा हो सकती है। समकालीन कविता का मूल आधार साम्प्रतिक दौर का यथार्थ चिन्तन है। जिस कवि ने अपने सामयिक चीजों को अपनी कविता में स्थान दिया है, अपने समकाल को जाना है, अपने समय की चुनौतियों का जिक्र अपनी कविताओं में किया है, उनको समकालीन कवि कह सकते हैं।

कथ्य की दृष्टि से समकालीन कविता अपने समय के संघर्षों की, विडम्बनाओं की, अंतर्विरोधों की कविता है और इन संघर्षों की, बिडम्बनाओं की, अंतर्विरोधों की पहचान करना तथा कहीं न कहीं इनसे लोहा लेने का संकल्प भी इस कविता की आधारशीला है जिसमें तत्कालीन कठिनाइयों तथा चुनौतियों का जिक्र रहता है उसमें लड़ते, संघर्ष करते, बौखलाते, घबराते, तड़पते, अकुलाते, ठोकर खाते, ठगे जाते लोगों की, घिसते, छिलते, परेशान, जर्जर लोगों की एक तरह से गाथा है। समकालीन कविता किसी खास विचारधारा से संपृक्त नहीं है बल्कि संश्लेषित भावों का एक समुच्चय है जो इस कविता को खड़ी करता है। समकालीन कविता यथार्थ के धरातल पर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में आत्मचेतस व्यक्ति की भाषागत संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है, जो जीवन-संघर्ष में विभिन्न रागात्मक बोधों व मानव-मूल्यों, मानवाधिकार के सृजनात्मक पक्ष की पहल ही नहीं करती है, बल्कि प्रतिबद्ध रूप से सामाजिक विकास के वर्गीन सौदर्यात्मक संसार की पक्षधर भी है।² वह केवल उत्तेजना से भरी हुई मनोदशा का उद्गार मात्र न हो कर वर्गीय सौदर्यबोध का परिचायक भी

है। समकालीन कविता में यथार्थ के प्रतिविम्ब के साथ साहित्य और समाज के व्यंग्यात्मक परिदृश्य को जाना जा सकता है। इस आंदोलन का ‘समकालीन कविता’ नाम रखने वाले डॉ विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों में—“समकालीन कविता में, जो हो रहा है—का सीधा खुलासा है। इसे पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते बौखलाते, तड़पते, गरजते तथा ठोकर खाकर सचेत वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।”³ रोहिताश्व लिखते हैं—“समकालीन कविता पूर्णतया किसी विचारधारा की कविता न हो कर एक भाव समुच्च्य बोध की कविता रही है। छायावादी-रागात्मक बोध की कविता से लेकर क्रांतिदर्शी चेतना की प्रवृत्तियों को कोई भी काव्य पाठक समकालीन कविता में पा सकता है। सपाट बयानी, मुक्त छंद, लम्बी कविताओं का रचना विधान, गद्य-गीत, नवगीत, गजल, सॉनेट आदि सभी रूप-विधानों को आप समकालीन कविता में तलाश कर सकते हैं।”⁴

एक अनोखी बात यह भी है कि जैसे इससे पहले की कविता में एक केन्द्रीय भाव स्वर को पहचाना जा सकता था और जिससे पूरे युग की कविता की दिशा को समझने के लिए एक सहूलियत होती थी वैसा इस दौर की कविता के साथ नहीं है। किसी केन्द्रीय रूपक की गैर-मौजूदगी में कुछ छोटे-बड़े रूपकों के इस्तेमाल कविता में हुए हैं। कुछ कविताएँ हालांकि ऐसी भी हैं जो अपनी सामाजिकता के दायित्व से नजर बचाकर, इन पचड़ों में से पृथक रह कर भी संतोष कर लेती हैं। परन्तु अपने समय के मुख्य अंतर्विरोध को पहचानने और मानव के संघर्षों को अभिव्यक्त करने की कोशिश में एक केन्द्रीय रूपक की तलाश की कोशिश में कविता ने अलग अलग प्रकार के कई रूपक गढ़े हैं। ये रूपक कभी कभी ऐसे लगते हैं कि इनका मौजूदा समाज और राजनीति से सरोकार नहीं है। मगर इनमें गहराई में उत्तर कर समझा जाए तो वही रूपक अपने सामाजिक होने, राजनीतिक होने की गवाही देते हैं। ऐसे में किसी एक कवि रचनाकार की रचनाओं से समूचे दौर को समझ पाना संभव नहीं हो सकता। ये रूपक कई सारे कवियों की कविताओं में टुकड़ों में बैंटा हुआ है। इन सबको जोड़ कर एक पूरा पोट्रेट बन सकता है। समकालीनता का सतही अर्थ है—अपने समयकाल का। इसके पर्याय के रूप में युगीन, समसामयिक की तरह कई नाम प्रचलित हैं। कविता साधारणतः युगीन संदर्भ से उपजती है जिसमें बीते का बखान और भविष्य की ओर इशारा भी युगीन संदर्भ से जुड़कर ही आते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि तमाम

रचनाओं में कमोबेश समकालीनता होती है। अगर हम अपने ध्यान की धुरी को केवल साहित्य पर रखें तो एक स्वाभाविक प्रश्न आ खड़ा होता है कि क्या ‘आदिकाल’ समकालीन नहीं था या ‘भक्तिकाल’ समकालीन नहीं था या रीतिकाल के कवि समकालीन नहीं थे? ‘समकालीन’ दो शब्दों से मिलकर बना है; ‘सम’ और ‘काल’। मतलब जो अपने समय के साथ साथ हो। अंग्रेजी में ‘समकालीन’ के लिए CONTEMPORARY शब्द प्रचलित है। दोनों का अर्थ बराबर है। हर युग का साहित्य कमोबेश अपने समय की गवाही देता है, हो सकता है वह एक धीमे स्वर में हो या सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में। प्रसंग के अनुरूप अगर मौजूदा दौर की वास्तविकताएँ, संघर्ष, आनंद-विषाद आदि आ गए तो ठीक और यदि न आ सके तो ईश्वर, अध्यात्म और रहस्य उपस्थित भावधारा के इतर विषय भी तो नहीं। अदृश्य, रहस्य की साधना करो और दृश्यमान वस्तुएँ आप सध जाएंगी। आदिकाल की यही उल्टी धारा चली, भक्तिकाल में ऐसी उल्टी तो नहीं पर पूरी सीधी भी नहीं चली। शृंगार-मनोरंजन केंद्रित रीतियुगीन साहित्य दरबारी भावनाओं के अनुरूप था और इस माने में समकालीन था। आधुनिकता के प्रमुख गुण हैं—वैज्ञानिकता, तर्क और भौतिकता। आखिरी के दो सौ वर्षों का हिन्दी साहित्य ज्यादातर इन्हीं गुणों से ओत-प्रोत है और यह परिवर्तन साहित्य के अंदर से हुआ स्वाभाविक परिवर्तन नहीं था बल्कि पूरी दुनिया में हो रहे बदलाव, विज्ञान की प्रगति, नए-नए आविष्कार, प्रतिभावान चिंतकों, नए युगांतरकारी विचारों और जमाने से चली आ रही अलौकिक स्थापनाओं तथा आस्था में संशय आने की वजह से संभव हुआ। आप के द्वारा जिया हुआ सच को दर्शन और साहित्य की धुरी पर लाना है आधुनिकता। नवजागरण के काल में लगभग सारे साहित्यकार समाज के संघर्षों और व्याप्त समस्याओं से सरोकार रखते हैं। इस तरह से भारतेन्दु काल भी समकालीन था। छायावाद में निराला की ‘जूही की कली’ से ‘वह तोड़ती पथर’ तक का सफर। समासयुक्त संगीतमय कविता सृजन के समांतर में ‘कुकुरमुत्ता’ की तरह व्यंग्ययुक्त जनवादी कविता भी रखते थे। छायावाद में प्राचीनता से अनुराग है, वर्तमान का साथ है और भविष्योन्मुखता है। छायावाद के पश्चात आए प्रगतिशील आंदोलन ने दौर को डट कर सामना किया। यह आंदोलन समकालीनता के साथ इतना प्रतिबद्ध रहा कि और किसी भी श्रेष्ठता से नजर फेर कर केवल जनता की बात करता हुआ आगे बढ़ा। कड़ी प्रतिबद्धता का एक पहलू यह भी है कि इसकी वजह से इसका दायरा जैसे सिमट कर रह गया

और आगे धीरे धीरे इसमें नारेबाजी समा गई। और यही प्रगतिशील साहित्य आंदोलन समकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि बनी। इसके उपरांत प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता, युयुत्सावादी कविता, विचार कविता, प्रतिबद्ध कविता, वाम कविता, जनवादी कविता आदि अच्छे और बुरे दौर आए लेकिन इन सबमें व्यक्ति, समाज, संस्कृति और राजनीति से जुड़े मुद्दे ही प्रधान रहे। रहस्य, अध्यात्म और उपदेशों के जिक्र छायावाद के आगे और नहीं हुए। प्रगतिशील आंदोलन तथा उससे आगे समाज में हो रहे हर गलत को उजागर करना और उसका विरोध करना ही ज्यादातर रह गया। यहां इन कालों के समकालीन पक्ष का रेखांकन और यह जानने का एक प्रयास है कि हर साहित्यिक दौर आप में समकालीन रहा है और यह प्रयास आवश्यक इसलिए है कि समकालीन हिन्दी साहित्य से उनके अंतर को स्पष्ट किया जा सके। ऐसे में ‘समकालीन’ शब्द भाव के स्तर पर पुरातन, मध्यकालीन, रीतिकालीन, आधुनिक में छायावाद आदि साहित्य में भी प्रवेश कर जाता है। अब सबात यह है कि जब सब साहित्य अपने समकालीन होते हैं तो आज नवीनतम हिन्दी साहित्य के लिए ही यह शब्द क्यों प्रचलित है? भरत प्रसाद लिखते हैं—‘लेकिन इन सारी बातों के बावजूद जैसे सुबह प्रकाश रखते हुए भी दोपहर नहीं कहला सकती; शाम अंधकार रखते हुए भी रात नहीं कहला सकती और आम ऊँचाई रखते हुए भी देवदार नहीं कहला सकता उसी तरह ये सारे आंदोलन समकालीन होते हुए भी समकालीन नहीं कहला सकते। इसका पहला कारण तो उनके प्रचलित कर दिए गये नाम हैं और दूसरा कारण समकालीनता को पूरी तैयारी के साथ, निश्चयपूर्वक, योजनावल्ल हो कर काव्यविमर्श का केन्द्र न बनाना है। यही वे कारण हैं जिसमें इन पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से जुड़े हुए कवियों का सृजन समकालीन कविता के अंतर्गत नहीं आएगा।’⁵ समकालीनता परंपरा से एकदम पृथक हो ऐसा जरूरी नहीं। परिवर्तित काल और परिवेश की अपनी जरूरतें होती हैं और कुछ अनिवार्यताएं होती हैं इसलिए उसमें नयापन तो होता ही है पर उसमें परंपरा का कोई सुन्न के होने की गुंजाइश भी रहती है। ‘...समकालीनता नवीनता और समसामयिकता का पर्याय मात्र नहीं है। आज लिखी गई रचना समकालीन हो ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं। लेखक अपने पूर्ववर्ती को बहुत कुछ रचाता पचाता है फिर भी कुछ ऐसा होता है जो अवशेष रह ही जाता है। इसी कारण रामायण और महाभारत के अवशेषों पर निरंतर नए ढंग से आज के युग-सत्य को उद्घाटित करने हेतु लिखा जा रहा है, चाहे वह राम की शक्ति पूजा हो, संशय की एक

रात हो, अंधायुग या महाप्रस्थान हो अथवा नरेन्द्र कोहली के उपन्यास हों।’’⁶

समकालीनता, आधुनिकता की भूमि पर स्थित एक कालखण्ड है। आधुनिकता का एक अंश है समकालीनता। मौजूदा नए हालातों में खुद को ढालना, खुद का संस्कार करना, लचीलापन रखना, ग्रहणशील होना, भविष्यन्युव होना, प्रगतिशील होना, ये सारे आधुनिकता के घोतक हैं। तो इस तरह कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक गतिशील वैचारिक प्रक्रिया है। आधुनिकता के बहाव में समकालीन कार्यकलाप घटते रहते हैं और संस्कारित, परिष्कृत हो कर अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक और अर्थनीति संबंधित विषयों पर उसका गौर रहता है। समकालीनता अपने समय में चारों ओर घट रही घटनाओं हलचलों से ही संबंधित है जबकि आधुनिकता में वर्तमान के लिए संस्कार है, भविष्य के लिए एक तैयारी है, उसमें एक दृष्टि है। आधुनिकता में एक संस्कार होता है रुढ़ जर्जर परंपराओं का तथा जो परंपराएँ स्वस्थ और प्रासंगिक हैं उनका सम्मान होता है मगर वर्हीं समकालीनता का परंपरा के साथ इस प्रकार का संबंध नहीं होता बल्कि समकालीनता यथार्थ के धरातल पर जो घटनाएँ घट रही होती हैं उनसे उसका बहुत बड़ा सरोकार होता है। बहरहाल एक और नजरिया है। कुछ इस कालखण्ड को आधुनिक युग के बाद का समय की तरह देखते हैं। वह इस कालखण्ड को उत्तर आधुनिकता का काल मानते हैं। ऐसे में समकालीनता को उत्तर आधुनिकता के शुरुआती दौर की तरह माना जा रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. समकालीन हिन्दी कविता, डॉ रवीन्द्र भ्रमर, पृ. 09
2. जदीद फिक्र : अदबी रुझानत (उर्दू), रोहिताश्व, पृ. 97
3. समकालीन कविता की भूमिका, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, प्रथम संस्करण, 1976
4. समकालीनता और शाश्वतता, रोहिताश्व, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2006, पृ. 60
5. कविता की समकालीन संस्कृति, भरत प्रसाद, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 20
6. समकालीन कविता प्रकृति और परिवेश, रतन कुमार पाण्डेय, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ. 157

—रघुनन्दन महापात्र

शोधार्थी

हिन्दी विभाग

तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारूर

आदिवासी संस्कृति और समाज का संघर्ष

—डॉ. राम बचन यादव

भारत की सदियों पुरानी संस्कृति, समाज और परम्परा का दूसरा नाम है—आदिवासी। रमणिका गुप्ता ने आदिवासी समाज को भारत का मूल निवासी और धरती का पुत्र कहा है। आदिवासी समाज के संघर्षों का स्वर्णिम इतिहास रहा है। वे हमेशा अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए प्रतिगामी शक्तियों से लड़ते रहे हैं। लेकिन इनके गौरवशाली इतिहास को हमेशा उपेक्षित किया जाता रहा और उसे मिटाने की कोशिश होती रही। आदिवासी संस्कृति और समाज तथा उनके जीवन संघर्षों पर बात करते हुए विजयदेव नारायण साही की यह कविता अनायास ही जेहन में उतर जाती है—“तुम हमारा जिक्र इतिहास में नहीं पाओगे/क्योंकि हमने अपने को इतिहास के विरुद्ध दे दिया है/छूटी हुई जगह दिखे जहाँ-तहाँ/या दबी हुई चीख का अहसास हो/समझना हम वहीं मौजूद थे”¹ कवि विजयदेव नारायण साही की यह पंक्तियाँ बयाँ करती हैं कि आम आदमी का कोई इतिहास नहीं होता है। उनका जीवन संघर्ष इतिहास के पन्नों में गुम हो जाता है। इतिहास तो सिर्फ तथाकथित मुख्यधारा के समाज और वर्चस्ववादी व्यवस्था का होता है। चूंकि, इतिहास का उपयोग सत्ताधारियों द्वारा अपनी श्रेष्ठता व वर्चस्व बनाये रखने के लिए किया जाता रहा है और आम आदमी का संघर्ष, प्रतिरोध हमेशा समाज की वर्चस्ववादी व्यवस्था अर्थात् इतिहास के विरुद्ध होता है; इसलिए आम आदमी का इतिहास के पन्नों में खो जाना स्वाभाविक है। भारत में इस वर्चस्ववादी संस्कृति और वर्णवादी संस्कृति का शिकार जितना स्त्री व दलित समाज हुआ है उतना ही आदिवासी समाज भी। इतिहास की आँखों से ओङ्काल रहा आदिवासी समाज अनादि काल से ही अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करता रहा है। रमना अल्हाड़ी, तिलका माँझी, दुखन माँझी, रुदन-कोंता मुण्डा, सिदो, कान्हू, चाँद, भैरव मुर्मू, विरसा मुण्डा, तान्त्या भील, गोविन्द गुरु, रानी रूपलियानी, तिरोज सिंह व अन्य क्रान्तिकारी आदिवासियों के नेतृत्व में हुए विद्रोह इसके उदाहरण हैं। आर्य, मुसलमान, अंग्रेज सभी ने इन्हें जंगली, भेड़िया, राक्षस आदि कहकर मनुष्यता की परिधि से दूर ही रखा। वर्तमान में भी काले अंग्रेजों, पूँजीपतियों व भ्रष्ट-तन्त्र की मिली-भगत से उन पर विकास का बुलडोजर चलाकर उनका सफाया किया जा रहा है। वनवासी, वन्य जनजाति, जंगली लंगोटिया, भूमिपुत्र, वनपुत्र, आदिपुत्र जंगल के अनाभिषिक्त राजा आदि अनेक नामों से आदिवासियों को संबोधित किया जाता रहा है। लेकिन वर्तमान समय में ‘आदिवासी’ शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले,

विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परम्पराओं से सजे और सदियों से जंगलों, पहाड़ों में जीवन-यापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव-समूह का परिचय देने के लिए किया जाता है। आज ‘आदिवासी’ शब्द के उच्चारण से ही हमारे सम्मुख खड़ा हो जाता है सदियों से शोषित-पीड़ित, विस्थापित जीवन जीने वाला, सोची समझी साजिश के तहत जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा मानव-समूह। आदिवासियों के इस वेदनापूर्ण इतिहास को रेखांकित करते हुए ‘महात्मा ज्योतिबा फुले’ ने ठीक ही लिखा है—“गोंड, भील, क्षेत्री ये पूर्व स्वामी/पीछे आये वहीं ईरानी/शूर, भील, मछुआरे मारे गए रारों से/ये गये हकाले जंगलों गिरिवनों में”²

किसी भी जाति, नस्ल समाज या देश की पहचान उसकी भाषा, संस्कृति व धर्म से बनती है। अगर किसी समाज या देश का अस्तित्व मिटाना हो तो उसकी भाषा व संस्कृति को पहले मिटाया जाता है। यही मानसिकता वर्चस्ववादी संस्कृति की भी रही है कि जब वह आदिवासियों की भाषा, संस्कृति व मूल धर्म खत्म नहीं होता, उनकी पहचान बनी रहेगी। इसीलिए सदियों से आज तक इनकी भाषा, परम्परा व इतिहासबोध को मिटाने की साजिश चल रही है। इतने शोषण और दोहन के बावजूद, इन्होंने कभी भी अपनी भाषा, संस्कृति और रीति-रिवाज का दामन नहीं छोड़ा। यही विशेषता आज भी इनके अस्तित्व को बचाये हुए है। सत्ताधारियों और धर्म के ठेकेदारों का प्रयास विफल ही सिद्ध होता रहा है। डॉ. वीरभारत तलवार सत्ताधारियों की इस गंदी मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—“ये सत्ताधारी वे चाहे गैर आदिवासी हों या आदिवासी इस बात से डरते हैं कि आदिवासी कहीं अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा के प्रति सचेत ना हो जाएं, अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक ना हो जाएं और आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भाषा से भरकर फिर से खड़ा ना हो जाएं। इसलिए सभी सत्ताधारी आदिवासियों की भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रति जानबूझकर एक उपेक्षापूर्ण रवैया बनाये रखते हैं। ये सभी आदिवासियों की अपनी पहचान, उसके आदिवासीपन से डरते हैं और चाहते हैं कि आदिवासी अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति को भूलकर सिर्फ बोझा ढोने, सड़के खोदने, मिट्टी काटने वाल कुली-रेजा के रूप में ही रहें।”³

वर्तमान समय में छट्टम विकास के नाम पर उनका शोषण और बढ़ गया है। उन्हें उजाइने के लिए भ्रष्ट नेता और धर्म के ठेकेदार राजनीति और धर्म को हथियार के रूप में आजमा रहे हैं। उन्हें सिर्फ विरासत में पहाड़, जंगल और

जमीन मिली है, आज उससे भी इन्हें बेदखल किया जा रहा है। आज चौतरफा एक सुनिश्चित साजिश के तहत उन्हें मुख्यधारा में आने से रोका जा रहा है। नई आर्थिक नीति ने तो मानो आदिवासियों को बेघर करने का कानूनन अधिकार ही दे दिया है। देश के संविधान ने तो जैसे देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हाथों में आदिवासियों का गला रेतने के लिए तलवार ही थमा दी है। इतनी यातना के बावजूद यह समुदाय अगर अपनी पहचान बनाये रखे हैं तो इसका कारण है उनकी अदम्य प्राणशक्ति और संघर्ष। आदिवासियों की पहचान इसलिए भी नहीं मिट पायी, क्योंकि उन्होंने अपनी सांस्कृतिक व ऐतिहासिक परम्परा का दामन कभी नहीं छोड़ा। उनके अन्दर इतिहास बोध व संघर्ष की चेतना आज भी उसी रूप में विद्यमान है, जैसे तिलका मांझी, बिरसा या तान्या भील के समय में थी। वह आज भी इन्हीं क्रान्तिकारियों को अपना आदर्श मानकर मुक्तिकामी संघर्ष की चेतना से भरा हुआ है। ‘भुजंग मेश्राम’ की ये पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं—‘बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा/धास काटती दराँती हो या लकड़ी काटती टाँगी/यहाँ-वहाँ पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण से/खेतों की बयार बनकर/कहीं से भी आ मेरे बिरसा/लोग तेरी बाट जोहते।’⁴

आज ईसाई व हिन्दू धर्म के ठेकेदार अशिक्षा, बेरोजगारी, भुखमरी तथा अन्य आर्थिक समस्याओं से ग्रसित आदिवासियों को अपना शिकार बना रहे हैं। इन्हें धर्मान्तरित कर इनके मूल धर्म ‘सरना’ को साजिशन खत्म कर देना चाहते हैं। झूठे प्रलोभनों व बेबुनियादी तर्कों का सहारा लेकर उन्हें अपनी ओर खींचने की कोशिश की जा रही है। आदिवासियों ने कभी भी धर्म परिवर्तन के प्रयास खुद से नहीं किये बल्कि इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया। ‘डॉ. गोविन्द गारे’ अपने एक लेख में इस तरह की मानसिकता पर सवाल खड़ा करते हुए लिखते हैं—“अकाल, बाढ़ तथा अन्य आर्थिक समस्याओं से पीड़ित तथा सर्वर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से सताए हुए आदिवासी, ईसाई बने हैं। अन्य आदिवासी जनता मिशनरियों के प्रलोभन का शिकर नहीं बनी। कुछ आदिवासियों ने ईसाई-धर्म स्वीकार किया है तो उसमें वे दोषी नहीं है।”⁵ आदिवासी समाज को अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे। उन्हें अपने अन्दर की हीन भावना को मारकर, अपने अन्दर आत्मसम्मान, संघर्ष व बेचैनी पैदा करनी ही पड़ेगी। उन्हें स्वाभिमान से जीना होगा, क्योंकि जो लोग अपना सम्मान नहीं करते उनका कोई सम्मान नहीं करता। उन्हें रमना, तिलका, तान्या, गोविन्द गुरु, बिरसा जैसे अनेकों आदिवासी क्रान्तिकारियों के जीवन संघर्ष को नस-नस में उतारना ही होगा। उन्हें

अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता व पहचान बनाने के लिए संगठित होकर खुद ही लड़ना होगा। सही मायने में तभी तमाम तरह के शोषण से मुक्ति संभव है। आदिवासी साहित्यकार हरिराम मीणा अपनी एक कविता में प्रतिरोध के इस स्वर को इस रूप में रेखांकित करते हैं—

बहरहाल अन्त में इतना ही कि “देखो तुम देख रहे हो/कि वे आ रहे हैं/तुम्हारी नसें तन रही हैं/तुम्हारी भुजाएँ फड़क रही हैं/तुम्हारे तीर-कमान तने हैं/तुम एकजुट हो/मगर तुम कुछ नहीं कर रहे/तुम आक्रमण कर सकते हो/मगर तुम डर रहे हो/आखिर क्यों-क्यों?”⁶—हरिराम मीणा।

संदर्भ

1. जो इतिहास में नहीं हैं—राकेश कुमार सिंह, भा. ज्ञानपीठ, पृ. 2005, पृ. 15
2. आदिवासी कौन, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन,

- नई दिल्ली, पृ. 2008, पृ. 27
3. कथाक्रम (पत्रिका), सं. शैलेन्द्र सागर, अंक अक्टूबर-दिसम्बर 2011, पृ. 14
 4. आदिवासी साहित्य यात्रा, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति 2012, पृ. 08
 5. आदिवासी विकास से विस्थापन, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति 2010, पृ. 296
 6. आदिवासी साहित्य यात्रा, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति 2012, पृ. 10

—डॉ. राम बचन यादव

प्रवक्ता (हिन्दी)

आदित्य नारायण राजकीय इंस्टीट्यूट कॉलेज, चकिया,

चन्दौली-232103

उत्तर प्रदेश

मानवीय मुक्ति का नया सौन्दर्यशास्त्र ‘यातना, संघर्ष और स्वप्न’

—डा. धर्मवीर यादव

दलित साहित्य मनुष्य केन्द्रित, मानव मुक्ति का मानवतावादी साहित्य है जो नकार की चेतना और अपनी अस्मिता की पहचान के साथ साहित्यिक सामाजिक आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह संविधान और जनतंत्रीय देश-काल की अपनी वैचारिकी और आधुनिक चेतना सम्पन्नता द्वारा मानव मुक्ति के साथ अभिव्यक्त होती है जिसके साथ दलित चेतना की मजबूत साहित्यिक धारा इँगित होना शुरू हो जाती है। इसी के साथ दलित साहित्य अस्तित्व में आता है। यह साहित्यिकी “समग्र रूप से अम्बेडकर दर्शन से विकसित हुई और यह दर्शन ही उसका मूल आधार है। अम्बेडकर दर्शन में दलित मुक्ति की अवधारणा की अभिव्यंजना ही वर्तमान दलित साहित्य की प्रतिबद्धता है। इसने नये सौन्दर्य शास्त्र को गढ़ा, जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांत पर आधारित है, इसी नये सौन्दर्यशास्त्र से हिंदी साहित्य का मूल्यांकन किया।”¹ दलित साहित्य में आत्मकथाएँ इसकी जमीन हैं। इन्हीं से निकलता और बनता है इसका सौन्दर्यशास्त्र। शरणकुमार लिंबाले दलित आत्मकथा की अनुभूति अभिव्यक्ति पर लिखते हैं, “आत्मकथा का अर्थ जो जिया है, भोग है और देखा है, इतने तक ही सीमित नहीं है यह अपितु जो जीवन यादों में समाया हुआ है, वही आत्मकथा है। ये यादें सच्ची घटनाओं से जुड़ी रहती हैं। कागज पर शब्दों का रूप लेकर ये यादें प्रतिभा के पैरों से चली आती हैं।”² अपने समाज के दुःख, दर्द, पीड़ा, दमन, यातना, संघर्ष और स्वप्न को मानवीय मुक्ति के सन्दर्भ में दलित अस्मिता और चेतना सम्पन्नता के साथ ये आत्मकथाएँ अभिव्यक्त करती हैं जो जाति और वर्णाश्रमी मूल्यों के आधार पर किए जा रहे ‘सुपर शोषण’ को दर्शाती हैं। इससे मुक्ति के लिए डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी को आधार बनाया है। दलित साहित्य मनुष्य और समाज की मुक्ति का साहित्य जो वैदिक काल से 1947 तक सभी मानवीय अधिकारों से पूर्णतः वर्चित रहा। जिस मनुष्य को गुरु, गुरुकुल, ज्ञान, संस्थान, संस्कार, और संस्थान की खास निर्मिति अर्थात् खास संरचना (Stracatur) में कभी भी प्रवेश नहीं दिया गया। उस मनुष्य के ‘श्रम’ और ‘जीवन संघर्ष’ पर पूर्णतः आनंदमय जीवन वर्चस्वशाली वर्ग ने जीया। इस क्रम में जो मनुष्य दुर्गति, दलन, दमन, उत्पाड़न, प्रताङ्गना, उपेक्षा, घृणा और शोषण का शिकार हुआ वही

“‘दलित’ हुआ। मानव प्रगति के इतिहास में एक ऐसा देश-काल आता है, जब चालाक और वर्चस्वशाली मनुष्य को ‘जन-साधारण’, चुनौती देते हुए क्रांति करके, रेडिकल चेंज़’ करते हुए वर्चस्वशाली वर्ग के वर्चस्व को उखाड़ फेंकने की कोशिशें तेज करता है। एकतंत्र पर जनतंत्र को स्थापित करते हुए उसे विकसित किया, जिसे ‘जनतंत्रीय-युग’ कहा गया। जनतंत्रीय युग में इस ‘दलित मनुष्य’ के साथ सभी मनुष्यों को सभी मानवीय अधिकार दिए गए जिसमें सबसे महत्वपूर्ण मानव मूल्य हैं, “समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व।” इस दलित³ मनुष्य के दुःख, दर्द, पीड़ा, दलन, दमन, यातना और शोषण के वेदना की रचनात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति “दलित साहित्य” है। “आह का उदात्त रूप अर्थात् दलित साहित्य।”⁴ हिन्दू सामाजिक संरचना में दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों को सभी मानवीय अधिकारों से पूर्णतः बंचित रखा गया। उसके मन-मस्तिष्क को गुलाम बना कर, ‘जाति’ और ‘वर्णाश्रमी मूल्यों’ को मनवाया और आत्मसात करवाया गया। इन शोषणकारी मूल्यों को अस्वीकार करने पर, उसे उन पर जबरदस्ती थोपा गया। इतना ही नहीं उनकी व्यावहारिक बुद्धि को भी कुंद कर दिया गया और उसे ज्ञान के सभी अनुशासनों में प्रवेश से दूर रखा गया। इस तरह मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग “गढ़ा और खड़ा” किया गया जो पूर्णतः “श्रम और सेवा” करने के लिए हो। इसी श्रमशील समाज का समाजशास्त्र हैं “वेद”。 जब से यह हिन्दू सामाजिक संरचना ‘गढ़ी’ और ‘खड़ी’ की गई तब से लेकर आज तक अर्थात् 1947 ई.तक के दुःख, दर्द, पीड़ा, दलन, दमन, यातना और वेदना को अभिव्यक्त करने वाला ‘दलित साहित्य’ एक ऐसे यथार्थ से साक्षात्कार करता है, जो हजारों-हजारों साल तक रचनाकारों की रचना का कभी भी विषय नहीं। ऐसी उफनती पीड़ा, अँधेरे कमरे की-सी जिंदगी में व्याप्त वेदना, अपमानित जीवन का संत्रास, दारुण गरीबी, विवशता और दीनहीन होने की वेदना की रचनात्मक अभिव्यक्ति ही ‘दलित साहित्य’ है। इसने ऐसे मनुष्य में दलित अस्मिता को पहचाने और सामाजिक विसंगतियों का प्रतिरोध करने का भाव जगाया है।

दलित साहित्य का लक्ष्य और उद्देश्य है—मनुष्यत्व अर्थात् समाज में मानव ही सत्य है इस बात की भावना-जगाना और उसे स्थापित करना जो शायद गौतम बुद्ध, कबीर और अखिल भारतीय भक्ति आन्दोलन (जो ‘मनुष्यत्व और प्रेम’ के संदेश का आन्दोलन था) से लिया गया है। यह डॉ. अम्बेडकर के मानव मूल्य के सपने “एक व्यक्ति : एक मूल्य के सिद्धांत”⁵ में विश्वास करती है।

इसी सिद्धांत पर आधारित मनुष्य केंद्रित यह साहित्य, मनुष्य के सुख-दुःख में समरस होते हुए, मनुष्य को ‘महान’ मानता है। “दलितों की वेदना ही दलित साहित्य की जन्मदात्री है। यह वेदना एक की नहीं, ना ही एक दिन की है। यह वेदना हजारों की है, हजार वर्षों की है।”⁶ यही कारण है कि दलित साहित्य ‘मैं’ की जगह ‘हम’ के रूप में व्यक्त होता है। इसीलिए यह अपने समाज के साथ व्यक्त होती है। सामूहिकता में ही मुक्ति खोजती है। इसमें व्यक्त वेदना, सारे दलित समाज की वेदना होती है। इसी कारण दलित साहित्य की वेदना ‘सामाजिक वेदना’ है। इस वेदना के गर्भ से दलित साहित्य में ‘नकार’ और ‘विद्रोह’ पैदा हुआ। अपने ऊपर लादी गई अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध, यह ‘नकार’ और ‘विद्रोह’ प्रस्फुटित हुआ। दलित साहित्य को यह ‘नकार’ यथार्थ परक दृष्टि के साथ, अमानवीय सामाजिक संरचना को तोड़ते हुए ‘समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व’ को साधिकार समाज में स्थापित करती है।

यह साहित्य उस ‘विद्रोह’ का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि “स्व” की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है। इस विद्रोह का साधिकार अभिव्यक्त रूप “मैं मनुष्य हूँ, मुझे मनुष्य के सभी अधिकार मिलने चाहिए।”⁷ अर्थात् सभी मानवीय मूल्य और अधिकार, हमें स्वाभिमान-सम्मान के साथ चाहिए जो ‘सजग चेतना’ का ही परिणाम है। चेतना अर्थात् मनुष्य के मन-मस्तिष्क के सजग होने की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में ‘व्यक्ति और समाज’ अपने सम्मान, आत्मसम्मान, स्वाभिमान अधिकार और अस्तित्व पर सोचते-समझते चिंतन करते हुए अपना और अपने समाज का ‘मूल्य बोध’ करता है। सचेत होता है जिससे उस ‘व्यक्ति और समाज’ की चेतना की जाग्रतावस्था आगे चलकर उसे एक दृष्टि देती है। किसी भी ‘व्यक्ति और समाज’ की चेतना के निर्माण में ऐतिहासिक बोध, ऐतिहासिक दृष्टि, ऐतिहासिक अध्ययन, सामाजिक बोध और सांस्कृतिक बोध आदि का ‘वस्तु-परक बोध’ आवश्यक है। दलित व्यक्ति और समाज की चेतना के सृजन अर्थात् निर्माण पर दलित साहित के दलित कवि मलतखान सिंह एक साक्षात्कार में कहते हैं—“जिस संस्कृति और समाज में हम रह रहे हैं। उसमें कौन-कौन सी चीजें हैं जो हमें प्रभावित करती हैं। हमें एक होने से रोकती हैं। हमें गुलामी की तरफ ले जा रही हैं। हमें विवेक शून्य बना रही हैं। हमारा मूल्य क्या है? ये सब चीजें जिस दिन व्यक्ति और समाज के अन्दर आ जायेंगी। उस दिन चेतना का निर्माण हो जायेगा।”⁸

दलित चेतना की यह बात दलित 'व्यक्ति और समाज' पर बहुत गहरे तक बैठती है। जब दलित व्यक्ति अपने अस्तित्व, अस्मिता, अधिकार और सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य एक मुक्ति की दृष्टि से पहचानते हुए उसे अभिव्यक्त करता है। इसे हम "दलित चेतना" कह सकते हैं। शरणकुमार लिंबाले "दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र" पुस्तक में लिखते हैं—“दलित चेतना दलित साहित्य का महत्वपूर्ण जनबीज है।”⁹ या “दलितों की वेदना ही दलित साहित्य की जन्मदात्री है।”¹⁰ वे आगे लिखते हैं, “दलित चेतना जाति-व्यवस्था के विरुद्ध शुरू हुआ विद्रोह है।”¹¹ शरणकुमार लिंबाले अपनी आत्मकथा “अक्करमाशी” में लिखते हैं—“मैं कौन हूँ? मेरी आँवत किस से है?”¹² मैं कौन हूँ?...यह चिंता दलित चेतना है। जब यह दलित व्यक्ति की पहचान के संकट का चिंतन समाज के सन्दर्भ में साहित्य में अभिव्यक्त होता है तो उसे “दलित अस्मिता” कहते हैं। यह अस्मिता बोध दलित लेखन की रचनाशीलता को उर्जा देता है। जो अधिकार के साथ 'साहित्य और समाज' में अभिव्यक्त करता है...‘मैं मनुष्य हूँ। मुझे मनुष्य होने के सभी अधिकार मिलने चाहिए।’ दलित साहित्य अर्थात् दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से दलितों के विषय में किया गया लेखन है जिसके केंद्र में मानवीय मुक्ति चाहने वाला दलित समाज है जो दलित साहित्य में अभिव्यक्त होने वाला दलित समाज, गैर-दलित समाज से अलग है। जब समाज अलग है तो उसका सौन्दर्य शास्त्र भी अलग होगा। इसलिए दलित साहित्य ने अपने समाज का 'नया सौन्दर्यशास्त्र' गढ़ा और उसी के आधार पर दलित साहित्य को अभिव्यक्त किया। दलित साहित्य ने अपना नया सौन्दर्यशास्त्र गैर-दलित साहित्य या 'हिन्दू लिटेरेचर' के सौन्दर्यशास्त्र...“सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्” के समानांतर...“यातना, संघर्ष और स्वप्न” गढ़ा और खड़ा किया। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का सौन्दर्यशास्त्र कहीं-न-कहीं से रहस्यमई है। इस सौन्दर्यशास्त्र में बहुसंख्यक अज्ञानी दलित, आदिवासी और स्थियों के मन-मस्तिष्क को गुलाम बनाकर उनके “श्रम और सेवा” को भोगने का भाव निहित है। इस सौन्दर्यशास्त्र में संस्कार, पवित्रता और ईश्वर जैसा रहस्ययुक्त भाव विद्यमान है जिससे दलितों, आदिवासियों और स्थियों को हमेशा दूर रखा गया, साथ ही उनके गुलाम मन-मस्तिष्क में लालच का भाव भी भरा जाता रहा कि तुम्हें स्वर्ग इसी से मिलेगा, तुम्हारी अंतिम परिणति इसी में है। 'मुक्ति' की इस रहस्यमई अवधारणा ने निवर्तमान 'अति-शूद्र', आज...दलित, आदिवासी और स्थियों का 'सुपर शोषण' करता रहा।

चेतना संपन्न जनतंत्रीय आधुनिक दलित समाज ने अपनी मानवीय मुक्ति के लिए दलित साहित्य का 'नया सौन्दर्यशास्त्र'...“यातना, संघर्ष और स्वप्न” गढ़ा। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं...“दलित साहित्य की अंतर्चेतना में वेदनामूलक संघर्ष भाव की प्रधानता है जो यातना से उपजी है।”¹³ यह यातना दलित सौन्दर्य के लिए महत्वपूर्ण है। राजेंद्र यादव दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर लिखते हैं....“साहित्य जिन तत्वों से अमर, स्थाई या सार्वभौमिक होता है, उनमें तीन मुझे सबसे अच्छे लगते हैं...संघर्ष, यातना (सफरिंग) और विजन...”¹⁴ राजेंद्र यादव 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के अंक-41 के एक लेख में 'दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र' को खोलते हुए, लिखते हैं...“जो नया सौन्दर्यशास्त्र बनेगा, वह संघर्ष से शुरू होगा, उस यातना से शुरू होगा, चाहे वह उसका रिअलाइज करने अथवा उस यातना को, उसकी तकलीफ को, उसके भेदक रूप को समझने के रूप में हो, और उसके बाद, बदलने की मानसिकता के रूप में हो, जिसे हम संघर्ष कह सकते हैं। तीसरे एक स्वप्न के रूप में होगा, हमें करना क्या है? हमें सामानांतर सौन्दर्यशास्त्र देना है, वैकल्पिक समाज बनाना है, यह सारा संघर्ष साहित्य में भी है, समाज में भी।”¹⁵

प्रोफेसर तुलसी राम लिखते हैं कि...“सौन्दर्यशास्त्र शांत समाज की देन है। जब समाज में शांति होती है, समुद्धि होती है, तो सौन्दर्यशास्त्र विकसित होता है। जिस समाज में अशांति है, हिंसा है, लोग भूखे यासे मर रहे हैं तो ऐसे समाज में सौन्दर्य शास्त्र की कल्पना मुश्किल से होती है, यदि होता है तो उसका रूप बिल्कुल अलग होता है।”¹⁶ दलित समाज बिल्कुल अलग रूप का है। जिस समाज में भूख, पीड़ा, वेदना, यातना, हिंसा, सब कुछ व्याप्त है। अतः इस समाज का “सौन्दर्यशास्त्र बिल्कुल अलग रूप” का होगा। इसीलिए दलित साहित्य ने अपना अलग रूप का नया सौन्दर्यशास्त्र...“यातना, संघर्ष और स्वप्न” गढ़ा। यह इस मानव के मानवीय अधिकार का नया सौन्दर्यशास्त्र।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. कंवल भारती—‘दलित साहित्य की अवधारणा’, पृ. 54, प्रथम-संस्करण, जनवरी 2006, बोधिसत्त्व प्रकाशन, रामपुर, उत्तर प्रदेश
2. शरणकुमार लिंबाले, ‘अक्करमाशी’, पृ. 14-15, संस्करण, 2009, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, ‘दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र’ पुस्तक में पर ‘दलित’ शब्द की व्याख्या करते हैं—‘दलित शब्द का आर्थ है—जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया

- गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घुणित, रोंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, बैंचित आदि।’ ‘दलित शब्द व्यापक अर्थ बोध की अभिव्यंजन देता है। भारतीय समाज में जिसे अस्युश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, वनों के बीच जीवन यापन करने के लिए बाध्य जनजातीय और आदिवासी, जरायम पेशा, घोषित जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित हैं। बहुत कम श्रममूल्य पर, चौबीसों घंटा काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।’ पृ. 13-14, संस्करण, 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
4. शरणकुमार लिंबाले, ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’, अनुवादक-रमणिका गुप्ता, पृ. 42, प्रथम संस्करण, 2000, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
 5. साभार, दलित अस्मिता-त्रैमासिक पत्रिका, संपादिका, विमल थोरात, पृ. 47, जुलाई-दिसम्बर 2011, एंड्रीयूज गंज, नई दिल्ली
 6. शरणकुमार लिंबाले, ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’, अनुवादक, रमणिका गुप्ता, पृ. 43, प्रथम संस्करण-2000, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
 7. वही, पृ. 163
 8. टिप्पणी—दलित कवि मलखान सिंह से लिया गया साक्षात्कार, जो अभी अप्रकाशित है जिसे मैंने हैदराबाद विश्वविद्यालय
- हैदराबाद, में ‘दलित और आदिवासी’ विषय पर होने वाले सेमीनार के दौरान लिया था।
9. शरणकुमार लिंबाले, ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’, अनुवादक, रमणिका गुप्ता, पृ. 44, प्रथम संस्करण, 2000, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
 10. वही, पृ. 43
 11. वही, पृ. 44
 12. शरणकुमार लिंबाले, (आत्मकथा), अक्करमाशी, पृ. 65, प्रथम संस्करण, 2009, अनुवादक, सूर्यनारायण रणसुभे, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
 13. ओमप्रकाश वाल्मीकि, ‘दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र’ पृ. 48, की व्याख्या देखें, संस्करण, 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
 14. राजेंद्र यादव, काली सुर्खियाँ (संपादित कहानी संग्रह), पृ. 12, संस्करण, 1994 ई., प्रवीण प्रकाशन
 15. राजेंद्र यादव, ‘युद्धरत आम आदमी’ पत्रिका (संपादिका-रमणिका गुप्ता) पृ. 12, अंक-41, 1998 ई.
 16. ‘कथादेश’ पत्रिका—दलित प्रश्न—‘प्रो. तुलसीराम : भारतीय समाज के उत्खननकर्ता’—साक्षात्कार : मुद्राराक्षस, पृ. 43, जून, 2009

—डा. धर्मवीर यादव
पोस्ट डाक्टोरल फेलो
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

‘ताज’— सत्रहवीं शताब्दी की एक स्त्री कृष्ण भक्ति लेखिका

—डा. ज्योति

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में स्त्री लेखन की खोज करना एक महत्वपूर्ण और जरुरी कार्य है। बहुत सी ऐसी लेखिकाएं और कलाकार स्त्रियाँ हुई हैं जो गुमशुदा हैं। जिनकी सुध-बुध या तो नहीं ली गई है अथवा थोड़ी बहुत औपचारिकता निभाने के लिए उनका जिक्र भर कर दिया गया है। साहित्य का इतिहास स्त्री साहित्यकारों से खाली नहीं है। हुआ यह है कि पुरुष साहित्यकारों में से बहुत से साहित्यकारों ने अपने-अपने चुनाव कर साहित्य इतिहास को गढ़ा है। उन्होंने अपनी पसंद का इतिहास लिखा है जो अभी तक उसी गति से साहित्य जगत में लोकप्रिय है। लेकिन साहित्य की आत्मोचना करना और अपने अतीत में बार-बार झाँकना, एक महत्वपूर्ण शोध कार्य है। यह किया जाना जरूरी है ताकि अतीत से अपनी नायिकाएं खोजकर लाई जा सकें और साहित्य में स्त्री-पुरुष रचनाओं का संतुलन बन सके। साहित्य में स्त्री रचना भाग इससे निश्चित ही और समृद्ध होगा। स्त्रियों का लिखा एक और उनके बारे में जानकारी मुहैया करवाएगा तो वहीं दूसरी ओर उनके लेखन से उस दौर की धार्मिक, पारंपरिक, पारिवारिक और सामाजिक रीतिपरक परिस्थितियों में उनकी स्थिति और उनके व्यवहारों का पता चलेगा।

मीराबाई अपनी कृष्ण भक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं साथ ही अपने विद्रोहों के लिए भी। उनके व्यक्तित्व से ही मिलती-जुलती एक अन्य कवयित्री सत्रहवीं शताब्दी में हुई हैं जिनका नाम ‘ताज’ था। इनका जिक्र ‘शिवसिंह सरोज’ इतिहास पुस्तक में है। इन्हें पुस्तक में पुरुष कवि माना गया है। पुस्तक में इनका बेहद संक्षिप्त परिचय ही उपलब्ध है। लेकिन सन् 1904 में स्त्रियों की रचनाओं और उनके परिचय को उद्घाटित करती पुस्तक, ‘महिला मृदुवाणी’ में ताज का एक छोटा सा परिचय दिया गया है। इसके साथ ही पुस्तक में उनके लिखे दो पद मिलते हैं। यह बहुत अधिक विवरण नहीं है पर इससे उनके स्त्री होने की बात पर मुहर तो लग ही जाती है। इसके अलावा इनका परिचय स्त्री कवि कौमुदी, मुसलमानों की हिंदी सेवा, मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास आदि पुस्तकों में मुख्यतः मिलता है। इन पुस्तकों में इन्हें स्त्री कवयित्री माना गया है। मुसलमानों की हिंदी सेवा पुस्तक में स्त्री लेखिका मानने में कुछ असमंजस जरूर है।

आश्चर्यजनक बात यह है कि रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ सन् 1929 में हिंदी

शब्दसागर की भूमिका के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ पर आचार्य शुक्ल ने ‘महिला मृदुवाणी’ पुस्तक का संज्ञान तक नहीं लिया। जबकि मुंशी देवीप्रसाद द्वारा संपादित इस पुस्तक में पैंतीस कवयित्रियों की रचनाओं के साथ उनका परिचय मौजूद है। सवाल यही है कि क्या स्त्रियों का रचा काव्य पुरुषों के रचे काव्य से कमतर समझा गया? क्या स्त्रियों के लिखे साहित्य में वे पैमाने नहीं थे जो पुरुष कवियों के लिखे साहित्य में माने गए? और भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं, बल्कि उठाए जा रहे हैं। पश्चिमी स्त्रीवाद ने गुमशुदा स्त्रियों को बड़े पैमाने पर इतिहास में (साहित्य इतिहास) पुर्णस्थापित करने का उद्योग किया है। लेकिन हमारे यहाँ अब तक कायदे से इस गुमशुदगी की शिनाख तक नहीं हुई है।² लेकिन अतीत में कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनसे स्त्री लेखन की धारा का अनुमान लगाया जा सकता है।

ताज एक खोई हुई कृष्ण भक्त लेखिका हैं। इनका संबंध कृष्णभक्ति के साहित्य की रचनाओं से है। इनका समय मुंशी देवीप्रसाद ने संवत् 1700 माना है।³ इस प्रकार ताज का समय सन् 1643 के आसपास बैठता है। ताज के संदर्भ में श्री गोविन्द गिल्लाभाई द्वारा लिखा एक पत्र महिला मृदुवाणी, स्त्री कवि कौमुदी, मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ तथा कुछ अन्य पुस्तकों में वर्णित है। खत में लिखा गया है कि करौली ग्राम में ताज नाम की मुसलमान स्त्री कवि हो गई हैं। वह नहा धोकर रोज मंदिर में ईश्वर के दर्शन करती थीं। लेकिन एक दिन वैष्णवों ने उन्हें विधर्मणी कहकर दर्शन से रोक दिया। इससे ताज उस दिन उपवास कर मंदिर के आँगन में बैठ गई। वे श्री कृष्ण के नाम का जाप करने लगीं। जब रात हो गई तब ठाकुर जी स्वयं भोजन का थाल लेकर आये। उन्होंने उसे खाना खिलाया और कहा कि सुबह जब वैष्णव मंदिर में आएं तब कहना कि तुम लोगों को सन्देश दे हैं कि ताज को परम वैष्णव समझो। इसे दर्शन और प्रसाद ग्रहण करने से मत रोको वरना वे तुमसे नाराज हो जायेंगे। ताज के सामने भोजन का थाल रखा देख वे चकित हो गए। वे सब ताज के चरणों में गिर पड़े। उस दिन से ताज हर दिन भगवान के दर्शन सबसे पहले करने जाने लगीं। उनके बाद अन्य वैष्णव जाया करते थे।⁴ ताज ने एक पद में खुद को तुर्की जाति से बताया गया है। उन्होंने मुस्लिम होने की बात भी मानी है।

मध्यकालीन कवयित्रियों और कवियों के जीवन के साथ चमलकारपूर्ण घटनाएं जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए मीरा द्वारा विष का प्याला पीना और फिर भी जीवित बचे रहना। नानक साहब के पैर के साथ-साथ मक्का का भी

दिशा बदलना और संत रविदास द्वारा कठोती में गंगा का उद्गम कर देना या फिर उनके पान और कसैली का गंगा द्वारा हाथ बढ़ाकर लेना और स्वीकार करना। कोई आश्चर्य नहीं कि इन घटनाओं ने इन संतों का स्थान समाज में और गहरा और ऊँचा किया। लोगों में इन संतों के प्रति में विश्वास और प्रीति बढ़ाई इसके साथ ही प्रतिष्ठा भी। इनकी निर्मल और निष्ठावान भक्ति ने ही उन्हें अपने समय के महान व्यक्तिय में तब्दील किया। ताज को गैर हिन्दू होने के चलते बहुत कुछ सुनना और सहना पड़ा होगा। ताज के संबंध में निश्चय ही यह घटना प्रभावित करती है। फिर भी इससे ताज की भक्ति में रुकावटें आती रही होंगी। इसलिये ताज ने अपनी लेखनी से इसका जवाब भी दिया है—

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी सहूंगी मैं
देक पूजा ठानी हौं निवाज हूँ भुलानी तजे
कलमा कुराआन सारे गुनन गहूंगी मैं
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए
तेरे नेह दाग में निदाग हो रहूंगी मैं
नन्द के कुमार कुरबान तारी सूरत पै
हूँ तो तुरकानी हिन्दुआनी रहूंगी मैं⁵

उपर्युक्त पद में वे कह रही हैं कि मैं बेशक बदनामी सहूंगी लेकिन जो मैंने पूजा अथवा भक्ति को मान लिया है उसे निभाऊंगी। वे नमाज भूल कर त्यागने की बात कह रही हैं। श्याम को अपना सिरताज कह रही हैं। उसके नेह अथवा प्रेम भक्ति में निर्मल अथवा बिना दाग बनने की बात भी कह रही हैं। नन्द के पुत्र कृष्ण की सूरत पर वे कुर्बान हैं। वे तुर्क होने के बाद भी हिन्दू बने रहने की बात कह रही हैं। वास्तव में इस पद में वह मीरा की तरह ही खुली घोषणा कर रही हैं। सत्रहवीं शताब्दी मुगलों के चरमोर्कर्ष का समय था। यह वह समय था जब जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब जैसे मुगल शहंशाह हुए और उनक शक्ति का लोहा पूरा हिंदुस्तान मान रहा था। ऐसे समय में अपने आप को तुर्क न मानकर हिन्दू बनने की बात कहकर वे इस्लामिक अतिवादियों से और मुस्लिम होकर कृष्ण भक्ति कर हिन्दू अतिवादियों दोनों से जूझ रही थीं। वह साफ घोषणा कर रही हैं। उनके शब्दों में कोई लाग लपेट नहीं है। और वह न ही लक्षणा अथवा अभिव्यंजना शब्दों में अपनी बात रख रही है। मध्यकाल में यह कृत्य निश्चित ही बड़ी बात है। मंदिर में जाना, कृष्ण की भक्ति करना, अपने को हिन्दू कहना, प्रेम का खुला इजहार करना निश्चित ही हिम्मत की बात है। स्त्री भक्त स्त्रियों का इस प्रकार का

व्यवहार सामाजिक रूढ़ियों की खिलाफत है। स्त्री की पूरी भूमिका परिवार के लिए और घर के भीतर बनाई गई है। यहाँ ताज किन्हीं भी तय भूमिकाओं को मानने से इंकार रही हैं।

ताज के लिखे भक्ति कवितों में निर्मल और मधुर भक्ति के दर्शन होते हैं। वे कृष्ण के माधुर्य रूप का वर्णन करती हैं। उनके कृष्ण कोई एक कृष्ण नहीं बल्कि वे कृष्ण के विविध नामों और रूपों का प्रयोग अपनी रचनाओं में करती हैं। उनकी रचनाओं में आए कृष्ण छैल छबिले हैं, वृन्दावन वाले हैं, दुष्ट जन को मारने वाले हैं, नन्द के प्यारे हैं, सभी देवों में न्यारे हैं, द्रौपदी की रक्षा करने वाले हैं, दीन ब्राह्मण सुदामा मित्र की सहायता करने वाले हैं। इसके अलावा एक पद में तो कृष्ण के साथ जुड़ी कई मिथक कथाओं को उन्होंने पिरो दिया है। ताज द्वारा यह कवित भक्तोद्धार की श्रेणी में लिखा गया है—

साहेब 'सिरताज' हुआ नंदजू के आप पूत
मारी जिन असुर करी काली सिर छाप है
कुंदन पुर जाय के सहाय करी भीषम की
रुक्मिनी की टेक रखी लगी नहीं खाप है
पांडव की पच्छ करि द्रौपदी बढ़ाय चीर
दीन सुदामा की मेटी जिन ताप है
निहचे करि शोधि लेहु ज्ञानी गुनवान बेगि
जग में अनुप कृष्ण का मिलाप है⁶

महज कुछ पंक्तियों में उन्होंने कृष्ण के चरित्र की विशेषताओं के माध्यम से उनसे जुड़ी प्रत्येक मिथक कथाओं का उद्घाष्ठान कर दिया है। ताज की खूबी यही है। वे बड़ी-बड़ी बात को सरल शब्दों और वाक्यों से अभिव्यक्त करती हैं। उनके शब्द भंडार में ऐसे शब्द हैं जिनसे एक पूरी कथा अथवा एक पूरा भाव अभिव्यक्त हो जाता है। उनके लिखे पदों में कुछ शब्दों की आवृत्ति होती है पर वे शब्द इसके बाद भी चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कुछ पदों में उन्होंने कृष्ण के रूप का सुन्दर वर्णन किया है। कुछ पद गणेश स्तुति, भवानी वंदना, दशावातर वर्णन आदि पर रखे हैं। दुर्भाग्य से इन पदों की जानकारी तो मिलती है लेकिन पद नहीं मिल पाए हैं।

धर्म कभी आडंबर से मुक्त ही नहीं हुआ। काल के प्रत्येक खंड में धर्म की मूल्यता का क्षय आडंबर ने करने का प्रयास किया है। भक्तिकाल के संतों और कवियों ने इन्हीं आडंबरों को अपने निशाने पर लिया था। भक्त और ईश्वर के मध्य प्रेम का संबंध स्थापित होने के बाद उसमें पूर्णतः विलीन होने की प्रक्रिया भक्त के लिए अत्यंत आत्मीय अनुभूति होती है। इसमें किसी प्रकार के दिखावे की जरूरत

नहीं होती। अनेकों-अनेक पाप कर्म करने के बाद तीर्थ करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ताज ने अपने भक्ति के पदों में कई रीतियों और परम्पराओं के बारे में सरल तरीके से अपनी बात कही है। लोग जीवन में सुख और समृद्धि के लिए अथवा मुक्ति के लिए क्या-क्या नहीं करते! लेकिन ताज इनसे अलग हैं। वह कहती हैं—

काहू को भरोसो बद्रीनाथ जाय पायें परे
काहू को भरोसो जगनाथ जू पिंड भरे
काहू को भरोसो प्राग देखे वट पात को
काहू को भरोसो सेतबंध जाय पूजा करे
काहू को भरोसो द्वारवती गए जात को
काहू को भरोसो ताज पुस्कर में दान दिये
मी को तो भरोसो एक नंद जी के लाल को⁷

ताज के परिचय के सन्दर्भ में कुछ जनश्रुतियां हैं। कुछ लोगों का मानना है कि वे शाहजहाँ की बेगम मुमताज ही हैं।⁸ लेकिन ताज के लिखे पदों में शाहजहाँ का नाम या उसकी उपाधि का जिक्र नहीं है। उनके लिखे पदों में कहीं भी उनके खुद के पति या परिवार की चर्चा नहीं मिलती। जबकि एक पद में सूरदास, तुलसीदास, नानक, मलूकदास, नामदेव, दाढ़, कबीर और मीरा के नामों का जिक्र उन्होंने किया है। खुद के लिए ताज और सिरताज शद का योग किया है। उनके लिखे पदों में, कृष्ण भक्ति, भक्तोद्धार, कर्म सवैया, प्रेति विषयक कवित और सवैया मिलते हैं। गिल्लाभाई ने उनके लिखे चार सौ पद उनके स्वयं के पुस्तकालय में होने की बात कही है। लेकिन बहुत शोध करने पर कुछ ही पद हासिल हो पाए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि और खोजबीन की जाए तो उनके लिखे ढेरों पद हासिल किये जा सकते हैं।

हिंदी साहित्य में बहुत से ग्रन्थ स्त्री के सौंदर्य पर लिखे गए हैं। रीतिकाल के बारे में यह ज्ञात ही है कि वहाँ स्त्री का प्रेम, स्त्री हृदय, स्त्री सौंदर्य, स्त्री की दैहिक चेष्टाएं महत्वपूर्ण हैं और उन्हीं पर अधिकतर काव्य रचनाएं लिखी गई हैं। प्रेम, शृंगार और वियोग के गीत गाये गए हैं। लेकिन स्वयं स्त्री ने भी क्या अपने आप को एक भोग्या के रूप में ही वर्णित किया है, जैसे सवाल पर तभी सोच पाएंगे जब शोध द्वारा अतीत में खो चुकी, भुलाई जा चुकी या छुट गई स्त्रियों को उनके लेखन के माध्यम से पुनर्स्थापित करेंगे। ताज भक्त स्त्री हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में शृंगार के गीत वहीं गाये हैं जहाँ मोहन च्यारे हैं। वे गीत न तो पूरी तरह से अध्यात्म में डूबे हुए हैं और न ही संसारिकता के मोह और रस में निमग्न हैं। वे किसी भी साधारण स्त्री के हृदय के सरल भाव हैं,

जिनमें भक्तिरस विद्यमान है। ताज के तो जीवन का आधार ही नन्द के कुमार हैं-

कोऊ जन सेवै शाह, राजा राव ग़ाकुर को
कोऊ जन सेवै भैरो, भूप काज सार को
कोऊ जन सेवै देवी, चंडिका प्रचंड ही करें
कोऊ जन सेवै ताज, गनपति सिरभार है
कोऊ जन सेवै प्रेत, भूत भवसागर को
कोऊ जन सेवै जग, कहूँ बार-बार है
काहूँ के इश्वरि, सकर को नेम बड़ो
मेरे तो अधार एक, नन्द के कुमार हैं⁹

लेकिन हिंदी साहित्य अध्येताओं को इन खोई हई स्त्रियों को अपने खोजबीन शोध से खोजने में अग्रसर होना चाहिए। इन्हीं प्रयासों से हिंदी साहित्य के इतिहास में स्त्री लेखिकाओं को पहचान कर उनकी स्थापना हो सकेगी। इसी से बदलाव संभव है। हिंदी साहित्य इतिहास स्त्री लेखन से शून्य नहीं है। स्त्रियों ने अपने आधे अधूरे अक्षर ज्ञान का इस्तेमाल शब्दों से भक्ति और प्रेम के अतिरिक्त शौय रस की कविताओं को रचने में भी किया है। उदाहण के लिए झीमा चारिणी का नाम लिया जा सकता है। स्त्री जाति पर लादी गई परंपराओं को उन्होंने अपने भरसक प्रयासों के माध्यम से विद्रोह किया है। एक अकेली स्त्री का कृष्ण को अपना सिरताज मान लेना स्त्रियों के बने बनाए उस फ्रेम से बाहर आना है जिसे समाज और धर्म ने उन्हें नियंत्रित करने के लिए बनाया है। स्त्री की पारंपरिक छवि यही है कि वे पितृसत्ता संरचना में बंधी रहकर जीती रहे। बचपन में पिता की, किशोरावस्था में भाइयों की, युवावस्था में पति की और बुढ़ापे में बेटों की अधीनता- लम्बे समय तक आर्थिक, भावनात्मक, परावर्तन तक स्त्री जीवन का केंद्रीय सत्य रहा है।¹⁰ पर ताज जैसी स्त्रियों ने समय-समय पर इन्हीं संरचनाओं को चुनौती भी दी है। जैसे ताज अपने एक कर्म सवैया में कह भी रही हैं-

कर्म सो राज और रंक बने अरु कर्म सो ग़ाकुर जो नर होई
कर्म सो साध सती सत है अरु कर्म सो वीर बड़े नर होई

कर्म से मीत मिले मन लाल सो कर्म सो 'ताज' कहूँ गुण होई
कर्म सो बड़े लघु तू मति जानियो कर्म सु करै नहिं कोई होई¹¹

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ताज का लेखन हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्त्री लेखनी के नजरिए से महत्वपूर्ण है। उनके लेखन में विद्रोह, दृढ़ परिचय, स्त्री पहचान और कृष्ण भक्ति का स्वीकृत गुण मिलता है। उनकी भाषा सरल, सहज और प्रवाहमय मधुर भाषा है। उन्होंने उपदेशात्मक भाषा का प्रयोग नहीं किया है। स्त्री अभिव्यक्ति के वर्ग में ताज एक अहम भक्तिकालीन कवयित्री हैं।

सन्दर्भ

1. शिवसिंह सेंगर, शिवसिंह सरोज, नवलिकशोर प्रेस, सातवाँ संस्करण, लखनऊ, 1926, पृ. 430
2. ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री कवि संग्रह, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 15
3. मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, महिला मृदुवाणी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1904, पृ. 2 (सूचीपत्र पृ. 2)
4. ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', स्त्री कवि संग्रह, गांधी हिंदी पुस्तक भंडार, प्रयाग, 1931, पृ. 19-20
5. मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, महिला मृदुवाणी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1904, पृ. 34
6. गंगाप्रसाद सिंह 'विशारद' हिंदी के मुसलमान कवि, लहरी बुक डिपो, काशी, 1926, पृ. 163-164
7. सावित्री सिन्हा, मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ, हिंदी अनुसंधान परिषद, दिल्ली, 1953 पृ. 189
8. मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, महिला मृदुवाणी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1904, पृ. 34
9. गंगाप्रसाद सिंह 'विशारद' हिंदी के मुसलमान कवि, लहरी बुक डिपो, काशी, 1926, पृ. 164
10. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 36
11. गंगाप्रसाद सिंह 'विशारद' हिंदी के मुसलमान कवि, लहरी बुक डिपो, काशी, 1926, पृ. 166-167

-डा. ज्योति

पता : RZ 2104/26 तुगलकाबाद विस्तार, नयी दिल्ली-110019

नारी : शब्द-व्युत्पत्ति (संस्कृत एवं पंजाबी के परिप्रेक्ष्य में)

—प्रो. हरप्रीत कौर
—डॉ. कल्पना शर्मा

भाषा भावाभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट माध्यम है। भाषा की सूक्ष्म इकाई वर्ण है एवं वर्ण समूह शब्द को जन्म देते हैं। भाषा को जानने के लिए उसके शब्दभाव से अवगत होना अनिवार्य है। किसी भी भाषा को सूक्ष्मता से जानना हो तो उसकी शब्द-व्युत्पत्ति को समझना होगा आचार्य यास्क जैसा बताते हैं कि “अग्नि” अग्रणी (आगे) है इसलिए अग्नि है। पृथनात्पृथिवीःपृथिवी हर स्थान पर फैली हुई है इसलिए पृथिवी है। आचरण की शिक्षा देने वाले को ‘आचार्य’ कहा जाता है। शब्द संरचना एक फूल के समान है जिस प्रकार हम फूल की एक एक पत्ती को पृथक्-पृथक् कर सकते हैं उसी प्रकार पद है। पदों के प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि सभी को भेद कर हम उसके मूल अर्थ तक पहुंच सकते हैं। वर्ण, शब्द, वाक्य से निर्मित होती है भाषा। भाषा वैज्ञानिक इसमें भाषा का विकास मानते हैं कि एक भाषा से शब्द दूसरी भाषा में स्वतः आते-जाते रहें। एकभाषा के शब्द दूसरी भाषा में मिलना एवं शब्दों के इतिहास में जाएं तो यह बोध हो कि सभी शब्दों की भाषायी जड़ें एक साथ एक परिवेश में पल्लवित हुई हैं। ऐसे ही आज दो भाषा हमारे समक्ष हैं पंजाबी एवं संस्कृत।

पंजाबी एवं संस्कृत भाषा पुष्प तथा सुगंध की भाँति है। पंजाब का विशाल भूभाग संस्कृत भाषा के विकास की भूमि रहा है। वैदिक काल से यह प्रदेश वैदिक संस्कृति का क्रीडा- आंगन रहा है। ऋग्वेद के साथ- साथवैदिक साहित्य का बड़ा भाग पंजाब की पवित्र भूमि पर रखा गया है। पंजाब की नदियों झेलम, राबी, चिनाब, व्यास, सतलुज के तट पर वैदिक ऋषियों ने अपनी अन्त दृष्टि से मन्त्रों का साक्षात्कार किया। वैदिक एवं लौकिक संस्कृति के सन्धि-काल में पंजाब की यह भूमि कला, शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में शीर्ष पर रही है। इस संक्षिप्त भूमिका को जानकर यह निश्चित किया जा सकता है कि आज आर्य परिवार की जितनी भी भाषाएं संसार में प्रयोग की जाती हैं, उनमें पंजाबी भी एक ऐसी भाषा है, जो अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के साथ समीपता एवं घनिष्ठता का सम्बन्ध रखती है। पंजाबी के अनेक शब्दों में संस्कृत रूपों की प्रतिच्छाया देखने को मिलती हैं।

संस्कृत पंजाबी

मलि मलिमलि
खेल खेलपेड़
लखि लखिलेख
वस् वसदम
हस् हसहम

कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो अपने मूल में संस्कृत रूपों का संकेत करते हैं—

आख्यान आक्खाँ
चिनवानि चिनवाँ
मनुष्य मनुख।

पंजाबी एवं संस्कृत के शब्द रिलें-मिले हैं इनमें संभावित शोध की पर्याप्त अपेक्षा है। “शब्दो वैब्रह्म” कहा जाता है। शब्द की पृष्ठभूमि में परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। शब्द एक साधन है परब्रह्म को साधने के लिए, भाषा कोई भी हो शब्द से यात्रा करते हुए ही हम परमात्मा को पा सकते हैं।

“वाग्वै सप्त्राट् परम् ब्रह्म” बृहदारण्यक उपनिषद्। शास्त्रों में शब्द को ब्रह्म माना गया है। प्रत्येक शब्द का एक इतिहास होता है एवं स्वतंत्र अस्तित्व होता है। शब्द अपने वाक्य के स्वरूप का संकेत करता है। समय-समय पर शब्द के अर्थ में संकोच और विस्तार भी होते हैं। कभी-कभी शब्द अपने मूल अर्थ से दूर चले जाते हैं (यथा—पंकज अर्थात्यंक (कीचड़) में उत्पन्न, कमल कीट, कीड़ा आदि) परन्तु यह परिवर्तन शब्द से उसके मूल अर्थ की विशेषता को छीन नहीं पाता है। एक रोचक उदाहरण और देख सकते हैं अवधी भाषा में मिलता है—मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा, देखे जहं तहं अगनित जोधा। रावण की लंका में मन्दिर स्वाभाविक है नहीं हो सकता अथवा मन्दिर शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है जिसमें आज प्राप्त होता है। यहां मन्दिर से अभिप्राय भवन, घर आदि से है। रावण की लंका में पहुंचे हनुमान् हर घर में सीता को खोज रहे हैं। वर्तमान में मन्दिर से अभिप्राय केवल एक धर्मस्थल है परन्तु आज ऐसा घर जहां सुख, समृद्धि, शांति है उसे मन्दिर ही कहा जाता है। शब्द अपनी मूल भावना को नहीं छोड़ता है। नारी भी पंजाबी एवं संस्कृत भाषा का एक शब्द है। हमने नारी अर्थ के बोधक शब्द पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है, प्रश्न है नारी ही क्यों?इसलिए क्योंकि नारी सृजन करती है। वैसे तो नर एवं नारी में परमात्मा ने कोई भेद नहीं किया है। सृष्टि के आरंभ मेंब्रह्म ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया आधे से वह पुरुष हो गए,

आधे से नारी हो गये। धर्मप्राण भारत में वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास, संस्कृत और जीवविज्ञान से भी स्त्री ही पुरुष का एवं पुरुष स्त्री का अर्धांग है। दो रूपों में बैटे ब्रह्मा दोनों रूपों में कोई अंतर नहीं छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं परन्तु जो नारी रूप हुआ उसमें सुकुमारता, मादकता, मृदुलता, सुंदरता, सरसता एवं आर्कषण नर से अधिक है। स्त्री पुरुष से अधिक सम्माननीय है। नारी में सृजन की क्षमता है। गुरु नानक देव जी ने आसा दी वार में फरमाया है कि एक अकाल पुरुख के अतिरिक्त हम सभी ने स्त्री से ही जन्म लिया है। गुरबानी में नारी का अर्थ द्विध है एक व्यावहारिक एवं दूसरा दार्शनिक। भागवतपुराण में भी यही अवधारणा है। रासलीला रचते हुए सभी स्त्री-पुरुष (जीवात्माएं) श्रीकृष्ण (परमात्मा) में लीन हो जाना चाहतीं हैं। सांसारिक धरातल में स्त्री शब्द लिंग आधारित है। दार्शनिक पृष्ठभूमि में स्त्री-पुरुष का कोई भेद स्वीकार नहीं किया गया है। जीवात्मा एवं परमात्मा को व्याख्यायित करने के लिए यह भेद माना गया है। भागवतपुराण के दशम स्कंध में श्री कृष्ण को परमात्मा एवं उनको पाने के लिए उत्कृष्टित सभी जीवात्मा को श्री कृष्ण की प्रेमिका एवंपत्नी रूप में मानकर बहुत ही सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है। (भागवतपुराण 10/25)

गुरु ग्रंथ साहिब जी में भी परमात्मा से प्रेम करने की प्रेरणा देते हुए कहा है— जो जीव आत्माएं गुरु शब्दों में लीन है वही सुहागिने हैं। वह सतनाम से श्रृंगार करती है।

मघ्दहितभिर्मैगगदीमर्त्तमधर्द्दीमीगार्ती॥ (अंग 38 मर्ती)

दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो आत्मा को अलिंगी कहा गया है। अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने, अकालपुरुख ने स्त्री-पुरुष जैसा कोई भेद भाव नहीं किया है।

ररघिनिरुद्धुनवरे बैमे गच्च मर्दी॥

(अंग 990 मर्ती गुरु गर्त्त्व मर्त्तिर्विधि)

स्वेच्छामयरु स्वेच्छाया च द्विधारुपो बभूव ह।

स्त्रीरुपो वामभागांशो दक्षिणांशरुपमान् सृतः ॥

अर्धनारीश्वरस्वरूप भी इसी का पक्षधर है। व्यास-संहितामें भी कहा गया है—यावन्न विन्दते जायां तावदर्थो भवेत् पुमान्। जब तक स्त्री की प्राप्ति नहीं होती तब तक पुरुष आधा ही है। मनु का यह वचन भी नहीं भूलना चाहिए कि जहां स्त्रियां पूजी जाती हैं, वहां देवता आनंदित रहते हैं।

“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः” मनु के इस कथन में संपूर्ण नारी जाति के सम्मान का उपदेश निहित है। व्यवहार में पुरुष मर्यादा से नारी मर्यादा सदा से उत्कृष्ट

मानी गई है। नारी चाहे माता हो, बहन हो, पुत्री हो, पल्ली हो, सहकर्मणि हो या कोई भी अन्य वह समस्त रूपों में मानव के लिए पूज्या ही होती है। गुरु नानक देव जी भी स्त्रियों के लिए कहते हैं— दृ

नारी के बिना मनुष्य का गुजारा नहीं, राजा महाराजा महापुरुष भी स्त्री की सन्तान।

बानी पर विचार-विमर्श किया जाए तो बानी में स्त्री को नारी अर्थ में संकुचित नहीं किया गया है। धरती पर विचरने वाले पुरुष-स्त्री को पत्नी कहा गया है। अकाल पुरख सभी के पति अर्थात् स्वामी हैं। स्त्री-पुरुष दोनों में एक रब की जोत है गुरु अमरदास जी ने फरमाया है की सारे पुरुष और स्त्रियां एक वाहेगुरुजी की पत्नियां हैं। गुरबानी कहती है—

इस जग माही पुरखि एक है होरसगली नार। ठाकुर एक सवाई नार। (।)

कवि की दृष्टि में, व्याकरण की दृष्टि में, दर्शन की दृष्टि में नारी अनेकरूपा है। कवियों ने इसे माया जैसी दुर्बोधसमझा, दार्शनिक इसे प्रकृति के समान बहुरूपा मानते आए हैं और व्याकरण इसके पद परिचय से मूल अर्थ तक पहुंचने का प्रयास करता है। यदि शब्दों के विकास के साथ मानव सभ्यता के विकास का अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि संसार की कोई भी वस्तु जैसे विविध परिस्थिति में विविध रूप हो जाती है वैसे नारी भी है। मानव का नारी के साथ शारीरिक, रागात्मक और धार्मिक संबंध होने के कारण नारी के स्वरूप भेद हुए और उनके सूचक शब्दों की सृष्टि हुई है।

एक छोटी सी ओस-बिन्दु में संपूर्ण सूर्यमंडल प्रतिबिंबित हो जाता है ठीक उसी तरह नारी वाचक छोटे से छोटे शब्द में भी नारी की जाति, उसके गुण, उसकी क्रिया अथवा इच्छा झलक जाते हैं। नारी शब्द के कुछ पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर नारी चरित्र को समझने का प्रयत्न करते हैं—

नारी : ऋग्वेद में यज्ञ के अर्थ में “नार्य” शब्द का प्रयोग हुआ है परंतु नारी शब्द ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है। नारी शब्दनु अथवा नर से बना है। नृ+अञ्ज+डीन्=नारी। नर+डीष्= नारी। इन दोनों ही व्युत्पत्ति को वैयाकरण सही मानते हैं। यास्क ने नर शब्द को नृत्=नाचना से बनाया है। नरा: मनुष्यःनृत्यन्तिर्कर्मसु (निरुक्त 5/1/3) काम करते समय मनुष्य अपने हाथ- पैर हिलाता डुलाता है इसलिए उसे “नर” कहते हैं इसी विशेषण के कारण स्त्री को “नारी” कह सकते हैं। ऋग्वेद में ‘नृ’ का प्रयोग वीरता का काम करना, दान देना, नेतृत्व करने के अर्थ में हुआ है

नर शब्द का प्रयोग भी वीर, दाता एवं नेता के अर्थ में हुआ है स्त्री का नारी नाम भी इन्हीं विशेषताओं के कारण पड़ा वे युद्ध में शिकार में वीरों की सहायिका होती होंगी अतिथियों एवं शिक्षकों के आदर सत्कार दान आदि का भार भी इन्हीं पर रहता है। गुरुग्रंथ साहिब जी में गुरु अंगददेव जी की सुपली माता खीवीजी की लंगर सेवा को सराहा गया है-बलवंडेखीवी ने कजन जिस बहुती वाउपत्राली।

लंगरद उलतवंडीएरस असित खीर खियाली । । (रामकली की वार, अंग 967)

ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं-कहीं नारि : पाठ भी मिलता है, न अरि: नारी:, जिसका अर्थ होता है शत्रु नहोना । तैतरीयारण्यक में सायण का मत है नृणां महावीरार्थिनाम् उपकारित्वात् नारि । न अरिःनारि : (सायण, 4/2/1) ।

गुरबानी में सिख गुरुओं ने नारी को संगत में पुरुष के समान समझा गया है— नारी पुरुख सर्थाई लॉर्ड (जोत) अगं ररउ। पुरुख में नारी, नारि महि पुरुखउ बुझहो ब्रह्मगिआनी ॥

पुरुखमर्हा नारी नारिमहिपुरुखाष्टुलरु रघानी ॥

(अंग 878, गुरु गर्वं भारधि)

महिला बानीके ज्ञान को कहा जाता है। ये ऐसा शब्द है जिसे स्त्री-पुरुष के विभेद “महला” से ऊपर समझना चाहिए। संस्कृत व्याकरण महिला शब्द का विमर्श मह्+इलच्+आ=महिला इस प्रकार विमर्श करता है। मह् का अर्थ है ‘पूजा’। पूज्या होने के कारण नारी को महिला कहा जाता है। संभवतः गुरुग्रंथ साहिब जी में दर्शन की अभिव्यक्ति भी इसी “महला” शब्द से होती है। खालसा पंथ में स्त्री-पुरुष सदृश कोई भी भेद नहीं है। सभी सांसारिक जन (स्त्री-पुरुष) को स्त्री ही स्वीकार किया गया है। पुरुष तो केवल अकाल पुरुख परम आत्मा है।

वामा : स्त्री का एक नाम “वामा” है क्योंकि वह सौंदर्य फैलाती है। वयति सौन्दर्यम् । स्त्री वामा है क्योंकि वह वाम (विपरीत अर्थात् प्रतिकूल बात कहती है)। हाँ में हाँ नहीं मिलाती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ स्त्रियों ने हाँ में हाँ न मिलाकर विपरीत कथन किया है। वन गमन के लिए तत्पर राम सीता को अपने साथ वन नहीं ले जाना चाहते परन्तु सीता ने ‘वामा’ होने का परिचय दिया है और राम का सीता के साथ वनगमन होता है। धर्म शास्त्रों में भी स्त्री को वामा कहा गया है क्योंकि सभी धार्मिक कृत्यों में वे पुरुष के वामहस्त पर होती हैं। विवाह-संस्कार में भी स्त्री को पुरुष के वाम हस्त की तरफ बैठाया जाता है। दुर्गा का एक नाम ‘वामा’ भी है—

वामं विरुद्धरूपं तु विपरीतं तु गीतये ।
वामेन सुखदा देवी वामा तेन माता ब्रुथैः ॥
(देवीपुराण 46)

सुन्दरी : स्त्री को सुन्दरी कहते हैं क्योंकि उसको देखने से हृदय द्रवित होता है। “सु+उन्द=गीला करना,+ अर+डीष्=सुन्दरी । स्त्री अच्छी तरह प्रसन्न करती है। वस्तुतः ऋग्वेद का सूनरी शब्द ही विकसित होकर ‘सुन्दरी’ शब्द हुआ । प्रसन्नता युक्त उषा एक सुंदर रमणी सी आ रही है । आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभज्जती ॥ (ऋग्वेद 1/48/5) उषस् सूक्त में उषस्को सूनरी कहा गया है, सूनरी का अर्थ है सुन्दरी, शोभाशाली । सिख-पंथ में माता सुंदर कौर जी का नाम अत्यंत आदर से लिया जाता है । ये दशम गुरु गोविंद सिंह जी की सुपत्नी थी । वे सुंदरी शब्द की व्युत्पत्ति की साक्षात् प्रतिमूर्ति थी । लाहौर में (1661) भाई रामसरन जी के देखने परिवार में इनका जन्म हुआ । इनके सौन्दर्य को देखकर इनका नाम सुन्दर रखा गया । इनका परिवार गुरु नानक देव जी के दर्शन के लिए हमेशा जाता रहा । यह भी सपरिवार नानक पंथ की अनुयायी रही एवं इनके गंभीरव्यक्तित्व से प्रभावित गुरु तेग बहादुर जी ने इन्हें अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार किया । यहां सुन्दर शब्द के अर्थ को केवल बाब्य सुन्दरता से नहीं समझना चाहिए अपितु व्यक्तित्व की आन्तरिक सुन्दरता भी यहां अपेक्षित है । ऐसे अनेक प्रसंग इतिहास में मिलते हैं जब विपत्ति में फंसे मानव समुदाय की माता सुंदर कौर ने सहायता की है । दशम गुरु जी के पश्चात् यह पंथ की संरक्षिका रहीं । लगभग 40 वर्षों तक पंथ की पथ-प्रदर्शिका बन इन्होंने बहुत से महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए पत्र भी लिखे जो आज हुक्मनामा के रूप में ऐतिहासिक धरोहर सदृश सराहे जाते हैं । शब्द-व्युत्पत्तिकी दृष्टि से सुंदरी शब्द के भाव को समेटे हुए ही अन्य शब्द भी है “सोभावन्ती”, । ये शब्द भी नारी के लिए प्रयुक्त हुआ है । सलोनी शब्दभी इसी आशय से गुरुग्रंथ साहिब में मिलता है—

जगुमलेन्डीष्वेले गुरबाई गम। (अंग 834, मर्गी गुरु गुरुं शर्वं मर्गिः)

स्त्री : नारी के लिए सबसे अधिक प्रचलित शब्द ”स्त्री“ है । नारी के सन्दर्भ में वैदिक काल से ही यह शब्द सबसे अधिक प्रचलित रहा और आज भी भारत की सभी प्रसिद्ध भाषाओं में यह शब्द प्राप्त होता है । स्त्री शब्द ‘स्त्रै’ धातु से बना है । यास्क के अनुसार स्त्यैका अर्थ सिकुड़ना है । स्त्री को स्त्री इसलिए कहते हैं क्योंकि वह लजाती है । ‘स्त्रियःस्त्यायते: अपत्रपणकर्मणः’ (निरुक्त 3/21/2)

दुर्गाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है : लज्जार्थस्य

लज्जन्तेऽपि ही ताः अर्थात् नारी की स्त्री संज्ञा उसके लज्जाशील होने के कारण है । पतञ्जलि के अनुसार— “स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्री” नारी को स्त्री इसलिए कहते हैं कि गर्भ की स्थिति उसके भीतर होती है । नारी की यही विशिष्टता को आधार मान गुरु नानक देव जी ने भी कहा है—सो क्यूं मन्दा आखिए जिम जड़े राजाड़ (अंग 473) ।

मेना : ऋग्वेद में ‘मेना’ शब्द नारी अर्थ का वाचक है । यास्क के अनुसार - मानयन्ति एनाः (निरुक्त 3/21/2) स्त्री का आदर किया जाता है । मेना- माना-मान्या । संस्कृत साहित्य में मेना शब्द ही मान्या बन गया । पार्वती की माता का नाम मेना था । सामान्य जन शब्दावली में घर की कन्याओं को मान कहा जाता है जो संभवतः मान्या से ही प्रभावित है । भाई गुरदास जी ने कहा है पर स्त्रियों को अपनी मां एवं बहन के समान सम्मान देना चाहिए—

देख पराइयां चंगीआ मा वां भैणा जाणें ॥

गुरु नानक देव जी की बानी भी नारी को मान-सम्मान देते हुए मानती है—

“सोक्त मन्दा आखिए जिसमें जड़े राजाड़ । (अंग 473) स्त्री हर परिस्थिति में सम्माननीय है ।

माता : माता ऐसा शब्द है जिसके श्रवण, चिन्तन, मनन से हृदय आदर से आप्लावित हो उठता है । वैयाकरण (grammatitions) मातृ शब्द को मान+तृच् से निष्पन्न मानते हैं । मान का अर्थ है ‘आदर’ । आचार्य यास्क के मत में मातृ का भाव निर्मातृ-निर्माण करने के अर्थ में अर्थात्जननी है । आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य जिसमें अक्षय स्नेह को पाता है वह ‘माता’ ही है । ऋग्वेद में मातृ शब्द अन्तरिक्ष, नदी, जल तथा पृथिवी के अर्थ में भी व्यवहृत है । इसके पीछे प्रकृति के प्रति अनन्य स्नेह ही कारण है । अथर्ववेद में कहा गया है—“माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः” वस्तुतः इस शब्द से आदर एवं निर्मातृ दो भाव उत्पन्न होते हैं । ब्रह्म वैर्तं पुराण में माताएं सोलह प्रकार की स्वीकार की गई हैं—स्तनदात्री गर्भदात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया । अभीष्टदेवपत्नी च पितुरु पत्नी च कन्यका । ।

सगर्भजा या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियप्रसूः ।

मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा । मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च ।

जनानां वेदविहिता मातरः योङ्श स्मृताः ॥

(ब्रह्मवैर्तपुराण ग.15 अ.)

स्तनपिलाने वाली, गर्भधारण करने वाली, भोजन देने वाली, गुरुपत्नी, इष्ट देवता की पत्नी, पिता की पत्नी

(विमाता), पिता की कन्या (सौतेली बहन), अपनी बहन, पुत्रवधू, सासु, नानी, दादी, भाई की पत्नी, मौसी, बुआ और मामी वेद में मनुष्यों के लिए सोलह प्रकार की माताएं बताई गई हैं। इसी आधार पर माता साहिब कौरजी को पंथकी माता की सुंदर उपाधि भी गुरु गोविन्द सिंह जी ने प्रदान की एवं वर्तमान में सिख पंथ इतिहास में इनका सम्मान और इनकी प्रतिष्ठा गुरु माता के समकक्ष है। माता कास्थान देवसदृश है : 'मातृदेवो भव' (तैतरीयोपनिषद् 1/11)। नारी को यह है मातृत्व पुरुष के साथ समानता के सिद्धांत के अनुसार किसी विभाजन या बंटवारे में नहीं मिला है। यदि ऐसा होता तो वह वंदनीया न हो पाती। शास्त्रीय दृष्टि में उसका यह मातृत्व दयामयी जगन्माता का प्रसाद है, जिनका रूप कहलाने का गौरव सारे नारी समाज को प्राप्त हुआ है। विष्णु पुराण की सूक्ति है—

देवतिर्यङ्गमनव्येषुपुन्नामाभगवान् हरिः ।

स्त्री नाम्नि श्रीश्चविज्ञेया—इसका अभिप्राय है कि मानव समाज के पुरुषत्व में भगवान् विष्णु की अभिव्यक्ति है और स्त्रीत्व में लक्ष्मी की। कल्याण के अभिलाषी को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए।

सनातन परंपरा का अवलोकन करें तो दैवीय शक्ति के नाम से पूर्व माता शब्द प्रयुक्त होता है यथा-माता सीता, माता पार्वती एवं माता दुर्गा आदि एवं सिख पंथ में सभी

गुरु पत्नी के नाम उच्चारण से पहले माता शब्द प्रयोग किया जाता है तथा माता खीवीजी, माता सुन्दर कौरजी, माता गुजरी जी आदि। नारी के पर्यायवाची की व्युत्पत्ति नारी के कुछ चिरंतन सत्य का निर्देश करती हैं। यह नारी के कुछ नाम उसके भौतिक स्वरूप के धोतक हैं कुछ प्रकृति के मूर्त रूप हैं। स्त्री ही शोभा है, वही सौन्दर्य है, वही आनंद है, वहीं श्री है, शक्ति है, पूजा है, आराध्या है, मान्या है, देवी है, भक्ति है, श्रद्धा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ऋग्वेदश्रीपाद दामोदर सातवलेकर चौथा भाग।

तैतरीयोपनिषदगीताप्रेसगोरखपुर, 1997

रामचरितमानस - गीता प्रेस गोरखपुर, 2001.

विष्णुपुराण- गीता प्रेस गोरखपुर, 2021.

श्रीगुरुग्रंथसाहिब।

—प्रो. हरप्रीत कौर

प्राचार्या

माता सुंदरी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—डॉ. कल्पना शर्मा

सहायक प्रोफेसर

माता सुंदरी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समकालीन महिला कथाकारों के परिप्रेक्ष्य में नारी के कथा साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन

—प्रकाश यादव

समकालीन महिला कथाकारों की असंख्य कहानियाँ हमारे सामने आई और ये वे कहानियाँ थीं जिनमें किसी के लिए भी आँख चुराना सम्भव न था। अब स्त्री कथा लेखन हाशिये का चीज नहीं रहा। यह अलग बात है कि पुरुष लेखक जहाँ अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग में व्यस्त थे या फिर गुट या दल बनाकर उखाड़-पछाड़ में व्यस्त थे, ये लेखिकाएँ इन सबसे कोसों दूर रहकर अपने-अपने जीवनानुभवों को शब्दों में उतारने में व्यस्त थीं। ‘निश्चित रूप से साठोत्तरी कथा-साहित्य में महिलाओं ने अधिक आधुनिक दृष्टि और सोच के साथ पदार्पण किया और विभिन्न सामाजिक दबावों के कारण नारी जिन अनुभूतियों को व्यक्त नहीं कर पाती थीं, शब्दों में पिरो नहीं पाती थीं, उसे कहानी में इन महिला कथाकारों ने समेटा।’ मंजुल भगत, ममता कालिया, राजीसेठ, नासिरा शर्मा, नमिता सिंह, प्रतिभा वर्मा, मृणाल पाण्डेय, चित्रा मुदगल, कमल कुमार आदि मृदुला गर्ग की समकालीन कथा लेखिकाएँ हैं, जिन्होंने इस विषय पर अपनी लेखनी चलाई। इन कथाकारों ने कथ्य की दृष्टि से कहानियों में जो विविधता पैदा की है यह उनके अपने-अपने अनुभव क्षेत्र का ही प्रतिफल है। समाज की दोहरी नैतिकता का पर्दाफाश, घर परिवार से बाहर निकलकर काम करने वाली स्त्री की दोहरी भूमिका का चित्रण संबंधों में आते बिखरावों और उनसे उत्पन्न ढेर सारी उलझनों का यथार्थ चित्रण, मानव मूल्यों में आते परिवर्तन और बदलते सरोकारों, काम-संबंधों के बदलते रूप मतलब जीवन के हर क्षेत्र में जो दारुण और विसंगत स्थितियाँ हैं, उन्हें पकड़ने और प्रस्तुत करने की सार्थक और प्रामाणिक कोशिश इन महिला कथाकारों ने की है।

वर्तमान युग में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है। मूल्य-दृष्टि, नैतिकता बोध और जीवन परिस्थितियाँ बदल जाने से नर-नारी संबंधों में परिवर्तन आना सहज सम्भावी थी। यह परिवर्तन विवाह और विवाहेतर प्रेम संबंधों दोनों में दिखाई देता है। नारी जब रोजी रोटी की तलाश में अपनी घर की चाहरदीवारी की लक्षण रेखा को लाँघकर आयी तो उसकी जीवन स्थितियों में बहुत अन्तर आ गया। घर से बाहर आकर वह एकाधिक पुरुषों के सम्पर्क में आयी और अब तक पुरुष जिस विवाहेतर प्रेम को मात्र अपना अधिकार समझता था, वह स्त्री की पहुँच में भी आ गया।

यदि नारी घर में पति से संतुष्ट नहीं है, तो उसके पास एक स्वाभाविक आधार था कि किसी पुरुष की ओर आकर्षित हो अथवा जिस प्रकार पुरुष अपनी भ्रमर-वृत्ति से एकाधिक पत्नियों या प्रेमिकाओं से प्रेमालाप कर सकता था उसी प्रकार नारी किसी भी पुरुष या प्रेमिकाओं से प्रेमालाप कर सकता था, उसी प्रकार नारी किसी भी पुरुष या एकाधिक पुरुषों से प्रेम संबंध स्थापित की सकती है।

स्त्री-विमर्श का मूल स्वर प्रतिशोधात्मक नहीं है, यह स्त्री की मुक्ति कामना, बराबरी, सामाजिक न्याय, स्वत्वबोध एवं अस्मिता का ही स्वर है। स्त्री-विमर्श यह मानकर चलता है कि स्त्री अधिकार एवं स्वत्वोध के विषय में खड़े होने के लिए जिम्मेदार पुरुष नहीं हैं, अपितु पितृसत्तात्मक सिद्धान्तों पर आधारित वह व्यवस्था है। इसलिए मशहूर महिला रचनाकार अनामिका कहती हैं—‘स्त्री आन्दोलन पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री संबंधी पूर्वाग्रहों से पुरुष की क्रमिक मुक्ति को असंभव नहीं मानता, दोषी पुरुष नहीं, यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र। आन्दोलन की सार्थकता इसमें है कि वहाँ ऊँगली रखे जहाँ-जहाँ मानदण्ड दोहरे हैं विरूपण प्रक्षेपण, विलोपन।’

आधुनिक नारी की सामाजिक चेतना और आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास साथ-साथ ही हुआ और यह स्वाभाविक भी था। नारी में सामाजिक चेतना उत्पन्न हो और उसका समाज एवं परिवार पर प्रभाव न पड़े यह सम्भव नहीं था। फिर उसका चित्रण न हो यह कैसे सम्भव होता? नारी की सामाजिक चेतना के बदलते विविध रूपों का चित्रण भी विभिन्न प्रकार से हुआ और इस कारण कहानी को भी परिवेश के अनुरूप परिधान ग्रहण करना पड़ा। इसने कहानियों के विभिन्न आन्दोलनों को जन्म दिया। डॉ. राम प्रसाद के अनुसार आधुनिक साहित्य की विविध विधाओं में पाँचवें दशक के बाद सबसे अधिक आन्दोलन कहानी के क्षेत्र में हुए हैं। सन् 50 के बाद हर तीसरे चौथे वर्ष के कालान्तर में नवी कहानी के नये-नये खेमे नये-नये फतवों के साथ खड़े होते रहे हैं। नयी कहानी के बाद कहानी को कई नामों से अभिहित कर बाँटने का प्रयास होता है, यथा अकहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी, समकालीन कहानी, साठोत्तरी कहानी इत्यादि।

आधुनिक हिन्दी कहानी संघर्ष की कहानी है। जीवन के हर क्षेत्र में नित्य प्रति उत्पन्न हो रही नयी-नयी समस्याओं के विकराल रूप का सामना करने के लिए संघर्ष करना और उनका समाधान खोजना युग की आवश्यकता और

माँग थी। नारी की सामाजिक चेतना भी संघर्ष का प्रतिफलन है। इसलिए आधुनिक युग में उसकी अभिव्यक्ति गिनी-चुनी कहानियों के स्थान पर अनगिनत कहानियों में हुई। इस संघर्ष में कुछ समस्याओं का समाधान होते मिला तो कुछ नयी समस्याएँ समुपस्थित होती रहीं। प्रगतिशील एवं जीवन्त जीवन शैली का यह पुष्ट प्रमाण है। इसलिए आज का मानव विशेषकर नारी समस्याओं से घबराती नहीं बल्कि उससे ज़ूझती मिलती है। उसे पता है कि जैसे-जैसे वह प्रगति करती जायेगी। प्रतिगामी परिस्थितियाँ उसके समक्ष नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न करती रहेंगी हर बात के जैसे दो पहलू होते हैं वैसे ही अचाई के साथ बुराई आना या समाधानों के साथ-साथ नयी समस्याओं का जन्म लेना स्वाभाविक है। नयी कहानी का इतिहास नारी की सामाजिक चेतना के विकास के साथ उत्पन्न इन नयी समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने का इतिहास है, इसलिए स्वभावतः नयी कहानी सामान्य जन आम आदमी को लेकर चली है। उच्च वर्ग को नहीं, यथार्थ को लेकर चली है, कल्पना को नहीं, स्वानुभव को लेकर चली है, सुनी सुनाई को नहीं इसलिए यह आवृत्त से अधिक अनावृत हो गयी है। इसलिए उसमें आध्यात्मिकता से अधिक भौतिकता है, वायवीय वातावरण से अधिक स्थूलता है उसमें प्राचीन मूल्यों का महत्व घट गया है और नयी नैतिकता उभर रही है। काम सम्बन्धों की गोपनीयता भंग हो गयी है और उसके प्रति दुराव छिपाव का भाव समाप्त हो गया है उसे सहज स्वाभाविक और सुन्दर माना जाने लगा है।

साठोत्तरी हिन्दी कहानी में नारी की सामाजिक चेतना का चतुर्दिक विकास चित्रित मिलता है। साठोत्तर काल में न केवल कहानियों की वृहत रचना हुई है बल्कि बहुत से साहित्यकार कहानी लेखन में प्रवृत्त हुए हैं। अंगुलियों में गिने जाने वाले कहानीकारों के स्थान पर सैकड़ों कहानीकार इस युग में सामने आए हैं और वे सशक्त कहानीकार भी सिद्ध हुए हैं। इनमें महिला कहानीकारों की संख्या भी कम नहीं है और महिला कहानीकार भी बहुत सशक्त लेखन कर सकी हैं। बल्कि मेरी तो यह दृढ़ मान्यता है नारी की सामाजिक चेतना का, उनके अन्तर्मन का, उनकी कामनाओं, इच्छाओं का जैसा सजीव एवं सटीक चित्रण महिला कहानीकारों ने किया है, पुरुष कहानीकार उसमें उनसे बहुत पीछे रह गए हैं।

आज कहानी साहित्य की सर्वोत्तम एवं सशक्त विधा बन गयी है और उस पर नारी कहानीकारों का वर्चस्व है, यह अत्यन्त आशाप्रद स्थिति है। इस दृष्टि से अनेकानेक पुरुष महिला कहानीकारों का प्रतिनिधित्व परक चयन

करके उनकी शताधिक कहानियों में नारी की सामाजिक चेतना के विविध पक्षों की ओर इंगित करने का प्रयास किया गया है जिससे कि नारी की सामाजिक चेतना के समग्र एवं सुव्यवस्थित इतिहास की दिशा में प्रयास किया जा सकता है। मानव की स्त्री-पुरुष रूप में स्थिति सृष्टि के आदि काल से ही है और तब से नारी पुरुष का उल्लेख हर कहानी में होता आया है। जैसे केवल पुरुषों का अपना कोई इतिहास नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल स्त्रियों का भी कोई इतिहास नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि पुरुष प्रधान समाज के कारण स्त्री का उतना विशद चित्रण नहीं हो पाया या उनकी भूमिका उतनी विशद नहीं हो पायी। जहाँ या जिस क्षेत्र में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण दुई भी उसका श्रेय भी पुरुष प्रधान समाज में पुरुष वर्ग ने ही ले लिया।

हिन्दी में कहानियाँ तो बहुत बाद में समाविष्ट हुईं। सन् 1803 की ‘रानी केतकी की कहानी’ को हिन्दी की प्रथम कहानी माना जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह रानी केतकी को लेकर लिखी गई कहानी है किन्तु इसमें अप्रासंगिक संयोगों और अस्वाभाविक मानवीयता की अतिशयता के कारण इसे मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से सम्पन्न कृति ही माना जा सकता है। इस कहानी के अतिरिक्त किशोरी लाल गोस्वामी कृत ‘पण्यिनी परिणय’ और ‘इन्दुमती’ रामचन्द्र शुक्ल कृत ‘ग्यारह वर्ष का समय’, माधव प्रसाद मिश्र कृत ‘लड़की की कहानी’, माधव राव सप्रे कृत ‘एक टोकरी भर मिट्टी’ बंग महिला कृत ‘दुलाई वाली’ आदि को समीक्षकों ने हिन्दी की पहली कहानी के स्थान पर रखा है। जो भी हो, इनमें से किसी में भी नारी का स्थान गौण नहीं है। कुछ समीक्षक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की ‘उसने कहा था’ को हिन्दी की पहली और मौलिक तथा साथ ही मानवीय संवेदना के स्वाभाविक धरातल का स्पर्श करने वाली कहानी मानते हैं। इस कहानी में भी नारी की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त मास्टर भगवान् दास कृत ‘प्लेग की चुड़ैल’, गिरिजादत्त बाजपेयी की ‘पण्डित और पण्डितानी’ आदि कहानियों को भी हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों में परिणित किया जाता है जिनमें नारी का प्रभूत मात्रा में चित्रण उपलब्ध होता है। यही बात लोक कथाओं को लेकर भी कही जा सकती है।

इस प्रकार हिन्दी कहानियों में नारी का अस्तित्व प्रारम्भ से ही पाया जाता है। इतना ही नहीं वह पुरुष पात्रों से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण भी नहीं है। इसे इन कहानियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक युग में जब समानता एवं स्वतन्त्रता का उद्घोष जोर-जोर से किया

जाने लगा तब पुरुषों की समानता एवं स्वतन्त्रता की माँग के साथ ही साथ नारी स्वतन्त्रता एवं नारी की समानता का प्रबल आग्रह चल पड़ा। वस्तुतः कहानी साहित्य का उद्भव और स्वतन्त्रता तथा समानता की माँग समकालीन घटना है और इस युगान्तकारी एवं नवयुग प्रवर्तक मांग की पूर्ति में कहानी साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है। सामाजिक चेतना के समर्थ समर्थन ने नारी की सामाजिक चेतना का मार्ग प्रशस्त किया और इसमें कहानी साहित्य ने अभूतपूर्व योगदान किया। भारतीय सामाजिक चेतना की वृष्टिभूमि में भारतीय नारी की सामाजिक चेतना के स्वरूप और हिन्दी कहानियों में उस सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति की विवेचना अगले अध्याय में की जावेगी।

साहित्य के क्षेत्र में भी नारियों की प्रगति उल्लेखनीय हो गयी क्योंकि इससे पूर्ववर्ती साहित्यिक युगों में साहित्य क्षेत्र में नारियों का योगदान बहुत सीमित था। एकाध उल्लेखनीय महिला साहित्यकारों से अधिक को इन युगों में खोज पाना भी दुष्कर था। परन्तु आधुनिक युग में यह स्थिति तेजी से बदली। कहानी के क्षेत्र में भी जहाँ उँगलियों में गिनी जा सकने योग्य महिला कथाकार नहीं थीं वहाँ साठोत्तरी काल में उनकी संख्या शताधिक हो गयी। इतना ही नहीं, उन्होंने सशक्त और सजीव रचनाएं प्रस्तुत की। उनमें सपाट बयानी और निर्भीकता जैसे गुण भी स्पष्ट रूप से उभरे। अब तक नारी मन का तथा नारी की समाज में स्थिति तथा शोषण का जो चित्र प्रयास कर भी पुरुष कथाकार चित्रित नहीं कर पा रहे थे, वह नारी ने स्वयं करना प्रारम्भ कर दिया। यह सब नारी की सामाजिक चेतना के कारण ही सम्भव हो सका सम्मान और समानता उपलब्ध कराने के नाम पर नारी का जो शोषण हो रहा था उसका भी खुलकर चित्रण करना नारी ने प्रारम्भ किया जिसको आगे की नई नारी कहानीकारों की विवेचना से समझा जा सकता है। इसका एक जो बहुत ही महत्वपूर्ण परिणाम सामने आया वह यह था कि पुरुष वर्ग में यह भय का भाव व्याप्त हो गया कि अब बहुत समय तक नारी को छल-कपट, झूट फेरेब, प्रलोभन एवं आकर्षण के बल पर बरगलाया नहीं जा सकेगा। अब तो नारी ने अपने ऊपर अत्याचार करने वाले पुरुषों का खुले आम मुकाबला करने के लिए जूँड़ो कराटे तक सीखना प्रारम्भ कर दिया। नारी अब निरीह नहीं रही। यह सब नारी की सामाजिक चेतना के कारण ही सम्भव हो सका। नारी अब कुमारी के रूप में, विवाहिता के रूप में और विधवा रूप में भी अपनी स्वतन्त्र स्थिति, समानता और सम्मान का आग्रह करती है। इतना ही नहीं, जब वह पति के साथ जीवन यापन

करने में तथा पति के दिवंगत होने पर भी अपनी इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं की पूर्ति में पुरुषों से पीछे नहीं रह गयी है। इसका खुला तथा बेबाक चित्रण पुरुष कहानीकारों में ही नहीं, नारी कहानीकारों में भी पूरी तरह उपलब्ध है। नारी अब पुरुषों के एक तरफा उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द आचरण को सहन नहीं करना चाहती और स्वयं भी उन्मुक्त और स्वच्छन्द आचरण करने का अधिकार छीनने के लिए उद्यत प्रतीत होती है। नारी की सामाजिक चेतना के इससे अधिक प्रबल सबूत की आवश्यकता नहीं समझी जानी चाहिए। आगे नारी की इसी सामाजिक चेतना का हिन्दी कहानीकारों की कहानियों में निरूपण किया गया है। इसमें नारी कहानीकार किसी भी प्रकार पीछे नहीं हैं इसे भी भली-भाँति देखा जा सकता है।

आधुनिक नारी की सामाजिक चेतना का जो स्वरूप आधुनिकतम हिन्दी कहानियों में उपलब्ध होता है, वह सहसा ही उसमें नहीं आ गया बल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है। यह बात आधुनिक हिन्दी कहानियों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ उसी पर विहंगम दृष्टि डाली जा रही है जिससे कि यह स्पष्ट हो सके कि आज जिस मंजिल पर आधुनिक नारी पहुंच चुकी है उसके लिए केवल वह स्वयं जिम्मेदार नहीं है बल्कि उस पर सदियों से अत्याचार करता चला आ रहा पुरुष वर्ग भी जिम्मेदार है। सर्वप्रथम आधुनिक सामाजिक चेतना की लाहर और उसके कारण उत्पन्न परिस्थितियों पर कतिपय आलोचकों के दृष्टिकोण पर दृष्टिपात करें। राजेन्द्र अवस्थी ने आज की सामाजिकता के प्रति अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं, ‘हमारी आज की जो सामाजिकता है उस सामाजिकता में न जाने कितने समझौतों के साथ हमें रहना पड़ता है।’ वे आगे लिखते हैं—“जब तक लेखक में सामाजिक चेतना नहीं होगी, सामाजिक सत्य नहीं होगा, सामाजिक विचार उसमें पराभूत नहीं होगा, तब तक वह सामाजिक व्यक्ति नहीं होगा। उसका साहित्य समाज का साहित्य नहीं बन सकता।” वस्तुतः नारी के मुक्त होते ही सारे पारस्परिक आचार विचारों की नींव हिल जाती है। चूँकि, वे सब नारी पर ही टिके हैं। स्वाभाविक है कुछ प्रश्न उठते हैं नारी के अधिकार के घर में नारी के स्थान के विवाह की मर्यादा और गृहस्व धर्म के स्त्री-पुरुष के नए सामाजिक यौन सम्बन्धों को मार्क्सवादी विचारधारा और फ्रायडीय गवेषणे ने दुधारा बना दिया। सतीत्व और सच्चरित्रता

जो हमेशा से धर्म माने जाते रहे हैं, “पाप पुण्य, प्रेम विवाह, सारे प्रश्नबद्ध मूल संस्कारों से और विज्ञान बुद्धि में टक्कर मच जाती है और जीवन की नींवें हिल जाती हैं।”

जीवन को विभिन्न दृष्टियों से परखने पर ही कला अपनी संपूर्णावस्था निखारती है। इसके लिए किसी विशेष चिंतन धारा के प्रति प्रतिबद्ध होने की आवश्यकता नहीं। मृदुला गर्ग भी कहती हैं कि वे समाज सुधारक नहीं हैं परंतु उनके साहित्य में समाज सुधारक पहलू जरूर प्रतिबिबित होता है। मृदुला गर्ग ने विभिन्न सरोकारों को एक गाँठ में जिल्दबंद कर अपनी संपूर्ण जटिलताओं में भी कृति के प्रति प्रतिबद्धता दिखाई है। उनका कथा-साहित्य जहाँ प्रेम-प्रसंग को इंगित करता है वहीं लगभग संपूर्ण मानव-जीवन संबंधी समस्याओं को भी इंगित करता है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, पारिस्थितिक, आर्थिक आदि सरोकारों को उनके इस अध्याय में वाणी मिली है। उपन्यास से अधिक उनकी कहानियाँ मानव जीवन की गहन संवेदनाओं से गहरा सरोकार रखती हैं। उन्होंने मौन मानव को वाणी प्रदान की है। अन्याय का खुलकर सामना करने का आह्वान दिया है। उनका साहित्य सचमुच पाठकों को दिशा निर्देश देने वाला है। अतः मृदुला गर्ग निःस्सन्देह आधुनिक जीवन के नए यथार्थ को तलाशने वाली तथा आधुनिक मानव के अंतरंग सत्य को अनावृत करने वाले साहित्यकारों में अग्रणी हैं।

सन्दर्भ सूची

- समकालीन कहानी: सोच और समझ, डॉ. पुष्पपाल सिंह, पृ. 152
- हंस-जनवरी-फरवरी (2000)
- सौरभ सविता, राजेन्द्र अवस्थी का कथा संग्रह, पृ. 29
- सौरभ सविता, राजेन्द्र अवस्थी का कथा संग्रह, पृ. 32
- सौरभ सविता, राजेन्द्र अवस्थी का कथा संग्रह, पृ. 45

—प्रकाश यादव

शोधार्थी
हिन्दी विभाग
महात्मा ज्योतिबा फुले
रुहेलखण्ड वि.वि. बरेली उ.प्र. सम्बद्ध
सहू जैन कॉलेज, नजीबाबाद बिजनौर

हिंदी समाचार पत्रों में धर्म की रूपरेखा

—डॉ. रजनीश कुमार मिश्रा

भारतीय समाज में धर्म जीवन के मुख्य आधार के साथ-साथ दैनिक जीवन का मुख्य हिस्सा भी है जिसे दैनिक हिंदी समाचारपत्रों में उसकी उपस्थिति के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। जहाँ घटना और सूचना के रूप में उसकी उपस्थिति हिंदी समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठ से लेकर परिशिष्टों तक में होती है। वहीं विचार के रूप में धर्म वैचारिक पृष्ठों में, बोध कथा, जीवन दर्शन, बोधी वृक्ष आदि जैसे कॉलमों के रूप में उपस्थित होता है। संपादकीय पृष्ठों में उपस्थित होता है जिसमें धर्म विषयक घटनाओं पर व्याख्या या संपादक का दृष्टिकोण प्रस्तुत होता है। भूमंडलीकरण ने धर्म के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन लाया है। यह परिवर्तन सभी धर्मों में हुआ जिसकी प्रमुख प्रवृत्ति इस आध्यात्मीकरण में है और इसके पीछे संस्कृति विनिमय के अलावा जो बड़ा है वह है बाजार। अध्यात्म की इस नई धारणा में एक युवा बाजार के अलावा ऐसे लोगों का बड़ा समूह शामिल है जो नई उदारवादी नीतियों के विस्तार के फलस्वरूप बने हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के कारण धर्म का केवल सर्वमान्य और अध्यात्मिक रूप ही समाने आया है। कट्टरपंथ, रुद्धिवादिता, भूमंडलीकृत होते विश्व में धर्म एक और रूप है जिसके कारणों के बारे में प्रसिद्ध सामाजिक विचारक आशीष नंदी लिखते हैं, “उत्तरोत्तर सेकुलर होती हुई दुनिया में पहचान के संकट से ग्रस्त या भग्न इयता के शिकार लोगों को यह आश्वासन बहुत आकर्षक लगता है। यहीं कारण है कि अनिवासी कहीं ज्यादा मुखर और आक्रामक रूप से उग्रराष्ट्रवादी होते हैं। शायद यह कहा जा सकता है कि समाज के सेकुलरीकरण ने रुद्धिवाद के उभार में काफी योगदान दिया है।”

वर्ष 1986-87 का समय धर्म से जुड़े कई विमर्शों के आसपास का समय है जिसमें सिख राजनीति, पंजाब में उग्रवाद, शाहबानों केस, मुस्लिम महिला अधिकारों में सुधार की बहस अयोध्या विवाद जैसे विषय मुख्य रूप से समाचारपत्रों के संपादकीय पृष्ठों में उपस्थिति हुए हैं जिसे नवभारत टाइम्स में ‘अयोध्या की अनिवार्यताएँ’, ‘असम में तुष्टिकरण’, ‘शांतिपूर्ण रथयात्रा’, ‘पंथक कमेटी और प्रवंधक कमेटी’ तथा जनसत्ता में ‘भर्यादा के हाथों’, ‘तनाव और संकट’ ‘अधूरा संतोष’ जैसे शीर्षक से प्रकाशित लेखों एवं संपादकीयों के रूप में देखा जा सकता है। इन लेखों में अधिकतर ऐसे लेख हैं, जिसके धर्म का संबंध तात्कालिक राजनीति धार्मिक सुधार या सामाजिक सरोकार से संबंधित है। पंजाब में सिख धर्म से संबंधित राजनीति और घटनाक्रम इस समय के नवभारत टाइम्स और जनसत्ता के संपादकीय पृष्ठों में प्रमुख रूप से

उपस्थित दिखाई देता है। सरकार द्वारा गुरुद्वारों के प्रबंधन एवं सिखों के उग्रवाद से निपटने की असफलता पर लिखे संपादकीय ‘पंजाब में कठोर कदम’ में नवभारत टाइम्स लिखता है, “पंथक कमेटी और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी में लगातार चलते द्वन्द्व के कारण स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि सरकार को सिखों के तीन प्रमुख ग्रंथियों को गिरफ्तार करने का दुर्भाग्यपूर्ण फैसला करना पड़ा गया। बाहरी तौर पर कारण यही बताया जा रहा है कि मुख्य ग्रंथी दीवाली के दिन सरबत खालसा करने पर आमादा थे और सरकार उसे न होने देने के लिए दृढ़ संकल्प...।”

सिख धर्म में हो रही घटनाओं को आधार बनाकर भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का दखल और धर्म के दुरुपयोग किस प्रकार बढ़ा है इससे संबंधित प्रभाष जोशी का अग्रलेख ‘पश्चाताप से जलने वाले’ दिनांक 22-05-1986 जनसत्ता में प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्रभाष जोशी लिखते हैं, “अकालियों की धार्मिक राजनीति के टोटकों से हमारे अंग्रेजीदा लोग बहुत बिचके हुए हैं। बरनाला के गुरुद्वारे में साफ करने का दृश्य उन्हें राज्य के मुखिया का घोर आत्मपतन लगता है। वे मानते हैं कि अकाल तख्त के सामने हाजिर हो कर सफाई देने और फिर पश्चाताप करने की सजा कबूल करके बरनाला ने मुख्यमंत्री बने रहने का अधिकार धर्म के घर गिरवीरख दिया है।...”

इस तरह हम देखते हैं कि इन वर्षों में समाचार पत्रों के संपादकीय पृष्ठों में धर्म को जो स्थान मिला वह बेहद सीमित है। वर्ष 1986-87 के दौरान धर्म से संबंधित कुल 30 लेखों एवं संपादकीय का प्रकाशन हुआ जिसमें अधिकतर लेख धर्म सुधार आडम्बर विरोधी धर्म राजनीति के अंतर्संबंधों की व्याख्या एवं उसमें सुधार को केंद्र में रखकर लिखे गए हैं। इस समय धर्म से आधारित किसी भी प्रकार का कॉलम ना तो जनसत्ता में प्रकाशित हो रहा था और न ही नवभारत टाइम्स के संपादकीय पृष्ठ में इस प्रकार का कोई कॉलम प्रकाशित होता था।

भूमंडलीकृत व्यवस्था में बाजार का उभार और उसका असर समाचारपत्रों में उपस्थित धर्म पर संख्या और प्रकृति दोनों रूपों में परिलक्षित किया जा सकता है। संख्या के आधार पर निश्चित रूप से धर्म आधारित खबरों में वृद्धि हुई है। ये खबरें प्रथम पृष्ठ पर ब्रत ‘त्यौहार की बधाइयाँ देने से लेकर अन्दर के पृष्ठों में धार्मिक आयोजन की सूचना के रूप में मौजूद रहती है जिसके बारे में हुए कहने हुए अरविंद दास लिखते हैं, “भूमंडलीकरण के दौर में जो बात नई दिखती है वह है विभिन्न हिन्दू धर्म के त्योहारों मसलन, काली पूजा, गणेश पूजा महाशिवरात्रि, जन्माष्टमी,

वगैरह में अखबारों का बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेना।”

बाजारीकरण के कारण या कहे मांग के कारण धर्म से संबंधित रुटीन खबरों का प्रसार तो बढ़ा है, साथ ही संपादकीय पृष्ठ में प्रकाशित धर्म से संबंधित विचार एवं प्रवृत्ति भी भूमंडलीकरण और बाजार से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। इस दौर में धर्म की एक प्रवृत्ति ‘पंथनिरपेक्षता’ की स्वीकृति भी बढ़ी है। ऐसा धर्म बनाने की जिसकी स्वीकृति हर समाज में हो, हो सकता है कि इसे प्रयोजित करने में बाजार की महती भूमिका हो। जो भी हो वर्ष 2012-13 के दौरान धर्म से संबंधी बड़ी संख्या में लेखों और संपादकीयों का प्रकाशन हुआ। इस समयावधि में 91 ऐसे लेखों और संपादकीयों का प्रकाशन हुआ जो धर्म से संबंधित है जिनमें अधिकतर लेखों में अध्यात्म उभर कर सामने आया है, जिसे ‘अध्यात्म भीतर ज्ञानका जरूरी’, ‘धर्म को समझने के लिए भीतर ज्ञानका जरूरी’, ‘गीता में युद्ध का उपदेश क्यों दिया गया’, ‘आवश्यकता से अधिक चीजों की इच्छा अज्ञान है’, ‘जीवन के लिए धन है या धन के लिए जीवन’ जैसे शीर्षकों के माध्यम से देख सकते हैं।

वर्ष 2012-13 के दौर में हिंदी समाचार पत्रों के संपादकीय पृष्ठों में धर्म से संबंधित फीचर लेखों एवं कॉलमों को आसानी से देखा जा सकता है। नवभारत टाइम्स में (स्पीकिंग ट्री) दैनिक भास्कर (जीने की राह, जीवन दर्शन), दैनिक हिन्दुस्तान (मनसा वाचा कर्मणा) आदि जैसे कॉलम हिंदी समाचार पत्रों के संपादकीय पृष्ठों में प्रकाशित हो रहे हैं। इस समय धर्म के बारे में लिखने वालों में अधिकतर लेखक अध्यात्मिक गुरु हैं जो दैनिक जीवन में लेख लिखते हैं। या प्रसिद्ध धार्मिक या अध्यात्मिक रचना से लेकर इन्हें संपादकीय पृष्ठों में प्रकाशित किया जाता है। इस समय अध्यात्म और धर्म से संबंधित प्रकाशित सामग्री में ‘आचार्य राजनीश (ओशो), जग्गी वासुदेव, पंडित विजय शंकर मेहता आदि धर्म गुरुओं के विचार प्रमुख होते हैं, जो दैनिक जीवन अध्यात्म और धर्म से संबंधित होते हैं।

भूमंडलीकृत व्यवस्था और बाजारवादी प्रवृत्तियों ने धर्म की समाचार पत्रों एवं उनके संपादकीय पृष्ठों में मौजूदगी को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। जहाँ विषयों के रूप में इसे धर्म-निरपेक्षता, अध्यात्म, आधुनिक जीवन शैली, युवाओं के लिए धर्म के साथ-साथ धार्मिक कट्टरता, कुरीतियों को उजागर करने वाले लेख आदि रूपों में देख सकते हैं। वहीं संख्या के रूप में तिगुनी वृद्धि के रूप में देख सकते हैं। वर्ष 1986-87 में जहाँ 30 धर्म संबंधित लेखों एवं संपादकीय का प्रकाशन हुआ था। भूमंडलीकरण के दौरान

वर्ष 2012-13 में इसकी संख्या बढ़कर 91 हो गई। जनसत्ता में यह प्रवृत्ति उतनी उभर कर सामने नहीं आयी जिसका मुख्य कारण भूमंडलीकरण के दौरान इसके संपादकीय पृष्ठों का विमर्श केंद्रित होना है।

इन बढ़ी हुई लेखों की संख्या में धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद, आध्यात्मिकता जैसी प्रवृत्तियां प्रमुख हैं, जिसे वर्ष 2012-13 के संपादकीय पृष्ठों में प्रकाशित ‘अध्यात्म भीतरी अनुभव का विज्ञान है’, ‘जितना जल्दी समझ तें उतना ही अच्छा ही’, ‘युवा के लिए आस्था निजी पसंद’, ‘अध्यात्म का बोध तुम्हारे ‘मैं दृष्टि में छुपा हुआ है’, ‘मन को आत्मा से जोड़ना आध्यात्मिक ज्ञान है’, ‘धर्म जड़ प्रथा नहीं, नई दृष्टि पाने का विज्ञान है’, ‘अध्यात्म विज्ञान का आनंद सुख -दुःख से परे है’, ‘सौहार्द के प्रयत्न की परम्परा’, ‘जीवन के लिए धन है या धन के लिए जीवन’, ‘आवश्यकता से अधिक चीजों की इच्छा अज्ञान है’ आदि जैसे लेखों में आसानी से देख सकते हैं।

जबकि भूमंडलीकरण से पहले वर्ष 1986-87 में जो धर्म इन संपादकीय पृष्ठों पर उपस्थित था उसमें अधिकतर लेख धर्म-सुधार, धर्म में उपस्थित भष्टाचार, धार्मिक कुरीतियों की आलोचना धर्म और राजनीति के अंतर्संबंध जैसी उसकी प्रवृत्तियां ही ज्यादा मुखर थीं जिसे हम ‘भारत में कैथलिक चर्च का पसरता तंत्र’, ‘अयोध्या की अनिवार्यताएँ’, ‘आदि शक्ति पर अंधविश्वास का घेरा’, ‘औरत की हामी निकाह में जरूरी है तलाक में क्यों नहीं’, ‘पाखिंड को भी आस्था चाहिए, ‘मंदिरों में सरकारी बुसपैठ’ जैसे लेखों और संपादकीयों के माध्यम से देख सकते हैं। संपादकीय पृष्ठों में धर्म की यह बदलती प्रवृत्ति समाज में धर्म की बदलती प्रवृत्ति का ही लक्षण है, जिसका मुख्य कारण, लोगों का विस्थापन, सूचना प्रौद्योगिकी आदि के द्वारा एक धर्म के लोगों का अन्य धर्मों के प्रति जानकारी का स्रोत, दैनिक जीवन में सहभागिता की वृद्धि, जीवन शैली में बदलाव और अध्यात्म का विकास है।

यह प्रवृत्ति हिंदी के प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। धर्म रोजमर्ग के जीवन के साथ-साथ समाचार पत्रों में करवा चौथ, गणेश चतुर्थी, दीवाली, ईद, मुहर्रम आदि पर्वों मठों और धार्मिक संस्थाओं द्वारा किये गए आयोजनों से भरे पड़े रहते हैं। वहीं संपादकीय पृष्ठों में यह बोधकथा, एकदा, कल्पवृक्ष जैसे लेखों एवं कॉलम के माध्यमों उपस्थित हुआ है।

संदर्भ

1. रामशरण जोशी, भीड़िया : मिशन से बाजारीकरण तक, (2008) पृ. 53, वामदेवी प्रकाशन, जयपुर
2. Emre Bascı, 4P's and 1C of New Age Spirituality: A Holistic Marketing, International Journal of Social Science and Humanity, Vol. 5, No. 5, May 2015
3. अभय कुमार दुबे (स), भारत का भूमंडलीकरण, (2008) पृ. 418, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
4. संपादकीय, पंजाब में कठोर कदम, 20-10-1987 नवभारत टाइम्स, दिल्ली संस्करण
5. प्रभाष जोशी, पश्चाताप से जलने वाले, 22-05-1986 जनसत्ता, दिल्ली संस्करण
6. अरविंद दास, हिंदी में समाचार, (2013) पृ. 104, अंतिका प्रकाशन, दिल्ली
7. Michael York, New Age Commodification and Appropriation of Spirituality, Journal of Contemporary Religion, Vol. 16, No. 3, 2001 p. 361

—डॉ. रजनीश कुमार मिश्रा
सहायक प्राध्यापक, हिंदी
भाषाविज्ञान और साहित्यिक अध्ययन संकाय
विन्मय विश्वविद्यालय
आदिशंकर निलम्ब, वेलीनंद, एलाकुरम,
कर्ला-682313

बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त

—डॉ. संजीव कुमार गौतम

बौद्ध धर्म संसार का एकमात्र ऐसा धर्म है, जिसके मूल सिद्धान्त समस्त प्राणियों का कल्याण करने का संदेश अपने में समाहित किये हुए हैं। बौद्ध धर्म के यही सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिये बुद्धत्व प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। बौद्ध धर्म संसार का महान धर्म है तथा इसके मूल सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर हैं।¹ भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद इन्हीं सिद्धान्तों का सबसे पहले उपदेश सारनाथ, वाराणसी, में दिया था। बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का मूल सारांश चार आर्यसत्यों में ही निहित है। भगवान बुद्ध के प्रथम उपदेश में केवल इन्हीं चार आर्यसत्यों का ही दिग्दर्शन कराया गया है।² इन चार आर्यसत्यों की विस्तार से व्याख्या महावग्म में की गयी है तथा इन्हीं चार आर्यसत्यों को बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त माना गया है। भगवान बुद्ध महापरिनिर्वाण सुन्त में कहते हैं—भिक्षुओं! इन चार आर्यसत्यों को भली-भौंति न जानने के कारण ही मेरा और तुम्हारा इस संसार में जन्म और मरण और दौड़-भाग करना दीर्घकाल से जारी रहा है। इस आवागमन के चक्र में हम सभी दुःख झेलते रहे तथा विभिन्न योनियों में भटकते रहे। अब हमें इसका ज्ञान हो गया है, दुःख का पूर्ण विनाश हो गया और अब आवागमन नहीं होना है।³ चार आर्यसत्यों को बुद्धों का स्वयं उत्पादित एवं उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला धर्म उपदेश कहा गया है।

बौद्ध धर्म के इन चार आर्यसत्यों को संसार के सभी अच्छे धर्मों की जड़ (मूल) कहा गया है। ये आर्यसत्य नाम से ही क्यों जाने जाते हैं, आर्य कौन है, अर्हत ही आर्य हैं, आर्य की व्याख्या धम्पद निम्न रूप में दी गयी है, ‘प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों पर हिंसा नहीं करने को आर्य कहा गया है,’ जिसके समस्त अकुशल पाप कर्म दूर हो चुके हैं, वही उत्तम, श्रेष्ठ, अर्हत आर्य कहलाता है।⁴ धम्पद में स्पष्ट उल्लेख है कि सभी सत्यों में चार आर्यसत्य ही श्रेष्ठ हैं,⁵ क्योंकि इनको आर्य ही जानते हैं, वे ही इन आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा आर्यसत्य कहलाते हैं। धम्पद बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का सारांश और धम्पद में चार आर्यसत्यों की विवेचना बड़े ही सुन्दर ढंग से की गयी है जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया है, वह मनुष्य दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख के विनाश अर्थात् निर्वाण व निर्वाण की ओर ले जाने वाले श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग इन चार आर्यसत्यों को अपने विवेक से देख लेता है।⁶ चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं—दुःख आर्यसत्य, दुःखसमुदय आर्यसत्य, दुःखनिरोध आर्यसत्य, दुःखनिरोध गमिनी आर्यसत्य।

इन आर्यसत्यों का ज्ञान किसी को स्रोतापन्न अवस्था में अल्परूप में होता है और किसी को सकृदागमी व अनागमी अवस्था में हो पाता है, परन्तु अर्हत अवस्था में इन आर्यसत्यों का पूर्ण ज्ञान होता है।⁸ जिसे सत्य की पहले जानकारी होती है उसी को पूर्व निर्देश किया गया है। अब यहाँ प्रश्न यह है कि तृष्णा दुःख का कारण है उसका पूर्व निर्देश क्यों नहीं है? और दुःख जो तृष्णा का कारण है तथा जो फल का रूप है, उसका बाद में निर्देश क्यों नहीं है? इसका उत्तर यही है कि जिस बात में प्राणी फंसा है जिससे वह दुःखी है और इससे वही मुक्ति चाहता है और जिसकी वह परीक्षा करता है, वह और क्या है, यह दुःख ही तो है और तभी तो चार आर्यसत्यों में दुःख को प्रथम आर्य सत्य माना गया है। मुमुक्षु इसके बाद उसके कारण रूप समुदय सत्य और इसके बाद निरोध सत्य तथा उसके बाद अष्टांगिक मार्ग को खोजता है।

बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों में दुःख को प्रथम आर्यसत्य माना गया है। बौद्ध साहित्य में पालि साहित्य⁹ को सर्वोच्च स्थान दिया गया और इस साहित्य में दुःख के संबंध में लिखा है, जीवन दुःखदायी है। जन्म लेना दुःख है। पैदा होना दुःख है। रोगी होना दुःख है। बूढ़ा (बुद्ध) होना दुःख है। शोक करना दुःख है। विलाप (रोना) दुःख है। पीड़ा होना दुःख है। चिन्तन करना दुःख है। परेशान होना दुःख है। इच्छाओं की पूर्ति न होना दुःख है। प्रियजन से अलग होना दुःख है। अप्रिय से मिलना दुःख है। दूसरे शब्दों में पंच उपादान अथवा शरीर ही दुःख है। अतः पंच उपादानों के कारण ही दुःख होता है, वही दुःख के बारे में धम्मपद¹⁰ में बताया गया है, प्रियों (पंच कार्य गुणों) का संग न करें और न ही कभी अप्रियों का प्रियों को न देखना और अप्रियों का दर्शन दुःखद होता है। दुःख सत्य है, तथ्य रूप है, अवितथ रूप है अन्यथा नहीं है। सभी संस्कार (पदार्थ) दुःख का रूप है।¹¹ अतः जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है तब वह दुःखों से मुक्ति पा जाता है और यही निर्वाण का मार्ग है।

पालि साहित्य के अनुसार दुःखों को तीन वर्ग में बाँटा गया है, दुःख-दुःख, विपरिणाम-दुःख और संसार-दुःख। संयुक्त निकाय के सगाथवग्म में दुःख का विवेचना इस प्रकार है, दुःख का ही भाव तथा दुःख का ही अभाव होता है अर्थात् जन्म तथा मरण दोनों ही दुःख के अलावा किसी का अभाव अथवा नाश नहीं होता। दुक्खमेव हि सम्होति। दुक्खं तित्थति वेति च नाजत्र दुक्खा सम्होति। नाज्ञ दुक्खं निरुज्ज्ञति। दुःख पर उपदेश देते हुये भगवान बुद्ध ने स्वयं प्रथम आर्यसत्य की विवेचना करते हुये

कहा—‘भिक्षुओं! बहुत पहले (चिरकाल) से अब तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, पुत्री के मरने का दुःख सहा है, परिवार के मरने का दुःख सहा है, संपत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है। इन सभी प्रकार के दुःखों को सहने वाले संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग तथा अप्रिय के संयोग के कारण रोये पीटे हैं, आँसू बहाते हैं। इस प्रकार दीर्घकाल तक दुःख का अनुभव किया है’¹² दुःख का उल्लेख त्रिपिटक¹³ में अनेक बार हुआ है और इस गंभीर सत्य को समझाने के लिए भगवान बुद्ध ने बार-बार प्रकाश डाला है, जिससे मालूम होता है कि दुःखसत्य ही भगवान बुद्ध की प्रथम शिक्षा उनके उपदेशों का प्रथम सौपान है। इसी कारण भगवान बुद्ध ने इसे प्रथम आर्यसत्य में स्थान दिया था और इसको ठीक से समझे बिना अन्य आर्यसत्यों को समझ पाना असंभव ही है।

वस्तुतः संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है—सर्वमिदं दुखम्। पुरुषार्थ में दुःख है, उसके रक्षण तथा विनाश में दुःख है। सारा संसार ही दुःख से जल रहा है, तभी तो हंसी-खुशी और सुख इस संसार में कहाँ है? धम्मपद¹⁴ में एक जगह कहा गया है कि जब नित्य जल रहा है, तो हंसी कैसी? आनन्द कैसा? अंधकार से धिरे प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते? संसार अनादि व अनंत है और वह अविद्या तथा तृष्णा से संचालित है। इस संसार में न तो ऐसा कोई श्रमण देवता, अनन्यतम सत्य ही अवशिष्ट है, जो संसार में मौजूद पाँच तत्वों से अछूता रहा हो अर्थात् रोग के अधीन होते हुये भी रुग्ण न हुआ हो, जो मृत्यु के आश्रिण है वह मरा न हो, जो क्षय के वशीभूत होते हुये भी क्षीण न हुआ हो और वह भी विनाश के मुख में बैठे होने पर भी नष्ट न हुआ हो।¹⁵ एक उपदेश में भगवान बुद्ध कहते हैं कि प्राणियों की संसार यात्रा अनादि काल से चली आ रही है, उनके उद्गम स्थान का पता नहीं है जहाँ से चलकर अविद्या में फँसकर मनुष्य स्वयं को तृष्णा के बंधन में बाँधकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। भगवान बुद्ध आगे कहते हैं कि न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों की गुफाओं में, जगत में ऐसा कोई प्रदेश मौजूद नहीं है, जहाँ प्रवेश करके स्थिर हुआ। मनुष्य पाप-कर्म से मुक्त हो सके।¹⁶ इस प्रकार दुःख की स्थिति का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। दुःख सर्वत्र व्याप्त है। लोग अविद्या में फँसे हुये हैं और दुःख के देखते हुये भी उसे समझ नहीं पाते, तभी तो वे दुःख को दूर करने का प्रयास नहीं करते।¹⁷ भगवान बुद्ध के अनुसार दुःख हेय है। अतः सत्यों को दुःख का अन्त करना चाहिये। पंच उपादान स्कन्ध रूप, संज्ञा, संस्कार,

विज्ञान व वेदना दुःख है। इन पंच उपादान स्कन्धों को हेतु तथा प्रत्यय सहित अनित्य, अनात्म व दुःख रूप की ही संज्ञा दी गयी है। अतः मनुष्य के दुःख उसके आध्यात्मिक रोग की जड़ ही दृढ़ है। यह सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक भी है तथा हमारे अस्तित्व का अभिन्न अंग भी है, जो क्षणभंगुर तथा नश्वर है। यदि इन सबसे छुटकारा पाया जा सकता है तो इनसे छुटकारा अवश्य ही पाया जाना चाहिए।¹⁸

द्वितीय आर्यसत्यः दुःखसमुद द्वितीय आर्यसत्य का नाम दुःखसमुदय है और दुःखसमुदय का अर्थ कारण होता है। यदि दुःख के कारण की हम पहचान कर लें तो इसका समाधान कर सकते हैं। यह अकाट्य सत्य है कि दुःख की उत्पत्ति में कोई कारण अवश्य ही होता है। संसार में कोई भी घटना विना कारण के घटित नहीं होती। प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है तथा प्रत्येक कारण का कोई कार्य होता है। इसी कार्य के कारण ही संसार भी बंधा हुआ है। अतः यदि दुःख की संज्ञा है, तो इसका कारण जरूर होना चाहिए। इस आर्यसत्य में इसी कारण पर विचार किया गया है। कारण समुदय ही दुःख समुदय कहलाता है। इसी समुदय के कारण जन्म-मरण का चक्र चलता है और इसे जन्म-मरण चक्र, भवचक्र भी कहते हैं। दुःखसमुदय के बारह अंग निम्नलिखित हैं—अविद्या, संस्कार अतीत जीवन, विज्ञान, नामरूप, प्रायतन, स्पर्श वर्तमान जीवन, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति भविष्य जीवन, जरा-मरण।

बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों में तीसरा आर्यसत्य का नाम दुःखनिरोध है। इस निरोध शब्द का अर्थ नाश अथवा त्याग होता है। जब दुःख व उसका कारण है, तब उसके कारण का निरोध (नाश) कर दुःख का भी निरोध किया जा सकता है दुःख के कारण तृष्णा का निरोध ही दुःखनिरोध है। पाँच काम गुणों में नहीं लगना, उसमें आनन्द नहीं लेना, उसमें नहीं ढूँढ़े रहने से तृष्णा का क्षय, निरोध होता है। इससे ही संपूर्ण दुःख का निरोध होता है तथा यह दुःखनिरोध कहलाता है।¹⁹

धम्पपद में दुःखनिरोध पर प्रकाश डालते हुये निरोध शब्द की व्युत्पत्ति निम्न की गयी है कि किस मुद्य के निरोध से दुःख निषेध हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो जैसे सुदृढ़ जड़ के सर्वथा नष्ट न होने वाले तने से कटा वृक्ष फिर बढ़ जाता है, वैसे ही तृष्णा व अनुशय के समूल नष्ट न होने से यह दुःख बार-बार उत्पन्न होता रहेगा। इसलिए भगवान बुद्ध ने कहा कि समुदय के निरोध से ही दुःख का निरोध होता है।²⁰ परमार्थ से दुःखनिरोध निर्वाण ही है क्योंकि निर्वाण को पाकर यह तृष्णा आदि क्लेशों का निरुद्ध तथा पृथक हो जाती है तथा

समूल क्लेशों का त्याग ही निरोध या निर्वाण कहलाता है। भगवान बुद्ध ने इसे एक दीपक का उदाहरण देकर समझाया है कि जैसे तेल व बत्ती के होने से दीपक जलता रहता है और उस दीपक में समय-समय पर कोई तेल न डाले तथा बत्ती को न उकसाये (तेल की तरफ बढ़ाना), तो वह दीपक पहले के आहार न मिलने से बुझ जायेगा। वैसा ही बंधन में डालने वाले धर्मों में बुराई ही बुराई मात्र देखते रहने से तृष्णा नहीं बढ़ती। प्रत्युत धीरे-धीरे यह समस्त दुःख स्कन्ध ही निरुद्ध हो जायेगे।²¹ तृष्णा के नाश से अविद्या का पूर्णतः नाश हो जाता है। अविद्या के विनाश से संस्कार एवं विज्ञान आदि समस्त प्रत्ययों का भी विनाश हो जाता है। इन समस्त दुःखों का नाश होना ही निरोध कहलाता है।²² अविद्या के कारण ही मनुष्य में राग, द्वेष व मोह उत्पन्न होता है। हम राग-द्वेष से युक्त होकर कर्म करते जाते हैं तथा बार-बार जन्म लेते हैं। वस्तुतः राग-द्वेष का निरोध ही निर्वाण है। राग-द्वेष के निरोध से जन्म-मरण का मार्ग बंद हो जाता है अर्थात् भव रुक जाता है। भव का रुक जाना ही निर्वाण कहलाता है। दूसरे शब्दों में भव निरोध ही निर्वाण कहलाता है। इस सम्बन्ध में भगवान बुद्ध ने कहा है कि मार्ग समाप्त हो गया, आशाएँ मिट गयी, सूखी हुयी धाराएँ नहीं बहती, लता कट जाने पर नहीं फैलती। यही निरोध निर्वाण कहलाता है तथा इसके लिए राग, द्वेष तथा मोह का क्षय होना जरूरी है। राग, द्वेष तथा मोह ही मानव के सबसे बड़े शत्रु हैं। इनसे युक्त मानव कभी भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता तथा इनके संयोग से ही वह दुःख को प्राप्त करता है। भगवान बुद्ध ने इन तीनों (राग, द्वेष तथा मोह) का अकुशल मूल की संज्ञा दी है तथा मानव के दुःख का मूल कारण भी यही तीन मूल हैं। राग, द्वेष तथा मोह से मुक्ति निर्वाण तक ले जाती है। इन तीनों का क्षय (नष्ट) होना क्लेशों का नष्ट होना है। भगवान बुद्ध ने तृष्णा पर सर्वाधिक जोर दिया है तथा इसे सभी अकुशल धर्मों को एक संयुक्त नाम कहा है। अविद्या का समूल विनाश से ही निर्वाण का लाभ होता है तथा यह अजर, अमर तथा अमृत की अवस्था होती है।

वस्तुतः निर्वाण केवल पुनर्जन्म का निरोध ही नहीं वरन् परम शान्ति की प्राप्ति है। भगवान बुद्ध के अनुसार विमुक्ति व्यक्ति का कर्तव्य कर्म पूरा हो गया। कुछ करने को शेष नहीं रह गया। वह अत्यन्त सुखमय शान्ति पद को प्राप्त करता है।²³ निर्वाण शिवत्व का लाभ है, यह मानव के परम कल्याण की स्थिति है। भगवान बुद्ध कहते हैं कि निर्वाण का साक्षात्कार इस जीवन में भी किया जा सकता है। जिस व्यक्ति के राग, द्वेष तथा मोह समाप्त हो गये हैं, कुछ पाने की कामना समाप्त हो गयी है, वह इस जीवन में भी परम सुख का

अनुभव करता है।²⁴ यह अनासक्ति का परमानन्द है जो आसक्ति के सुख से बढ़कर है। अक्षय लाभ का सुख परमानन्द की प्राप्ति है।

यह आर्यसत्य दुःखनिरोध का मार्ग है जो व्यक्ति को निर्वाण तक ले जाता है। प्रतिपद का अर्थ मार्ग होता है जो कि दुःखनिरोध का मार्ग होता है। मध्यम मार्ग भी इसी मार्ग का नाम है दुःख का शान्ति केवल इसी मार्ग से ही संभव है।²⁵ लोक में जिससे जाया जाता है उसे मार्ग कहते हैं। इस संबंध में आचार्य बुद्ध घोष कहते हैं कि यह आलम्बन से निर्वाण के अभिमुख होने से दुःखनिरोध को प्राप्त कराता है। अतः इसे दुःखनिरोध की ओर जाने वाला दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद कहा गया है।²⁶ भगवान बुद्ध ने दुःखनिरोध गामिनी आर्यसत्य जो मध्यम मार्ग बताया है, उसे हम अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इस अष्टांगिक मार्ग के आठ भाग हैं—सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्मान्ति, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि। इस अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील तथा समाधि नामक त्रिलोग्यों में विभाजित किया गया है। इस मार्ग को आर्य (श्रेष्ठ) मार्ग²⁷ कहा गया है।

भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग अथवा मध्यम प्रतिपदा कहलाता है क्योंकि यह सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से ही दोनों अन्तों का परिहार करता है। जो कहता है कि आत्मा नहीं है, वह उच्छेद दृष्टि से दूसरे अन्त में अनुपत्ति होता है। शाश्वत व उच्छेदवाद दोनों अन्तों का परिहार कर भगवान बुद्ध मध्यम प्रतिपद (मार्ग) का संदेश देते हैं। इस प्रकार वे इसी तरफ रह जाते हैं। दूसरे भव से जुगुप्ता कर विभव का अभिनन्दन करते हैं। वे मानते हैं कि उच्छेद ही शाश्वत तथा प्रणीत है। वे अतिद्यावन करते हैं। चक्षुष्मान भूत को भूतातः देखता है। वह भूत के विराग, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। यह मध्यम मार्ग अष्टांगिक मार्ग का एक भाग ही है। भगवान बुद्ध यह नहीं कहते कि मुझ पर श्रद्धा रखकर बिना समझे ही मेरे धर्म को मानो।²⁸ वह स्वयं कहते हैं कि मेरा धर्म एहिप्रसिक और पच्चलं वेदितब्बं है अर्थात् भगवान बुद्ध सबको निमन्त्रण देते हैं कि आओ और देखो इस धर्म की परीक्षा करो।²⁹ प्रत्येक को अपने चित्त में उसका अनुभव होगा। यह ऐसा धर्म नहीं है कि एक मार्ग की कामना करे तथा दूसरा फल का अधिगम करे। दूसरे के साक्षात्कार करने से इसका अपने को साक्षात्कार नहीं होता।³⁰ इसीलिए भगवान बुद्ध उपदेश देते हैं कि हे भिक्षुओं! तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो, दूसरे की शरण में मत जाओ।³¹

वस्तुतः यदि हम बौद्ध धर्म के चार आर्यसत्यों पर

सम्मिलित रूप से विचार करें तो स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म के मूल आधार ये चार आर्यसत्य ही हैं। ये आर्यसत्य ही बौद्ध धर्म के मूल उपादान भी हैं।³² ये ही बौद्ध धर्म देशना के प्रधान अंग हैं।³³ चारों आर्यसत्य पूर्णतः नैतिक जीवन की प्रक्रिया से संबंधित हैं।³⁴ दुःख चित्त के समस्त विषयों या जागतिक उपादानों की नश्वरता, जन्म-मरण की भव-परंपरा और चित्त के बंधन का प्रतीक हैं। दुःख का कारण (हेतु) जन्म-मरण की भव-परंपरा के कारणों का सूचक है।³⁵ चतुर्थ आर्यसत्य दुःख निरोध गामिनी (मार्ग) यह बताता है कि यदि दुःख सहेतुक है, तो हेतु का निराकरण भी संभव है। दुःख के हेतुओं का निराकरण कैसे हो सकता है, यह बताना चतुर्थ आर्यसत्य दुःख निरोध गामिनी का प्रमुख उद्देश्य है।³⁶ इस रूप में वह नैतिक जीवन पद्धति या अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या करता है। तृतीय आर्यसत्य दुःख निरोध, नैतिक साधना की फल श्रुति के रूप में निर्वाण अवस्था का सूचक है।³⁷ बौद्ध धर्म के तीन रत्नों को त्रिशरण के नाम से भी जानते हैं तथा इन तीन रत्नों के नाम बुद्ध, धर्म तथा संघ हैं।³⁸ आचार्य वसुबन्धु ने अभिधम्मकोश भाष्य में इन रत्नों की तुलना क्रमशः बैद्य, भेषज्य तथा उपासक से की है।³⁹ इनका स्मरण स्वास्ति कारक है। त्रिशरण गमन बौद्ध संघ में प्रवेश की प्रथम औपचारिक जरूरत थी। प्रवज्ञा के प्रार्थी को सिर और दाढ़ी मुड़ाकर काषाय वस्त्र पहनकर उत्तरासंग एक कंधे में बैठाकर व हाथ जोड़कर तीन बार यह कहना पड़ता है—बुद्धम् शरणम् गच्छामि, धम्मम् शरणम् गच्छामि, संघम् शरणम् गच्छामि।⁴⁰

अच्छा आचरण बौद्ध धर्म की आधारशिला है। अच्छे आचरण को बौद्ध धर्म में शील के नाम से जानते हैं। शील का पालन करना प्रत्येक बौद्ध अनुयायी के लिए जरूरी है, जो बौद्ध अनुयायी शील का पालन नहीं करता वह स्वयं को बौद्ध कहने का अधिकारी नहीं समझा जाता। दूसरे शब्दों में शील का अर्थ होता है—पाप न करना तथा पुण्य का संचय करते हुये चित्त को परिशुद्ध रखना।⁴¹ बौद्ध त्रिशरण के अटल विश्वासी का शील ही मूल धन तथा मूल संबल है, तभी तो बौद्ध सदाचार में आडम्बर को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं किया जाता। भगवान बुद्ध ने कहा है कि जिसमें आकांक्षाएं मौजूद हैं, वह चाहे नंगा रहे, चाहे जटा रखे, चाहे वृत रखे, चाहे जमीन पर सोये, परन्तु शुद्धि नहीं आती।⁴² असली शुद्धि तो शील का पालन करने से ही आती है। धम्मपद में शीलवान व्यक्ति के गुणों को बतलाते हुये तथागत गौतम कहते हैं, पुण्य, चन्दन और चमेली किसी की भी सुगंध उल्टी हवा में नहीं जाती, परन्तु सज्जनों

की सुगंध उलट हवा की तरफ भी जाती है। सत्युरुष सभी दिशाओं में सुगंध फैलाता है। चन्दन या चमेली, कमल या जूही इन सभी सुगंधों से शील की सुगंध उत्तम है।⁴³ चन्दन आदि की सुगंध अल्पमात्र होती है। परन्तु शीलवानों की सुगंध देवताओं तक पहुंचती है। शील संपूर्ण मानसिक ताप को शान्त कर देता है। अशान्त पुरुष सदा यहीं सोचा करते हैं, उसने मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हराया आदि। इस तरह के सोचने वाले लोग अपने हृदय में दुश्मन रूपी आग जलाते रहते हैं।⁴⁴ दुश्मनी का मूल कारण दुःशीलता ही है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि राजा असंयमी व दुराचारी हो, राष्ट्र का अन्न खाने के बजाय आग की लपट के समान तप्त लोहे का गोला खा लेना ही उत्तम है।⁴⁵ अतः सदाचार के महत्व को समझते हुये व्यक्ति को सदाचारी बनने का प्रयास करना चाहिए। पंचशील सदाचार के पाँच सार्वभौमिक नियम⁴⁶ इस प्रकार हैं—प्राणातिपात अर्थात् जीव हिंसा से विरति, मुसावाद अर्थात् असत्य भाषण से विरति, अदिन्नादान अर्थात् चोरी से विरति, परदारंच अर्थात् पर स्त्री गमन से विरति, सुरा मेरेयपानन्व अर्थात् मध्ददान से विरति।

संदर्भ

1. दीर्घनिकाय, संपादक, टी. डब्ल्यू. रीज डेविसन एण्ड जे. ई. कारपेन्टर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1890-1911, प्रथम भाग, पृ. 41
2. सिंह, बी. एन. भारतीय दर्शन, स्टूडेन्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी-5, पृ. 302.
3. महापरिनिर्वाण सुत, भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, 1958, पृ. 44
4. मज्जमनिकाय, संपादक, बी. ट्रेन्कनर, आर. वार्मस एण्ड मिसेज रीज डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1888-1925 पृ. 343, 5. वही
5. धम्पद, संपादक, एस. एस थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1914, पृ. 273, 7. वही, पृ. 190.
6. बौद्ध योगी, संपादक, भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, (वाराणसी) उ.प्र. 1956 पृ. 110-111
7. दीर्घनिकाय, सं. टी. डब्ल्यू. रीज डेविड्स एण्ड जे. ई. कारपेन्टर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1890-1911, पृ. 227
8. धम्पद गाथा संख्या 210, संपादक, एस. एस. थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1914, पृ. 112, 11. वही
9. सिंह, बी. एन. भारतीय दर्शन, स्टूडेन्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी 1988, पृ. 234, 13. वही
10. धम्पद गाथा संख्या 210, संपादक, एस. एस थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी लन्दन, 1914, पृ. 146, 15. वही
11. वही पृ. 128
12. बुद्धः ऑल्डेन द्वारा जर्मन भाषा से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद, 1882, पृ. 216-217
13. सिंह, महेंद्रनाथ, बौद्ध तथा जैन धर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ. 37
14. सिंह, धम्पद, 338, संपादक, एस. एस थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1914, पृ. 114
15. संयुक्तनिकाय, संपादक, ल्योनफीयर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1884-1904, पृ. 74, 21. वही
16. संयुक्तनिकाय 43/3/6: संपादक, ल्योनफीयर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1884-1904
17. सांकृत्यायन राहुल, बुद्धचर्या, सारनाथ, 1952, पृ. 513
18. उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन-मीमांसा, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1978, पृ. 5
19. अभिधम्मकोश, फ्रेंच अनुवाद आचार्य नरेन्द्र देव, इलाहाबाद, 1958, पृ. 1013
20. संयुक्त निकाय 43/3/6: संपादक, ल्योनफीयर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1884-1904, पृ. 107
21. मज्जमनिकाय, संपादक, बी. ट्रेन्कनर, आर. वार्मस एण्ड मिसेज रीज डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1888-1925, 1/5/2, 28. वही
22. मज्जमनिकाय, संपादक, बी. ट्रेन्कनर, आर. वार्मस एण्ड मिसेज रीज डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1888-1925, 1/5/4
23. सिंह, बी. एन.: बौद्ध तथा जैन धर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ.प्र. 1990, पृ. 142
24. वही, 32. वही, 33. वही
25. सिंह, बी. एन., बौद्ध तथा जैन धर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ. 134
26. सिंह, बी. एन.: बौद्ध तथा जैन धर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ.प्र. 1990, पृ. 142
27. दीर्घनिकाय, संपादक, टी. डब्ल्यू. रीज डेविड्स एण्ड ई. कारपेन्टर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1890, पृ. 175
28. वही, पृ. 80, 37. वही, पृ. 80
29. सिंह, बी. एन.: बौद्ध तथा जैन धर्म विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ.प्र. 1990, पृ. 41
30. वही, 40. वही, 41. वही, 42. वही, 43. वही
31. वही, 44. वही, 45. वही, 46. वही
32. सिंह, बी. एन. भारतीय दर्शन, स्टूडेन्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी 1988, पृ. 234, 13. वही
33. धम्पद गाथा संख्या 210, संपादक, एस. एस थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1914, पृ. 146, 15. वही
34. धम्पद गाथा संख्या 210, संपादक, एस. एस थेर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1914, पृ. 183

—डॉ. संजीव कुमार गौतम

अध्यक्ष इतिहास विभाग,
केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान
(सम विश्वविद्यालय)

लेह लदाख (के. शा. प्र.) पिन 194104

जवाहर लाल नेहरू का सांस्कृतिक बोध और युवा पीढ़ी

—डॉ. भरत लाल मीणा

हम स्वतंत्र भारत में नेहरू के प्रति जनमानस के दृष्टिकोण को दो काल विभाजनों के आधार पर समझ सकते हैं। 1990 से पूर्व और उसके बाद का भारत। इस काल विभाजन में 1990 से पहले के लगभग 43 साल और 1990 के बाद के लगभग 33 साल का भारत दिखाई देता है। 1990 से पूर्व तक भारत की राजनीति, समाज, कला, साहित्य और अर्थव्यवस्था में हमें जवाहर लाल नेहरू कमोबेश दिखाई देते हैं। फिल्मों के दृश्यों से लेकर सरकारी कार्यालयों की दीवार पर नेहरू की तस्वीर टंकी दिखाई देती थी। उस समय नेहरू की पार्टी के लोग भी नेहरू के बारे में उतना ही जानते थे जितना वे अपने तत्कालीन नेता राजीव गांधी और उनकी मां (नेहरू की बेटी) इंदिरा गांधी को जानते थे। दुर्भाग्यवश नेहरू की पार्टी के वर्तमान नेता और युवा कार्यकर्ता नेहरू को उतना नहीं जानते। तब नेहरू को वे लोग भी जानते थे जिनका नेहरू की पार्टी और राजनीतिक विचारधारा से कोई लेना देना नहीं था। तब स्कूल के पाठ्यक्रम में नेहरू जितनी गहराई से स्थापित थे, उतनी ही गहराई से वे पढ़ाए भी जाते थे। तब लोगों की चर्चाओं में नेहरू याद आ जाते थे। ऐसा नहीं है कि इस दौर में नेहरू कोई चुंबकीय आकर्षण पैदा कर रहे थे। बहुत से लोग नेहरू की आलोचना भी करते थे। लेकिन कुल मिलाकर अच्छे-बुरे जैसे भी थे, नेहरू लोगों की यादों में थे। 1981-1990 के दशक की समाप्ति के साथ आए बदलावों (उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण, मंदिर मजिजद की लड़ाई से उपजे साम्प्रदायिककरण और आरक्षण की लड़ाई से उपजे जातीय वैमनस्यीकरण) के साथ नेहरू धुंधले धुंधले ही सही, हमें दिखाई देते रहे।

1990 के दशक में जब मेरी पीढ़ी युवा हो रही थी, तब एक नई पीढ़ी भी जन्म ले रही थी। इस दशक में जन्म लेने वाली यह पीढ़ी अब 25 से 30 वर्ष की हो चुकी है। यानि वह पीढ़ी अब भारत का युवा मतदाता हो गई है। यह पीढ़ी पहले की पीढ़ी से ज्यादा टेक्नोलॉजी फ्रेंडली है, स्मार्ट है। लेकिन यह पीढ़ी वाट्सअप विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को पढ़कर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और उसके नायकों को लेकर एक भ्रम का शिकार हो गई है। इस दौर की युवा पीढ़ी में सबसे ज्यादा भ्रम नेहरू के बारे में पैदा किया गया है। इसलिए वह वास्तविक नेहरू को नहीं जानती। वह नहीं जानती है कि भारत को आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समाज बनाने में, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में संवैधानिक मूल्यों और पंथनिरपेक्षता के विचार को स्थापित करने में, भारत में तकनीकी, वैज्ञानिक, कला, साहित्य और संस्कृति के

अकादमिक संस्थानों को खड़ा करने में, मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति करने वाले विचारों को पल्लवित करने के लिए स्वच्छ लोकतांत्रिक वातावरण बनाने में तथा आधुनिक भारत को वैशिक हैसियत प्रदान करने में नेहरू का क्या योगदान है? इस पीढ़ी को यह जानना चाहिए कि आजादी के बाद नेहरू के नेतृत्व वाली सरकार में गैर कांग्रेसी नेताओं को भी महत्वपूर्ण मंत्रालयों की कमाना सौंपी गई थी जो राष्ट्रीय चरित्र को अभिव्यक्त करते थे। इस पीढ़ी को यह भी जानना चाहिए कि नेहरू रईसजादे होने के बाबजूद भी देश की आजादी के लिए लगभग एक दशक तक जेल में कैद रहे हैं। उन्हें भी जानना चाहिए कि नेहरू ने 18 हजार किलोमीटर की भारत यात्रा करने और करीब 10 साल जेल में रहकर अपनी विद्रोह से महान ग्रंथों की रचना की। युवा पीढ़ी को पता होना चाहिए कि एक पिता के रूप में अपनी पुत्री इंदिरा को लिखे पत्रों के संग्रह पर आधारित नेहरू की किताब 'लेटर्स फ्रॉम ए फॉदर टू ए डॉटर' (1929) में उन्होंने प्रागैतिहासिक काल का विवरण देते हुए अपनी पुत्री इंदिरा को इतिहास के साथ बन्य जीव जंतुओं, मनुष्य की उत्पत्ति और विकास को समझाते हुए उसकी बाल सुलभ जिज्ञासाओं का समाधान करने की कोशिश की है। अहमद नगर जेल में लिखी उनकी कालजीय किताब, 'ग्लिंप्सेस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' (1935) भी पत्र लेखन शैली में ही है। बिना पढ़े सोशल मीडिया पर मैसेज फॉरवर्ड करने वाली युवा पीढ़ी को जानना चाहिए कि आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण किरदार निभाते हुए नेहरू अपनी पुत्री को पत्र लिखकर विश्व इतिहास और मानवीय मूल्यों का बोध कराने वाले विचारों से दीक्षित कर रहे थे। वाट्सअप युग के किशोरों और युवाओं को क्या उनके पिता ऐसा मूल्य बोध करा पा रहे हैं? उनकी आत्मकथा 'माय ऑटो बायोग्राफी' अल्मोड़ा की जेल में लिखी गयी थी, जो अनमोल है। इसमें वे अपने परिवार, अपनी पढ़ाई और 1933 तक के आजादी के किए उनके संघर्ष का विवरण देते हैं। इस किताब को लंदन टाइम्स ने उस समय की पठनीय किताबों के वर्ग में रखा था। मौजूदा नौजवान पीढ़ी को पता होना चाहिए कि अहमदनगर जेल में नेहरू ने दर्शन, इतिहास और संस्कृति को लेकर लिखी किताब 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (1944) वेदों से लेकर आधुनिक भारत की काल यात्रा है। वाट्सअप यूनिवर्सिटी से स्नातक इस पीढ़ी को ज्ञात होना चाहिए कि यह किताब अतीत के साथ प्राचीन वांग्यमय एवं भारतीय मनीषा के साथ नेहरू के जुड़ाव और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को दिखाती है। इस पीढ़ी को पता होना चाहिए कि नेहरू का लेखन आत्म

मुग्धता के लिए नहीं, बल्कि देश की एक ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए था जिससे हमारे देश का स्वाभिमान जागृत किया जा सके। मौजूदा युवा पीढ़ी यह नहीं जानती कि इतना उच्च कोटि का विद्वान नेहरू अवध किसान सभा की स्थापना बैठक (1920) से लेकर कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन की अध्यक्षता (1936) करने तक (जिसमें स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन किया गया) भारत का बड़ा किसान लीडर बन गया था। रईसजादे नेहरू कोई पढ़े लिखे शहरी मध्यम वर्ग के नेता नहीं थे, वे किसानों के बड़े नेता थे। देश के सच्चे सिपाही थे, जिन्होंने अपने आतिशान घर को स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने वाली कांग्रेस पार्टी की गतिविधियों के संचालन के लिए डोनेट कर दिया था।

अब सवाल यह है कि 1990 के बाद जन्म लेने वाली पीढ़ी नेहरू को क्यों नहीं जानती? क्योंकि उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने इस पीढ़ी की प्राथमिकताओं और नज़रिए को बदल दिया है, बाद के विकसित हुए हालातों ने विशेषकर अल्पसंख्यक समुदाय के खिलाफ आक्रामक बना दिया है, आरक्षण विरोधी भावना ने सामाजिक न्याय के विचार को भारत की प्रतिभा कुर्चित करने वाला मान लिया है। यह वह दौर है जब स्कूलों में स्वाधीनता आंदोलन की यादें केवल साल में दो बार ही आने लगी हैं, बाकी समय स्कूल में पढ़ाई तो होती है, लेकिन उस पढ़ाई में सामाजिक सरोकार छूटता गया। इस दौर की कॉलेजों में क्लास टीचिंग लगभग खत्म सी हो गई है। इसलिए नेहरू पाठ्यक्रम में होकर भी पढ़ाए नहीं जा सके। पढ़ाई का ढांचा बदल जाने के बाद इस दौर की पीढ़ी स्वाधीनता आंदोलन, राष्ट्र और समाज को विशेष नज़रिए से पढ़ रही है। इन्होंने बाद में वाट्सअप यूनिवर्सिटी के माध्यम से बाकी लोगों को भी अपने नज़रिए से स्वाधीनता आंदोलन, राष्ट्र और समाज के बारे में पढ़ा और दूसरों को पढ़ाया। इस दौरान देश की सरकारों ने स्वाधीनता आंदोलन की विरासत को बचाने के लिए विशेष प्रयास नहीं किए तथा जनता को नेहरू के 'भारतीय राष्ट्र की संकल्पना' और 'सेंस ऑफ हिस्ट्री' के बारे में नहीं बताया। कनार्डाइ विद्वान स्कॉट रीड के अनुसार, 'नेपोलियन के बाद नेहरू के अलावा कोई ऐसा राष्ट्र नायक नहीं है जिन्होंने अपने देश के इतिहास को गढ़ा हो और देशवासियों से प्यार पाया हो।' नेहरू के समर्पणों जितने भी भारतीय राष्ट्र नायक हुए, वे भिन्न भिन्न कारणों से सांसारिक दुनिया से दूर हो गए, लेकिन नेहरू ने सांसारिक दुनियाँ के उतार-चढ़ावों के बीच भारतीय राष्ट्र को गढ़ा।

नेहरू की दृष्टि में आजादी केवल सत्ता का हस्तांतरण नहीं थी, बल्कि व्यवस्था का रूपांतरण थी। इस आजादी के तीन लक्ष्य थे—राष्ट्र का निर्माण, आर्थिक विकास तथा सामाजिक समानता एवं न्याय की स्थापना। इसलिए नेहरू भारत में एक साथ पांच क्रांतियों - सामाजिक, औद्योगिक, नगरीय, राष्ट्रीय और जनवादी क्रांति के सूबधार रहे हैं। उनके नेतृत्व में भारतीय राष्ट्र का निर्माण, आर्थिक विकास और सामाजिक रूपांतरण हासिल करने का तरीका सबसे अनोखा था और वह था—राजनीतिक लोकतंत्र। जहाँ विश्व के अन्य देशों में इन क्रांतियों को करने में तीन सौ से ज्यादा साल लगे तथा इसके लिए उन्होंने दमनात्मक रास्ता चुना और उसके बाद वहाँ लोकतंत्र को अपनाया, वहीं भारत में ये क्रांतियाँ नेहरू के नेतृत्व में एक साथ शुरू हुईं तथा इसके लिए दमन का नहीं, बल्कि जन सहमति और लोकतांत्रिक राजनीति का रास्ता अपनाया गया। नेहरू जन आधारित समान्वेशी राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे। उनका राष्ट्रवाद किसी को शत्रु रूप में नहीं देखता। हमारे स्वाधीनता आंदोलन की मुख्यधारा का मिजाज़ बुनियादी तौर पर लोकतांत्रिक और विश्व बंधुत्व की भावना पर आधारित था। आजादी के बाद नेहरू ने इस विचार मूल्य को अपने शासन में पोषित किया। नेहरू का लोकतंत्र केवल बहुमतवाद या संख्याओं का खेल नहीं था, जैसा आजकल हो गया है, बल्कि संस्थाओं, मर्यादाओं और परंपराओं के आधार पर चलने वाली व्यवस्था था। लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुमत के आधार पर निर्णय लेना एक काम चलाऊ काम है। लोकतंत्र का असली मर्म है कि बहुमत के अनुसार शासन हो और अल्पमत का सम्मान हो। नेहरू मानते थे कि लोकतंत्र का मूल मंत्र है—‘हर व्यक्ति का सम्मान करना और ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना, जिसमें साधारण से साधारण आदमी भी अपनी बात कह सके। सरकार के निर्णय बल प्रयोग पर आधारित नहीं हैं, बल्कि जन सहमति पर आधारित हैं।’ इसके लिए सत्ता और जनता के बीच निरंतर संवाद बना रहना चाहिए। उनके लिए लोकतंत्र केवल शासन व्यवस्था नहीं, एक संस्कार था, जिसे शासन से लेकर सामाजिक मानस तक स्थापित होना चाहिए। इस व्यवस्था में वे स्वयं को प्रधान सेवक मानते थे। नियमित पत्रकार वार्ता के साथ ही हर महीने मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखा करते थे। इन पत्रों में राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम के साथ संस्कृति और कला के बारे में सरकार की ज़िम्मेदारी जैसे विषयों पर भी विचार-विमर्श करते थे।

नेहरू अपनी लोकप्रियता से वाकिफ थे, लेकिन इस लोकप्रियता के खतरों को भी जानते थे। ऐसी लोकप्रियता

के आधार पर कोई भी नेता तानाशाह बन सकता था। इसलिए नेहरू ने स्वयं ही ‘चाणक्य’ छद्म नाम से लेख लिखा, ‘नहीं चाहिए कोई तानाशाह।’ और इस लेख में देशवासियों को ही नहीं, खुद को भी इन खतरों से आगाह करने के लिए लिखा। नेहरू के शासन की यह विशेषता थी कि वे हर चीज में जनता को जोड़ते थे। इसीलिए भारत का राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक नियोजन ‘विविधता में एकता’ के आधार पर संभव हो सका। नेहरू जानते थे कि यदि एकता ‘एकता’ में तब्दील होने लगेगी तो दिक्कत होगी, इसलिए उन्होंने लोकतंत्र और संघवाद के माध्यम से भाषायी पृथकता की चेतना को बड़ी सुझबूझ से सुलझाया। नेहरू अपने इस दृष्टिकोण के कारण अंतरराष्ट्रीय संबंधों के संचालन में पंचशील व गुट निरपेक्षता के सिद्धांत को प्रस्थापित कर अंतरराष्ट्रीय राजनीति का लोकतांत्रिकरण करने में भी सफल हो पाये और इस आधार पर वे विश्व के, खासकर तीसरी दुनिया के देशों के नेता स्वीकार किए गए।

संदर्भ

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल, कौन है भारत माता?, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, 2021
2. पीयूष बबेले, नेहरू : मिथक और सत्य, संवाद प्रकाशन मेरठ, 2018
3. एन. एन चटर्जी (अनुवाद नरेंद्र सिन्हा), राष्ट्रीय विषयों पर नेहरूजी के विचार, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
4. जवाहर लाल नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी (डिस्कवरी ऑफ इंडिया का हिंदी अनुवाद, सं. रामचंद्र टंडन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली, 2010)
5. रामचंद्र गुहा, भारत गांधी के बाद, पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2012
6. विपिन चंद्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996
7. डॉ आलोक कुमार श्रीवास्तव, प्रोफेसर एवं परीक्षा नियंत्रक, हरिदेव जोशी पत्रकारिता और जनसंचार विश्वविद्यालय, जयपुर का व्याख्यान, राष्ट्रीय संगोष्ठी, बाबू शोभा राम राजकीय कला महाविद्यालय अलवर, 13.11.2020

—डॉ. भरत लाल मीणा

सहायक आचार्य, राज. विज्ञान विभाग
बाबू शोभा राम राज. कला महाविद्यालय,
अलवर, राजस्थान

रामनरेश त्रिपाठी के ग्रामीण गीतों का समाज पर प्रभाव

—संजीव कुमार पाण्डेय

गाँव को अन्दर से देखने पर ही उसकी सम्पूर्णता समझ में आयेगी। अभी जो हम गाँव वालों को असभ्य, गदे और अस्त-व्यस्त-सा पाते हैं, उसका पहला कारण तो उनकी असह्य गरीबी है और दूसरा यह कि हम उन्हें योरप की आँखों से देखते हैं। इसी से उनमें असंख्य त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। हम में उनकी त्रुटियाँ ही देखने का अभ्यास भी डाला गया है। उनकी त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ हमें बताई भी जाती हैं और हम उन्हें अपनी प्रखर प्रतिभा से बढ़ाते भी रहते हैं, इससे उनसे हमें धृणा होती जाती है। गरीबी किसी तरह हट जाय तो गाँववालों में अनेक ऐसे सद्गुण चमक उठेंगे जो संसार के किसी भी सभ्य-समाज के लिये आदर्श माने जायेंगे और जो पैतृक-सम्पत्ति की तरह हजारों पीढ़ियों से उनके पास हैं। गाँव की प्राचीन व्यवस्था का अच्छी तरह अध्ययन किया जायेगा तो वह एक आदर्श व्यवस्था साबित होगी। किसी जमाने में गाँव में शिक्षा, न्याय, सहयोगिता, स्वास्थ्य, चरित्र-निर्माण और गृह-प्रबन्ध आदि की स्वतन्त्र और उत्तम व्यवस्था थी। इन सब को मिलाकर वह सम्पूर्ण था और उसे बाहरी सहायता की बहुत ही कम आवश्यकता थी। विदेशी सभ्यताओं ने उसके रूप को छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसी से हम उसके असली रूप को जो अब उसके टुकड़ों में वर्तमान है, नहीं देख पाते हैं और यह हमें अप्रिय सा लग रहा है। जन्म के तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष पहले-पहल जब बच्चे के सिर के बाल उतारे जाते हैं, उसे मुण्डन कहते हैं। हिन्दू समाज के सोलह संस्कारों में यह एक संस्कार है। पहले ज्योतिषी से मुण्डन का दिन और समय नियत किया जाता है फिर नियत दिन पर देव-पूजन, हवन और ब्राह्मणों और मित्रों को भोजन कराया जाता है और ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती है। मुण्डन के अवसर पर गाया जाने वाला गीत निम्न है—

सभवहिं बैठे सिर साहब, बोलें जच्चारानी रे।
साहेब मोरे नैहर लोचना पठावी,
पिचरिया भैया भेजैं बसै, कोसवर को गनै हो।
रानी, घर ही में रँगहु पियरिया, चौक पर बैठहु,
होरिलिवा के मूँड़न रे।

तोहर पियरिया राजा नित के निति उठि पहरव हो।
राजा, हमरे भैया कै पियरिया सगुन के।¹

गाँव का सारा समाज एक अद्भुत विश्वविद्यालय जैसा है जिसमें चमार से लेकर ब्राह्मण तक एक दूसरे को शान-दान करते रहते हैं और सभी गुरु और सभी शिष्य हैं। ज्ञान में कहीं छूत नहीं है। चमार के मुख से गाये हुये भजनों से वहाँ ब्राह्मण पंडित वैसा ही आनन्द अनुभव करते हैं जैसा वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के काव्यों से और वह मौखिक युनिवर्सिटी हजारों वर्षों से, बिना किसी वाइस चांसलर की देख-रेख और बिना एक पैसे के खर्च के चल रही है। गाँववालों ने अपने छोटे बच्चों के लिये भी गीत बना रखे हैं। गोद के बच्चों के लिये जोरियाँ और खेलने-कूदने वाले बच्चों के लिये खेल के अनगिनत गीत हैं। जब बच्चे कुछ सयाने हो जाते हैं और घर के आस-पास की चीजों और जंगल के जानवरों से परिचित हो जाते हैं, तब उनके लिए कहानियाँ और गीत तैयार मिलते हैं। उन कहानियों और गीतों में मनोरम के सिवा समय की सूझ, उदारता, साहस, कष्ट सहना, दया और सच बोलने के लाभ आदि की बातें भी होती हैं, जिनका बच्चों के जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। बच्चों की कहानियाँ बहुत सरल होती हैं और उनके कहने के ढंग और उनकी भाषा में कुछ ऐसा निरालापन होता है जिससे बच्चों को समझने में जरा भर भी बाधा नहीं पड़ती। साथ ही वे दिलचस्प इतनी होती हैं कि बच्चे अपनी दादी, नानी या घर की दूसरी बुढ़ियों या बुद्धों को घेरकर उन्हें सुनते रहते हैं।

किहनी के भाई दुइ मिहनी, बसायेन तीन गाँव।
दुइ उजड़े फुजड़े एक बसवै न कीन।
जैन बसवै न कीन, तौने में बसे तीन कोहार।
दुइ लूला लूता एक के हथवै न।
जैने के हथवै न तादैन गढ़ेसि तीन हाँड़।
दुइ फूटी फूटी, एक से पेदियै न।
जाने के पेदियै न तौने में चुरा तीन चाउर।
दुइ कच्चा कच्चा एक चुरवै न कीन।²

गाँव की मौखिक युनिवर्सिटी में बचपन से लेकर मृत्यु की अन्तिम सीढ़ी तक शिक्षा के अलग-अलग कोर्स हैं और हर एक को उसकी आयु के अनुसार आप से आप शिक्षा मिलती रहती है। वहाँ वृद्धावस्था के लिये उपयोगी शिक्षा का भार बचपन ही में नहीं लाद दिया जाता।

कोल्ह के गीत बड़े सरस होते हैं। उनके गाने के स्वर भी जुदा होते हैं। कोल्ह प्रायः रात के चौथे पहर में चला करते हैं, जब घोर सन्नाटा छाया हुआ होता है। गीत गाने

वाले का ऊँचा स्वर सन्नाटे को चीरता हुआ दूर तक चला जाता है और बड़े सबेरे उठकर राह चलने वाले मुसाफिरों को खबर देता है कि गाँव में कोल्ह चल रहा है, साथ ही प्रेम और विरह की युक्तियाँ सुनाकर उनके हृदयों को गुदगुदा भी देता है। कोल्ह दो प्रकार के होते हैं, एक तेल पेरने का, दूसरा गन्ने का। तेल का कोल्हू केवल तेली चलाता है और वह बारहों महीने चलाता रहता है। गन्ने का कोल्हू किसान चलता है और वह केवल गन्ने की फसल में, जाड़ में, चलता है। तेल का कोल्हू तेली के घर के अंदर चलता है, इससे तेली का गीत उसके घर के अंदर ही गूँजकर रह जाता है। पर गन्ने का कोल्हू किसान के घर के सामने, काफी खुली जगह में, चलता है। इससे उसका गीत बहुत दूर तक के वायुमंडल को अपनी मधुरता से भर देता है। युगान्तक में दोनों प्रकार के कोल्हू प्रायः हर एक जिले में चलते हैं। इससे उनके गीत भी सर्वत्र मिलते हैं-

ऐड़ तेरी सुहाई रे भाई बघिये।
कधी पातर नाचन आई रे- घोरी मेरा चालता चलो।
ऐड़ तेरी में गारा रे भाई बघिये!
कधी सावन बरसे सारा रे- घोरी मेरा चालता चलो।
साड़ सावन के खड़ड खाये रे भाई बघिये!
वह बल कहाँ गँवाये रे- घोरी मेरा चालता चलो।।।
कुड़ी आई भागो रे भाई बघिये।
कधी बाँये बैल के भागों रे-घोरी मेरा चालता चलो।।।
कोठे ऊपर कोठरी रे, खड़ी सुखाऊँ केस।
सैयाँ दिखाई दे गया रे घरे जोगी का भेस।
मै सैया के सँग चली, घरि जोगिन का भेस।।।
घोरी मेरा चालता चलो।।।
कोठे ऊपर कोठरी रे, खड़ी सुखाऊँ केस।
सैयाँ दिखाई दे गया रे घरे जोगी का भेस।
मै सैयाँ के सँग चली, घरि जोगिन का भेस।।।
मै सैयाँ के सँग चली, घरि जोगिन का भेस।।।
घोरी मेरा चालता चलो।।।³

कहारी डोली ढोने का काम करते हैं। दूल्हे को दुल्हन के घर और दुल्हन को दूल्हे के घर पहुँचाने का काम कहार के जिम्मे है। डोली, खड़खड़िया, पालकी या पीनस उठाकर जब वे चलते हैं, तब श्रृंगार-रस के रसीले गीतों से अपनी सवारी को रास्ते भर गुदगुदाते चलते हैं। पति के घर जाने वाली दुल्हन या विवाह के लिये जाते हुये दूल्हे को श्रृंगार

रस के गीत कितने मधुर लगते हैं, अनुभवी ही जान सकते हैं। कहारों के गीत को कहीं लाचारी और कहीं कहरवा कहते हैं। कहार लोग अपने व्याह में नाचते भी हैं। नचाते वक्त 'हुड़क' नाम का बाजा बजाते हैं। कहारों के गीत में—

गोरी घन सुअना पालो जी गोरी घन ने । टेक
बड़ोई जतन कारि पिंजरा बनायो,
तामे घने घने तार लगाये जी ।
तुवा के कागद सें पिंजरा मङ्गय दयो,
मेरा पंछी न कहूँ उड़ि जाय जी ।
राति दिन वाकी टहल करति है,
मेरो पंछी न कहूँ दुखिआय जी ॥
मेवाहू खवावै दिन रात पढ़ावै ताय,
दयो वाई सें चितु लगाय जी ।
एक दिना सो गाफिल हुय गई,
तोता निकरि गयो करै हाय जी ।
खिरकी न खुली कोई तारु न टूटो,
जानै निकरि गयो कौन राह जी ।
खिरकी न खुली कोई तारु न टूटो,
जानै निकरि गयो कौन राह जी ॥
.....”⁴

चमारों पर जातीय गीत बड़े ही मनोरंजक होते हैं। विवाह आदि अवसरों पर वे अपने सगे-सर्वाधियों का ढोल लेकर अपने जजमान किसानों के घर दूल्हे की न्योछावर लेने जाते हैं। उस समय उनकी जाति के कोई दो छोकड़े, जिनमें एक पुरुष बना होता है, दूसरा स्त्री और जो कई संगों के कपड़े पहने रहते हैं, नाचते और गाते चलते हैं और एक तीसरा पुरुष, जो 'करिंगा' कहलाता है, हँसी-मजाक करता है। वह जब कोई दिल्लगी की बात कहता है, तब उसे नाच-मंडली का प्रधान व्यक्ति चमड़े के तल्ले से पीठ पर पीटता है। चमारों का मुख्य बाजा मृदंग, कटोरा और सींग है। इनका नाच सार्वजनिक होता है। गाँव के प्रायः हर एक श्रेणी के लोग चमार का नाच देखने के शौकीन होते हैं। चमार भी गाँवभर को अपना नाच दिखाते फिरते हैं। 'करिंगा' गाँव के जालिम जर्मीदार, कंजूस महाजन या झूठे और अन्यायी पुरुषों की खरी आलोचना भी, किसी का नाम न बताकर, कर बैठता है और उसका परिणाम भी कभी-कभी अच्छा निकल जाता है। इस प्रकार चमार लोग एक प्रकार से समाज के आलोचक हैं—

पंडित मुनि बड़ ज्ञानी । जल छानि के पीवत पानी ।
वही सूत का वने जनेवा उसकर पाग बनाई ।
धोती पहिन क रोटी खावै पाग में छूत ओलियाई ।
नदिया बहिगा नारौ बहिगा बसु नादियन में पानी ।
कछ मंछ घरियाल खाइ गयेन आधै दूध आधै पानी ।
हाड़ गले का मांस गले का दूध गऊ से आई ।
वही दूध कर निकलत मक्खन हाटबाजार बिचाई ।
पंडित बड़े ज्ञानी मुनि हैं । पानी छानकर पीते हैं।⁵

उसी सूत का जनेऊ बनता है, उसी सूत की पगड़ी। धोती पहनकर वे रोटी खाते हैं। लेकिन पगड़ी में छूत समाई हुई है। नदी वही, नाले वही, नदियों में पानी बढ़ा कच्छ-मच्छ और घड़ियाल भी वे खा गये। आधे-आध पानी मिला हुआ दूध भी पी गये। गले में वही हाड़ है, गले में वहीं मांस है। गाय से दूध आता है। उसी दूध से मक्खन बनता है जो हाट-बाजार में बिकता है। गाँवों के समाज का सारा अनुभव गीतों के सुंदर सुरचित है। ग्राम्य गीत ही हमारे अपढ़ और अशिक्षित किसानों के अँधेरे घर के जगमगाते हुये दिये हैं। ग्राम्य गीतों में उनके पूर्वजों के हजारों वर्षों के अनुभव भरे हुये हैं। ग्राम्य गीतों की शुरुआत किसने की और नये-नये रोज कौन बनाता रहता है, इसका पता लगाना मुश्किल है। कुछ ही कहावतें ऐसी मिलेंगी जिनमें बनाने वाले का नाम मिलेगा, वाकी सब कहावतें समाज में अपने आप उत्पन्न हुई कहीं जा सकती हैं।

सन्दर्भ सूची

1. रामनरेश त्रिपाठी, हमारा ग्राम-साहित्य, मुण्डन के गीत, प्रकाशक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृ.56
2. रामनरेश त्रिपाठी, हमारा ग्राम-साहित्य, बच्चों के गीत, प्रकाशक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृ.73
3. रामनरेश त्रिपाठी, हमारा ग्राम-साहित्य, कोल्हू के गीत, प्रकाशक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृ.129-130
4. रामनरेश त्रिपाठी, हमारा ग्राम-साहित्य, कहारों के गीत, प्रकाशक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृ.190-191
5. चमारों के गीत रामनरेश त्रिपाठी, हमारा ग्राम-साहित्य, मुण्डन के गीत, प्रकाशक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृ.219-220

—संजीव कुमार पाण्डेय
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

अपभ्रंश साहित्य में राम-कथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—डा. विजय कुमार पाल

रामकथा का मूल स्रोत वैदिक कालीन साहित्य से माना जा सकता है, परन्तु यहाँ इसका कोई विस्तृत रूप नहीं प्राप्त होता है। वेदों में रामायण के कुछ पात्रों के नामोल्लेख मिलते हैं। वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक जो रामकथा के स्रोत मिलते हैं, वे विभिन्न मनीषियों विद्वानों, भक्तों और कवियों के सतत प्रयास व विचार मंथन के परिणामस्वरूप हैं, जिन्होंने सांसारिक वस्तुओं के मोह को त्यागकर जीवन जगत् के रहस्यों को जानने तथा लोकमंगल के उपायों की खोज में अपना जीवन समर्पित कर दिया। रामकथा का जो स्वरूप आज उपलब्ध है, इन्हीं लोगों का सफल प्रयास है। रामकथा भारतीय संस्कृति की पहचान है। यह इतनी व्यापक और समृद्ध है कि विदेशी भी इसके प्रभाव से नहीं बच पाये हैं। रामकथा की प्राचीनता के विषय में ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इस कथा का अस्तित्व वैदिक कालीन साहित्य से प्राप्त होने लगता है। रामकथा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। पाश्चात्य विद्वान डॉ. ए. वेबर के अनुसार—“रामकथा का मूलरूप बौद्ध दर्शरथ जातक में सुरक्षित है। इस कथा में सीताहरण तथा रावण से युद्ध का कोई उल्लेख नहीं मिलता। डॉ. वेबर का अनुमान है कि सीताहरण की कथा का मूलस्रोत सम्भवतः होमर में वर्जित पैरिस द्वारा हेलेन का हरण है और लंका में जो युद्ध हुआ उसका आधार सम्भवतः यूनानी सेना द्वारा द्राय का अवरोध है।”¹ महाकवि तुलसी के आविर्भाव से पूर्व रामकथा जैन साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में मधुर उपासना सम्बन्धी, वीरगाथा सम्बन्धी और भक्ति आन्दोलन के रूप में होता था। तुलसीदास के पूर्व रामकाव्य परम्पराओं का विवेचन करना महत्वपूर्ण है।

रामकथा पर आधारित प्रथम रचना वात्मीकि कृत रामायण है। पाश्चात्य विद्वान डॉ. वेबर रामकथा का मूल रूप बौद्ध ग्रन्थ ‘दशरथ जातक’ में उपलब्ध मानते हैं, लेकिन रामकथा के मर्मज्ञ फादर कामिल बुल्के ने ‘दशरथ जातक की राम कथा को विकृत रूप कहा है।’² जैन राम काव्य परम्परा में रामकथा सम्बन्धित अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं। डॉ. परमलाल गुप्त के अनुसार, “जैन रामकथा प्राकृत अपभ्रंश की कड़ी के रूप में प्रारम्भिक हिन्दी में चलती रही है। आज भी इसकी परम्परा लुप्त नहीं हुई है।”³ प्राकृत भाषा में रचित जैन रामकथा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ विमलसूरि कृत पउमचरियं है। दसवीं सदी के भडेश्वर सूरि के कहावती ग्रन्थ में लगभग 23000 छन्दों में रामकथा का वर्णन है। स्वयंभू अपभ्रंश साहित्य

के प्रथम कवि माने जाते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ पउम चरित्र एक प्रबन्ध काव्य है जो रामकथा पर आधारित है। मुनि लावण्य कृत रावण मंदोदरी संवाद पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में रचित है। 16वीं शताब्दी में ब्रह्मजिन दास द्वारा रचित राम-रास और हनुमंत रास है। जैन काव्य में रामकथा पर आधारित रचनाओं की एक लम्बी परम्परा मिलती है। इस प्रकार रामकाव्य परम्परा में बौद्ध व जैन ग्रन्थों की एक लम्बी परम्परा संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में आयी है। जैन साहित्य में विमल सूरि द्वारा रचित पउम चरियं और स्वयंभू द्वारा पउम चरियं का रामकथा पर आधारित महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

विमल सूरि द्वारा रचित जैन रामकाव्य परम्परा की यह प्रथम उपलब्ध कृति है। इसकी रचना पुराण शैली में हुई है। यह कृति वीर निर्वाण तिथि 530 वें वर्ष की है। यदि इस तिथि का ई. सन् में रूपान्तरण किया जाए तो इसका समय 64 ई. ठहरता है। एम. विटरनिल्ज भवन ज्योतिष भाषा तथा छन्दों के आधार पर इसका रचनाकाल चतुर्थ शताब्दी का माना है। श्रेणिक राजा की अनेक शंकाओं के समाधान के लिए गौतम गणधर ने रामकथा कही है। इन ग्रन्थ में रामकथा के अधिकांश पात्र अन्त में जैन धर्म में दीक्षित दिखाये गये हैं। इसमें 118 उद्देश (अध्याय) हैं। कुल छन्दों की संख्या 9000 से अधिक है। जो इस प्रकार है—इसमें राक्षसों को विद्याधर जाति का माना गया है। कथा का आरम्भ रावण चरित तथा उसके भाइयों की उत्पत्ति से हुआ है। इनमें रूप परिवर्तन की अद्भुत कला है। हनुरुहपुर में जन्म लेने के कारण हनुमत का नाम हनुमान पड़ा। रावण गले में एक हार पहनता था जिसमें उसके एक सिर के दस प्रतिबिम्ब दिखायी देते थे। बालि को राम ने नहीं मारा बल्कि वह विसर्त हो गया था। रावण को लक्षण ने मारा। इस कृति में राम को पदम कहा गया है। इसलिए रामचरित के लिए पद्मचरित शब्द प्रयोग हुआ है। राम और लक्षण आठवें वासुदेव तथा बलदेव हैं। रावण आठवां प्रति वासुदेव है। इसमें कुम्भकर्ण का नाम भानुकर्ण है, सूर्पणखा का नाम चन्द्रनपखा है। हनुमान चन्द्रनखा की पुत्री अनंग कुसुमा से विवाह किया है। हनुमान और रावण दोनों विद्याधर जाति के हैं।

इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कहीं-कहीं अपभ्रंश भाषा का भी आभास है। कवि गाथा छन्द का अधिक प्रयोग किया है। कवित्व की अपेक्षा कहने की प्रवृत्ति अधिक है। वाल्मीकि की परम्परा से भिन्न रामकथा को प्रस्तुत किया गया है। अपभ्रंश भाषा में निबद्ध यह जैन रामकथा की परम्परा की उत्कृष्ट कृति है। इसके रचयिता

स्वयंभू थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में रहते हुए इन्होंने आठवीं सदी में पउम चरित (पद्म चरित) की रचना की। स्वयंभू छन्दशास्त्र के ज्ञाता थे। स्वयंभू के पुत्र, त्रिभुवन ने अन्त में सात संधियों की रचना करके इसे पूर्ण किया था। पउम चरित में कुल पाँच काण्ड हैं। बालकाण्ड के स्थान पर विद्याधर काण्ड नाम दिया गया है। अयोध्याकाण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड, उत्तर काण्ड (अन्य) काण्ड हैं।

पउम चरित में राम को ब्रह्म के रूप में न प्रस्तुत करके एक संघर्षशील श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है। स्वयंभू पात्रों को विविध परिस्थितियों में रखकर उनके अन्तर्द्वन्द्व तथा मनोभावों का मार्मिक चित्रण किया है। कवि में मानव हृदय की सच्ची परख है। कथा नायक राम अपनी सघनता दुर्बलता दोनों को प्रदर्शित करते हैं। नारी के प्रति जैन साधक अपेक्षाकृत अधिक कटु होते हैं। स्वयंभू की नारी-विषयक दृष्टि युगीन मानसिकता से अलग नहीं है। राम कठोर संघर्ष के बाद सीता को रावण से मुक्त करते हैं, किन्तु अन्त में उनके प्रति बड़ा निर्दयता पूर्व व्यवहार करते हैं। राम सीता की अग्नि परीक्षा लेते हुए धिक्कार भरी बातें कहते हैं :

“जइ यि कुलगग्याउ णिरवज्जउ,
महिलउ, होति असुद्ध, णिलज्जउ।
णउ गण्ति णिय-कुल मझलन्तउ
तिहुयणे अयस-पङ्गु वज्जन्तउ ॥
अंगु समोडेवि धिद्विक्कारहो
वमण णिएति केम भत्ताहो ॥”⁴

स्वयंभू ने सीता के चरित्र को अपनी काव्य प्रतिभा से उज्ज्वल दिखाने का प्रयत्न किया है। सीता ने राम को फटकारते हुए कहा कि नारी और पुरुष में यही अन्तर होता है कि नारी लता की तरह पुरुष वृक्ष का साथ नहीं छोड़ती है। आज मैं सतीत्व की पताका फहराऊँगी, आग में क्या सामर्थ्य है कि वह मुझे जला सके। अन्ततः सीता नारी योनि में पुनः जन्म न लेने की कामना करती है। “स्वयंभू करुण संवेदना को व्यजित करने वाले श्रेष्ठ कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। भरत का विज्ञान, कौशल्या का पुत्र-वियोग की कथा, विभीषण का रावण की मृत्यु पर विलाप आदि हृदयविदारक प्रसंग हैं।”⁵ इस कृति में जैन परम्परा के अनुसार पात्रों तथा घटनाओं को तर्कसम्मत बनाने की चेष्टा की गई है। यहाँ रावण और हनुमान आदि विद्याधर वंश के बताये गये हैं। हनुमान, सुग्रीव आदि वानर नहीं हैं। इनके यहाँ पताका पर कपि अंकित रहता था, इसलिए इन्हें कपिध्वजी वंश का माना जाता था। हनुमान, हनुरुह द्वीप

के लक्ष्मी नगर में रहते हैं। खर की लड़की और शम्बूक कुमार की बहन अनंग कुसुम का विवाह हनुमान के साथ हुआ है। यहाँ हनुमान में किसी तरह का दैन्य या भक्तिभाव नहीं दिखाया गया है। उनकी वीरता और श्रेष्ठता की सराहना राम स्वयं करते हैं। बालि ही के स्थान पर माया सुग्रीव नामक पात्र को प्रस्तुत किया गया है। सीता का एक भाई भामण्डल है। इस कृति में रावण का वध राम नहीं करते बल्कि उनके भाई लक्ष्मण करते हैं। राम की माँ का नाम जैन परम्परा के अनुसार अपराजिता दिया गया है। सीता के विवाह का भी प्रसंग थोड़ा भिन्न है। विद्याधर चन्द्रगति द्वारा भामण्ड जिसे वह बचपन में चुरा ले गया था को सीता से विवाह हेतु जनक के पास प्रस्ताव आया था। चन्द्रगति ने ही वज्रावर्त और सामुदावर्त धनुष तोड़ने का प्रस्ताव रखा था जिसे राम ने तोड़ दिया। रावण के विनाश का मुख्य कारण परस्ती अपहरण है, धर्म, कर्म एवं परिवार की मर्यादा भंग करने के कारण ही विभीषण ने रावण का साथ छोड़ दिया।

“अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत 10 शताब्दी में रामकथा सम्बन्धी उत्तरपुराण ग्रन्थ की रचना की। कुछ साहित्यिकाओं ने इन्हें हिन्दी का प्रथम कवि माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पुष्पदन्त को कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण बताया है। इनका जन्म स्थान बरार माना जाता है। ये स्वाभिमानी प्रकृति के होने के कारण अपने को अभिमान मेरु कहते थे”⁶ वाल्मीकि और व्यास के द्वारा प्रचारित प्रसारित रामकथा के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए तत्सम्बन्धी दोषों का निवारण के लिए गौतम के द्वारा रामकथा कही गयी है। श्रेणिक ने रावण, सुग्रीव, विभीषण आदि के विषय में अनेक प्रश्न रखे जिनके उत्तर में गौतम ने तर्कसम्मत रामकथा को प्रस्तुत किया। “कवि ने उत्तरपुराण की रामकथा में उल्लेखनीय परिवर्तन किया है। राम-लक्ष्मण का जन्म काशी में हुआ है क्योंकि दशरथ पहले यहीं के

राजा थे, बाद में अयोध्या चले गये। राम की माता का नाम सुबला था और लक्ष्मण कैकेयी के पुत्र थे। सीता, रावण और मन्दोदरी की कन्या थी।”⁷ अनिष्ट समझकर रावण ने उसे मंजूषा में भरकर मिथिला में फेंक दिया था, जहाँ एक किसान ने उसे प्राप्त किया और राजा जनक को दे दिया। सीता के अतिरिक्त राम की सात और पत्नियाँ थीं। उत्तर पुराण में सीता का अपहरण नारद के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर रावण के द्वारा किया गया था, कोई अन्य वैर या शत्रु भाव नहीं था। इसमें हनुमान को काम का अवतार माना गया है। सीता का हरण वाराणसी के समीप किसी बन से दिखाया गया है। राम कृष्ण वर्ण के नहीं थे, बल्कि पद्म वर्ण के थे, लक्ष्मण श्याम वर्ण के थे। पुष्पदन्त में धार्मिक कट्टरता अधिक थी। इन्होंने श्वेताम्बर मतावलम्बी गुणभद्र की कृति उत्तर पुराण का अनुसरण किया है, इसीलिए स्वयंभू के पउम चरित से इनकी रामकथा में भिन्नता दिखायी देती है।

सन्दर्भ सूची

1. ए. वेबर, आन दि रामायण, पृष्ठ 11
2. ए. वेबर, आन दि रामायण, पृष्ठ 11
3. कल्याण विशेषांक, रामांक, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 483
4. फादर कामिल बुल्के, रामकथा उत्पत्ति और विकास, पृ. 231
5. फादर कामिल बुल्के, रामकथा उत्पत्ति और विकास, पृ. 235
6. ए. डब्ल्यू. शेलेगल, जर्मन ओरियेण्ट जर्नल, भाग-3, जी. गोरेसियो, रामायणा भाग 10, भूमिका, पृ. 379
7. ए. डब्ल्यू. शेलेगल, जर्मन ओरियेण्ट जर्नल, भाग-3, जी. गोरेसियो, रामायणा भाग 10, भूमिका, पृ. 382

—डा. विजय कुमार पाल
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर, मध्यप्रदेश

‘प्रेमचन्द घर में’ जीवनी : एक दृष्टि

—डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह

हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावादोत्तर काल हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं के अनेकशः विकसित होने का काल रहा है। 1936 में छायावाद के समापन की घोषणा के साथ ही हिन्दी साहित्य में नई-नई विचारधाराओं का उन्मेष शुरू हुआ जिसका प्रभाव साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ा। जीवनी साहित्य पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। एक ही साहित्यकार पर या एक ही राजनेता पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जीवनियां लिखी हैं। इनमें साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द पर तीन बहुत महत्त्वपूर्ण जीवनियां लिखी गई हैं। “पहली जीवनी उनकी पत्नी शिवरानी देवी द्वारा ‘प्रेमचन्द घर में’ शीर्षक से लिखी गई है। दूसरी, उनके पुत्र अमृत राय ने ‘कलम का सिपाही’ नाम से लिखी है और तीसरी श्री मदन गोपाल ने ‘कलम का मजदूर’ नाम से लिखी है। ये तीनों ही जीवनियां काफी अच्छी बन पड़ी हैं परन्तु तीनों में लेखकीय दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द को परिवार के संदर्भ में देखा और अमृत राय ने युग जीवन के संदर्भ में।”¹ इसी प्रकार अमृत राय और मदन गोपाल के दृष्टिकोण भी भिन्न हैं। युगीन परिदृश्य किसी न किसी रूप में इन सभी जीवनियों में आए हैं और प्रेमचन्द के जीवन और सृजन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवेचन भी इन सब में हुआ है। प्रस्तुत लेख में ‘प्रेमचन्द घर में’ जीवनी का अनुशीलन किया गया है।

प्रेमचन्द के जीवन पर समग्र रूप में लिखी हुई पहली जीवनी है—‘प्रेमचन्द घर में’। इसे सन् 1944 में उनकी पत्नी शिवरानी देवी जी ने लिखा था। शिवरानी जी प्रेमचन्द जी की अर्धांगनी होने के साथ ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम की उत्साही और सक्रिय सेनानी भी थीं। जीवनी को लेकर इनकी अपनी स्वीकृति इस प्रकार है—“पुस्तक के लिखने में मैंने केवल एक बात का अधिक से अधिक ध्यान रखा है और वह है इमानदारी और सच्चाई। घटनायें जैसे-जैसे याद आती गई हैं, मैं उन्हें लिखती गई हूँ उन्हें सजाने का मुझे न तो अवकाश था और न साहस। इसलिए हो सकता है कहीं-कहीं पहले की घटनायें बाद और बाद की घटनायें पहले आ गई हों। यह भी हो सकता है कि अनजाने ही मैं मैंने किसी घटना का ज़िक्र दो बार कर दिया हो। मैंने किसी बात को बढ़ा कर कहने की कोशिश नहीं की है, जो कि तीस साल से ऊपर तक ज़िन्दगी के हर दुःख और सुख में उनकी साथी होने के नाते मैं जानती हूँ कि अगर उनके गुणों का बखान करने में मैं तिल

का ताड़ भी बनाती तो भी उनके चरित्र की विशालता का पूरा परिचय न मिल पाता। पर मैंने तो सभी बातों, बगैर अपनी तरफ से कुछ भी मिलाए, ज्यों की त्यों कह दी हैं।”²

इस जीवनी में लेखिका ने छोटे-छोटे 88 अध्यायों में प्रेमचन्द के पारिवारिक और साहित्यिक जीवन का खाका खींचा है। यह अध्याय अधिकांश में प्रेमचन्द के जीवन की विशिष्ट रचनाओं के नाम पर रखे गए हैं। जीवनी का वर्ण्य विषय अधिकांश में तो उनका अपना देखा-सुना हुआ है। वे प्रेमचन्द जी की सहधर्मिणी भी और उनके अधिकांश सुख-दुःख में सहभागी रही थीं। प्रेमचन्द जी के साथ उनके विवाह से पूर्व की घटनाओं का वर्णन प्रेमचन्द और शिवरानी जी के बीच हुए वार्तालाप के रूप में किए गए हैं और अधिकांश में प्रेमचन्द के मुँह से ही कहलवाये गये हैं। इस जीवनी में वर्णित विषयवस्तु के आधार पर प्रेमचन्द जी का सृजनात्मक जीवनवृत्त विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

शिवरानी जी ने प्रेमचन्द जी की जीवनी में उनके स्वभाव, व्यवहार, कार्यशैली, दिनचर्या आदि से सम्बन्धित बहुत से प्रसंगों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए उनकी दिनचर्या से सम्बन्धित एक विवरण दृष्टव्य है—‘जब वे प्राइवेट पढ़ रहे थे तो उनके सिरहाने सलाई, लालटेन, किताब रखी रहती थी। कभी-कभी मैं चारपाई पर से ही उन्हें आवाज दे दिया करती थीं कि उठिए, समय हो गया है। पाँच बजे तक आप पढ़ते रहते थे। पाँच बजे उठकर पाखाने जाते थे, हाँथ-मुँह धोते और तत्काल जो कुछ मिलता, नाश्ता कर लेते। यही उनके रोज के काम थे। इसके बाद छः बजते-बजते फिर अपने कमरे में लेख, कहानियाँ लिखते थे। फिर नौ बजे तक वे साहित्य सेवा में लगे रहते थे। बाद में पाखाने जाना, नहाना जाना होता। फिर कपड़े पहन कर स्कूल जाते। बस्ती में, स्कूल जाते हुए तो इक्के से जाते थे, पर लौटते थे पैदल। रोज आना-दो आना मुझसे किराए के लिए लेते थे। लौटते हुए तरकारी वगैरह खुद उधर ही से लेते आते। साढ़े तीन बजे घर पहुँचते, कभी चार भी बज जाता था। गृहस्थी का काम मेरे करने पर भी कुछ-न-कुछ रह ही जाता। चार बजे आते ही कुछ नाश्ता करते उसके बाद पांच तक गपशप करते रहते। फिर छः से लेकर आठ बजे तक कुछ-न-कुछ साहित्य की सेवा करते।’’³

शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द को हिन्दी के उपन्यास सप्राट के रूप में न देखकर एक गृहस्थ के रूप में देखा है जो साहित्यकार भी है। उनका पूरा ध्यान प्रेमचन्द जी के जीवन के स्थूल पक्षों पर ही रहा। कहीं-कहीं उसमें विचारात्मकता भी आई है परन्तु उसमें उनके सामाजिक

दृष्टिकोण की सामान्य चर्चा होकर रह गई है जैसे कि स्त्रियों के संबंध में उनके क्या विचार थे अथवा समाज में गरीब वर्ग के प्रति वे क्या धारणा रखते थे। कुल मिलाकर यह एक गृहस्थ व्यक्ति की जीवनी है जिसे उनकी पत्नी ने लिखा है क्योंकि वह गृहस्थ साहित्यकार थे भी। शिवरानी जी ने लिखा है—‘इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य उस महान आत्मा की कीर्ति फैलाना नहीं है। इस पुस्तक में आपको घरेलू संस्मरण मिलेंगे पर इन संस्मरणों का साहित्यिक मूल्य भी इस दृष्टि से है कि उनसे उस महान साहित्यिक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से भी वह व्यक्ति कितना महान, कितना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है और यह बताने का अधिकार जितना मुझे है उतना और किसी को नहीं क्योंकि उन्हीं के शब्दों में हम एक ही नाव के यात्री थे और हमने साथ-साथ ही जिन्दगी के सब तूफानों को झेला था। दुःख में और सुख में मैं हमेशा उनके साथ, उनके बगल में थी।’’⁴

प्रेमचन्द जी की इस जीवनी में उनके अन्तर्गत जीवन की मधुर ज्ञांकी मिलती है तो कष्टपूर्ण परिस्थितियों के मार्मिक चित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसमें उनकी साहित्यिक जीवनी जरूर अपूर्ण लगती है परन्तु एक उदात्त व्यक्तित्व के सद्गृहस्थ के जीवनी के रूप में यह बिल्कुल पूर्ण है और उत्कृष्ट जीवनी की श्रेणी में आने की अधिकारिणी है। शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द जी की जीवनी की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि इस जीवनी में उनसे सम्बन्धित घरेलू संस्मरण को महत्व दिया गया है, उन घरेलू संस्मरणों को जिनमें वे दोनों साथ-साथ रहे, सुख-दुःख भोगा और एक दूसरे का सहारा बने। साथ ही साथ उन घटनाओं पर भी दृष्टि केन्द्रित की गई है जो प्रेमचन्द के उदार और विशाल हृदय का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। परिवार में, समाज में मित्र-मण्डली में, नौकरी में, यहां तक कि सामान्यतः कहीं आने-जाने में उनकी कर्तव्यपरायणता, सहदयता, धैर्य, कोमलता, सहयोगी भाव, परदुःखकातरता आदि का निरूपण इस पुस्तक में यथेष्ट ढंग से हुआ। लेखिका को यह भी स्मरण रहा है कि वे परिवार में ‘तेतर’ (तीन लड़कियों की पीठ पर पैदा होने वाले पुत्र) थे। बचपन में ही माँ की स्नेहिल छाया इनके ऊपर से उठ गई। मरते समय माँ ने अपने तीनों बच्चों को जिस आशा से पिता के सुपुर्द किया था, उनकी वह आशा फलित नहीं हुई। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया और विमाता का व्यवहार बच्चों के प्रति उतना अच्छा नहीं था। वे अपने साथ आए अपने छोटे भाई को अधिक मानती थीं, अपने पति की प्रथम पत्नी के बच्चों

को कम। यहाँ तक कि पिता द्वारा लाई गई खानेवाली वस्तुओं को वे बच्चों को देना पसन्द नहीं करती थीं। इसके बावजूद, प्रेमचन्द ने विमाता के प्रति अपने कर्तव्य भाव में कोई कमी नहीं आने दिया। जब वे कमाने लगे तो नियमित रूप से अपनी विमाता को अपने वेतन में से रुपये देते रहे। प्रेमचन्द जी का हृदय अत्यन्त उदार था। उनसे जहाँ तक बन पड़ता था सभी की सहायता करते रहते थे। घर में काम करने वालों के प्रति उनका व्यवहार अपनत्व भरा होता था। सेवा भाव तो जैसे उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था चाहे परिवार का सदस्य हो चाहे बाहर का कोई हो, वे किसी को मुसीबत में देख कर उसे नज़रअंदाज़ नहीं कर पाते थे। लेखिका ने लिखा है—“सेवा उनका मूल मंत्र था किसी को बीमार नहीं देख सकते थे”⁵

वात्सल्य भाव भी इनमें बहुत था। बच्चों की देखभाल और उनके स्वास्थ्य के प्रति वे हमेशा सजग रहते थे। शिवरानी जी ने उनके वात्सल्य के कई प्रसंग प्रस्तुत किए हैं। उनमें से यहाँ दृष्टव्य हैं। सन् 1923 में उनके छोटे बच्चे की तबियत खराब थी। उसे उल्टी और दस्त हो रहे थे। बच्चे को डाक्टर के यहाँ ले जाना था। बच्चे को लिए खड़े थे। “तब तक उसी तरफ बच्चे ने कै-दस्त दोनों किए। आपके दोनों हाथ-सामने और पीछे खराब हो गए। जब मैं आई तो बच्चे को मुझे देकर उन्होंने कपड़े बदले और तुरन्त डाक्टर के यहाँ चले गए। डाक्टर को ले आए। डाक्टर ने दवा दी। उस दिन डेढ़ बजे दिन से सारी रात हम दोनों बैठ कर दस-दस मिनट पर दवा दे रहे थे। लेकिन कै-दस्त दोनों बराबर जारी थे। कोई चार बजे के बाद उसको कुछ आराम हुआ। तब उन्होंने अपनी कमर सीधी की”⁶

प्रेमचन्द जी नितान्त स्वावलम्बी थे। स्त्रियों से काम करवाना उन्हें बिल्कुल नहीं पसन्द था। विशेषकर इस रूप में कि वे स्त्री हैं इसलिए उन्हें कुछ काम करना ही चाहिए। शिवरानी जी ने लिखा है, “हुक्के की चिलम तक भरवाना मुझसे व पसन्द न करते थे। नौकर दरवाजे पर बैठा रहता था, लेकिन अन्दर आकर वे पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर खाली ही रहता। कभी-कभी इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती कि नौकर फिर क्यों है? आप बोलते अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे, फिर मैं पाँच रुपये का नौकर तो खुद ही था।”⁷ वे घर का काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। हमेशा घर के काम में व्यस्त रहते थे। यद्यपि यह काम शिवरानी देवी को अनुचित लगता था क्योंकि वे चाहती थीं कि बाहर का काम प्रेमचन्द जी करें और घर का काम

उनके जिस्मे रहे। फिर भी वे (प्रेमचन्द) घर के बहुत सारे काम उनके सोते रहते ही कर डालते थे।

शिवरानी देवी प्रेमचन्द जी की जीवनी में अपने और उनके बीच होने वाले कई वार्तालापों को भी लिखा है। ये वार्तालाप जैसे कि पति-पत्नी के बीच होने वाली खटपट, नाराज़ होना, मनाना, पारिवारिक समस्याओं पर विचार करना आदि से सम्बन्धित है, परन्तु इनमें प्रेमचन्द जी की कोमलता, सरलता, पत्नी-प्रेम, पारिवारिक उत्तरदायित्व आदि झलकते हैं। एक बार शिवरानी जी मायके जाने के लिए तैयार थीं परन्तु प्रेमचन्द जी ने उन्हें रोक दिया। इस पर झल्लाकर वे कमरे से बाहर जाने लगीं। इस मौके पर दोनों लोगों के बीच का वार्तालाप यहाँ दृष्टव्य है—“आप बोले, कहाँ जा रहे हो?” “मैं बाहर जा रही हूँ।” “जाओगी कहाँ आखिरकार?” “अच्छा, मैं नहीं जाऊँगी। आप ही यहाँ से जाइये।” “अरे, मैं कहाँ चला जाऊँ?” “तुमको जाने का ठिकाना नहीं तो मैं जा रही हूँ।” “नहीं, तुमको धूप में नहीं जाना है।” मैंने जिदूद की। उस पर उन्होंने मुझे दो चपत लगाए और बाहर चले गए और फिर जब शाम को आए तो मैं गुस्से में बैठी थी। तब बहुत आहिस्ते से बोले, “इस तरह क्यों झल्लाई हो?” “मैं झल्लाऊँगी क्यों?” “कैसे कहूँ कि तुम झल्लाई नहीं हो? न किसी से कुछ बोलना, न किसी से कुछ कहना-सुनना।” “मेरे खामोश बैठने से किसी का क्या जाता है? सजा ही देने के कारण तो आपने मुझे अपने घर जाने नहीं दिया। कैदी कैसे खुश रह सकता है?” यह तुम्हारी बड़ी भूल है। मैंने तुम्हें तकलीफ़ देने की नीयत से नहीं रोका बल्कि इसलिए कि तुम्हें जाने नहीं देना चाहता। तुमको तकलीफ़ देने में मुझको कुछ मिलेगा? मैं सच कहता हूँ, तुम घर चली जाती हो तो मुझे अच्छा नहीं मालूम होता।”⁸

प्रेमचन्द जी की इस जीवनी में लेखिका ने प्रेमचन्द जी के चरित्र के उन पक्षों को उधारा है जो किसी भी साहित्यकार के लिए साहित्य साधना के प्रेरक बन सकते हैं। भयंकर बीमारी की स्थिति में उनका लिखना बन्द नहीं होता था। जिस समय वे ‘मंगलसूत्र’ लिख रहे थे उस समय उन्हें खून की उल्टियाँ हो रही थीं। किसी भी साहित्यकार की साहित्यिक निष्ठा का यह चरम आदर्श है। शिवरानी जी ने उनकी खूबियों के साथ उनकी कमज़ोरियों का ज़िक्र किया है। प्रेमचन्द की एक उप पत्नी या रखैल का भी ज़िक्र ऐसे प्रसंग में किया गया है कि कोई भी सहदय पाठक प्रेमचन्द जी को अपराधी नहीं कह सकता। अपनी अन्तिम बीमारी के दिनों में वे मानव अपनी सती-सावित्री पत्नी से क्षमा-याचना कर रहे थे।

‘प्रेमचन्द घर में’ पुस्तक में प्रसंगों के देश काल वातावरण का भी ध्यान रखा गया है। देश काल के वर्णन में प्रायः तत्कालीन रीति-रिवाजों, सामाजिक परिस्थितियों आदि को पेरा गया है जैसे कि जब वे महोबा में रह रहे थे तो वहाँ अधिकारियों और रईसों को दूध, धी, बर्तन आदि चीजें बेगार में मिलती थीं। प्रेमचन्द जी ने इन चीजों को बेगार में लेने से मना कर दिया तो वहाँ के रईसों ने इस पर आपत्ति की। उन लोगों का कहना था कि यह यहाँ का नियम है। आप यह नियम हटा देंगे तो यह कभी किसी को बेगार आदि देंगे ही नहीं। ऐसे ही एक प्रसंग चरखारी में मेला देखने गई और प्रेमचन्द जी घोड़े से गए। ‘वहाँ जा कर खेमा लगवाया। राजा साहब के आदिमियों को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आए हैं तो रसद उनके यहाँ से आई। खैर, शाम को खाना बना। चपरासी महाराज था, उसने खाना बनाया, सब लोगों के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मैं और मेरी एक सहेली तो जनाने भाग में गए, आप लोग मर्दाने में गये। सर्कस वहाँ बहुत अच्छा होता था।’⁹ होली के अवसर पर होली खेलने, कुछ विशेष मौकों पर आतिशबाजी आदि होने, तीज-त्योहारों के अवसर पर विभिन्न प्रकार के लोकाचारों को दिखाने में देशकाल वातावरण का चित्रण बहुत प्रभावी बन पड़ा है। साम्प्रदायिक विवादों के कारणों पर विचार करने वाले प्रसंगों में भी रीति-रिवाजों, मान्यताओं आदि का काफी वर्णन हुआ है।

शिवरानी जी ने बहुत ही सरल और बोधगम्य भाषा में प्रेमचन्द की जीवनी प्रस्तुत की है। कहीं भी प्रसंग को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है। छोटे-छोटे वाक्यों में सरल भाषा में और सीधे-सपाट लहजे में सारी बातें कहीं गई हैं। आवश्यकतानुसार औँचलिक शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग इसमें काफी हुआ है। कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वार्तालाप आए हैं परन्तु वार्तालाप में छोटे-छोटे वाक्यों पर किया गया है। संवाद अत्यन्त खरा होने के साथ भावों को प्रस्फुटित करते हैं। प्रेमचन्द जी तथा शिवरानी देवी जी के वार्तालाप इतने स्वाभाविक ढंग से लिखे गए हैं कि किसी भी सहदय पाठक पर उनका प्रभाव पड़ना निश्चित है। इन वार्तालापों से जहाँ प्रेमचन्द जी का सहदयतापूर्ण रूप प्रकट होता है वहाँ शिवरानी जी का अक्खड़पन कम आकर्षक नहीं है। एक प्रसंग उदाहरण के लिए दृष्टव्य है—‘मैं बोली मुझे तो यहाँ अच्छा नहीं मालूम होता।’ ‘मैं चाहता हूँ कि तुम अपने घर में आराम से रहो। यह घर तुम्हारा क्यों न बने?’ “मुझे क्या गरज पड़ी है कि दूसरे

के घर में घरवाली बनूँ?” “सच कहता हूँ तुम्हारा घर यही है। कैसे समझाऊँ?” “थप्पड़ मार कर समझाइये।” “मैंने थप्पड़ नहीं मारे थे।” “क्या अभी और मारने की खाइश है!”¹⁰

प्रेमचन्द जी जैसे उच्चकोटि के साहित्यकार के गृह-जीवन की ज्ञाकियाँ देखने के लिए पाठकों की इच्छा होना सर्वथा स्वाभाविक है और निःसन्देह शिवरानी जी ने इस जीवनी के माध्यम से प्रेमचन्द के अनुरागियों, शोधार्थियों, सामान्य पाठकों आदि सभी की जिज्ञासाओं की शान्ति के लिए प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। इस जीवनी लेखन का उद्देश्य स्वयं शिवरानी जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—“पाठकों के सामने इस पुस्तक को रखते हुए मुझे वही सुख अनुभव हो रहा है जो किसी व्यक्ति को अपना कर्तव्य पूरा करने से होता है। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य उस महान आत्मा की कीर्ति फैलाना नहीं है, जैसा कि अधिकांश जीवनियों का होता है। इस पुस्तक में आपको घरेलू संस्मरण मिलेंगे पर उन संस्मरणों का साहित्यिक मूल्य भी इस दृष्टि से है कि इनमें उस महान साहित्यिक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से भी वह व्यक्ति कितना महान, कितना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है।”¹¹

संदर्भ सूची

1. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ. 535, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, संस्करण, 2020
2. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में पृ. 13 (दो शब्द), आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली संस्करण 2015
3. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 46
4. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 13
5. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 87
6. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 87
7. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 46
8. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 31
9. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 36
10. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 32
11. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृ. 13

—डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह

हिन्दी विभाग
रमावाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, अकबरपुर
अम्बेडकर नगर, (उ.प्र.)

मनू भंडारी की कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंध

—डॉ. राम किशोर यादव

मनू भंडारी की कहानियाँ समाज का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं। इसमें संवेदना के अनुरूप भाषा का रूप बदलता गया है। इन संबंधों की पड़ताल करना ही इस लेख का मूल उद्देश्य है। मैं हार गई, तीन निगाहों की एक तस्वीर, यही सच है, एक प्लेट सैलाब एवं त्रिशंकु कहानी संकलनों में विद्यमान कहानियाँ जीवन के बारे में बहुत कुछ कहती रहती हैं। संबंधों का बेबाकी से चित्रण करती हैं। इन सभी कहानियों को समेटना शायद संभव नहीं परन्तु प्रमुख कहानियों को आधार बनाकर संबंधों पर विचार करने की कोशिश है। समाज में विद्यमान संबंधों का बड़ी ही बारीकी के साथ मनू भंडारी ने चित्रित किया है। स्त्री-पुरुष संबंधों का प्रत्येक पक्ष का मूल्यांकन करती हैं। इसमें सामाजिक स्थितियों का भी विश्लेषण मिलता है। इस प्रकार कहानियों में अपना रंग है। संवेदना के अपने स्तर हैं। उनके साथ बदलती परिस्थितियों के कारण व्यक्ति के अन्दर आनेवाले बदलावों का भी समावेश किया गया है। कहानियों में स्त्री-पुरुष अपने सभी भावों के साथ मौजूद है। साहित्य में समाज के विविध रूप को चित्रित किया जाता है। समाज की हर घटना को बदलते परिवेश में रेखांकित करना ही रचनाकार का दायित्व होता है। उसमें युग के सभी पहलुओं का प्रतिबिम्बन होता है। समाज के हरेक पक्षों को देखकर उससे उपजी अनुभूति के बल पर ही रचना का सृजन होता है। वह सृजनात्मक बिन्दु ही महत्वपूर्ण है, जिसमें समाज के हर घटकों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है। उसमें मानवीय मूल्य, सामाजिक दायित्वों एवं पारिवारिक स्थितियों का समग्र विश्लेषण मिलता है। वैज्ञानिक प्रगति, नवीनतम शोध कार्यों एवं नवीन मानदंडों के आधार पर मूल्यांकन करने की कोशिश की जाती है। इसमें व्यक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका है। किसी भी देश की कला, संस्कृति तथा साहित्य के विकास में वहां मौजूद विविध सामाजिक तत्वों का महत्व होता है। यह समाज सापेक्ष होता है। किसी भी समाज में कला, संस्कृति की प्रक्रिया का विकास समानुपाती होता है। सामाजिक जीवन विविधता से भरा है। उनमें समाज के सभी आयाम समाहित हैं। समाज में विद्यमान वर्गीय संरचना को केन्द्र में रखा जा सकता है। इसमें चिन्तक, शिल्पकार, नतर्क, बुद्धिजीवी वर्ग एवं लेखकों के महत्व को समझा जा सकता है। यह एक समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरता है। समाज के प्रत्येक लोगों पर राजनीति का प्रभाव पड़ता है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, “अभी तक कुछ लेखकों में चर्चा चलती रही कि जनता से भी उनका संबंध होना चाहिए या नहीं।”¹

समाज में मनुष्य का जीवन विविधता से भरा रहता है। उनमें जीवन के हरेक रंग मौजूद रहते हैं। जिन्दगी की पूरी तस्वीर उसमें विद्यमान रहती है। इसे व्यापकता में देखने की जरूरत है। प्रत्येक जन के अनुभव को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। समाज में व्यक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका है। व्यक्ति के संबंधों की पड़ताल समय की जरूरत है। स्त्री-पुरुष दो ऐसे पक्ष हैं जिनके विश्लेषण के बिना जीवन का सही मूल्यांकन संभव नहीं है। समाज में चित्तवृत्तियों का संग्रहण मिलता है। प्रारंभ से लेकर अंत तक जीवन के हरेक घटनाओं का समग्र विवेचन मिलता है। इस दौरान जो परिवर्तन आते हैं, उनका पूरा समायोजन किया जाता है। व्यष्टि और समष्टि के संबंधों की पड़ताल की जाती है। ग्रामीण, शहरी शिक्षित, अशिक्षित, उच्च वर्गीय, मध्यवर्गीय एवं निम्न वर्गीय पक्षों को लेकर संबंधों पर विचार किया जाता है। मनू भंडारी की कहानियाँ अपने समय की गवाह हैं। उनमें जो-जो परिवर्तन आते गये हैं समाज के साथ घटित क्रिया व्यापारों का ही एक रूप है। औद्योगिकरण की प्रक्रिया ने समाज में परिवर्तन लाया है। ग्रामीण लोगों का शहरों की ओर पलायन हुआ। यह पलायन रोजगार से संबद्ध है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्ण्य के अनुसार, “‘औद्योगिकरण और आजीविका की तलाश में लगे हुए लोग गांव छोड़कर नगर में बसने लगे जिससे नगरों की आवादी बढ़ गई। नगरों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है उस तेजी से आवास, भोजन, शिक्षा, यातायात आदि अन्य साधारण सुविधाएँ नहीं दी जा सकी हैं। महानगरों की हालत सोचनीय है।’”² शहरीकरण की प्रक्रिया ने मनुष्यों के संबंधों को प्रभावित किया है। स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी एवं अन्य संबंधों में तेजी से बदलाव आया है। आर्थिक प्रगति के जीवन पद्धति में गुणात्मक परिवर्तन लाया है। इसका समग्र विश्लेषण करने की आवश्यकता है। नगरों और गांवों में शिक्षा हेतु अधिक से अधिक स्कूल खोले गए। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नामक संस्था की स्थापना की गई। परिणामस्वरूप, शिक्षितों की संख्या में वृद्धि होती गई। सन् 1961 के सर्वेक्षण के अनुसार, “भारत में साक्षरों की संख्या में 34 प्रतिशत पुरुष तथा 13 प्रतिशत महिलाएँ थीं। शिक्षा के कारण बेरोजगारों की संख्या भी निरंतर बढ़ती गई। अशिक्षित बेरोजगारी तो पहले से ही विद्यमान थी। शिक्षा का व्यवसाय से संबंध न होने के कारण शिक्षित बेकार हो गए। शिक्षा में राष्ट्रीय संस्कृति, दर्शन एवं विचारधारा का सन्निवेश न होने के कारण

युवक भारतीयता की स्वस्थ परम्पराओं से पूरी तरह कट गया।”³

समाज में जब विकास की प्रक्रिया चलती है तो परिवर्तन देखने को मिलता है। परिवर्तन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में नजर आता है। किसी भी कहानी के परिवेश का अगर मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि देशकाल के भीतर विद्यमान सत्य को रेखांकित करना ही उसका मूल उद्देश्य है। समाज के यथार्थ जो पूरी प्रामाणिकता के साथ मानव जीवन की संवेदनशील परिस्थितियों में उसके जीवन को ही निहारा जाता है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में, “आज की कहानी कला प्रायः व्यक्ति के चरित्र के धरातल से निर्मित होकर अपने वास्तविक स्वरूप में मनोवैज्ञानिकता की ओर उन्मुख हो रही है इसलिए परिस्थिति चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है, देशकाल पर कम।”⁴ मनू भंडारी की कहानियों में परिवेश का चित्रण मिलता है। उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो आंतरिक रूप से उलझे हुए एवं कुठित हैं। स्वतंत्रता के बाद के परिवेश ने मूल्य संकट और मूल्य विघटन को अत्यन्त गंभीरता के साथ देखा जाता है। संयुक्त परिवार का विघटन हो गया। स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंधों में अवमूल्यन आने लगा। प्रत्येक समाज में पुराने मूल्यों का नकार होने लगा। इस बदलती परिस्थिति ने कहानीकार को सुजनात्मक विद्रोह के लिए प्रेरित किया। जीवन में घटित घटनाओं का नवीन परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा। स्त्री का रुद्धिगत रूप समाप्त हो गया। नारी स्वतंत्र हो गई। वह पुरुष के समान हर क्षेत्रों में कार्य करने लगी। राजेन्द्र यादव के अनुसार, “नई कहानी परिवेश के माध्यम से व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से परिवेश को पाने की प्रक्रिया है।”⁵

मनू भंडारी की कहानियों में व्यापकता है। जीवन के विभिन्न रूपों का आकलन मिलता है। ‘गीत का चुम्बन’ नामक कहानी में समव्यस्क विपरीत लिंगी आर्कषण को केन्द्र में रखा गया है। सामाजिक दायरों में सिमट कर हम कुछ चीजों को नकारते हैं परं जिन्दगी की सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता है। आधुनिक जीवन में स्त्री-पुरुष संबंधों की नवीन व्याख्या हो रही है। लड़के-लड़कियों के संबंधों की नयी व्याख्याएँ हो रही हैं। विवाह पूर्व एवं विवाहेतर संबंधों की बात की जा रही है। ऐसे समय और समाज में नैतिकता की बात की जाती है। आधुनिक जीवन शैली ने युवाओं को प्रभावित किया है। कनिका कहानी की नायिका है। निखिल जैसे युवक के संपर्क में आती है। वह सोचती है, “क्या लड़के-लड़कियों की

मित्रता का अंत इसके (सेक्स) अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।”⁶ निखिल इस सोच से अलग है। वह उदार दृष्टिकोण वाला है। स्त्री-पुरुष के सभी प्रकार के संबंध जायज और नैतिक हैं। कनिका के साथ संबंध स्थापित करने की इच्छा रखता है। उसका तर्क है, ‘‘जब तक कोई बात अमल में नहीं आती तभी तक वह हौआ, अनैतिक, नाजायज, पाप जो कुछ भी कहो बनी रहती है। आज कुछ नहीं लगता फ्री मिर्किंसग आम बात है। इसी प्रकार और आगे बढ़ जाओ। शारीरिक संबंध का जहां तक सवाल है, उस पर भी यही चीज लागू है।’’⁷ भारतीय संस्कृति विवाह पूर्व स्त्री-पुरुष के अनैतिक संबंधों को जायज नहीं मानती, वर्तमान समय में भी इसे अनैतिक ही माना जाता है। ‘परिवार, बच्चे और बरसात’ नामक कहानी में नये सामाजिक परिवर्तन को पकड़ने की कोशिश की गई है। रानी बीबी का अमेल विवाह होता है। पति उसके आधुनिक विचारों का पक्षधर नहीं है। स्त्री-पुरुष के समान अधिकार के भाव को बर्दाशत नहीं कर पाता है। परिणामस्वरूप दोनों में मतभेद बना रहता है। नोक-झोंक बनी रहती है। रानी परम्परागत पत्नी के रूप में नहीं बने रहना चाहती है। वह स्वतंत्रता चाहती है। पति पत्नी के बीच नोक-झोंक होने पर भी उसके व्यवहार में ज्यादा परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता है। ऐसे नाजुक समय में एक दिन रानी रात को घर लौटती है। यह पति को अखर जाता है। वह कहता है, ‘‘निकल जा मेरे घर से। जिन यार दोस्तों में घूमती फिरे हैं, उन्हीं के घर जाकर बैठ।’’⁸

इस समय रानी काफी व्यथित होती है। वह परेशान होकर सोचती है, ‘‘हम दोनों का साथ न निभ सके तो साथ रहने से क्या फायदा?’’⁹ ‘कील और कसक’ कहानी में स्त्री-पुरुष के संबंधों की पड़ताल मिलती है। कहानी की नायिका रानी है। उसका विवाह कैलाश से होता है। उसका व्यक्तित्व कैलाश के व्यक्तित्व से नहीं मिलता है। वह व्यक्तिगत जीवन में अतृप्त है। परिणामस्वरूप पर-पुरुष की ओर आकर्षित होती है। वह शेखर के प्रति अपना झुकाव रखने लगती है। यहाँ तक कि संबंध भी स्थापित हो जाता है। कुछ वर्षों के बाद शेखर का विवाह हो जाता है। विवाह के उपरांत शेखर की पत्नी को रानी को लेकर कुछ सदेह बना रहता है। परिणामस्वरूप दोनों स्त्रियों के बीच झागड़ा होने लगता है। इस झागड़े से बचने के लिए कैलाश अपना मकान बदलने की तैयारी करता है। वह दूसरे स्थान पर घर किराये पर ले लेता है। जिस दिन मकान खाली करना होता है उस दिन सामान तांगे पर लादकर ले जाने की प्रक्रिया में रानी की उंगली

कट जाती है। उस समय शेखर कहता है कि क्या भाभी आपने तो पूरी उंगली ही काट डाली। उस क्षण का दृश्य उपस्थित है, ‘‘अरे, यह क्या तुमने तो अंगुली काट ली भाभी और झट से रुमाल बंध गया।’’¹⁰ कहानी में एक प्रकार की कसक व्याप्त है। यह कसक पति के रुखे स्वभाव की है। अतृप्त इच्छाओं को तृप्त न कर पाने की है। इस प्रकार मौन अतृप्ति की कील कसक-कसक कर उसे मानसिक रूप से परेशान करती रहती है। ‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ कहानी में जीवन को खंडों में बांटकर देखा गया है। इसमें नायिका के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। ‘तीन निगाहों की एक तस्वीर’ की दर्शना का जीवन चित्रित है। पति के द्वारा प्रताड़ित होकर घर छोड़कर चली जाती है। इसी बीच उसे अपने पति की मृत्यु का समाचार मिलता है। वह कहती है, ‘‘मेरी तो सारी भावनाएं ही जैसे मर गई हैं। मैं ही जाने क्यों जिन्दा हूं।’’¹¹ इसमें नारी के जीवन को चित्रित किया गया है। वह किसी से कुछ मांगती नहीं। अपनी क्षमता से अर्थ का उर्पजन कर जीवन चलाती है। ‘अनथाही गहराइयाँ’ में स्त्री-पुरुष संबंधों का वर्णन मिलता है। समाज में उत्पन्न होने वाले समस्याओं को विश्लेषित किया गया है। इसमें अविवाहिता अध्यापिका के जीवन को रेखांकित किया गया है। वह शिवनाथ जैसे युवक को पढ़ाती है। गांव में उसके संबंधों के बारे में चर्चा होने लगती है। इसमें सुनन्दा व्यथित होती है। अचानक शिवनाथ आत्महत्या कर लेता है। इस समाचार को सुनकर सुनन्दा परेशान हो जाती है। वह सोचती है कि उसकी हत्या की जिम्मेदार वह स्वयं ही है। इस प्रकार नारी के कोमल हृदय का विवरण मिलता है। ‘घुटन’ में दो नारी पात्रों के माध्यम से समाज के दो वर्गों का चित्रण किया गया है। इसमें जीवन जीने की अदम्य आकांक्षा और जिजीविषा को उजागर किया गया है। प्रतिमा का जीवन घुटन से भरा है। वह अपने प्रेमी के साथ भाग जाना चाहती है पर माँ उसे ऐसा करने से रोकती है। संबंधों की जटिलता को इसमें समझा जा सकता है। मोना मानसिक और शारीरिक स्तर पर घुटन का अनुभव करती है। यह उसके जीवन के परम शेखर पर पहुंच जाती है। ‘हार’ कहानी में राजनैतिक स्थितियों के बहाने पति-पत्नी के संबंधों की पड़ताल की गई है। दीपा और शेखर पति-पत्नी हैं। दोनों में आत्मीय संबंध हैं। जब शेखर चुनाव लड़ता है तो पत्नी विरोधी पक्ष का प्रचार करती है। वह शेखर के साथ प्रेम विवाह कर चुकी है। पिता के मर्जी के खिलाफ निर्णय ले चुकी है। वैचारिक रूप से पति पत्नी विपरीत विचारों से युक्त हैं। चुनाव प्रचार

खत्म होने तक वह विरोधी पक्ष के उम्मीदवार के साथ रहती है। जब शेखर घर आता है और वह कहता है, “सोचता हूँ मैं हार भी गया तो लज्जा सह लूँगा पर जीत गया तो दीपा का क्या होगा? वह हार का धक्का बर्दाश्त नहीं कर सकेगी... इसलिए चाहता हूँ मैं हार जाऊँ”¹² यह सुनकर दीपा प्रभावित हो जाती है। अगले दिन अपना मत पति के पक्ष में डाल देती है। इस प्रकार कहानी में पति-पत्नी के राजनैतिक दृष्टि को उजागर किया गया है। ‘क्षण’ कहानी में आर्थिक संकट को दर्शाया गया है। आर्थिक तंगी के कारण टूटते हुए मूल्यों का विश्लेषण किया गया है। एक अविवाहित स्त्री कुंती के माध्यम से कर्मशील स्त्री की स्थिति का रेखांकन किया गया है। कुंती के पिता का अपनी पुत्री पर गर्व है। वे कहते हैं, “वह उनकी लड़की नहीं लड़का है। शुरू से ही उसे लड़के की तरह पाला... बचपन में लड़कों के साथ खेली, लड़कों के साथ पढ़ी, अब लड़कों की तरह इस घर को संभाल रही है”¹³ कुंती का जीवन संघर्षमय है। पुरुषों के समान हर जिम्मेदारी का वहन करती है। हर दबाव को झेलती है पर अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर है। ‘तीसरा आदमी’ कहानी में स्त्री-पुरुष के संबंधों की पड़ताल की गई है। इसने संबंधों में परिवर्तन आता है। एक पत्नी जो पूर्णतः अपने पति के प्रति समर्पित है। उसका पति हीनग्रंथि का शिकार बन जाता है। फलस्वरूप संबंधों में खटास उत्पन्न हो जाती है। यह समाज के भीतर विद्यमान पुरुष के अहम् को भी उजागर करती है। ‘बन्द दराजों का साथ’ में व्यष्टि और समर्पित का द्वंद्व व्याप्त है। स्त्री पुरुष के बीच के रिश्ते को देखा जा सकता है। मंजरी और विपिन के दाम्पत्य जीवन के माध्यम से वैवाहिक जीवन के अन्तर्द्वंद्वों का एक रूप विद्यमान है। इस कहानी में स्त्री-पुरुष के बीच गहराते संबंधों के द्वन्द्व को चित्रित किया गया है। जीवन को टुकड़ों में बांट कर देखा गया है। डॉ. धनंजय के अनुसार, ‘बंद दराजों का साथ’ में व्यावहारिक पकड़ नहीं है। ... मंजरी की जिन्दगी का टुकड़ों में बांटने की यंत्रणा का एहसास लेखिका की अनुभूति को प्रमाणिक बना सकता था, पर मनू भंडारी बूटेदार भाषा के पीछे अनुभूति को बनाने के फेर में अधिक रही है”¹⁴ ‘एक बार और’ कहानी में स्त्री-पुरुष के संबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। इसमें स्त्री की रिक्तता का बोध व्याप्त है। प्रथम प्रेम की असफलता नारी को किस प्रकार तोड़ देती है। वह अन्य से संबंध स्थापित करने से परहेज करने लगती है। यह मानसिक ग्रंथि को प्रभावित करता है। प्रेमी द्वारा किसी अन्य युवती से विवाह करने पर वह व्यथित हो

जाती है। उसकी सहेली समझाती है परन्तु उसका स्वभाव नहीं बदलता है। सुषमा कहती है, “क्यों अपने को धोखा दे रही है विन्नी? अब तेरे संबंध का आधार प्यार नहीं, प्रेस्टीज है, कुचला हुआ आत्मसम्मान।”¹⁵ अपनी पहचान, और आत्मसम्मान के खातिर स्त्री संघर्ष करती है पुरुष समाज इसे स्वीकार नहीं करना चाहता। यहीं वह संघर्ष का केन्द्र बिन्दु है जहां खड़े होकर स्त्री झटके पर झटका देती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर : हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1973, पृ. 13
2. वही, पृ. 49
3. भारतीय अर्थव्यवस्था, ईश्वर धींगरा, एस. चांद एंड कम्पनी, दिल्ली, 1980, पृष्ठ 73
4. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1973, पृ. 339
5. कहानी : स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं., 1992, पृ. 45
6. मैं हार गई (गीत का चुम्बन), मनू भंडारी, अक्षर प्रकाशन, 2/26, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 1971, पृ. 31
7. वही, पृ. 28
8. मैं हार गई (दीवार, बच्चे और बरसात), मनू भंडारी, पृ. 85
9. वही, पृ. 102
10. मैं हार गई (कील और कसक), मनू भंडारी, पृ. 133
11. तीन निगाहों की एक तस्वीर, मनू भंडारी, श्रमजीवी प्रकाशन, 5-ए, पोनप्पा रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1971, पृ. 23
12. तीन निगाहों की एक तस्वीर (हार), मनू भंडारी, पृ. 94
13. यही सच है (क्षय), मनू भंडारी, पृ. 11
14. आज की कहानी, डॉ. धनंजय, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 1997, पृ. 96-97
15. एक प्लेट सैलाब (एक बार और), मनू भंडारी, अक्षर प्रकाशन, 2/26, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 1971, पृ. 66

—डॉ. राम किशोर यादव

हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021

निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्री स्वर

—डॉ. विनीता रानी

आदिवासी समाज से कई लोग लिख रहे हैं। इसमें निर्मला पुतुल का नाम महत्वपूर्ण है। निर्मला पुतुल बहुचर्चित संताली लेखिका, कवयित्री और सामाजिक कार्यकर्ता हैं। दुमका, संताल परगना के दुधानी कुरुवा गांव में जन्मी निर्मला पुतुल हिंदी कविता में एक परिचित आदिवासी नाम हैं। बरसों से वह शिक्षा, सामाजिक विकास, मानवाधिकार और आदिवासी महिलाओं के समग्र उत्थान के लिए व्यक्तिगत सामूहिक एवं संस्थागत स्तर पर सक्रिय हैं। निर्मला पुतुल का काव्य संसार एक अलग दुनिया को खोलता है। कविता को वे अपना प्रवेश द्वारा मानती हैं और कहती हैं—यह कविता नहीं/मेरे एकांत का प्रवेश द्वारा है/यहीं मैं होती हूँ/जिसके होने के लिए मुझे/कोई प्रयास नहीं करना पड़ता/पूरी दुनिया से छिटककर/अपनी नाभि से जुड़ती हूँ यहीं/मैं कविता नहीं/शब्दों में खुद को रखते देखती हूँ/अपनी काया से बाहर खड़ी होकर अपना होना! निर्मला पुतुल बड़ी बेबाकी और निर्भीकता से स्त्रियों की संवेदनाओं को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त कर रही हैं। आदिवासी स्त्रियों की प्राकृतिक नैसर्गिक सुन्दरता के साथ वह उसकी अबोधता, कर्मठता और शोषण को भी वाणी देती हैं। वह अपने अस्तित्व की तलाश करते हुए अपनी जमीन तलाशती हैं। वे लिखती हैं—“धरती के इस छोर से उस छोर तक/मुझी भर सवाल लिए मैं/दौड़ती भागती, हाफ़ती/तलाश रही सदियों से निरंतर अपनी जमीन/अपना घर अपने होने का अर्थ।” वैवाहिक जीवन उसके शोषण के समस्त द्वारा खोल देता है। वह हमेशा डरी सहमी रहती हैं। वैवाहिक जीवन के बारे में सोचकर अपने भविष्य को लेकर परेशान रहती हैं और कह उठती हैं—“उस देश व्याहना/जहां ईश्वर कम आदमी ज्यादा रहते हैं/बकरी और शेर/एक घाट पी पानी पीते हो जहां/वहीं व्याहना मुझे।”

पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री सदैव पुरुष के अधीन रही है। विवाह का विस्थापन उसे भविष्य की अनजान स्थितियों से डराता है। नए रिश्तों और सम्बन्धों को लेकर मन में बहुत सारे संशय होते हैं। वह ऐसे व्यक्ति से अपने को ब्याहे जाने से मना करती है जो शराब पीता है, मारपीट करता है जो काहित और निकम्मा हो। प्रकृति से दूर हो। वह पूरी तरह आश्वस्त होना चाहती है और कहती है कि वह कोई थाली लोटा नहीं है जिसे जब चाहो बदल लो—“क्या तुम जानते हो/अपनी कल्पना में किस तरह एक ही समय में/स्वयं को स्थापित और निवासित/करती है एक स्त्री।” विवाह के बाद भी वह अपने घर की तलाश में ही रहती है। कहने के लिए पति का घर भी उसका अपना ही होता है। पर नेम प्लेट

पर पति का नाम होता है। स्त्री जीवन की विडंबना है कि न उसके पिता का घर उसका होता है उस पर परिवार के पुत्रों का अधिकार होता है। पति का घर भी उसका नहीं होता। पर ये भी सच्चाई है कि कोई भी घर स्त्री के बिना घर की संज्ञा नहीं पाता। घर के एक-एक सदस्य यहां तक हर निर्जीव समान पर स्त्री की छाप होती है वे कहती हैं—“कहीं कोई घर नहीं होता है मेरा/बल्कि मैं होती हूँ स्वयं एक घर/जहां रहते हैं लोग निर्लिप्त/गर्भ से लेकर बिस्तर तक के बीच/कई-कई रूपों में।” वह घर के भीतर अपने वजूद को निरंतर तलाशती रहती है—“अपनी कल्पना में हर रोज़/न एक ही समय में स्वयं को/हर बेचैन स्त्री तलाशती है/अपनी एक ऐसी जमीन/जो सिर्फ उसकी अपनी हो/एक उन्मुक्त आकाश, जो शब्द से परे हो/एक हाथ जो साथ नहीं/उसके होने का आभास हो।”

घर से बाहर जब वो निकलती है तो पुरुष समाज की कुटृष्टि से अन्जान वह अपने कर्म में लिप्त है। वह ज्ञारखंड के लोहदरगा जिले के कुटू प्रखंड के एक पंचायत की मुखिया ललिता उरांव के बारे में बताती हैं। जिस पंचायत के सचिवालय भवन निर्माण कार्य में ललिता ने मजदूरी की, आज मुखिया बनकर उसी में बैठकर काम निपटाती है। लेकिन सब ललिता जैसी नहीं हैं। बहुत-सी महिलाओं को एहसास ही नहीं है कि कुछ गिर्ध दृष्टियां उनकी देह को नोच खाने के लिए लालायित हैं। वे अश्लील टिप्पणियां झेलती हैं। बहुत बार मजबूरी में वो सब नजर अन्दाज करती हैं उसके अनपढ़ और जागरूक न होने के कारण उसे यथा स्थिति का एहसास तक नहीं होता है—“वह नहीं जानती की आज के अखबार की/ताजा खबर क्या है/वह जानती है तो सिर्फ यह कि/कल एक पुलिस वाले ने/भदा मजाक करते हुए धमकाया था/वह इस बात से अंजान है कि वह अखबार नहीं/अपने आप को बेच रही है/क्योंकि अखबार में उस जैसी/कई लड़कियों की तस्वीर छपी है/जिससे उसका चेहरा मिलता है।”

आदिवासी स्त्रियां अपना पेट भरने के लिए बहुत से काम करती हैं, जैसे चटाइयां, टोकरी और पंखा बनाना आदि लौकिन उनका इस्तेमाल नहीं करतीं बल्कि दूसरों के लिए बनाती हैं—‘तुम्हारे हाथों बने पतल पर/ भरते हैं पेट हजारों/पर हजारों पतल नहीं भर पाते तुम्हारा पेट/कैसी विडंबना है कि/जमीन पर बैठ बुनती हो चटाइयां/और पंखा बनाते टपकता है/तुम्हारे करियाये देह से टप-टप-पसीना।’

हमारे यहां श्रम के महत्व को हमेशा ही नकारा गया है, जबकि वह दूसरों की सेवा के लिए समर्पित होता है।

निर्मला पुतुल की कविता “गजरा बेचने वाली स्त्री” बताती है कि कैसे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह दूसरों को सुंदर बनाने के उद्देश्य से इस काम को करती है—“गजरा बेचने वाली स्त्री/गजरा बेच रही है/वह खुद बदसूरत है/लेकिन दूसरों को सुंदर बनाने के लिए/सुंदरता बेच रही है/गजरा बेचने वाली स्त्री का दिल कोमल है/लेकिन पैर में बिवाइयां फटी हैं/उसने गजरे में पिरो रखें हैं अरमान....सुंदरता बेचने वाली इस असुंदर स्त्री के/सपने में आती हैं/कई कई गजरे वाली स्त्रियां/और इसका उपहास करती हुई/गुम हो जाती हैं आकाश में/तब गजरे में पिरोए फूल/काटे की तरह चुभते हैं/उसके सीने में।”

निर्मला पुतुल की कविताएं स्त्रियों से जुड़ी हर तकलीफ को बेबाकी के साथ पाठकों के सामने रखती हैं। यौन शोषण आदिवासी समाज की एक बड़ी हकीकत है। इस दरिंदी में सारी मानवीय संवेदनाएं होम हो जाती हैं। आदिवासी समाज में पुरुष हडिया पीने के लिए अपनी औरतों का सौदा कर देता है। महज एक बोतल दास और मुर्गों के लिए वह औरत को बेच देता है। दैहिक शोषण जैसे इस समाज में स्त्री की स्वीकृत नियति है। इसके लिए कहीं कोई चीख पुकार नहीं बस प्रताड़ित स्त्री के गले में अवरुद्ध हो गई चीत्कार है जिसे वह कभी भूल नहीं पाती है—“कैसे भूल जाऊँ वह राक्षसी रात/जिसमें दुनिया की सारी संवेदनाएं/मेरा सबसे ऊँचा विश्वास/पवित्र रिश्ते की आस्था/सब कुछ तूट गया/उन्हें प्रिय है/मेरी गदराई देह/मेरा मांस प्रिय है उन्हें।”

रोजगार की तलाश में आदिवासी पुरुष जब बाहर जाते हैं तो पीछे उनकी औरतें अकेली रह जाती हैं। अकेलापन अलग तरह की तकलीफें और डर पैदा करता है। ‘देपचा के बाबू’ नामक कविता में वह इन औरतों के दुखों को बताती हैं जिसका पति साथ नहीं होता लोग उसे कैसे-कैसे सताते हैं। ज्ञारखंड जैसे राज्य में रोजगार के अवसर बहुत कम हैं। लोग रोजीरोटी के लिए बाहर जाते ही हैं। उनके बाद उनकी महिलाएं अपार कष्ट झेलती हैं—‘इंदिरा आवास के लिए बहुत दौड़भाग की/पंचायत सेवक को मुगा भी दिया/प्रधान को भी दिया पचास टका/पर अभी तक कुछ नहीं हुआ/और ब्लाक के बडे बाबू का क्या बताएं/ऐसी चीज मांगता है कि बताते भी शर्म आती है/गुस्सा करने लगोगे तुम/मारने पीटने-गरियाने लगोगे तुम/छोड़ो, उन सबकी आदत ही ऐसी है/कितना सुनाऊँ तुम्हें/क्या क्या बताऊँ/तुम तो पल्ला छुड़ाकर भाग गए/सारा बोझ देकर मेरे माथे/मैं किस पर छोड़ जाऊँ सब कुछ/कहाँ भाग जाऊँ?’

उधर काम-काज की तलाश में हजारों लड़कियों को बहला फुसला कर, सुनहरे ख्वाब दिखाकर लड़कियों की सप्लाई भी जारी है। इस पर निर्मला पुतुल कहती हैं लड़कियों को गढ़र की तरह लादकर शहर ले जाया जा रहा है। हजार पांच सौ के लालच में लड़कियों को दरिद्रों के हवाले किया जा रहा है। कोई कहने सुनने वाला नहीं है। प्रशासन सब जानते समझते हुए भी मौन है। निर्मला पुतुल इन सबसे सचेत होने के लिए कहती हैं—‘कहाँ गया वो परदेसी/ जो शादी का ढोंग रचाकर तुम्हारे ही घर में तुम्हारी बहन के साथ/ साल दो साल रहकर अचानक गायब हो गया/ उस दिलावर सिंह को ढूँढ़ो चुड़का सोरेन/ जो तुम्हारी ही बस्ती की रीता कुजूर को/ पढ़ाने लिखाने का सपना दिखाकर दिल्ली ले भागा...।’ आदिवासी समाज में भी पिरुसत्तात्मक समाज की बुराइयाँ देखने को मिलती हैं। औरतों को अपनी की बात करने की मनाही है। उन्हें अन्याय के प्रतिकार करने का हक नहीं है। अगर कोई बोलता है तो उसे कीमत चुकानी पड़ती है। शायद इसीलिए निर्मला जी ऐसे पुरुषों के लिए ‘मगजहीन’ शब्द का प्रयोग करती हैं—‘हक की बात न करो मेरी बहन/ मत मांगो पिता की संपत्ति पर अधिकार/ जिक्र मत करो पथरों और जंगल की अवैध कटाई का... ‘सुबोधिनी मारण्डी’ की तरह तुम भी/ अपने मगजहीन पति द्वारा/ भरी पंचायत में डायन करार कर/ दण्डित की जाओगी....।’ आदिवासी समाज में बहुत से अंधविश्वास हैं जो औरतों का मानसिक और शारीरिक शोषण करते हैं। बहुत बार मानवीयता की हँदें लांघ कर औरतों को सजाएं दी जाती हैं—‘कुछ कर दिया है उसके बच्चे को/ वह तो अच्छा हुआ/ शरबतिया ने साप देख लिया/ नहीं तो पकलू बुढ़िया की तरह/ मुझे भी घसीटकर ले जाते लोग कुलि में/ और भरी पंचायत में सर मुंदवा/ नचा देते नंगा/ कर देते मुँह पर पेशाब/ टूंस देते मैला।’ औरतों की सुंदरता को हमेशा उनकी देह की खूबसूरती से तोला जाता रहा है। उनके आंतरिक गुणों की हमेशा उपेक्षा हुई है। उनकी हिरनी जैसी आंखे, सुगे जैसी नाक और बिजली से चमकते दांतों की खूब तारीफ हुई पर उसके गुणों तक कोई नहीं पहुंचा—‘काश, कोई कहता कि/ तुम बहुत मेहनती हो सुगिया/ बहुत भोली और इमानदार हो तुम/ काश, कहता कोई ऐसा!!’

निर्मला पुतुल मानती हैं कि तथाकथित सभ्य समाज हमेशा उन्हें हिकारत की नजर से देखता है। इसलिए ठेठ स्त्रीवादी कविता के बावजूद स्त्रीवाद के पाखंड पर उन्हें बेहद नाराजगी है। उनका कहना है कि अंतरराष्ट्रीय मंचों पर महिला अधिकारों की बात करने वाली ऊँची नाक वाली

महिलाएं भी उन्हें उपेक्षा की नजर से देखती हैं—‘दिल्ली की गणतंत्र झाकियों में/ अपनी टोली के साथ नुमाइश बनकर/ कई-कई बार/ पेश किए गए तुम पर/ गणतंत्र नाम की चिड़ियाँ/ कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुंडेर पर।’ निर्मला पुतुल बताती हैं कि कोई भी मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक वह सबकी मुक्ति नहीं बनती। इस द्वंद को निर्मला पुतुल ने अपनी कविता “गजरा बेचने वाली स्त्री” में बखूबी व्यक्त किया है। ‘क्या तुम जानते हो’ कविता भी मुक्ति की अकांक्षा लिए हुए है—‘क्या तुम जानते हो/ पुरुष से भिन्न/ एक स्त्री का एकांत/ बता सकते हो/ सदियों से अपना घर तलाशती/ एक बैचेन स्त्री को/ उसके घर का पता।’ निर्मला पुतुल की कविताएं पढ़ते समय हमें पाश्चात्य नारीवाद की याद आती है, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि स्त्री के बारे में लिखने के लिए स्त्रीवाद होना या नारीवाद पढ़ना जरूरी है। अपनी जमीन तलाशती लेखिका बेबाकी से अनुभूत संवेदनाओं को अभिव्यक्त कर रही है। निर्मला पुतुल अपनी कविताओं के माध्यम से पिरुसत्तात्मक व्यवस्था पर जोरदार प्रहार करती हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. अपनी माटी से, सं. मणिक व जितेन्द्र, निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्री—डॉ रमया बलान के।
2. नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया लोधी रोड नई दिल्ली-110003 तीसरा संस्करण, 2012
3. इस्पातिका आदिवासी विशेषांक वॉल्यूम-1 जमशेदपुर
4. अपनी माटी से, मणिक व जितेन्द्र, पुतुल की व्यक्तियों में आदिवासी स्त्री वियजश्री सातपालकर
5. ‘अपने घर की तलाश में’ निर्मला रमणिका फांडेशन, नई दिल्ली
6. ‘बेघर सपने’, निर्मला पुतुल, आधार प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा
7. स्त्रीकाल, निर्मला पुतुल की कविताएं आदिवासी पीड़ा और प्रतिरोध काव्य संसार, रेखा रोठी
8. झारखंडी महिलाओं का पलायन एवं उनका यौन शोषण, निर्मला पुतुल हिस्सेदारी के प्रश्न प्रति प्रश्न, सं. उमाशंकर चौधरी
9. वैश्वीकरण के भंवर में आदिवासी भाषा साहित्य, निर्मला पुतुल आदिवासी साहित्य विमर्श, सं. गंगा सहाय मीणा
10. संघर्ष और विद्रोह धर्मिता, डा. धीरेन्द्र सिंह

—डॉ विनीता रानी
एसोसिएट प्रोफेसर,
जानकी देवी मेमोरियल कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सत्यवृत्ति संवर्धन के बिना शिक्षा विनाशकारी

—प्रो. दिनेश कुमार गुप्ता

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है कि किसी व्यक्ति को तब तक शिक्षित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि उसे यह ज्ञात न हो जाए कि जीवन का एक पक्ष नैतिक एवं आध्यात्मिक भी है। किंतु दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत में शिक्षा के प्रणेताओं और संविधान निर्माताओं ने संविधान की 45वीं अनुसूची में यह व्यवस्था कर दिया कि सरकारी और सरकार से सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में धर्म की शिक्षा नहीं दी जाएगी, जबकि “धर्म न तो सिद्धांतों की बकवास है और न ही मतांतरों का प्रतिपादन, खंडन और न ही बौद्धिक सहमति है। इस प्रकार धर्म न तो शब्द होता है और न नाम, न संप्रदाय। वरन् इसका अर्थ होता है, आध्यात्मिक अनुभूति।”¹ जो मनुष्यों में मानवीय संवेदना को जागृत करता है। वास्तव में संविधान निर्माताओं ने धर्म की तारिक व्याख्या करने के बजाय धार्मिक शिक्षा को ही प्रतिबंधित कर दिया, जिससे हमारी शिक्षा व्यवस्था में नैतिकता का पक्ष दुर्बल हो गया। फलतः डॉ. राधाकृष्णन का यह आदर्श वाक्य कि समग्र शिक्षा का उद्देश्य नैतिक एवं आध्यात्मिक भी है, पूरी तरह से उपेक्षित हो गया। उसी का परिणाम है कि आज हमें यह सोचने के लिए विवश होना पड़ रहा है कि हम कहाँ से चले थे, और कहाँ आ गए।

आज हमें शिक्षा द्वारा ऐसे मनुष्य का निर्माण करना है, जो स्वयं की इच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन करने के लिए प्रेरित हो सके जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के कल्याण का भाव हो। इसके लिए शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा को जाग्रत करना आवश्यक है, जिसके लिए शिक्षा को धर्म एवं अध्यात्म से अभिसिंचित करने की आवश्यकता है। वस्तुतः “तर्कहीन मनःस्थिति का नाम धार्मिकता नहीं है। आंखें बंद करके किसी के भी वचन को गले नहीं उतारना चाहिए। अपने लोग कहते हैं या पराए, बात संस्कृत या अरबी भाषा में कही गई है अथवा बोलचाल की भाषा में, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। स्वीकार करने योग्य वही है, जिसमें तथ्य जुड़े हों और जिसे विवेक की कसौटी पर खरा सिद्ध किया जा सके। बिना खोज परख के जो धर्म के नाम पर किसी भी मान्यता या प्रथा को स्वीकार कर ले, वह स्वस्थ दृष्टि नहीं है।”² इस रूप में धर्म कर्मकांड नहीं है, अपितु धारण करने की चीज है। इससे हमारा आचरण व्यवहार नियंत्रित और निर्धारित होता है। यदि हम वैदिक कालीन और बौद्ध कालीन शिक्षा व्यवस्था पर दृष्टि डालें तो हमें विद्यालय संस्कारशालाओं के रूप में दिखाई पड़ते हैं जिसकी ख्याति भारतीय उपमहाद्वीप के अनेक देशों तक फैली हुई थी, तभी तो भारतीय विद्याओं के

मर्मज्ञ सर विलियम जॉस कहते हैं—“एशिया की यह भूमि नाना विज्ञान की धात्री आनंददायक ललित तथा उपयोगी कलाओं की जननी है।”³

किंतु आज के विद्यालयों में संस्कारों की स्थिति शून्य हो गई है। शायद इसीलिए शिक्षा प्राप्त करने में विद्यालयों का महत्व दिन प्रतिदिन घटता ही जा रहा है। व्यक्तिगत छात्रों की लगातार बढ़ती हुई संख्या इस तथ्य के पुख्ता प्रमाण है। इस स्थिति को बदलने के लिए यदि सक्रिय प्रयास नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं जब इवान इलिच की विद्यालय विहीन समाज की संकल्पना साकार रूप में प्रतिबिंधित होगी। वास्तव में हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का आधार विदेशी है। इसे मैकाले ने उस विवरण पत्र की नींव पर विकसित किया था, जिसे तत्कालीन भारत की लोक शिक्षा समिति के विरोध के बावजूद पक्षपात स्वीकृति दे दी गई थी। दुर्भाग्य से इसे कमोबेश स्वतंत्र भारत में भी जारी रखा गया, जबकि यह भारतीय परिस्थितियों के लिए पूरी तरह से अनुपयुक्त थी। यही कारण है कि आज अधिकांश भारतीय शिक्षा संस्थाओं में जो पाठ्यक्रम पढ़ाया जा रहा है, उसका आधार मात्र इतना है कि जैसे जीवन से जुड़े हुए कुछ प्रश्न हैं और उनका विशिष्ट उत्तर इन पाठ्यक्रमों में निहित है, जबकि वास्तविकता कुछ और ही है। जीवन स्थिर नहीं, अपितु गतिशील धारणा है। जीवन यात्रा के प्रत्येक पग पर कब कैसी और कौन सी समस्या बाधा बनकर खड़ी हो जाएगी, इसका अंदाजा शायद ही पहले से किसी को हो? तब निश्चित उत्तरों वाले पाठ्यक्रम का ऐचित्य ही क्या रह जाता है जिसका आधार स्वतंत्र चिंतन न होकर केवल रटने तक सीमित है। इस तरह विषय विशेष को रटकर उपाधि प्राप्त कर लेना ही आज की शिक्षा का उद्देश्य बन चुका है। जबकि वास्तव में मानव के चतुर्दिक विकास का नाम शिक्षा है। इस तरह वर्तमान शिक्षा व्यवस्था स्वयं में अपूर्ण एवं अधूरी है।

मनुष्य को जीव जगत का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। यद्यपि शारीरिक रूप से अनेक पशु ऐसे हैं, जिनकी तुलना में मनुष्य अत्यन्त दुर्बल एवं असहाय है। फिर भी उसे प्राणी जगत में सर्वोच्चता का गौरव पाने और अन्य पशुओं पर शासन करके उसको उपयोगी बना सकने का जो सौभाग्य मिला हुआ है, उसका मूल कारण उसकी विकसित बुद्धि और विवेक ही है। बुद्धि और विवेक को विकसित करने के लिए प्रशिक्षण का स्तर, साधन, परिस्थितियां एवं विद्यार्थी का बौद्धिक स्तर सही होना पर्याप्त है। यह सभी साधन जहां भी जुट जाएं, वहीं शिक्षा का लाभ मिलने लगता है। इसके द्वारा न केवल लौकिक

जीवन की सुव्यवस्था बनती है, अपितु जानकारी बढ़ने पर चिन्तन का दायरा भी बढ़ जाता है। अर्थोपार्जन का कौशल बढ़ता है। ऐसे ही अन्य अनेकों लाभ हैं, जिसके लिए शिक्षा को जाना जाता है। किंतु भौतिक सुख सुविधाओं को संग्रहीत करने की होड़ में शिक्षा के उस महत्वपूर्ण पक्ष की अवहेलना होती रही है, जिसे प्राचीन काल में विद्या के रूप में जाना गया था। यही कारण है कि आज का व्यक्ति अनेक निर्योग्यताओं एवं कुंठाओं से घिरकर निम्न से निम्नतर स्तर तक गिरता जा रहा है। चारों तरफ विग्रह और विघटन का बोलबाला है। आज लोगों की शिक्षा संपदा तो बढ़ रही है, किंतु वे व्यक्तित्व की दृष्टि से पतित होते जा रहे हैं। फलतः समाज में चरित्रवानों की कमी पड़ जाने से अनेकानेक समस्याएं दिखाई पड़ने लगी हैं। अंतःकरण की महानता से विरत मस्तिष्क की प्रखरता और एकांगी विद्वता ने समाज में अवांछनीयता, अदूरदर्शिता, अनैतिकता, एवं असामाजिकता जैसी विखंडनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। वस्तुतः यह सब कुछ प्रत्यक्षवादी दर्शन की देन है, जो तत्काल लाभ पाने और आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, पुण्य-परमार्थ, एवं आत्मा-परमात्मा जैसी उदात्त मान्यताओं को अस्वीकार कर देता है। तभी तो जिस जीव हत्या को रोकने के लिए “अहिंसा परमो धर्मः” जैसे आदर्श की स्थापना की गई थी, भौतिकतावादी बुद्धिमत्ता ने प्रोटीन मात्र के लिए उसी जीव हत्या को सर्वत्र उपयोगितावाद के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया है। इस उपयोगितावादी दर्शन ने ही मनुष्य को स्वेच्छाचारी बनने के लिए प्रेरित किया है। साथ ही उन स्थापनाओं को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है, जो मानवीय गरिमा के अनुरूप मर्यादाओं का पालन एवं निषेधों का परित्याग करने के लिए दबाव डालती थी। “गंभीर चिंतन से इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि मनुष्य के अंतराल में आदर्शवादी आस्था बनाए रखना और नीति मर्यादा का पालन करना धर्म धारणा के सहारे ही संभव हो सकता है। भौतिक लाभों को प्रधानता देकर चलने और सदाचरण के अनुबंधों को तोड़ देने में उपलब्ध संपदाएं दुष्प्रवृत्तियों को ही बढ़ाएंगी और अंततः विनाश का कारण बनेंगी। वैभव पर धर्म का अंकुश रहने से ही शांति और व्यवस्था बनाए रह सकना संभव होगा।”⁴

वस्तुतः व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं, पहला आंतरिक और दूसरा बाह्य। आंतरिक पक्ष का संबंध आदर्श, मूल्य, मान्यता, नैतिकता और दृष्टिकोण से होता है जिसे केवल धर्म एवं अध्यात्म द्वारा ही विकसित किया जा सकता है। प्राचीन भारत में धर्म और अध्यात्म आधारित इस शिक्षा को

विद्या के रूप में परिभाषित किया गया था। विद्या का अर्थ है, दृष्टिकोण का परिष्कार। चिंतन और चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश जिससे मन, वचन और कर्म में ऐसी विलक्षणताएं परिलक्षित होती हैं, जिससे संपर्क में आने वाला हर मनुष्य प्रसन्नता का अनुभव करता है। अनेकानेक दिव्य संपदाओं से समृद्ध व्यक्ति हर घड़ी संतुष्ट एवं प्रफुल्लित रहता है। भले ही उसे अभावग्रस्त एवं कष्ट साध्य परिस्थितियों में ही क्यों न रहना पड़ रहा हो। यही धर्म एवं अध्यात्म विद्या की महानता है और यही उसका प्रतिफल। जबकि बाह्य पक्ष का संबंध योग्यता, दक्षता और कुशलता के संवर्धन से होता है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि विद्या सत्यवृत्ति संवर्धन से संबंधित है, जबकि शिक्षा का संबंध योग्यता संवर्धन से होता है। किंतु वर्तमान में हमारी शिक्षण संस्थाओं का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो गया है। हमने भौतिक जानकारियों वाली अर्थकारी शिक्षा को ही पर्याप्त मान लिया है। हमारी तथाकथित शिक्षा साक्षरता से आरम्भ होकर स्नातक या परास्नातक स्तर तक समाप्त हो जाती है। इससे बुद्धिमत्ता तो बढ़ती है, लेकिन विद्यार्थी को ऐसा कुछ हस्तगत नहीं होता, जिसे अंतःचेतना के परिष्कार में सहायक माना जा सके। इस कमी से विद्यार्थीयों की उपलब्धियां सर्वथा अधूरी ही रह जाती हैं जिसके अभाव में वह चेतनात्मक प्रगति की दिशा में अपांग और असमर्थ ही बना रहता है। आज शिक्षा क्षेत्र की सबसे बड़ी विसंगति यही है कि हम धर्म एवं अध्यात्म के महत्व को भूलकर उसे पाठ्यक्रम से दूध की मक्खी की तरह अलग किए हुए हैं। “धर्म को प्रतिगामी एवं अंधविश्वासी कहना आज का फैशन है। तथाकथित बुद्धिजीवी प्रगतिशीलता के जोश में धर्म को अफीम की गोली कहते और उसे प्रगति का अवरोध ठहराए पाए जाते हैं। पर यह बचकानी प्रवृत्ति मात्र है।”⁵ वर्तमान में कितनी ही विवशता क्यों न हो, फिर भी मानवीय प्रगति और सुख शांति की आधारशिला धर्म और अध्यात्म की उपेक्षा नहीं हो सकती, उसका महत्व जनसाधारण को समझना ही होगा, क्योंकि किसी देश की समृद्धि उसकी भौतिक उपलब्धियों से नहीं आंकी जाती, अपितु

वास्तविक संपदा तो वहाँ के चरित्रवान् एवं आदर्श नागरिक होते हैं। सच्ची समृद्धि इसी रत्न राशि की बहुलता पर ही निर्भर है। वैदिककाल की गुरुकुलीय प्रणाली इसी प्रकार की विशेषताओं से युक्त हुआ करती थी जहाँ आचार्यों के सानिध्य में रहकर विद्यार्थी जीवन जीने की कला सीखता था, तथा साथ ही उसमें व्यक्तित्व का विकास, प्रतिभा, चरित्रगठन, मनोबल, भावनात्मक उत्कर्ष, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, विवेक का तीखापन, देशभक्ति और लोकमंगल कार्यों के लिए उमंग, उत्साह आदि सदूगुणों को विकसित किया जाता था जिसके फलस्वरूप तैतीस करोड़ की आबादी वाला बृहत्तर भारत तैतीस करोड़ देवताओं के रूप में जाना जाता था। यही कारण है कि गुरुकुल के कष्ट साध्य जीवन के बावजूद भी साधन संपन्न घराने के लोग भी अपने सीने पर पथर रखकर अपने लाडले को गुरुकुल में प्रवेश कराकर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते थे। गुरुकुलों के रूप में पुनः वही प्रचलन आज के समय में संभव न हो, फिर भी उन विशेषताओं का समावेश तो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में किया ही जा सकता है, जिससे शिक्षा को सत्यवृत्ति संवर्धन के साथ जोड़ा जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- आचार्य श्रीरामशर्मा, धर्म के शास्त्र स्वरूप को समझे बिना गति नहीं, अखंड ज्योति वर्ष 54 अंक 9 पृ. 13
- आचार्य श्रीरामशर्मा, धर्म का मूल प्रयोजन सत्य की खोज, अखंड ज्योति वर्ष 50 अंक 3 पृ. 8
- मैक्स मूलर, भारत को विश्व की देन, पृ. संख्या 31
- आचार्य श्रीरामशर्मा, धर्म धारणा हर दृष्टि से उपयोगी, अखंड ज्योति वर्ष 44 अंक 7 पृ. 9
- आचार्य श्रीरामशर्मा, धर्म धारणा हर दृष्टि से उपयोगी, अखंड ज्योति वर्ष 44 अंक 7 पृ. 9

—प्रो. दिनेश कुमार गुप्ता

शिक्षाशास्त्र विभाग

एच. आर. पी. जी. कॉलेज, खलीलाबाद

संतकबीर नगर, उत्तर प्रदेश

पिन कोड-272175

स्त्री-पुरुष संबंधों की महानगरीय विडंबनाओं का सशक्त नाटक आधे-अधूरे

—डॉ. सत्यदेव प्रसाद

कालजयी नाटक ‘आधे-अधूरे’ (1969) मोहन राकेश की लौह लेखनी की सुदेन है। मोहन राकेश निःसंदेह व निर्विवाद रूप से आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच के मसीहा हैं। हिंदी नाटकों को नई दिशा, नई भाषा, नया शिल्प और अंततः नया रंगमंच मुहैया कराने में मोहन राकेश का योगदान अद्वितीय है। इस नाटक का सर्वप्रथम मंचन ‘दिशांतर’ द्वारा श्री ओम शिवपुरी के निर्देशन में फरवरी 1969 में हुआ। निर्देशकीय वक्तव्य में उन्होंने कहा था—“एक निर्देशक की दृष्टि से ‘आधे-अधूरे’ मुझे समकालीन जिंदगी का पहला सार्थक हिंदी नाटक लगता है। यह मौजूदा जीवन की विडंबना के कुछेक सघन बिन्दुओं को रेखांकित करता है। ‘आधे-अधूरे’ आज के जीवन के एक गहन अनुभव खंड को मूर्त करता है। इसके लिए हिंदी के जीवंत मुहावरे को पकड़ने की सार्थक प्रभावशाली कोशिश की गई है।”¹ इस नाटक को लिखे हुए 50 साल से ज्यादा समय बीत चुका है। क्या इतने समय में यह प्रश्न समाज के सामने सच नहीं है कि ‘आधे-अधूरे’ आज भी समसामयिक नाटक है? सन् 1969 के बाद इसके सैकड़ों-हजारों प्रदर्शन इस बात की गवाह है कि वक्त की जटिलतम परिस्थितियों में भी इस नाटक का महत्व बढ़ता ही जा रहा है। समाज में जब तक स्त्री-पुरुष रहेंगे, उनके बीच संबंध रहेंगे, तब तक इस नाटक का महत्व रहेगा। एक अर्थ में यह ‘आलेख’ स्त्री-पुरुष के बीच ‘लगाव’ और ‘तनाव’ का दस्तावेज है। मोहन राकेश ने सावित्री द्वारा एक सजीव तथा आकर्षक नाटकीय चरित्र की कल्पना की है। इसके व्यक्तित्व की अनेक परतें हैं, जिन्हें अभी भी पहचानने की आवश्यकता है। महानगर के अनेक दबावों द्वारा निर्मित यह पात्र मध्यवर्ग की सभी सामान्य प्रवृत्तियों के साथ जीवंत विशिष्टताएं लिए हुए हैं। सावित्री नाम के पात्र की विडंबना कई स्तरों पर अनेक अर्थ देने लगती है। यह नाटक महानगर की उस कार्यशील महिला की त्रासदी बन जाती है जिसके संपर्क में आने वाला प्रत्येक पुरुष सिर्फ एक स्त्री को टटोलता है। सावित्री की कमाई पर पलते हुए बेकार महेन्द्रनाथ की स्थिति दयनीय है। जिंदगी से अपनी लड़ाई हार चुकने की छटपटाहट लिए हुए वह अब घर में ‘नौकर’ के समान है। वह केवल एक रबड़ का टुकड़ा है, ठप्पा है।

वीरेंद्र मेंहदी रत्ता लिखते हैं, ‘‘महानगर के दबावों की झेलती हुई मिथकीय नाम ‘सावित्री’ धारण करने वाली नायिका एक ऐसी स्त्री बन जाती है जो संपर्क में आने वाले प्रत्येक पुरुष के प्रति आकर्षित होकर उसके साथ नए सिरे से घर बसाने की बात सोच सकती है।’’² यह नाटक एक प्रकार से पारिवारिक विघटन की गाथा है। इसके सभी पात्र एक-दूसरे से कटे हुए हैं। बड़ी लड़की मनोज नामक लड़के के साथ भाग चुकी है। लड़का पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की रंगीन तस्वीरें काटते हुए अपने व्यक्तित्व से पाठकों/दर्शकों को परिचित करवाता है। छोटी लड़की माता-पिता, भाई-बहन किसी के प्रति कोई लगाव महसूस नहीं करती। कैंची की तरह उसकी जुबान चलती है और कम उम्र में ही वह यौन-संबंधों में दिलचस्पी लेने लगती है। इस नाटक में उस मध्यवर्गीय आदमी की तस्वीर है, जो अपनी अतृप्त आकृक्षाओं के कारण परिस्थितियों से टकराता तो है, किन्तु उनका चक्रव्यूह तोड़ नहीं पाता। यह नाटक मानवीय संतोष के अधूरेपन का रेखांकन है, जो जिंदगी से चाहते तो बहुत कुछ हैं, लेकिन उनकी त्रुप्ति अधूरी ही रहती है। इस रूप में ‘आधे-अधूरे’ पूंजीपति समाज की प्रतियोगिताधर्मी जीवन पद्धति से प्राप्त आकृक्षाओं में दम तोड़ती मानवीय जीवनी शक्ति के कारुणिक अंत का नाटक है। महेन्द्रनाथ सिंघानियां, जगमोहन और जुनेजा ये अलग-अलग गुणों के चार पुरुष हैं। चार विभिन्न पुरुषों की भूमिकाएं एक ही अभिनेता द्वारा करवाए जाने की दिलचस्प रंगयुक्ति का निर्वाह नाटककार ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। चार भिन्न पुरुषों का अभिनय एक ही व्यक्ति से करवाने के मूल में लेखक का प्रयोजन यह दिखाना रहा है कि व्यक्तिगत विभिन्नता के भीतर हर आदमी अंततः वैसा ही है, जैसा कि कोई भी दूसरा हो सकता है। दूसरे शब्दों में ‘महेन्द्रनाथ की जगह जगमोहन को रख देने से या जगमोहन के स्थान पर जुनेजा को रख देने से स्थिति में कोई बुनियादी अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि परिस्थितियों के एक ढांचे में व्यक्ति लगभग समान ढंग से बर्ताव करता है।’’³

मोहन राकेश की इसी बौद्धिक सृजनात्मकता का कमाल है कि प्रस्तावना के संदर्भ में एक अभिनेता से चार भूमिकाएं करवाने पर ही यह जीवन की अपूर्णता संप्रेषित करने वाला महत्वपूर्ण नाटक बनता है। यहां पर यह बात उल्लेखनीय है कि मोहन राकेश नाटक के लिखे जाने से मरित होने तक तमाम रंग-व्यापार में निर्देशक-कलाकारों के साथ मौजूद रहते थे। सावित्री द्वारा सभी चेहरों को एक-से कहने का प्रसंग बड़ा ही दिलचस्प है। उनसे इस कथन से स्त्री के अधूरेपन तथा महानगरीय महत्वाकांक्षा के

दर्शन स्वतः हो जाते हैं—पुरुष चार—मैं जगमोहन के साथ हुई तुम्हारी बातचीत का सही अंदाजा लगा सकता हूँ, क्योंकि उसकी जगह मैं होता तो मैंने भी तुमसे यही सब कहा होता। वह कल-परसों फिर फोन करने को कह कर तुम्हें घर के बाहर उतार गया। तुम मन में एक घुटन लिए घर में दाखिल हुई और आते ही तुमने बच्ची को पीट दिया। जाते हुए सामने थी एक पूरी जिंदगी, पर लौटने तक का कुल हासिल? उलझे हाथों का गिजगिजा पसीना और....। स्त्री—मैंने आपसे कहा है न, बस! सब-के-सब!..सब-के-सब एक-से! बिल्कुल एक-से हैं आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही।’’⁴

सन्तुतः सावित्री उस मध्यवित्तीय मानसिकता की शिकार है, जो धन को जीवन में अतिरिक्त महत्व देती है। यही वृत्ति उसे विभिन्न पुरुषों से जोड़ती है और इसी के वशीभूत होकर वह अपनी देह का अस्त्र की तरह प्रयोग करती है। कुछ वैयक्तिक लक्ष्यों के लिए वह अपने को व्यक्ति से वस्तु बना डालती है। इसी से वह अपने को छलती है—जिस पूरेपन की तलाश उसे अपने अंदर से करनी चाहिए थी, उसकी तलाश वह अपने से बाहर औरों में करती है। एक सुखी वैवाहिक संबंधों को धराशायी करने में सबसे बड़ा हाथ उन अपेक्षाओं का होता है, जो स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे से होती है। ‘‘अंतराल’’ उपन्यास में राकेश ने इस तथ्य को बड़ी बारीकी से स्पष्ट किया है—‘‘कोई भी संबंध एक-साथ दो-दो अपेक्षाओं की पूर्ति से निभ सकता है और ये अपेक्षाएं भी एक सीमा तक ही पूरी हो सकती हैं, क्योंकि हर व्यक्ति एक भरे पूरे बाजार की तरह है, जिसके सब कुछ कि तुम प्रशंसा कर सकते हो, पर यह सब कुछ तुम अपने लिए नहीं ले सकते। तुम उसमें से वही लो, जिसे लेने की सामर्थ्य तुमसे है। इसकी चिंता मत करो कि शेष कहाँ जाता है, कौन लेता है?’’⁵ नाटक की प्रमुख स्त्री-पात्र सावित्री कई सारी परिस्थितियों और विडंबनाओं से अपने को घेर लेती है। उसे यह पता ही नहीं चलता कि महानगरीय जाल में वह इस कदर उलझ चुकी है कि वापिस उससे निकलना उसके वश की बात नहीं। पूर्णता की तलाश में कई पुरुषों को तलाशती रहती है और अंततः उसे निराशा ही हाथ लगती है। गोविंद चातक लिखते हैं—‘‘सावित्री एक के बाद एक पुरुष को आजमाती है और सबको आधा-अधूरा करार देती है। सच्चाई यह है कि कभी कोई आदमी पूरा नहीं होता। आपसी संबंधों की पूर्णता ही उसे पूरा बनाती है।’’⁶

नाटककार मोहन राकेश आधे-अधूरे में भाषा प्रयोग को लेकर बड़े सतर्क थे। उनका मानना था कि नाटक का

मूल शब्द है और इस शब्द-बीज से ही दृश्य-विंब की उत्पत्ति होती है। शब्द का मूल ध्वनि या नाद है इसीलिए नाट्य भाषा में शब्दों को संयोजन करते समय अर्थ के साथ-साथ ध्वनि का भी विशेष महत्व है। मोहन राकेश के ही शब्दों में—“भाव-संप्रेषण के लिए सृष्टि शब्दों की नहीं, एक विशेष लय में कुछ ध्वनियों की होती है। ये ध्वनि अपने लंबे ऐतिहासिक संदर्भ में अलग-अलग रूप में पहचानी जा सकती है। शब्दों का सृजनात्मक प्रयोग उन संदर्भों की लय में और नई-नई लय खोज सकना है। इसीलिए कोई भी शब्द-योजना बिना अपनी एक आंतरिक लय के प्राणवान नहीं होती, और यह लय या ध्वनि का ग्राफ ही उसकी वास्तविक अर्थवत्ता है।”⁷ नाटक आधे-अधूरे की रंगमंचीय ध्वनि, शब्द, मुद्रा, क्रिया, मंच सज्जा, संगीत छायालोक और अर्थगर्भी मौन के संश्लेष से निर्मित ‘जीने की भाषा’ उसकी सच्चाई, ऊषा, अंतरंगता और सार्थकता जैसी विशेषताएं तो विख्यात हुई हीं बल्कि यह कहना अप्रासारिक नहीं होगा कि आधे-अधूरे अपने युग ही नहीं अपितु अपने युग से आगे की ठोस नाट्य-रचना है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति रंगमंच के सधे हुए अभिनेता और निर्देशक ओम शिवपुरी ने यूँ किया है—“आधे-अधूरे नाटक आज के जीवन के एक गहन अनुभव-खंड को मूर्त करता है। इसके लिए हिंदी के जीवंत मुहावरे को पकड़ने की सार्थक, प्रभावशाली कोशिश की गई है। पहले वाचन के समय ही मुझे इसकी भाषा में बड़ी कशिश लगी थी। कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें यह सामर्थ्य है, जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके।”⁸

मोहन राकेश नाटकीय विडंबनाओं के सशक्त नाटककार हैं। यही नाट्य-विडंबना उनकी बौद्धिकता को नए आयाम देती है। आज के खोखले वक्त में यह नाटक मील का पत्थर बन गया है। आधे-अधूरे ने मोहन राकेश को हिंदी नाटक और रंगमंच की दुनिया में अपनी समकालीनता के कारण स्थायी महत्व का हकदार बनाया। वस्तुतः इक्कीसवीं सदी में भी इस नाटक की प्रासारिकता बनी हुई है और बढ़ती ही जा रही है। यह नाटक आज के महानगरीय कल्वर को प्रदर्शित करने में पहले से अधिक प्रासारिक हो गया है। सुप्रसिद्ध रंगालोचक हृषीकेश सुलभ के अनुसार, ‘आधे-अधूरे’ की नाट्य भाषा में जीवन की विसंगतियों और तनाव का गुम्फन है। शब्द इस नाटक की रीढ़ हैं और उनकी अर्थठवियाँ इसे गति देती हैं। विश्व और उनके भीतर के रंग, आंतरिक लय और चाक्षुष प्रभाव सब कुछ शब्दों से निर्मित होता है।

राकेश अपने रचनात्मक कोशल द्वारा अपने शब्दों से नए रंगार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। भाषा की यह सांद्रता उन्हें और ‘आधे-अधूरे’ को महत्वपूर्ण बनाती है।⁹ किसी भी नाटक की सफलता के लिए एक अच्छे और दूरदर्शी निर्देशक की भूमिका भी बड़ी महत्वपूर्ण मानी जाती है। मोहन राकेश का यह मानना था कि रंगकर्म एक सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। उन्होंने निःसंकोच स्वीकारा कि नाट्य की संपूर्णता के लिए एक निर्देशक भी उतना ही सृजनात्मक व महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है, जितना कि एक नाटककार। मोहन राकेश को नाट्य-क्षेत्र में अमर और सशक्त हस्ताक्षर बनाने वाले मशहूर रंग-समीक्षक जयदेव तनेजा के शब्दों में—‘रचना और चिंतन-दोनों स्तर पर नाटकीय शब्द की तलाश-आधुनिक नाट्य-चिंतन का एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें मोहन राकेश ने सचमुच मौलिक और महत्वपूर्ण काम किया है।’¹⁰

संदर्भ-सूची

- ओम शिवपुरी, निर्देशकीय वक्तव्य, आधे-अधूरे, पृ. (अ), राधा ष्ण प्रकाशन, आवृत्ति, 2004
- वीरेन्द्र मेहदीरत्ता, मोहन राकेश का साहित्य, पृ. 57, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण 1990
- ओम शिवपुरी, निर्देशकीय वक्तव्य, आधे-अधूरे पृ. (VII), राधाकृष्ण प्रकाशन, आवृत्ति, 2004
- आधे-अधूरे, पृ. 93, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति, 2004
5. अंतराल उपन्यास, पृष्ठ 56. राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1972
6. गोविन्द चातक, आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश, पृ. 84, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-1976
7. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय रंगलोक, पृ. 25. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन प्रथम संस्करण-2006
8. ओम शिवपुरी, निर्देशकीय वक्तव्य, आधे-अधूरे, पृ.(अ), राधाकृष्ण प्रकाशन, आवृत्ति-2004
9. हर्षीकेश सुलभ, रंगमंच का जनतंत्र, पृ.189, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2009
10. जयदेव तनेजा, रंग-प्रसंग, अंक-11, जनवरी-जून-2003, पृ. 230

—डॉ. सत्यदेव प्रसाद

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
असम केंद्रीय विश्वविद्यालय, दीफू परिसर
दीफू, कार्बी आंगलोंग, असम-782462

पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्य में सामाजिक एवं ऐतिहासिक संस्कृति के सामान्य सर्वेक्षण का विवेचनात्मक अध्ययन

—डॉ. अशोक कुमार यादव

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी कथा साहित्य में सामासिक संस्कृति का क्या स्वरूप था? इस पर एक विहंगम दृष्टि डालना भी अत्यन्त आवश्यक है। पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्य तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण कर उस समय की संस्कृति और लोगों के मानसिक दृष्टिकोण को सामने रखते हैं। तत्कालीन युग नवजागरण का युग था। देश में हर तरफ आन्दोलन की गूँज सुनाई दे रही थी। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति हमारी संस्कृति को प्रभावित कर रही थी। पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने से आधुनिकता का बीजारोपण हुआ और समाज में गतिशीलता आयी। इस प्रभाव का असर साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था और हुआ भी यही। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव का कथा साहित्यकारों पर कहीं सकारात्मक और कहीं नकारात्मक प्रभाव दिखायी देता है। लेकिन इससे समाज में नयी जागृति उत्पन्न हुई। डॉ. तिलक राज वडेहरा के अनुसार, “पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति से सम्पर्क, राजनीतिक चेतना के विकास, वैज्ञानिक उन्नति, राष्ट्रीय भावना के उदय के समन्वित प्रभाव से साहित्य एवं जीवन में एक नवीन चेतना, नूतन दृष्टिकोण तथा नई सर्वेदनाओं का आविर्भाव हुआ जिससे जीवन में व्यवहारिकता, वस्तुनिष्ठता तथा वैज्ञानिकता का उदय हुआ।”¹

भारत में कथा साहित्य का प्रारम्भ ही पश्चिमी संस्कृति की देन है। अंग्रेजों का सबसे पहले प्रवेश बंगाल से हुआ जिसके कारण बंगाल सर्वप्रथम राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव में आया। अतः बंगाल में पहले कई साहित्यिक विधाओं का प्रारम्भ हुआ और बाद में अन्य भारतीय भाषाओं में वे प्रचलित हुईं। “बंगाल का उच्चवर्ग अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप कथा साहित्य के सम्पर्क में सबसे पहले आया, अतः पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से उसका परिचय भी सबसे पहले हुआ। इस कारण कथा साहित्य के लिए ज़मीन भी सबसे पहले बंगाल में ही तैयार हुई।”² प्रारम्भ में हिन्दी में केवल अन्य भाषाओं से अनूदित कथा साहित्य ही दिखायी पड़ता है या जो कथा साहित्य

मिलता है, वह मौलिकता के अभाव में कथा साहित्य कहलाने के लिए उपयुक्त नहीं है। हिन्दी साहित्य का प्रथम कथा साहित्य कौन सा है, इसके विषय में भी अधिकतर विद्वानों में मतभेद दिखायी देता है। लेकिन लाला श्रीनिवास द्वारा रचित ‘परीक्षा गुरु’ को ज्यादातर हिन्दी विद्वान प्रथम मौलिक कथा साहित्य मानते हैं। डॉ. रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार “अंग्रेजी ढंग का मौलिक कथा साहित्य पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु ही निकला था। उसके पीछे राधाकृष्ण दास ने ‘निस्सहाय हिन्दू’ और प. बालकृष्ण भट्ट ने ‘नूतन ब्रह्मचारी’ तथा ‘सौ अजान और एक सुजान’ नामक छोटे-छोटे कथा साहित्य लिखे।”³ डॉ. गोपाल राय भी ‘परीक्षा गुरु’ को हिन्दी का प्रथम मौलिक कथा साहित्य मानते हुए लिखते हैं, “1881 ई. में राधाकृष्ण दास ने ‘निस्सहाय हिन्दू’ नामक कथा साहित्य की रचना की जो नौ वर्ष बाद 1890 ई. में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन में हुए इस विलम्ब के कारण ही ‘निस्सहाय हिन्दू’ हिन्दी का प्रथम कथा साहित्य कहलाने से वर्चित रह गया और 1882 में लिखित तथा लेखक द्वारा अपने ही खर्च से प्रकाशित कथा साहित्य ‘परीक्षा गुरु’ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हिन्दी का प्रथम कथा साहित्य मान लिया गया और आज भी सामान्यतः यही मत प्रचलित है।”⁴

प्रेमचन्द्र से पूर्व कथा साहित्य में अधिकतर कथा साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन करना या उपदेश देना था। इसलिए इस युग में जासूसी, ऐयारी, तिलस्मी, रहस्यमय, वासना परक कथा साहित्य या उपदेशात्मक सनातन धर्म की रक्षा हेतु लिखे गये कथा साहित्य की अधिकता है। इस युग के साहित्य पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द्र लिखते हैं, “हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता संतानि की इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।”⁵

परन्तु ऐसे भी कथा साहित्य लिखे गये जो समाज में जागृति लाने तथा समाज में फैले रुढ़िवादी परम्परावादी विचारधाराओं के उन्मूलन के लिए आवश्यक थे। इस प्रकार के कथा साहित्य प्रगतिवादी विचारधारा से प्रेरित थे और प्रेमचन्द्र युगीन कथा साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे। “प्रेमचन्द्र पूर्व कथा साहित्य एक ऐसा तरल साहित्य

है जो मनोवेगों की सामान्य सी भौगोलिका में किसी भी दिशा में अग्रसर हो सकता है। उसका एकमात्र उद्देश्य सत्यासत्य के निर्णय में नहीं है वरन् मनोविनोद और मनोरंजन में है।”⁶

पूर्व प्रेमचन्द्र युगीन कथा साहित्य को अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया गया। “श्री किशोरी लाल गोस्वामी का वर्गीकरण ही अध्ययन के लिए सुविधाजनक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द्र पूर्व कथा साहित्य प्रमुखतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है- सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक।”⁷ पूर्व प्रेमचन्द्र युगीन सामाजिक कथा साहित्य पर जब दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में जाने के कारण जहाँ समाज में नयी चेतना का संचार हो रहा था, वहाँ समाज में कुछ बुराईयाँ भी उत्पन्न हो रही थीं। दो संस्कृतियों के मिलने से पुराने परम्परावादी विचारधारा वाले लोगों को अपनी संस्कृति के भ्रष्ट होने की आशंका थी। इसलिए वह पुराने विचारों, रुढ़ियों, परम्पराओं को अधिक महत्व देने का प्रयास कर रहे थे और पश्चिमी संस्कृति का विरोध कर रहे थे, जिससे समाज में और संकीर्ण विचारों के प्रवाह की आशंका बढ़ने लगी। डॉ. सोहन लाल रत्नाकर के अनुसार, “पूर्व प्रेमचन्द्र युग के कथा साहित्य में मध्ययुगीन संस्कृतिक मूल्यों की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इस युग के लेखक नई सांस्कृतिक चेतना का विरोध करते रहे और उनका झुकाव परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अधिक रहा। वह समय के साथ बदलना नहीं चाहते थे, इसी से उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति की उपेक्षा की और मध्यकालीन संस्कृति में गुण ही गुण देखे।”⁸

इसके साथ ही समाज में एक ऐसा वर्ग था तो पाश्चात्य सभ्यता के गुणों को स्वीकार लेने पर बल दे रहा था तथा परम्पराओं, कुप्रथाओं, कुरीतियों, अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास कर रहा था। “समाज में अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता का व्यापक प्रभाव सर्वत्र दिखायी देने लगा था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव को देखकर कट्टरपंथी हिन्दुओं का विनित्ति होना स्वाभाविक था। हिन्दू धर्म को संकट की स्थिति से उबारने के लिए उन्होंने धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की कुप्रथाओं जैसे सती प्रथा, बालविवाह, विधवा विवाह निषेध; स्त्री शिक्षा का विरोध पर्दा प्रथा का प्रसार करना आरम्भ किया। दूसरी ओर समाज का एक शिक्षित वर्ग कर्मकाण्डों के भयानक परिणाम को देखकर ऐसी संस्थाओं के निर्माण में संलग्न हो गया, जो समाज को इन कुप्रथाओं से मुक्ति दिला सके। राजाराम मोहन राय (ब्रह्मसमाज), दयानन्द सरस्वती (आर्य समाज) जैसे समाज

सेवियों ने समाज से अशिक्षा और अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयत्न किया। पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्यकारों पर इन समाज सेवियों और संस्थाओं का पूरा प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।⁹

इस युग के प्रमुख कथा साहित्यकारों में पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्री निवास दास, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, लज्जाराम शर्मा, किशोरी लाल गोस्वामी तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पूर्व प्रेमचन्द युगीन ऐतिहासिक कथा साहित्य का प्रारम्भ प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में असफल होने के उपरान्त राष्ट्रीय चेतना की जागृति से हुआ। इस युग के अधिकांश कथा साहित्य पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। लेकिन इसमें सहदयता, निष्पक्षता का अभाव है तथा काल्पनिक विषय वस्तु का प्रयोग हुआ है जिसमें ऐतिहासिक तत्वों का अभाव साफ दिखाई पड़ता है। अतः पूर्व प्रेमचन्द युग के कथा साहित्य मूलतः ऐतिहासिक कथा साहित्य कहने योग्य नहीं है। इसमें इतिहास की ओर से वृष्टि हटाकर लेखक ने कल्पनाओं से परिपूर्ण रहस्यमय प्रसंगों, रासलीलाओं, कौतूहलपूर्ण वर्णनों पर अधिक ध्यान दिया है। इस युग के प्रमुख ऐतिहासिक कथा साहित्यकार किशोरी लाल गोस्वामी अपने कथा साहित्य के विषय में स्वयं टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, “यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण कीर्तन है। इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहासों में खोजने का उद्योग भी न करें।”¹⁰

अन्त में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता कि पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्यकारों का लक्ष्य हिन्दू धर्म और संस्कृति की प्रतिष्ठा करना ही था अतः सामासिक संस्कृति का स्वरूप इस युग के कथा साहित्य में उभरकर सामने नहीं आता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि

पूर्व प्रेमचन्द युगीन कथा साहित्य में सामासिक संस्कृति का बीज बोया तो जा चुका था परन्तु कथा साहित्य में सामासिक संस्कृति पूर्ण रूप से अंकुरित नहीं हुई थी प्रेमचन्द युग में आकर सामासिक संस्कृति का वह बीज अंकुरित ही नहीं हुआ बल्कि पल्लवित और पुष्टि भी हुआ।

सन्दर्भ सूची

1. वडैहरा तिलकराज, प्रेमचन्द और नानक सिंह के उपन्यास, जीवन ज्योति प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1985, पृ. 26
2. सुहेल तसनीम, पूर्व प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उर्दू उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, पृ. 14
3. शुक्ल रामचन्द, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण, 2014, पृ. 417
4. गोपालराय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2002, पृ. 44
5. राय विजयकुमार, उत्तर प्रदेश पत्रिका, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, संस्करण-1996, पृ. 5
6. रक्षापुरी, प्रेमचन्द साहित्य में व्यक्ति और समाज, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, संस्करण-1970, पृ. 35
7. तिवारी रामचन्द, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-1902, पृ. 125
8. रत्नाकर सोहन लाल, प्रेमचन्द युग का हिन्दी उपन्यास, ऋषभचरण जैन एवं सन्ताति, नई दिल्ली, संस्करण-1978-80, पृ. 242
9. सुहेल तसनीम, पूर्व प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उर्दू उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, पृ. 20
10. शर्मा कमलेश व सिंह पद्म, प्रेमचन्द और उनकी साहित्य साधना, अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण-1956, पृ. 15, 16

—डॉ. अशोक कुमार यादव

अम्बेडकर नगर

उत्तर प्रदेश

हिन्दी आलोचना के विकास में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की प्रासांगिकता

—डा. अभिलाषा शुक्ला

विश्वसनीयता आलोचना की पहली और मूलभूत शर्त है। आलोचना में विश्वसनीयता का क्षरण उसे आलोचना नहीं रहने देता, कम से कम वैसी आलोचना जो अपने प्रति विश्वास जगाती है। आज आलोचना बहुत-कुछ दरबारी इतिहासकारों के इतिहास लेखन के निकट पहुँच रही है जिसमें सब कहीं लेखक का शरणदाता ही उसके केन्द्र में है। इसमें लोगों को अपने भविष्य की सुनहरी चमक दिखाई देती है जिससे उनका करियर तो बनता ही है, इधर कृतज्ञता, ऋणशोध आदि की अभिव्यक्ति का माध्यम भी वह तेजी से बनी है। हिन्दी आलोचना के आरम्भिक युग में यह धारणा प्रचलित थी कि आलोचना का अर्थ कृति विशेष का गुण-दोष विवेचन मात्र है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ लेने पर भी तात्पर्य में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिए चिरकाल से ही आलोचक, कृति विशेष का गुण-दोष निर्णय मात्र अपना धर्म समझते रहे, पर आज हिन्दी आलोचना का क्षेत्र विस्तार हो जाने के परिणामस्वरूप ‘समीक्षा’, ‘आलोचना’, ‘समालोचना’ प्रभृति शब्दों का अर्थ-विस्तार हो गया है। आज आलोचना के अंतर्गत किसी कृति की विशेषताओं पर विचार करना, उसकी उपलब्धियों एवं अभावों का मूल्यांकन करना, श्रेष्ठता एवं अभावों के विषय में निर्णय देना, उसे श्रेणीबद्ध करना आदि अनेक कार्य आते हैं। इतना ही नहीं, रचना को समझने में पाठक की मदद करना भी आलोचक का दायित्व है।¹ यह गुटों और गिरोहों में सिमटती गई है। अब लोग सिर्फ अपने गुटों के व्यक्तियों का उल्लेख करते हैं या फिर उनका जिनसे अभी या आगे कभी कुछ हित संधने की गुंजाइश दिखाई देती है। इससे भी अधिक शायद अहित को आशंका होती है। मूल्य, निष्ठा, ईमानदारी जैसे शब्द आलोचना के दायरे से खदेड़े जाकर पूरी तरह बाहर कर दिए गए हैं। आलोचना का सबसे बड़ा शत्रु दम्भ है। वह उसकी विनम्रता का हरण करता है जिसके अभाव में कोई सार्थक आलोचना संभव ही नहीं है। जब आलोचक यह समझने लगता है कि उसको चर्चा से लेखक स्थापित होते हैं और उसकी उपेक्षा से वे अंधेरे में ढूब जाते हैं तो स्पष्ट है, आलोचना अपना बुनियादी काम नहीं कर रही होती है। रणनीतिक आलोचना का जो एक नया रूप इधर उभरकर आया है, उससे तात्कालिक वाहवाही तो मिलती है लेकिन जल्दी ही वह आईना बनकर आलोचक का मुँह भी चिढ़ाने लगती है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी छायावाद को अपनी आलोचना का प्रस्थान-बिंदु बनाकर समकालीन कविता तक आते हैं। व्यवस्थित ढंग से लिखित कविता संबंधी आलोचना की उनकी दो ही पुस्तकें हैं ‘आधुनिक हिंदी कविता’ (1977) जिसमें वे प्रसाद से अज्ञेय तक आठ कवियों पर विचार करते हैं और दूसरी पुस्तक है ‘समकालीन हिंदी कविता’ (1982) इनके अतिरिक्त उन्होंने अज्ञेय और मुक्तिबोध पर पुस्तकें संपादित भी की हैं। पिछले दो दशकों से भी अधिक समय से ‘दस्तावेज़’ नामक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं और उसके भी कविता-केंद्रित कई अंक प्रकाशित हुए हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को क्रमशः विकसित एक ऐसे कवि के रूप में देखते हैं जिसने रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों से शुरू करके आधुनिक अभिव्यक्ति कौशल तक की यात्रा की है। वे मुख्यतः प्रसाद को क्लासिस्कीय गरिमा का एक बौद्धिक कवि मानते हैं, ‘वे उत्तेजित करने वाले कवि नहीं हैं।’² उनकी कविता में जीवन और जगत के बारे में एक गहरा मंथन है...’ निराला के संबंध में उनका विचार है कि प्रगतिवाद का जनक होने पर भी वे उसकी राजनीतिक विचारधारा से बँधे नहीं थे। बच्चन को परवर्ती रचनाओं में भाषा-शैरिल्य का कारण वे उनके अनुभूति शैरिल्य को मानते हैं। परिवेश के तीव्र बोध का अभाव ही उनके भाषिक-शैरिल्य के रूप में सामने आता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी प्रगतिवादी काव्य को बहुत सहानुभूति के साथ नहीं देख पाते, यह अज्ञेय संबंधी उनकी इस टिप्पणी से स्पष्ट है, ‘यह बात याद रखने की है कि उस दौर में, जब छायावाद का पतन हो चुका था और कविता के गले पर प्रगतिवाद का फंदा कड़ा होता जा रहा था, शायद अज्ञेय ने अकेले काव्य मूल्यों के लिए लड़ाई लड़ी।

कविता की संस्कृति और सांस्कृतिक गरिमा की दृष्टि से वे अज्ञेय को प्रसाद से जोड़ कर देखे जाने पर विशेष बत देते हैं। यही कारण है कि छायावादोत्तर और समकालीन कविता का केन्द्रीय व्यक्तित्व तिवारी जी के लिए अज्ञेय ही हैं। अपनी ‘आधुनिक हिंदी कविता’ का अंत वे अज्ञेय से करते हैं तो ‘समकालीन हिंदी कविता’ का आरंभ भी वे अज्ञेय से करते हैं—व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य की खोज करते कवि के रूप में, यहाँ वे अज्ञेय से चलकर धूमिल तक आते हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी मानते हैं कि कविता का अध्ययन एक जटिल व्यापार है। उसमें भी नई कविता का अध्ययन और भी जटिल है क्योंकि वहाँ आलोचक को कविता की संप्रेषणीयता के सवाल से भी टकराना होता है। यहाँ वे विभिन्न कवियों के संदर्भ में भिन्न शब्द प्रयोगों को लक्ष्य करके कवियों की काव्य-चिंताओं और काव्य संवेदनाओं

को उद्घाटित करने का प्रयास करते हैं। इस तरह कविता में विचार की अपेक्षा वे भाषा पर अधिक बल देने वाले आलोचक हैं। उदाहरणार्थ राजकमल चौधरी के संदर्भ में वे ‘जंगल’ और ‘नींद’ को उनकी काव्य-संवेदना के बीज-शब्दों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे राजकमल चौधरी की डायरी का अंश उद्धृत करते हैं जिसमें वे जंगल को अपनी पसंद बताते हैं और फिर तिवारी जो एक पर्याप्त सरलीकृत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि चूंकि जैसे स्वाधीन और स्वेच्छात्मक जीवन राजकमल जीना चाहते थे वह नागरिक और महानगरीय समाज में संभव नहीं था। आदिम समाज के प्रति राजकमल चौधरी का आग्रह उनको इसी स्वेच्छाचारी प्रकृति का आग्रह था जिसमें ‘नींद’ मशीनी सभ्यता से मुक्ति का संदेश बनकर आती है।

धूमिल के संदर्भ में वे ‘ताल्कालिकता’ को उनकी कविता की सबसे बड़ी शक्ति मानते हुए भी यह आशंका प्रकट करते हैं कि वहाँ शक्ति आगे कभी उनकी कमज़ोरी भी जानी जा सकती है। इस ‘ताल्कालिकता’ के अतिरिक्त धूमिल की अन्य काव्य सीमाओं में वे उनके तुकों का मोह, सूक्तियों का बेहद प्रयोग और पानबाजी का उल्लेख करते हैं। फिर वे निष्कर्ष निकालते हैं, ‘धूमिल को लंबी जिंदगी नसीब न हुई।’³ संभव है आगे वे अपनी इन रचना-सीमाओं को तोड़ने की कोशिश करते।

अब से दस-बारह वर्ष पहले तक विचारधारा नाम की चीज लेखक के लिए रीढ़ का काम करती थी। सोवियत संघ के विघटन के बाद भूमंडलीकरण और उत्तर आधुनिकता के इस दौर में, उस रीढ़ के निकल जाने के बाद आदमी को उछलने और पलटी खाने की बेहिसाब छूट मिली है। इस बड़ी हुई सुविधा के हिसाब से उसकी बुद्धि भी तेज हुई है। पुरस्कार, सम्मान, स्वीकृति आदि से परिश्रम, समर्पण और निष्ठा का अधिक वास्ता नहीं रह गया है।

यही कारण है कि इन चीजों पर से आदमी का विश्वास इतना कभी नहीं उठा था जितना इस बीच उठा है। मेरे विचार से इसकी सीधी जिम्मेवारी आलोचना की है यानी उन आलोचकों को जो अपने सारे विरोधी तेवरों के बावजूद इस जगह सब एक हैं।...तेकिन मेरी दिक्कत यह है कि इन सारी बातों को इस तरह किताब में नहीं लिखा जा सकता, भले ही वह आलोचना से संबंधित किताब ही क्यों न हो तेकिन एक आलोचक के रूप में यह मेरी पीड़ा भी है और केन्द्रीय चिंता भी।

अपनी इस किताब, ‘हिन्दी आलोचना का विकास’ के संबंध में भी, सम्भवतः अन्तिम बार अपनी पिछली बात

ही दोहराना चाहूँगा कि यह हिन्दी आलोचना का इतिहास नहीं है। जैसा कि एक अंग्रेजी मुहावरा है—अच्छी आलोचना शैतान को भी उसका वाजिब हक देती है और जब-तब इसके लिए उसे भरपूर वैचारिक संघर्ष भी करना होता है। हिन्दी में आलोचना की व्यवस्थित ढंग से लिखी गई जो चंद किताबें हैं ये अपने-अपने हिसाब से समकालीन परिदृश्य में सक्रिय आलोचकों को चर्चा करती हैं। यहाँ सम्पूर्णतः पहली बार इस परिदृश्य की इतनी विस्तृत और समावेशी चर्चा हुई है। अपनी पिछली किताबों की तरह इस पुस्तक के बारे में भी मेरा कोई बड़ा दावा नहीं है¹ यदि आलोचना में निरन्तर और तेजी से छीनते हुए विश्वास को पुनर्स्थापित करने में यह थोड़ी-सी भी सहायता करती है तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझा। इस तरह आलोचना की अविश्वसनीयता और अराजकता के विरुद्ध इसे मेरे एक विनम्र वैचारिक संघ के रूप में भी लिया जा सकता है। हिन्दी आलोचना का समकालीन परिदृश्य अनेक प्रकार के विवादों एवं रचनात्मक उत्तेजना की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है। विभिन्न आलोचना दृष्टियों की टकराहट, भले ही उसमें संवाद कम और विवाद अधिक हो, भी इस परिदृश्य की एक विशिष्ट पहचान मानी जा सकती है। कैरियर, ऋणशोध और निहित स्वार्थों के लिए आलोचना के इस्तेमाल के कारण उसकी विश्वसनीयता का क्षरण हुआ है, लेकिन फिर भी वह प्रवृत्तियों, लेखकों और कृतियों की अपनी अचूक पहचान का विश्वास बनाए रख सकी है। इस दौर की आलोचना में एक ओर यदि कलावादी रुझानों की सक्रियता बढ़ी है, उसकी पुर्णस्थापना के प्रयासों में तेजी आई है, वहाँ साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का भी विकास हुआ है और साहित्य के समाज एवं राजनीति से संबंधों को नए सिरे से परिभाषित करने के प्रयास भी स्पष्ट लक्षित किए जा सकते हैं। हिन्दी में काव्यालोचन की एक सुदीर्घ और सुस्थापित परम्परा की उपस्थिति के कारण यह स्वाभाविक है कि आलोचना का बहुलांश आज भी कविता पर ही केंद्रित है।

इसमें एक और यदि कुंवर नारायण से लेकर अरुण कमल तक कवि आलोचकों को सक्रिय हिस्सेदारी देखी जा सकती है। वहाँ बच्चन सिंह से लेकर ललित कार्तिकेय तक आलोचकों का हस्तक्षेप भी ध्यान आकृष्ट करता है। दूसरों और सारे आरोपों और स्यापे के बावजूद,

कथा-आलोचना का भी तेजी से विकास हुआ है। नाट्यालोचन की सजगता भारतेन्दु-काल से ही दिखाई देने लगी थी, भारतेन्दु के प्रसंग में उनके 'नाटक' नामक विस्तृत निबंध की चर्चा शुरू में ही की जा चुकी है, लेकिन समुचित रंगमंच के अभाव में रंग आंदोलन जैसी कोई चीज हिन्दी में बहुत बाद में हो अस्तित्व में आ सकी। नैमिचंद्र जैन की पत्रिका 'नटरंग' की इसमें ऐतिहासिक भूमिका रही है² हिन्दी आलोचना में सिद्धांत चर्चा, प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र को प्रासारित करने के तलाश, उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन और आंदोलन की सक्रियता के अतिरिक्त 'हिन्दी नवजागरण' और 'हिन्दी जाति' जैसी अवधारणाओं पर भी पर्याप्त विवाद होता रहा है। कुल मिलाकर हिन्दी आलोचना का यह परिदृश्य तीखे वाद-विवाद और उग्र असहमतियों के रहते पर्याप्त उत्तेजक और थरथराहट भरा है। इसी कारण आलोचना को तेजस्विता और उसकी संवादी प्रवृत्ति भी बनी रह सकी है। विमोचन को संस्कृति, पुरस्कारों की राजनीति और उनके प्रति बढ़ी हुई अविश्वसनीयता और प्रकाशन में स्तर और दृष्टि की विपन्नता का संकट, ये कुछ ऐसे कारक हैं जिनसे इस दौर की आलोचना भी अप्रभावित नहीं रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2020, पृ. 67
2. आधुनिक हिंदी कविता, संस्करण, 77, पृ. 11
3. समकालीन हिंदी कविता, संस्करण '82, पृ. 206
4. मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, 2019, पृ. 1
5. मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, 2019, पृ. 235
6. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण, 2017, पृ. 321
7. मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, 2019, पृ. 236

–डा. अभिलाषा शुक्ला

सहायक प्रवक्ता
हिन्दी विभाग,
संत अलायसियस स्वशासी महाविद्यालय
जबलपुर

भारत में स्त्री शिक्षा का महत्व

—शशिकला यादव
—डॉ. हलधर यादव

शिक्षा के माध्यम से महिलाओं की समानता व सशक्तिकरण के अर्थपूर्ण प्रयासों को सुनिश्चित किया जाना स्त्री शिक्षा की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। स्त्री का शिक्षित होना आदि से लेकर आज तक महत्वपूर्ण है क्योंकि ऐसा माना गया है कि एक स्त्री का शिक्षित होना एक परिवार के शिक्षित होने के बराबर है। स्त्री शिक्षा के महत्व को स्वीकारते हुए, स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था, “जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होगा तब तक विश्व का कल्याण नहीं हो सकता, किसी भी पक्षी के लिए एक पंख पर उड़ना सम्भव नहीं है।” इस प्रकार विवेकानन्द जी ने स्त्री शिक्षा के महत्व को समझाते हुए कहा कि किसी भी देश का उत्थान व विकास तभी सम्भव है जब उस देश की महिलायें पूर्ण रूप से शिक्षित हों। देश की आधी आबादी महिलाओं की है। यदि देश की आधी आबादी शिक्षित नहीं होगी तो देश का विकास सम्भव नहीं है। एक पंख से तात्पर्य है कि किसी एक पहलू को विकसित करके विकासशील नहीं बन सकते। जब स्त्री व पुरुष समान रूप से कार्य करेंगे तभी कोई कार्य पूर्ण हो सकता है। वैसे भी ईश्वर ने स्त्रियों को कुछ अलग शक्ति प्रदान की है जिसके कारण उन्हें शक्ति का रूप माना गया है। एक स्त्री ही खुद को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित करती है। इस विभिन्न रूप को शिक्षित करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्त्री शिक्षा का महत्व आदि से लेकर चला आ रहा है। स्त्री शिक्षा के महत्व को बताते हुए भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, “यदि जनता में जागृति पैदा करनी है तो महिलाओं में जागृति पैदा करो, एक बार जब वे आगे बढ़ती हैं तो परिवार आगे बढ़ता है, गाँव व शहर आगे बढ़ता है एवं सारा देश आगे बढ़ता है।” भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि एक शिक्षित स्त्री का महत्व कहाँ तक है, नेहरू जी का कहना था कि एक स्त्री के शिक्षित होने से एक परिवार के साथ-साथ एक गाँव और गाँव के साथ-साथ एक शहर भी शिक्षा की तरफ बढ़ता है। इस प्रकार एक स्त्री को शिक्षित करना कितना महत्वपूर्ण है यह हमसे या आपसे छुपा नहीं है।

आज महिला शिक्षा का महत्व इस बात में है कि महिलाओं को स्वयं की ताकत के बारे में जागृत किया जाय, जिससे वे सामाजिक विकास की प्रवर्तक बन सकें। महिलाएँ जब तक अपनी शक्ति क्षमता व आत्मविश्वास को जागृत नहीं

करेंगी तब तक बाह्य कारक उन्हें सशक्त नहीं बना सकते हैं। परिवार की अधूरी नारी को जागरूक बनाकर समाज को सशक्त बनाया जा सकता है। सशक्त समाज से ही देश मजबूत होता है। स्त्री शिक्षा के महत्व को निम्न बिन्दुओं में प्रदर्शित कर सकते हैं—

परिवार के क्षेत्र में स्त्री शिक्षा का महत्व : परिवार के क्षेत्र में स्त्री शिक्षा का महत्व स्वास्थ्य, सुरक्षा, स्वच्छता और उनके क्रमिक विकास एवं स्वस्थ योगदान के रूप में देखा जा सकता है। एक शिक्षित स्त्री ही परिवार का सम्पूर्ण रूप से देख-भाल कर सकती है।

समाज के क्षेत्र में स्त्री का महत्व : समाज में फैली कुरीतियों जैसे—रुद्धिवादिता, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, सती प्रथा और पारिवारिक हिंसा जैसे मामलों में एक शिक्षित स्त्री ही इन सबसे समाज को मुक्त करा सकती है। समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव स्त्री पुरुष का अन्तर कार्योंका बँटवारा आदि को एक शिक्षित स्त्री दूर कर सकती है। समाज के क्षेत्र में स्त्री शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया है।

आर्थिक क्षेत्र में स्त्री का महत्व : वर्तमान समय में स्त्रियाँ पुरुषों से कन्धा मिलाकर चल रही हैं। आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों के समान नौकरियों प्राप्त कर आत्मनिर्भर बन रही हैं। एक शिक्षित महिला ही आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकती है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन कर स्त्रियाँ देश और समाज की सेवा में तत्पर हैं। देश और समाज की सेवा के लिए स्त्री का शिक्षित होना महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री शिक्षा का महत्व : महिलायें राजनीति के क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थित दर्ज कराकर देश के नेतृत्व में अपनी सहभागिता दे रहीं हैं। राजनीतिक क्षेत्र में शिक्षित होना जरूरी नहीं है। ये पुराने विचार चले आ रहे थे, वर्तमान समय में राजनीति में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। एक शिक्षित नेता देश को सुचारू रूप से अग्रसारित कर सकता है। वर्तमान समय की स्त्रियाँ शिक्षित होकर राजनीतिक पदों को सुशोभित कर रही हैं।

निर्णय लेने की क्षमता हेतु स्त्री शिक्षा का महत्व : एक स्त्री का शिक्षित होना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि एक शिक्षित स्त्री ही सही निर्णय ले सकती है। महत्वपूर्ण और त्वरित निर्णय क्षमता का विकास शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। स्त्रियाँ यदि सुशिक्षित होंगी तो वे निर्णय प्रक्रिया में निश्चित रूप से भागीदार होंगी। स्वतंत्र निर्णय लेने के साथ-साथ पुरुषों द्वारा अनुचित रूप से लिये गये निर्णयों का विरोध कर पायेगी।

आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान हेतु स्त्री शिक्षा का

महत्व : स्त्रियों का अपने आत्मविश्वास को बनाए रखने व आत्मसम्मान को बचाए रखने के लिए शिक्षित होना अति महत्वपूर्ण है। एक शिक्षित स्त्री ही अपने अधिकारों और कर्तव्यों को भली-भांति समझ सकती है। अपने सभी रिश्तों के साथ किस प्रकार ताल-मेल बिठाना है, एक शिक्षित स्त्री ही कर सकती है। एक शिक्षित स्त्री बच्चों का प्रभावशाली ढंग से पथ-प्रदर्शन कर सकती है।

नेतृत्व के लिए स्त्री शिक्षा का महत्व : नेतृत्व करने के लिए सबसे पहले जिस क्षेत्र से महिला जुड़ी है उस क्षेत्र के तकनीकी, आर्थिक, भौगोलिक, राजनीतिक एवं सामाजिक पहलुओं के बारे में विस्तृत जानकारी रखनी चाहिए। यह जानकारी शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। एक शिक्षित स्त्री ही नेतृत्व कौशल को आगे बढ़ा सकती है। इसलिए नेतृत्व के लिए शिक्षित स्त्री का होना अति महत्वपूर्ण है। एक शिक्षित स्त्री समाज में परिवर्तनकारी भूमिका बखूबी निभा सकती है। सशक्त नेतृत्व के लिए शिक्षा अति महत्वपूर्ण है।

महिलाओं की मानसिकता एवं प्रवृत्ति में परिवर्तन हेतु स्त्री शिक्षा का महत्व : महिलाओं की मानसिकता एवं प्रवृत्ति में परिवर्तन के लिए शिक्षा अति महत्वपूर्ण है। हमें यह देखने को मिलता है कि एक शिक्षित स्त्री का व्यवहार व अशिक्षित स्त्री का व्यवहार पूरी तरह अलग होता है। शिक्षित स्त्री परिस्थिति के अनुसार अपने आप को परिवर्तित कर लेती है जबकि अशिक्षित स्त्री को परिवर्तित करना नाकों चाने चबाना है। एक शिक्षित महिला अपनी मानसिकता को समझकर उसे सामाजिक रूप से व्यवहार में परिवर्तन करती है। शिक्षित महिला की मानसिकता और प्रवृत्ति विस्तृत होती है। शिक्षित महिला के विचार खुले होते हैं। स्त्रियों की स्वस्थ मानसिकता उन्हें परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील बनायेगी और वे अपनी रुचियों, आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुरूप कार्य करके अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयास करेंगी।

समानता हेतु स्त्री शिक्षा का महत्व : एक शिक्षित स्त्री चाहे वह परिवार हो, समाज हो, कॉलेज हो आदि सभी जगह पर सभी के समानता की बात करती है। यह शिक्षा ही है जो सभी को समानता का अवसर प्रदान करती है। शिक्षा के बिना एक दूसरे का अन्तर ही समझ में नहीं आयेगा। क्योंकि शिक्षा एक मार्गदर्शक व पथप्रदर्शक का कार्य करती है। शिक्षा में सशक्त भागीदारी के बिना समानता की कल्पना नहीं की जा सकती। स्त्री शिक्षा के महत्व को गुरुदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्राथमिक शिक्षा लड़कों तथा लड़कियों के लिए समान होना चाहिए। माध्यमिक

स्तर पर लड़कियों के पाठ्यक्रम में गृहविज्ञान अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में गुरुदेव के विचार में लड़के व लड़कियों के पाठ्यक्रम समान होने चाहिए। दोनों को शिक्षा का समान अवसर प्रदान करना चाहिए। गुरुदेव ने स्पष्ट रूप से कहा कि जब तक देश में स्त्री, पुरुष समान रूप से शिक्षित नहीं हो जाते और एक दूसरे से कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चलते, तब तक देश का उत्थान सम्भव नहीं है। इस प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जी स्त्री शिक्षा के महत्व के प्रति संचेष्ट थे। मालवीय जी स्त्रियों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। मालवीय जी का कहना था कि स्त्री, पुरुष के शिक्षा में अन्तर नहीं होना चाहिए। दोनों को शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर देना चाहिए। मालवीय जी प्राथमिक और उच्च शिक्षा के स्तर पर लड़के और लड़कियों के लिए सहशिक्षा को स्वीकार करते थे लेकिन माध्यमिक स्तर पर लड़कों और लड़कियों की शिक्षा अलग-अलग होनी चाहिए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मदन मोहन मालवीय जी किशोर मनोविज्ञान से परिचित थे।

गाँधी जी स्त्री को ईश्वर की श्रेष्ठतम् रचना मानते थे। गाँधी जी ने इस बात को स्पष्ट किया कि यद्यपि पुरुष और स्त्री का कार्य क्षेत्र थोड़ा भिन्न होता है लेकिन उनकी सांस्कृतिक आवश्यकताएं समान होती हैं, इसलिए दोनों को अपने-अपने विकास के लिए समान अवसर प्रदान करने चाहिए। गाँधी जी ने स्पष्ट किया कि स्त्री को पत्नी, माता और समाज के निर्माता के रूप में कार्य करना होता है। पत्नी व माता के रूप में स्त्री पुरुष से भिन्न होती है परन्तु निर्माता के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में उसे अपनी सभ्यता और संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान होता है। गाँधी जी स्त्रियों को संगीत और नृत्य से दूर रखना चाहते थे। गाँधी जी का मत था कि ये क्रियायें वासना को जन्म देती हैं। गाँधी जी स्त्री और पुरुष की शिक्षा में इतना अन्तर करते थे कि स्त्रियों को गृहकार्य की अतिरिक्त शिक्षा दी जाए। स्त्री को समाज में बराबर का स्थान देकर उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर गाँधी जी ने समाज का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार स्त्री शिक्षा का महत्व सभी जगह देखने को मिलता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्त्री शिक्षा के महत्व को सभी क्षेत्र में महत्वपूर्ण बताया गया है। एक स्त्री के शिक्षित होने से परिवार से लेकर समाज और समाज से लेकर देश तक शिक्षित होता है। स्त्री शिक्षा का महत्व संकुचित न होकर व्यापक स्तर पर महत्वपूर्ण है। स्त्री का

परिवार में शिक्षित होना परिवार को शिक्षित परिवार के रूप में दर्शाता है। समाज में स्त्री का शिक्षित होना शिक्षित समाज कहलाता है। आर्थिक क्षेत्र में स्त्री का शिक्षित होना कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना दर्शाता है। राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री का शिक्षित होना राजनीति में स्त्रियों के लिए मार्गदर्शिका को प्रदर्शित करता है। निर्णय लेने के लिए स्त्री का शिक्षित होना अतिमहत्वपूर्ण है क्योंकि एक शिक्षित स्त्री का निर्णय परिवार, समाज व देश के हित में होता है। शिक्षित अशिक्षित स्त्री का निर्णय एक दूसरे को अलग करता है। स्वतंत्र निर्णय के लिए भी स्त्री का शिक्षित होना अति आवश्यक व महत्वपूर्ण है। आत्मविश्वास व आत्मसम्मान को बनाये रखने के लिए स्त्री का शिक्षित होना अति महत्वपूर्ण है। एक शिक्षित स्त्री सभी प्रकार के संघर्ष को करते हुए अपने आत्मविश्वास को बनाये रखती है और इसी आत्मविश्वास के कारण खुद को टूटने से बचा लेती है। आत्मविश्वास के कारण सभी प्रकार की परिस्थितियों का सामना कर लेती है और अपने आत्मसम्मान को बचा लेती है। नेतृत्व की क्षमता भी पुरुषों से कम नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. गुप्ता, एस. पी. (2015), भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्यायें, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज
2. लाल, रमन बिहारी (2011), शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, रस्तोगी पब्लिकेशन्स
3. परमार शुभा (2015), नारीवादी सिद्धान्त और व्यवहार, ओरियंट ब्लैकश्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद
4. श्रीवास्तव रश्मि (2021), भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान
5. पाठक, सुमेधा (2012), स्त्री शिक्षा, अग्रवाल पब्लिकेशन्स
6. <https://www.drishtiias.com/daily-updates/daily-news/editorials/woman-education>
7. www.jseps.org
8. www.msde.gov.in
9. www.scotbuzz.org
10. www.91sarkariyojana.in

—शशिकला यादव
शोधार्थी, शिक्षा विभाग, महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, लखनऊ

—डॉ. हल्द्धर यादव
प्रोफेसर, शिक्षा विभाग,
महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, लखनऊ

जम्मू-कश्मीर में राष्ट्रीय भावना

—डॉ. अजय कुमार

राष्ट्रवाद सांस्कृतिक, भागौलिक, ऐतिहासिक, भाषा, जातीयता के आधार पर स्वयं को एकीकृत करते हुए राष्ट्र के प्रति प्रेम व समर्पण व एकजुटता की भावना रखना ही राष्ट्रवाद है। यह एक ऐसी देवीय अनूभूति है जिसके समक्ष विश्व के सभी रूप धूत समान हैं। किसी भी राष्ट्र की प्रगति व संपन्नता के लिए वहाँ के नागरिकों में सांस्कृतिक, भागौलिक, ऐतिहासिक, भाषा, जातिय विविधता से ऊपर उठकर राष्ट्र के प्रति गौरव की भावना को मज़बूती प्रदान करना आवश्यक है। आज भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्रवाद की परिभाषा को काफी हद तक प्रभावित किया है। आज समूचा विश्व भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के कारण एक मंच पर एकत्रित हो गया है। जनसंचार की सूनामी ने सभी राष्ट्रीय सीमाओं को पाट लिया है। इंटरनेट और मोबाइल फोन जैसी प्रौद्योगिकीय क्रांति के कारण दुनिया के फासले बहुत कम हो गए हैं और इस स्थिति ने राष्ट्रवाद की भावना को बड़ी चुनौती पेश की है। आज समूचा विश्व एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गया है। इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका भी अग्रणी रही है। आधुनिक समय में संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत 193 राष्ट्र एकता के सूत्र में बंधे हुए सम्पूर्ण विश्व को शांति, एकता एवं भाईचारे का सदेश दे रहे हैं। जम्मू-कश्मीर अपने भागौलिक संरचना एवं प्राकृतिक सुंदरता के कारण संपूर्ण विश्व में जाना जाता है। कई दशकों से जम्मू-कश्मीर अशांति व रक्त रंगा-रंग का क्षेत्र रहा है। साथ ही अलगाववाद की ताकतों को पनपने व फलने-फूलने का स्वर्णिम अवसर भी मिला है। कई दशकों से यहाँ के राष्ट्रवाद को गन कल्वर से दबाया गया था। परंतु अनेक बलिदानों के बाद वर्तमान समय में जम्मू-कश्मीर को गन कल्वर से आज्ञाद कराया गया है। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के राष्ट्रवाद की विचारधारा, देश को एकता और अखंडता के सूत्र में बाँधने की प्रतिबद्धता तथा राजनीतिक विकल्प के बीजारोपण के लिए आजादी के बाद के इतिहास में इन्हें जाना जाता है। मुखर्जी का नारा था—एक देश में दो विधान, दो प्रधान, दो निशान नहीं चलेंगे। इसी सोच के साथ उन्होंने जम्मू कश्मीर में आन्दोलन छेड़ दिया। इसी आन्दोलन के अग्नि कुंड में उन्होंने अपने राष्ट्र के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। वर्तमान समय में जम्मू-कश्मीर एक राष्ट्रीय भावना का केंद्र बन गया है। अगस्त 2019 में धारा 370 के निरस्तीकरण के पश्चात राज्य में राष्ट्रवाद की भावना और भी प्रबल हुई है। अनुच्छेद 370 को सदैव के लिए खत्म कर दिया गया। एक निशान, एक विधान, एक प्रधान का जो सपना डॉ. मुखर्जी ने देखा था, वह सपना साकार हो गया।

भारत की इस पावन भूमि पर अनेक महापुरुषों का जन्म हुआ है, जैसे राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध। हमारा इस पुन्य व पावन भूमि से प्रेम, सम्मान एवं कृतज्ञता ज्ञापित करना ही हमारा राष्ट्रवाद है। राष्ट्रवाद क्या है और कैसा होना चाहिए, वर्तमान समय का एक ज्वलंत मुद्रा बन गया है। इस विषय में आज विश्व कई हिस्सों में बंट गया है। हर कोई राष्ट्रवाद की नई परिभाषा देना चाहता है। राष्ट्रवाद अनूभूतिपरक भावना है, इसे सिर्फ हृदय से महसूस किया जा सकता है। क्या इसे दिखाया जा सकता है, हम इस प्रबल भावना को अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम, सम्मान एवं कृतज्ञता ज्ञापित करके प्रकट कर सकते हैं। “राष्ट्र शब्द से मानव समूह का बोध होता है, लोक जीवन के विकास क्रम में वस्तुनिष्ठ एवं भावनिष्ठ दोनों प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की परिपक्वता के बाद राष्ट्रवाद का उदय हुआ।”¹ राष्ट्रवाद के संदर्भ में प्रसिद्ध यथार्थवादी एवं मार्क्सवादी एडवर्ड हेलेट कार ने राष्ट्रवाद की परिभाषा देते हुए कहा है, “सही अर्थ में राष्ट्र का उदय मध्य युग की समाप्ति पर ही हुआ।”² राष्ट्रवाद धर्म, जाति और क्षेत्रीयता की संकीर्ण मानसिकता से उपर उठकर देश के प्रति गर्व की एक प्रबल भावना है। राम ने रावण का वध करने के पश्चात स्वर्ण नगरी लंका को उनकी मातृभूमि के सामने तुच्छ बताते हुए अपने भाई लक्ष्मण से कहा था, अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते/जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादिपि गरीयसी ॥ अर्थात—लक्ष्मण! यद्यपि यह लंका सोने की बनी है, फिर भी इसमें मेरी कोई रुचि नहीं है। (क्योंकि) जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान है। यह श्लोक वाल्मीकि रामायण के कुछ पाण्डुलिपियों में मिलता है। कश्मीर का इतिहास काफी पार्थीन रहा है। सैकड़ों वर्षों के इस इतिहास में अनेकों शासक आए व गए परंतु कश्मीर की खूबसूरती व प्राकृतिक, भौगोलिक संरचना को वह मिटा नहीं पाए। काश्मीर एक अत्यंत प्राचीन देश है, प्रकृति ने काश्मीर की घाटी को न केवल एक विशेष भौगोलिक स्थिति प्रदान की है, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास को भी एक विशेष महत्व दिया है। भारत के अन्य प्रदेशों की तरह इतिहास काल में बदलता नहीं आया।³ पिछले कुछ समय से हमारे कश्मीर में आतंकवाद का बहुत ही भयंकर दौर आया। उस समय यहाँ पर गन कल्वर का बोल बाला हो गया था। प्रदेश में राष्ट्र को पूर्णतः दबा दिया गया। राष्ट्रवाद का समर्थन करने वाले लोगों को इस प्रांत से खदेड़ा शुरू कर दिया गया था।

इन सभी घटनाओं को जम्मू कश्मीर के भूतपूर्व राज्यपाल जगमोहन जी ने बहुत पास से देखा व अनुभव किया, “मैं

सचिवालय में काम करता रहा और देर शाम को राजभवन लौटा। वह रात मेरे जीवन की अजीब रात थी। मैं सोने ही बाला था कि मेरे विस्तर के दोनों और रखे टेलीफोन एक साथ लगातार बजने लगे। टेलीफोन के दूसरी ओर से भय और आतंक से ग्रस्त आवाजें आ रही थीं। “आज की रात हमारी आखीरी रात है” किसी ने कराहते हुए कहा। दूसरी आवाज में बताया, “सुबह हम कश्मीरी पॉडिंगों को मार दिया जाएगा” अन्य आदमी बोला, “हमारे लिए विमान भेजिए, हमें घाटी से बाहर ले चलिए” यदि आप सुबह हमारी लाशें नहीं देखना चाहते हैं, हमें रात में ही यहाँ से बाहर भेज दीजिए। दूसरी आवाज चीखी “हमारी औरतों, हमारी बहनों, हमारी माताओं का अपहरण कर तिया जाएगा। और हम सब आदमियों की हत्या, टेलीफोन करने वाले कुछ लोगों ने बताया कि वे केवल अपना टेलीफोन पकड़े रहते हैं ताकि मैं मसिजदों में लगे सैकड़ों लाउडस्पीकरों से आने वाले भयानक नारों और धमकियों को सुन सकूँ।”⁴ आज के समय में कश्मीर की तस्वीर पूरी तरह से बदल गई है, आज संकुचित राजनीति व सरकारी छत्र छाया में पल रहे गन कल्वर को समाप्त कर दिया गया है। वर्तमान समय में हमारे देश के कुछ हिस्सों में भी राष्ट्रवाद की संकुचित भावना से अलगाववाद ने जन्म लिया है।

देश की युवा पीढ़ी में प्रेम, सद् भावना, एकता, भाईचारे व देश प्रेम की भावना जगे इसीलिए बचपन से ही स्कूलों में बच्चों को राष्ट्रगान का नियमित अभ्यास कराया जाता है और वर्तमान समय में तो सिनेमाघरों में भी फिल्म शुरू होने से पहले राष्ट्रगान चलाया जाता है, और साथ ही स्कूलों के पाठ्यक्रमों में देश के महान संतों, सपूत्रों, वीरों एवं स्वतंत्रता सेनानियों की गाथाओं का समावेश किया जाता है। राष्ट्रवाद देश के नागरिकों को उनके जाति, धर्म, भाषा इत्यादि सभी संकीर्ण मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर देशहित में एक साथ खड़े होने की प्रेरणा देता है। राष्ट्रवाद की भावना ही हमारे राष्ट्र को कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक धागे में बांधती है। सांस्कृतिक और भाषायी रूप की विविधता व अलग-अलग राज्यों के होने के बावजूद भी हम एवं हमारी पहचान भी एक ही है, कि हम सब भारतीय हैं। यह सब एक ध्वज, एक राष्ट्रीय गान और हमारे राष्ट्रीय प्रतीकों के कारण है, इसी के कारण हम एक साथ खड़े हो सकते हैं। हमारा राष्ट्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और एक सच्चे नागरिक के तौर पर हमें इस पर अभिमान होना चाहिए। भारत, क्षेत्रीय एवं धार्मिक विविधता के बावजूद एक शक्तिशाली राष्ट्र है। यहाँ अलग-अलग मान्यताओं पर विश्वास करने व भिन्न-भिन्न प्रकार के त्योहारों को मनाने एवं अलग-अलग

भाषाओं के बोलने वाले लोग हैं, उसके बावजूद भी हमारा राष्ट्र हम सभी को एकता के सूत्र में पिरोता है। यह राष्ट्रवाद की अटल भावना ही तो है जो हमें एकता और अखंडता के विरुद्ध उपजी अलगाववादी ताकतों से लड़ने में मदद करती है। हमारे देश को स्वतंत्रता भी इसी राष्ट्रवाद और देशभक्ति की भावना से मिली है। इसलिए हमें राष्ट्र भूमि की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। 21वीं शताब्दी का महायुद्ध युक्तेन राष्ट्र व महाशक्ति रूस के मध्य की विनाश लीला को पूरे विश्व ने देखा। क्या कभी किसी ने सोचा था कि युक्तेन जैसा छोटा राष्ट्र महाशक्ति रूस से भिड़ जाएगा, उसकी आँखों में आँखें मिलाकर देखेगा। मगर राष्ट्रवाद का पलड़ा यहाँ भारी साबित हुआ। रूस के नौ लाख सैनिकों के आगे यूक्तेन के महज़ दो लाख सैनिकों का आत्मसमर्पण नहीं हुआ। बल्कि राष्ट्र के इस संकट की घड़ी में आम नागरिकों ने भी बढ़-चढ़कर हिसा लिया व अपनी मातृभूमि का ऋण चुकाया। इन नागरिकों में महिलाएं, बूढ़े, बच्चों व नौजवानों ने अपने देश की रक्षा के उत्तरदायित्व को उठाया। यह इनकी राष्ट्रवादिता ही तो थी, जिसने उन्हें प्रेरणा व शक्ति दी। पूरा यूक्तेन रूसी मिसाइलों से खंड-खंड व चूर-चूर हो गया परंतु उन्होंने हार नहीं मानी। अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता एवं अखंडता के लिए वह आज भी उनसे पिछले आठ महीनों से बराबर लोहा लेते रहे। विश्व में ऐसे अनेकों देश हैं जो भागौलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई विविधता से सम्पन्न हैं परंतु राष्ट्रवाद की यह भावना उन्हें एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती है। राष्ट्रवाद एक अनुभूतिजनक भावना है, जिसमें निम्नलिखित तत्वों का समावेश होता है—राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना, नागरिकों में एकता व भाईचारा, राष्ट्रीय चिन्हों एवं प्रतीकों के प्रति सम्मान की भावना, राष्ट्र के प्रति गर्व एवं कृतज्ञता की भावना।

आज राष्ट्रवाद पूरे प्रदेश में अपनी जड़े फैला चुका है। आज प्रदेश का बच्चा-बच्चा देश पर मर मिटने को आतुर है, पिछले कुछ समय से राज्य सुरक्षा बल, केन्द्रिय सुरक्षा बल एवं भारतीय सेना में अपनी सेवाएं देने के लिए राज्य के नौजवानों व युवतियों व महिलाओं ने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया है। देश पर मर मिटने के जुनून ने उम्र की सारी सीमाओं को लांघ लिया है। आज हमारा यह राज्य प्रगति के पथ पर अग्रसर है। प्रदेश के नागरिकों में आज एकता व भाईचारा है। राज्य में अब लोग खुलकर राष्ट्रवाद का समर्थन करते हैं, जहाँ पहले कश्मीर के लाल चौक पर तिरंगा लहराने पर जेल भेज दिया जाता था। वही 370 के निरस्तीकरण के पश्चात् आज पूरा लाल चौक तिरंगे के रंग

से रंग दिया गया है। ऐसा बलपूर्वक नहीं किया गया अपितु आज के नागरिक इस राष्ट्रवाद की सही परिभाषा को पूर्णतः समझ चुके हैं। राष्ट्र सदैव अपने नागरिकों की रक्षा करता है, हमारा यह विशेष दायित्व भी बनता है कि हम अपने देश से बिना किसी भेद-भाव से प्रेम करें। उसके प्रतीकों, चिन्हों का मान सम्मान करें। यदि आज हम अपनी मातृभूमि के ऋण को चुकाना चाहते हैं तो हमें एक अच्छे नागरिक का फर्ज निभाना होगा। सविंधान में अंकित उन सारे नागरिक कर्तव्यों का निर्वाह करना होगा, जिससे हमारे राष्ट्र का विश्व में मान-सम्मान बढ़े और एक आदर्श राष्ट्र की स्थापना हो। भारत में 200 वर्षों से भी अधिक उपनिवेशीकरण शासन रहा और उसके बहुपक्षीय परिणाम हुए। “भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राज्यतंत्र उपनिवेशीकरण के बहुपक्षीय परिणाम हुए। एक परिणाम तो यह था कि भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने की एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया की शुरूआत हुई और दूसरा परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद और भारतीयों के हितों के माध्यम केंद्रीय अंतर्विरोध के रूप में एक राष्ट्रीय, साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन का उदय हुआ।”⁶ जम्मू कश्मीर सदैव से प्राचीन धार्मिक स्थलों, ऐतिहासिक इमारतों और अपने ऐतिहासिक इतिहास के लिए जाना जाता है। यहाँ के कण कण में राष्ट्रवाद की झलक देखने को मिलती है। वर्तमान समय का जम्मू कश्मीर राष्ट्र को पूर्णतः समर्पित है। जम्मू-कश्मीर आज अपनी नयी पहचान बनाए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम, भाईचारे व अमन का संदेश दे रहा है।

सन्दर्भ

- प्रयागदत्त त्रिपाठी, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, पृ. 1, प्रकाशन वर्ष- 1976
- एडवर्ड हेलेट कार, पृ. 7
- शिवदानसिंह चौहान, काश्मीर : देश व संस्कृति, राजकम्ल प्रकाशन दिल्ली, पृ. 1
- जगमोहन, काश्मीर समस्या और विश्लेषन, राजपाल एण्ड सन्जु, पृ. 17
- बी.बी.सी. समाचार, 18 जनवरी 2019
- विपन चंद एवं शाहिद, आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, पृ. 233

—डॉ. अजय कुमार
ग्राम : होड़ना पल्मार, पो. कुनगवारी,
तहसील : किश्तवार, जम्मू और कश्मीर-182205

नागार्जुन के उपन्यासों में प्रमुख स्त्री-पात्रों की दशा

—राम कुमार

—डॉ. मंजुला सिंह

हिन्दी उपन्यास विधा में बाबा नागार्जुन अपने आप में अग्रगण्य हैं। निम्न वर्गीय समाज में स्त्रियों की स्थिति तथा उनकी विभिन्न समस्याओं को अपने उपन्यासों द्वारा कथा साहित्य में सम्बद्ध किया है। स्त्रियों की स्थिति का यथार्थ अंकन इनकी प्रमुख विशेषता रही है। इसके साथ ही साथ नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष जातिगत भेदभाव, जमीदारों द्वारा शोषण आदि के पारदर्शी चित्र देखने को मिलते हैं। इसमें प्रमुख रूप से ‘रत्नानाथ की चाची’, ‘वरुण के बेटे’, ‘नई पौध’, ‘कुम्भीपाक’ इमरतिया, पारो, उपन्यासों के माध्यम से स्त्री पात्रों में गौरी, मधुरी, माया, बिसेसरी, चम्पा, भुवन, इमरतिया और पारो आदि के चरित्र को समाज के समक्ष प्रमुखता से रखा है।

गौरी : ‘रत्नानाथ की चाची’ उपन्यास के लेखक नागार्जुन है। इस उपन्यास के स्त्री पात्रों में प्रमुख स्त्री पात्र गौरी है, जो उपन्यास की नायिका है। गौरी का जन्म मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। गौरी के पिता चुम्मन झा, गौरी का विवाह एक ब्राह्मण परिवार में दमे के रोग से ग्रसित व्यक्ति से कर देते हैं। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् गौरी के पति का स्वर्गवास हो गया और गौरी का देवर जयनाथ जो चरित्रहीन व्यक्ति है वह गौरी के जीवन में आकर उसके जीवन को और भी नारकीय बना देता है। समाज द्वारा उसका तिरस्कार भी किया जाता है। समाज कहता है, ‘उमानाथ की मां व्यभिचारिणी है, पतिता है, भ्रष्टा है, कुलटा है, छिनाल है, उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यदि पुरुष कोई भी सामाजिक कुरीति करता है तो उसे क्षमा कर दिया जाता है और यदि कोई स्त्री वही कार्य करती है तो उसे दण्ड दिया जाता है। ऐसा है समाज का नियम। नागार्जुन का मानना है कि समाज में उन्हीं को दबाया जाता है जो गरीब व कमज़ोर होते हैं और जो उच्च जाति के लोग होते हैं उनका कभी समाज द्वारा बहिष्कार नहीं किया जाता है। गौरी का विधवा जीवन एक सामाजिक अभिशाप के रूप में है। दूसरी तरफ यह देखा जाता है कि सामाजिक दृष्टि से जागरूक स्त्री है, वह गांव में फैले मलेरिया रोग पर मलेरिया की मुफ्त दवा बांटती है। इस प्रकार नागार्जुन ने गौरी के रूप में स्त्री के व्यक्तित्व को समाज के सामने प्रस्तुत किया है।

माया : भारतीय समाज में स्त्री की दशा और दिशा दूसरे दर्जे की भी है। भारतीय समाज में विधवा का जीवन एक

अभिशाप के रूप में माना जाता है। समाज में सामंतवादी व्यवस्था के कारण स्त्रियों का शोषण निरन्तर होता रहा है। दुःखमोचन उपन्यास की नायिका माया का जीवन ठीक इसी प्रकार था। उसका विवाह एक दरिद्र परिवार में हुआ था, कुछ ही वर्षों में उसका पति उफनती हुई नदी में डूब कर मर गया। माया अपना वैधव्य जीवन अपने मायके में ही व्यतीत करने लगी। उसी समय विधवा माया का सम्पर्क कपिल से हुआ दोनों में प्रेम हो गया और दोनों प्रेम विवाह के विषय में चिन्तन करने लगे। परन्तु गांव के लोगों को यह मंजूर न था। परन्तु माया की माँ उसका पुनर्विवाह करके ही समाज में लगे कलंक को मिटा देती है। इस प्रकार नागार्जुन का मानना है कि एक विधवा स्त्री का पुनर्विवाह ही एक सामाजिक समाधान है।

बिसेसरी : ‘नई पौध’ उपन्यास की नायिका बिसेसरी है। इस उपन्यास में खोखा पण्डित जी बिसेसरी का विवाह अनमेल कराना चाहते हैं। चंद रूपयों की खातिर खोखा पण्डित बिसेसरी का विवाह साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी पांचवीं बार बन रहे दूल्हे से करा देना चाहते हैं। वह दूल्हा शक्त-शूरत तो ठीक है मगर उम्र अधिक है। लेकिन बहुत बड़ा काश्तकार है। इसी प्रकार खोखा पण्डित जी अपनी चार बेटियों का विवाह गूंगे, बहरे, लंगड़े से करा देते हैं। इनमें से चार को दुर्भाग्यवश वैधव्य के बीहड़ जंगल में डाल दिया था। एक को तो उसके पति ने केरोसीन तेल डालकर मार डाला और दूसरी पगली हो गयी। परन्तु बिसेसरी इस प्रकार के विवाह का विरोध करती है और वह कहती है, “मैं अब इस समाज में हो रहे अत्याचार को नहीं सहन करूँगी।” इस प्रकार बाबा नागार्जुन का मानना है कि जब तक स्त्री जागरूक नहीं होगी तब तक समाज का कायाकल्प नहीं हो सकता है। इस प्रकार समाज की प्रत्येक स्त्री को जागरूक होना चाहिए।

रामेसरी : नई पौध उपन्यास की दूसरी प्रमुख नायिका रामेसरी है। रामेसरी का जीवन अत्यन्त जटिल व कठिनाईयों से भरा था। रामेसरी का विवाह अत्य आयु में ही हो गया था परन्तु कुछ ही वर्षों में वह विधवा हो गयी। विधवा रामेसरी को समाज द्वारा हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। धन के लालच में आकर पण्डित खोखा अपनी विधवा बेटी रामेसरी का विवाह पांच बार बने दूल्हा तथा साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी से तय कर देते हैं। लेकिन रामेसरी ऐसा होने नहीं देती है। वह ऐसी प्रथा की ओर निंदा करती है और विवाह से साफ-साफ इन्कार कर देती है। रामेसरी अपने अभागेपन पर रोती है कि इस समाज में स्त्रियों को बहुत ही हीन दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार नागार्जुन ने रामेसरी के

माध्यम से वर्तमान में जीवनयापन कर रही स्त्रियों को सचेत व जागरूक रहने का सन्देश दिया है।

चम्पा : ‘कुम्भीपाक’ उपन्यास की प्रमुख नायिकाओं में एक नायिका के रूप में चम्पा भी है। चम्पा के पति की दो वर्ष पश्चात् मृत्यु हो जाती है। विधवा चम्पा अपने जीवन में कभी माँ के घर में तो कभी सास के साथ रहती है। चम्पा परिस्थितिवश अपना शरीर बेचने को बाध्य होती है। उसके नारकीय जीवन की शुरूआत उसके विवाह के दो वर्ष पश्चात् शुरू होती है। चम्पा की तरुणाई अवस्था को उसके जीजा ने स्पर्श किया। उसके जीजा ने उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाए। पूरी जवानी तो लुटती रही, परन्तु विवाह के लिए इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति में चम्पा एक खटीक के साथ भाग जाती है। इसके बाद सफदर से सम्पर्क हुआ सफदर उसे ढाका ले जाता है। लेकिन कुछ ही समय बाद वहाँ से वह लौट आती है। इसके बाद सरदारों से सम्पर्क होता है लेकिन वहाँ भी नहीं रुक पाती है और फिर से नेपाली लड़के के साथ रहने लगती है। अन्त में बी. एन. शर्मा की रखेल बनकर रहती है। अन्ततः नागार्जुन ने समाज को बताने का प्रयास किया है कि एक स्त्री का विधवा जीवन एक अभिशाप के रूप में बीतता है।

भुवन : कुम्भीपाक उपन्यास की दूसरी प्रमुख नायिका भुवन है जो इन्दिरा के नाम से प्रसिद्ध है। उसका विवाह मात्र पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हो गया। परन्तु कुछ ही समय पश्चात् हवाई दुर्घटना में उसके पति का स्वर्गवास हो जाता है। भुवन के गर्भ में चार वर्ष का बच्चा था। उसका वैधव्य जीवन चम्पा के समान हो गया। उसके एक रिश्तेदार डॉक्टरी के इलाज के लिए आसनसोल ले गया और उसे एक धर्मशाला में छोड़कर चला आया। वहीं पर अंत में भुवन की मुलाकात चम्पा से हो गयी। उस आश्रम में वेश्यावृत्ति का धन्धा चल रहा था। मजबूर होकर भुवन को भी वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। इस प्रकार नागार्जुन ने समाज को बताने का प्रयास किया है कि स्त्री का विधवा जीवन नरक के समान हो जाता है।

‘कुम्भीपाक’ उपन्यास में चम्पा और इन्दिरा की तरह अनेक स्त्रियाँ हैं जिनसे मजबूरन वेश्यावृत्ति करायी जाती है। इस प्रकार ऐसे बहुत से आश्रम हैं जहाँ पर धर्म के नाम पर वेश्यावृत्ति व जिस्म बेचने का काम किया जाता है। लेकिन अन्ततः चम्पा राय साहब से मिलकर संजीवन आश्रम से अनेक लड़कियों के साथ स्वयं भी छुटकारा पाती है। इस प्रकार नागार्जुन ने स्पष्ट किया है कि जब तक स्त्रियाँ जागरूक नहीं होंगी तब तक उन पर हो रहे अत्याचार व शोषण को रोका नहीं जा सकता है।

मधुरी : मधुरी 'वरूण के बेटे' उपन्यास की प्रमुख नायिका है। मधुरी एक प्रतिभाशाली व शांत स्वभाव की स्त्री है। वह खुरकुन की बड़ी बेटी तथा मंगल से अत्यधिक प्रेम करती है। परन्तु किन्हीं कारणों से दोनों का विवाह नहीं हो पाता है। मंगल का विवाह किसी अन्य महिला से हो जाता है परन्तु फिर भी मधुरी और मंगल एक-दूसरे को अत्यधिक चाहते हैं। मधुरी मंगल से कहती है, '‘हे मंगल अब हमें अलग-अलग रहना चाहिए और अब तुम्हें अपनी पत्नी के प्रति वफादार रहना चाहिए मैं तुम्हारा घर बर्बाद नहीं करना चाहती हूँ।' मधुरी अन्याय के खिलाफ लड़ती दिखाई देती है। वह मछुआरों के साथ मिलकर जमीदारों का विरोध करती है। इस तरह उसमें एक आदर्श स्त्री की छवि दिखाई पड़ती है।

उगनी : 'उग्रतारा' उपन्यास का कथानक एक वास्तविक घटना पर आधारित है। इस उपन्यास की नायिका उगनी है। वह बचपन में विधवा हो जाती है। उसी समय उसकी भेंट एक राजपूत लड़के से होती है जो उससे प्रेम करने लगता है। परन्तु इसका गांव वाले घोर विरोध करते हैं। पुलिस द्वारा उन दोनों को जेल भेज दिया जाता है। वहीं पर भीखन सिंह उगनी से जबरदस्ती विवाह कर लेता है। क्योंकि भीखन सिंह और उगनी में उम्र का फासला अधिक था। उसे घरवाला तो मिल गया परन्तु उसे एक अच्छा पति नहीं मिला। उगनी भीखन सिंह को छोड़कर अपने पूर्व प्रेमी कामेश्वर से अन्तर्जातीय विवाह कर प्रगतिशीलता का परिचय देती है।

पारो : 'पारो' उपन्यास में अनमेल विवाह की समस्या को उजागर किया गया है। इस उपन्यास की प्रधान नायिका पारो है। अनमेल विवाह का प्रमुख कारण घटकराज लूच झा है। लूच झा ने पारो के लिए पैंतालिस वर्षीय गुलाई चौधरी को चुना है। लूच झा की पढ़ाई-लिखाई बहुत ही कम, पर जयदाद अधिक है। यह समाज बताता है कि किसी भी स्त्री का पति लूला हो, लंगड़ा हो, काना हो, कोँड़ी हो, चाहे पागल हो लेकिन उसका पति साक्षात् परमेश्वर होता है। ऐसी शिक्षा निम्न वर्ग में देखने को मिलती है। ऐसी स्थिति में पारो का विवाह हो जाता है। परन्तु इस विवाह से पारो सन्तुष्ट नहीं होती है। वह मानती है कि मेरा विवाह अनमेल हुआ है और बाबा नागार्जुन का मानना है कि अनमेल विवाह किसी प्रकार से बलात्कार से कम नहीं होता है। पारो विरजू से कहती है कि मेरा पति-पत्नी का सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता है। जब स्त्री-पुरुष में ऐसे सम्बन्ध हों तो उस स्त्री का जीवन अत्यन्त ही कठिनाईयों

से भरा होगा। इस प्रकार पारो का जीवन संघर्षों से परिपूर्ण हो जाता है। परन्तु पारो इस विवाह को अपने आप में पति-पत्नी नहीं समझती है। वह कहती है कि यह तो मेरा शारीरिक शोषण है। इस तरह के अनमेल विवाह पर पारो कहती है, 'हे ईश्वर फिर कभी स्त्री को जन्म इस दशा में न दें।' नागार्जुन भारतीय समाज में स्त्री की दारूण दशा की ओर संकेत करते हुए अनमेल विवाह जैसी कुप्रथा पर करारा व्यंग्य करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव (2001), नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसामयिक सन्दर्भ, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
2. डॉ. अल्का प्रकाश (2007), नारी चेतना के आयाम, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज
3. राधा कुमार (2002), स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
4. विजय बहादुर सिंह (2009), नागार्जुन का रचना संसार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
5. डॉ. उत्तम राजाराम अलतेकर, उपन्यासकार नागार्जुन तथा अण्णा भाऊ साठे (2011), आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्री ब्यूरोस, गाजियाबाद
6. श्री जीवाभाइ यू. परमार (2010), आंचलिक उपन्यास और नागार्जुन, राजकोट
7. नागार्जुन (1998), रत्नानाथ की चाची, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. नागार्जुन (1987), दुःखमोर्चन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
9. नागार्जुन (1988), नई पौध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. नागार्जुन (1987), कुम्भीपाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. नागार्जुन (1985), वरूण के बेटे, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
12. नागार्जुन (1987), पारो, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
13. नागार्जुन (1987), उग्रतारा, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

—राम कुमार
शोध छात्र, महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
लखनऊ, उत्तर प्रदेश

—डॉ. मंजुला सिंह
शोध निर्देशिका, महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय लखनऊ, उत्तर प्रदेश

मदरसा सर्वेक्षण के आयाम : राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में

—अनुज कुमार
—प्रो. निधि रायजादा

हाल ही में उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्य में संचालित गैर मान्यता प्राप्त मदरसों का सर्वेक्षण कराया है जिससे कि राज्य में संचालित मदरसों की वास्तविक संख्या का पता चल सके एवं उनके द्वारा छात्रों को प्रदान की जा रही सुविधाएं तथा शिक्षण पाठ्यक्रम की जानकारी सरकार को हो सके। सर्वे में पता चला है कि उत्तर प्रदेश में करीब 8000 मदरसे गैर मान्यता प्राप्त है इनमें से सर्वाधिक मुरादाबाद जिले में स्थित हैं। वहीं राज्य में उत्तर प्रदेश मदरसा शिक्षा परिषद से मान्यता प्राप्त 16513 मदरसे हैं। ऐसे में प्रदेश में अवस्थित कुल मदरसों की संख्या लगभग 24000 हो जाती है। इस शोधपत्र में मदरसा सर्वेक्षण के उद्देश्य तथा निहितार्थों पर चर्चा की गई है। इस शोध पत्र में हम जानेंगे कि क्यों यह सर्वेक्षण आवश्यक है तथा इसके क्या क्या लाभ हो सकते हैं। इसके साथ ही साथ हम नई शिक्षा नीति 2020 में ऐसे शिक्षण संस्थानों या निजी शिक्षण संस्थानों के लिए निर्धारित किए गए बिंदुओं पर भी चर्चा करेंगे।

हमारे देश भारतवर्ष में कई धर्म संस्कृतियों एवं भाषाओं का मिश्रण पाया जाता है। यहां कई जगहों से लोग आए, कुछ आक्रमणकारी बनकर आए तो कुछ शरणार्थी बन कर भी आए। भारत ने सबको अपनाया एवं अपने में समाहित कर लिया। जो लोग बाहर से यहां आकर बसे उनके अपने अलग-अलग रीति-रिवाज संस्कृति तथा शिक्षण व्यवस्था आदि थे और आज भी वे हमें देखने को मिल जाएँगे। जब 1191 ईस्वी में सुल्तान मोहम्मद गोरी ने उत्तर भारत की विजय की तब उसने अजमेर में पहले मदरसे की स्थापना कराई। इसी के साथ भारत में मुस्लिम शिक्षा प्रणाली की नींव पड़ी। जैसे-जैसे तुर्की शासन भारतवर्ष में फैलता गया वैसे-वैसे मदरसों की संख्या बढ़ती चली गई। शासकों तथा उपशासकों ने अलग-अलग स्थानों पर मदरसों की स्थापना कराई एवं उनके रख-रखाव तथा वित्त पोषण के लिए भूमि अनुदान भी दिए। इसके अलावा मुस्लिम शिक्षित वर्ग एवं धनी वर्ग ने भी अपने स्वयं के खर्चे पर मदरसों की स्थापना कराई। भारतीय मदरसे मध्य पूर्वी देशों की पद्धति पर ही चलते थे। मध्य पूर्व में स्थापित पहला मदरसा निजामिया मदरसा था जो बगदाद में स्थित

था, जिसकी स्थापना निजाम उल मुल्क ने की थी जो लगभग बाद में सभी स्थापित मदरसों के लिए आदर्श बन गया। इससे पहले इस्लामी ग्रंथों की शिक्षा जिसमें कुरान तथा हडीस शामिल थे मस्जिदों में प्रदान की जाती थी। निजामिया मदरसा का जो पाठ्यक्रम था उसमें एक तरफ कुरान, हडीस, फिक आदि की धार्मिक शिक्षा दी जाती थी वहीं दूसरी तरफ अरबी भाषा, ज्योतिष दर्शन, चिकित्सा तथा गणित की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भारतीय मदरसों का पाठ्यक्रम राज्य की बदलती आवश्यकता अनुसार एक क्रमिक प्रक्रिया से गुजरा। 16 वीं शताब्दी से पूर्व तक मदरसे मुख्यतः मध्य पूर्व पैटर्न पर आधारित थे तथा मुख्यतः फिक की शिक्षा प्रदान की जाती थी परंतु बादशाह अकबर का जब शासन आया जो सहिष्णु एवं उदार मुस्लिम शासक के रूप में जाने जाते हैं, अकबर ने सख्त धार्मिक कानूनों के पढ़ाने पर रोक लगाई तथा पाठ्यक्रम में दर्शन एवं तर्क के महत्व को प्राथमिकता दी। 18 वीं सदी में शाह वलीउल्लाह के प्रयत्न से हडीस की शिक्षा पर जोर दिया गया। शाह वलीउल्लाह कई वर्षों तक अरब में रहकर आए थे तो उन्होंने दिल्ली स्थित मदरसा ए रहीमिया में, जिसे उनके पिता संचालित करते थे, हडीस पढ़ाना शुरू किया परन्तु शाह वलीउल्लाह के प्रयत्नों को अल्प सफलता ही मिल सकी। भारत पर बढ़ते हुए ब्रिटिश प्रभुत्व के साथ ही मदरसों का बुरा दौर आना शुरू हो गया क्योंकि अंग्रेज अपनी नई शिक्षण प्रणाली लेकर आए थे, जो आधुनिक दौर के लिहाज से उपयोगी एवं रोचक थी। 1830 ईस्वी में ईस्ट इंडिया कंपनी ने फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिया। न्यायालयों में काजी के स्थान पर जजों की नियुक्ति की गई जो अंग्रेजी कानूनों के ज्ञाता हुआ करते थे। मुस्लिम कानून केवल निजी मामलों तक सीमित कर दिए गए। इस प्रकार एक नया शैक्षिक माहौल तैयार हुआ जिसमें इस्लाम को कोई स्थान नहीं था। भारत में अंग्रेजी शासन जैसे-जैसे ढूँढ़ होता गया मिशनरी गतिविधियों में भी वृद्धि होती गई, उन्होंने पिछड़े इलाकों में नए स्कूलों की स्थापना कराई जो पश्चिमी पञ्चति पर आधारित थे तथा लोगों में अंग्रेजी भाषा का प्रचार प्रसार किया एवं कई जगहों पर धर्मांतरण जैसे कार्य भी कराए। जो कार्य 12 वीं सदी के बाद इस्लामी उलेमा तथा मौलवियों ने किया वही अब इसाई मिशनरी कर रहे थे। इस प्रकार इस्लामी शिक्षा व्यवस्था तथा इस्लाम संकट की स्थिति में दिखाई देने लगा।

1857 ईस्वी में अंग्रेजों के विरुद्ध जब क्रांति हुई तो कई उलेमाओं एवं मुस्लिम धर्मगुरुओं ने उसमें सक्रिय भाग लिया। उनका मानना था कि अगर भारत में अंग्रेजी शासन

कमजोर होगा तो उनकी आदर्श स्थिति पुनः लौट सकती है। परंतु जब 1857 ईस्वी की क्रांति असफल हो गई तो उलेमा वर्ग को यह समझ आ गया कि अब इस्लाम खतरे में है और यदि वे अपने रीति-रिवाज एवं शिक्षण पञ्चति को बचाए रखना चाहते हैं तो मुस्लिम युवाओं को अंग्रेजी शिक्षा के बहकावे से दूर रखना होगा। इसलिए उन्होंने गांव, पिछड़े इलाकों आदि में जाकर छोटे-छोटे मदरसों की स्थापना करना शुरू कर दिया, क्योंकि ब्रिटिशों ने मुगलों से सत्ता हस्तगत की थी एवं उत्तर मुगल शासकों के साथ बदसलूकी भी की थी, इस वजह से मुस्लिम धर्म गुरु एवं उलेमा वर्ग ब्रिटिशों को अपना चिरस्थाई शत्रु मानते थे और उम्मीद करते थे कि आने वाले समय में मुस्लिम ब्रिटिश से अपना बदला लेंगे एवं उन्हें उखाड़ फेंकेंगे। इसी मानसिकता का असर मुस्लिम शिक्षण प्रणाली पर पड़ा एवं मदरसा शिक्षा धर्म को लेकर कट्टर होती चली गई। उन्होंने आधुनिक शिक्षा जो पश्चिमी देशों से जुड़ाव रखती थी, को गैर इस्लामिक घोषित कर दिया। इस प्रकार मदरसा शिक्षा व्यवस्था में धार्मिक शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा के बीच दीवार खड़ी कर दी गई। यद्यपि समय के साथ-साथ मदरसा शिक्षा व्यवस्था में कई बदलाव आए परंतु फिर भी यह काफी हद तक अपनी संकीर्ण विचारधारा को नहीं छोड़ सकी। 1865 ईस्वी में जब दार-उल-उलूम देवबंद की स्थापना हुई तो मदरसा शिक्षा व्यवस्था में एक नया मोड़ आया क्योंकि 1857 ईस्वी में ही भारत ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो चुका था। इसलिए दार-उल-उलूम ने राज्य से अपने को पूर्ण तरह अलग कर लिया एवं आम जन समर्थन का आव्यान किया। संरक्षक के रूप में मुस्लिम शासकों की अनुपस्थिति में अब आम मुस्लिम जनमानस ने मदरसा संचालन के लिए धन एकत्रित करना शुरू कर दिया जिसमें उलेमाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही जो देश में इस्लाम के अस्तित्व के संरक्षक के रूप में सामने आए। इस प्रकार देवबंद मदरसा के संस्थापकों ने छोटे शहरों एवं गांव के साधारण मुस्लिम लोगों से अपने संबंध प्रगाढ़ किए। कुछ वर्षों बाद देवबंद से शिक्षा प्राप्त छात्रों ने देश के कई अलग-अलग शहरों एवं गांवों में मदरसे स्थापित किए। देवबंदी मदरसों का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की समाजिक स्थिति में बदलाव आया। पहले जहां मदरसों में पढ़ने वाले अधिकांश छात्र अमीर एवं मध्यम वर्ग के हुआ करते थे वहीं अब ज्यादा संख्या गरीब एवं पिछड़े वर्ग की हो गई। अमीर मुस्लिम छात्र अब आधुनिक स्कूलों की तरफ रुख कर गए। इन गरीब लोगों को जो पहले शिक्षा से लगभग वंचित थे इस्लाम की शिक्षा ग्रहण करना तथा अभिजात्य ग्रंथों को

पढ़ने का मतलब था अपने सामाजिक एवं जातिगत स्तर को ऊपर उठाना। इसके अलावा मुफ्त शिक्षा, वस्त्र, छात्र आवास ने भी अनेकों गरीब मुस्लिमों को अपनी ओर आकर्षित किया जो आधुनिक स्कूलों की महंगी फीस भरकर अपने बच्चों को पढ़ाने में सक्षम नहीं थे। इसके अलावा शिक्षा ग्रहण करने के बाद मदरसा शिक्षक या इमाम या मौलवी आदि जैसे पद पर रोजगार प्राप्त करना गरीब मुस्लिमों के लिए जो कहीं और रोजगार पाने में असमर्थ थे, एक आशा एक अवसर ही माना जा सकता था। इस प्रकार 1947 ईस्टी के बाद तक मदरसे मुख्यतः गरीबों के शिक्षण संस्थान बनकर रह गए। शायद ही कोई अमीर मुस्लिम रहा होगा जो इन संस्थानों में अपने बच्चे भेजे। ब्रिटिशों के प्रति भय ने मुस्लिम समाज को आधुनिक शिक्षा को भय की दृष्टि से देखने को बाध्य कर दिया। यह महसूस किया गया कि आधुनिक शिक्षा छात्रों को लुभाएगी जिससे वे अपने धार्मिक लक्ष्य से भटक जाएंगे। वैसे तो देवबंद ने दर्श-ए-निजामी की मूल संरचना का अनुसरण किया, परंतु इस ने पाठ्यक्रम में कई बदलाव किए। दर्शन तथा तर्क की पुस्तकों को कम कर दिया गया उनकी जगह हडीस एवं फिक आदि की पुस्तकों में बढ़ोतरी की गई।

1947 ईस्टी के बाद भारत सरकार ने मदरसों के आधुनिकीकरण के लिए कई कदम उठाए हैं। उनमें से ही एक है SPQEM। अब तक भारत के 5 राज्यों में उत्तर प्रदेश, विहार, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश एवं पश्चिम बंगाल में मदरसा बोर्डों का गठन हो चुका है जो मदरसों को वित्त प्रदान करते हैं। साथ ही साथ उनके पाठ्यक्रम का तथा शिक्षा प्रणाली को भी निर्धारित करते हैं। परंतु इन सब प्रयासों के बावजूद, भारतवर्ष में कई हजार मदरसे ऐसे हैं जो किसी नियामक संस्था से नहीं जुड़े हैं तथा ऐसे ही मदरसों की स्थिति के बारे में जानने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने सर्वेक्षण कराया है जिसे निम्नलिखित आधार पर समझा जा सकता है। वित्त-वित्त किसी भी संस्था की रीढ़ होता है। संस्था के स्थायित्व एवं उन्नति के लिए वित्त का निश्चय स्रोत परम आवश्यक है। गैर मान्यता प्राप्त मदरसे किसी गैर सरकारी संगठन या समूह से अपना वित्त पोषण करते हैं या फिर सामुदायिक अनुदान पर निर्भर होते हैं जो वित्त के निश्चय स्रोत नहीं माने जा सकते जिससे कि समय-समय पर इन मदरसों को धन की कमी से जूझना पड़ता है, जो छात्रों एवं शिक्षकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। रोजगार-मदरसा शिक्षा व्यवस्था में रोजगार परक शिक्षा का अभाव है। मध्यकाल में जब मदरसा शिक्षा व्यवस्था का एकमात्र केंद्र हुआ करते थे तो इनसे शिक्षा

प्राप्त छात्रों को कई क्षेत्रों में रोजगार मिल जाया करता था जैसे सेना तथा प्रशासन, इस्लामिक कोर्ट में काजी, मदरसों में अध्यापक, मस्जिद में इमाम आदि परंतु आज के समय में ऐसे स्थानों की संख्या न के बराबर रह गई है।

गैर मान्यता प्राप्त मदरसों की संरचना एकरूप नहीं होती है। कुछ मदरसे इतने छोटे होते हैं कि उनके पास इमारत के नाम पर एक ही कक्ष होता है, कुछ तो आवासीय भवनों में ही शिक्षण प्रदान कर रहे होते हैं। अधिकांश मदरसों में छात्र एवं छात्राओं के लिए अलग-अलग शैक्षालय नहीं होते शिक्षण के लिए आवश्यक फर्नीचर उपलब्ध नहीं होता। बच्चे फर्श पर या जमीन पर बैठकर शिक्षा ग्रहण करने को मजबूर होते हैं। एक और बड़ी समस्या यह है कि जो शिक्षक मदरसों में अध्यापनरत हैं उनके पदस्थापन एवं भर्ती का कोई सामान्य नियम नहीं है। इन्हें किसी परीक्षा को पास करने की या किसी साक्षात्कार को देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अधिकांश शिक्षक वही होते हैं जो किसी मदरसे से शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं एवं कहीं उच्च श्रेणी का रोजगार प्राप्त नहीं कर पाए हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के मुख्य बिंदु

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के निम्नलिखित घोषित उद्देश्यों का सरकारी शिक्षण संस्थानों के साथ-साथ निजी शिक्षण संस्थानों तथा मदरसों को भी अनुसरण करना चाहिए। स्कूलों या शिक्षण संस्थानों में पाठ्यक्रम अधिगम समग्र, एकीकृत, आनंददायी तथा रुचिकर होना चाहिए। कई शिक्षण संस्थान अपने ढंग से पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं। कई बार तो ऐसा कोर्स निश्चित किया जाता है जो भविष्य में निष्फल साबित होता है। राज्यों को NCERT के जैसे ही कोर्सों का निर्माण कराना चाहिए एवं सारे विद्यालयों एवं शिक्षण संस्थानों में एकरूप पाठ्यक्रम लागू करना चाहिए। जिससे कि छात्रों को प्राप्त होने वाले ज्ञान का उनके भविष्य के लिए भी उपयोग हो सके। आधुनिक दौर में हम केवल एक मुखी शिक्षा की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। शिक्षा का तात्पर्य केवल सरकारी नौकरी प्राप्त करना ही नहीं होता है। शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को शिक्षित बनाना होना चाहिए। इसमें व्यवहारिक एवं सामाजिक ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। व्यक्ति के चरित्र निर्माण का अर्थ होता है व्यक्ति का सर्वांगीण विकास। व्यक्ति का अपने समाज, दूसरे समाज तथा देश आदि के बारे में देखने का नजरिया। आधुनिक शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि व्यक्ति का चरित्र निर्माण में उपयोगी साबित हो। कौशल विकास से तात्पर्य व्यक्ति की प्रतिभा का उपयोग

कर व्यक्ति को रोजगारपरक बनाना। हम चाहें किसी भी जाति धर्म या समुदाय से संबंध रखते हों परंतु हमारी एक सामान्य पहचान है कि हम भारतीय हैं और हमारी संस्कृति भारतीय है। भारतीय संस्कृति सदियों पुरानी परंपराओं का निर्वहन करती है। हमारे यहां हिंदू, मुस्लिम, पारसी, सिख, बौद्ध, जैन कई हजार वर्षों से साथ रहते आए हैं एवं घुल मिल कर रहे हैं। हमें विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में भारतीय संस्कृति के अध्यायों का समावेश करना चाहिए जिससे कि उनमें सहिष्णुता एवं आपसी सदूभाव की भावना उत्पन्न हो जो हमारी भावी पीढ़ी के भविष्य को उज्ज्वल बनाएगी। हम जानते हैं कि प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि अलग-अलग होती है। कुछ विज्ञान में अधिक दिलचस्पी दिखाते हैं तो कुछ मानवीय विषयों की ओर रुख करते हैं। शिक्षण संस्थानों को यह समझना जरूरी है कि कोर्स चुनाव के विकल्पों को इस प्रकार तैयार किया जाए कि विद्यार्थी अपनी पसंद के विषयों का चुनाव कर सके जिससे उसकी रुचि शिक्षा संस्थान में बनी रहे। कई सारे विद्यालयों में बिना किसी निश्चित प्रक्रिया के ही शिक्षकों की भर्ती की जाती है। राज्य द्वारा विद्यालय संचालकों को ऐसा आदेश देना चाहिए जिससे पद के पात्र शिक्षक एवं कर्मचारी ही विद्यालय में सेवा प्रदान करें। साथ ही साथ शिक्षकों तथा कर्मचारियों का एक न्यूनतम वेतन भी निर्धारित करना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना ही नहीं होता अपितु छात्र के समग्र व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। कुछ बच्चे खेलकूद में अच्छे होते हैं तो कुछ की विश्लेषणात्मक क्षमता अच्छी होती है। हमें प्रत्येक छात्र के वैयक्तिक एवं अद्वितीय गुणों का विकास होने देना चाहिए एवं छात्रों में समझने तथा विश्लेषण क्षमता का विकास करने की कोशिश करनी चाहिए। शिक्षण संस्थानों में त्रिभाषा फार्मूला को अपनाना चाहिए। समतामूलक एवं समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देना चाहिए। सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े बच्चे, महिलाओं एवं दिव्यांगों को भरपूर मौका मिले, ऐसी कोशिश करनी चाहिए। शिक्षा सबके लिए जरूरी है चाहे वह महिला हो या पिछड़ी जातियां हों। शिक्षा पर सभी का बराबर हक है। सरकार को ऐसे कदम उठाने चाहिए जिससे सबकी शिक्षा तक पहुंच सुनिश्चित हो। शिक्षा को मुक्त बनाना चाहिए एवं ऐसे क्षेत्र जहां शिक्षित व्यक्तियों की संख्या कम है, वहां शिक्षण संस्थान खुलवाने चाहिए, लोगों को शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाए।

सर्वेक्षण के 12 केंद्र बिंदु इस प्रकार हैं—मदरसा का नाम, मदरसा को संचालित करने वाली संस्था का नाम,

मदरसा स्थापना वर्ष का विवरण, मदरसा के अवस्थित का पूरा विवरण, मदरसा निजी भवन में चल रहा है या किराए के भवन में, क्या मदरसे का भवन छात्र-छात्राओं के लिए सुरक्षित है तथा पेयजल, फर्नीचर, बिजली की व्यवस्था, शैचालय आदि के बारे में जानकारी देनी होगी, मदरसे में पंजीकृत छात्र-छात्राओं की कुल संख्या, कुल शिक्षकों की संख्या का विवरण, मदरसे में किस पाठ्यक्रम के आधार पर शिक्षा दी जा रही है। मदरसे की आय का स्रोत क्या है अगर दान या जकात मिल रही है तो वह कहां से आ रही है, क्या मदरसे में पढ़ रहे छात्र छात्राओं के किसी और भी संस्थान में एडमिशन है, क्या किसी गैर सरकारी संगठन या समूह से मदरसा संबद्ध है अगर हां तो उसका पूरा विवरण देना होगा। संचालक द्वारा दी गई जानकारी पर सर्वेयर अपनी टिप्पणी कर सकता है।

संदर्भ

- कमर, हुमेरा एंड परवेज, मोहम्मद, मदरसा एजुकेशन सिस्टम: ए नीड फॉर रेफोर्मेशन, JETIR जून 2019, वॉल्यूम 6
- www.jetir.org
- अस्मा, सना एंड शजली, तस्नीम, रोल ऑफ मदरसा एजुकेशन इन एम्पावरमेंट ऑफ मुस्लिम इन इंडिया, IOSR जर्नल ऑफ हुमानिटीज एंड सोशल साइंस वॉल्यूम 20 फरवरी, 2015
- दुर्गनी, के., मुस्लिम एजुकेशनल रिफार्म, 1986, इस्लामिक बुक सर्विस, लाहौर
- अहमद, एंफ इस्लामिक एजुकेशन (प्रथम संस्करण), 2011 नई दिल्ली, इंडिया
- बशीर, के. एम. क्वालिटी एनहांसमेंट इन मदरसा एजुकेशन: एन एक्सप्लोरेटरी स्टडी, 2016, कैब्रिज स्कॉलर्स पब्लिशिंग.
- नवभारत टाइम्स डॉट कॉम
- www.iosrjournals.org
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली

—अनुज कुमार
शोधार्थी, इतिहास विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

—प्रो. निधि रायजादा
इतिहास विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

महिला सशक्तीकरण में समाज एवं संस्कृति की भूमिका

—मोहित कुमार शर्मा

देश-काल-परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक-सांस्कृतिक, धार्मिक-शैक्षणिक, घर-परिवार, समुदाय राष्ट्र-विश्व में यूँ तो व्यापक रूप से बदलाव आया है, लेकिन महिला सशक्तीकरण आज भी दूर की कौड़ी है। भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के ज्यादातर देशों की महिलाएँ भेदभाव का शिकार होती आयी हैं। इसका कारण पिरुसत्ता का प्रचलन है। यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें पुरुषों को महिलाओं से श्रेष्ठ समझा जाता है। पिरुसत्ता में महिलाओं पर हिंसा व्यवस्था का अंग होती है अर्थात् महिलाओं को हिंसा या हिंसा की धमकी के माध्यम से नियंत्रित किया जाता है। विश्व में आज हजारों महिला संगठन महिलाओं को सशक्त करने की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। इस बात को गंभीरता से महसूस किया जा रहा है कि महिलाओं का विकास बिना सही अर्थों में विकास संभव नहीं है।¹ महिला सशक्तीकरण एक बहुआयामी धारणा है और इसका संबंध लोगों की ‘सामाजिक उपलब्धियों’ तथा ‘आर्थिक और राजनीतिक सहभागिता’ से है। इसके साथ ही सशक्तीकरण एक सतत प्रक्रिया भी है और इसकी कोई अंतिम सीमा नहीं है। महिला सशक्तीकरण की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं है। महिलाओं का सशक्तीकरण ‘सतत एवं गतिशील’—दोनों ही तरह की प्रक्रियाएँ हैं।²

यह हमारे समाज की विडंबना है कि हमारे समाज में महिलाओं को देवी का रूप माना जाता है ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमते तत्र देवता’ की बात की जाती है³ और इसी समाज में महिलाओं को सबसे अधिक शोषण का शिकार होना पड़ता है। ऐसे में महिलाओं का सशक्तीकरण करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि पहले महिलाओं को जागरूक किया जाए। हमारे समाज में एक वाक्य जो बहुत प्रचलित है कि ‘कोई भी परिवर्तन होने में समय लगता है’ परंतु परिवर्तन की शुरूआत कहीं से तो होनी ही होगी। सर्वप्रथम परिवर्तन की पहल हमें खुद अपने घर से करनी होगी, तब जाकर समाज में परिवर्तन होगा और समाज के विकास में हमारी भागीदारी बढ़ेगी तभी महिला सशक्तीकरण के साथ-साथ भारत का भी सशक्तीरकण होगा। महिला सशक्तीकरण के अंतर्गत महिलाएँ पढ़ें-लिखें, स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाओं से वंचित न रहें। आय बढ़ोत्तरी के लिए व्यावसायिक कौशल सीखें और उनका उपयोग करें। यह निर्विवाद सत्य है कि महिला सशक्तीकरण का कार्य महिलाओं के नेतृत्व में ही संभव हो सकेगा।⁴

प्राचीन भारतीय संस्कृति में महिलाओं को पुरुषों के बराबर माना जाता था और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। इसके बजाय महिलाओं का समाज में सम्मान था और उन्हें 'जननी' माना जाता था, जिसका अर्थ माँ होता है। यहाँ तक कि हिंदू लिपियों में भी महिलाओं को देवी माना जाता है। वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र थीं। उस समय ऋषियों की पत्नियाँ अपने पतियों के साथ आध्यात्मिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए तैयार हो सकती थीं, उन्हें अर्धांगिनी (बेटर हॉफ) के रूप में भी जाना जाता था। उस काल में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान जीवन जीने को मिलता था। भारतीय इतिहास में महिलाएँ अपने जीवन में दो चीजों से गुजरी हैं, अधीनता और मुक्ति। समय के साथ-साथ इनकी स्थिति भले ही बदल गई हो लेकिन वैदिक युग में गार्णी, मैत्रेयी, सीता, द्रौपदी और अलापा की उपत्यका इस युग की महिलाओं के लिए सबसे आदर्श भूमिका बन जाती है। ये महिलाएँ कई क्षेत्रों में पुरुषों के साथ प्रतिस्पर्धी थीं और उन्हें अपने अधिकार और समानता भी प्राप्त थे और वह उनका आनंद लेती थीं। उन पर कोई प्रतिबंध नहीं था। साथ ही, उनके पास अपार धन और संपत्ति थी। इसके साथ-साथ जब अपनी संतानों का मार्गदर्शन करने की बात आती थी, तो वे बहुत सशक्त भूमिका निभाती थीं।⁵ वेदों के प्राचीन पाठ में मनुष्य की अवधारणा समाज के लिए आधार है। तैत्तिरीय संहिता में महिलाओं और पुरुषों को गाड़ी के दो पहियों के रूप में माना गया था। वेदों द्वारा समाज को दी गई ये शिक्षाएँ पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता के अच्छे उदाहरण थे।⁶

वेदों के प्राचीन पाठ में मनुष्य की अवधारणा समाज के लिए आधार है। तैत्तिरीय संहिता में महिला और पुरुष को गाड़ी के दो पहियों के समान माना गया था। वेदों द्वारा समाज को दी गई ये शिक्षाएँ पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता के अच्छे उदाहरण थे। ऋग्वेद कहता है, "किसी पदार्थ के समान अर्द्धश होने के कारण पत्नी और पति प्रत्येक संबंध में समान होते हैं। इसलिए दोनों को सभी धार्मिक एवं लौकिक कार्यों में संयुक्त और समान रूप से भाग लेना चाहिए।"⁷ उत्तर वैदिक के उदय के साथ ही महिलाओं की स्थिति में पतन प्रारंभ हो गया। क्रमशः समाज में लिंग असमानता बढ़ती चली गई। इसने महिलाओं के विरुद्ध सामाजिक बुराई की एक श्रृंखला को जन्म दिया। यथा—बाल विवाह, सती प्रथा, जौहर इत्यादि। इन सबके बावजूद सफल महिलाओं के भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं, जैसे- लोपामुद्रा, मैत्रेय, गार्णी, अहिल्याबाई होल्कर

इत्यादि।⁷

प्रारंभिक वैदिक काल में लिंगों के बीच अखंडता की गुंजाइश थी, लेकिन बाद के वैदिक काल में किसी तरह उनके बीच अखंडता और समानता में गिरावट आई, विशेषकर महिलाओं की स्थिति में जो आरंभिक वैदिक काल में समान थी, बाद में गिरती चली गई। उत्तर वैदिक काल में इस प्रवृत्ति का कारण ऐसा माना जाता है कि उस युग में महिलाओं की स्थिति में गिरावट का मुख्य कारण विदेशी विजय थी। निष्पक्षता और सद्भाव के ऋग्वैदिक आदर्शों में क्षरण हुआ, जो महिलाओं को वेदों का अध्ययन करने, वैदिक मंत्रों का पाठ करने और वैदिक अनुष्ठानों का अभ्यास करने के अपने अधिकार का आनंद लेने से वंचित करता है। महिलाओं को शादी करने या घरेलू जीवन में शामिल होने और अपने पतियों के प्रति अटूट समर्पण रखने के लिए मजबूर किया गया। उस समय माता-पिता को कन्या के जन्म पर शर्म आती थी। एक समय ऐसा आया जब महिलाओं को शरीर ढँकने वाला धूँघट 'पर्दा' अपनाना पड़ा, जिससे उनकी स्वतंत्रता पर असर पड़ा। यही कारण है कि इसने समाज में कई अन्य बुराईयों को जन्म दिया, जिससे महिलाओं का जीवन जीना और भी कठिन हो गया। सती प्रथा, जौहर और लड़कियों के लिए शिक्षा न होना, विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह और भी बहुत कुछ, ऐसे कई प्रतिबंध थे।⁸

मध्यकालीन भारत में लड़कियों का जन्म माता-पिता के लिए शर्म की बात होती थी, उन्हें परिवार के लिए बोझ माना जाता था। इसलिए माता-पिता जल्द से जल्द उनकी शादी कर देते थे। बाल विवाह का एक अन्य कारण यह है कि यह मान्यता थी कि बड़ी हो चुकी लड़कियाँ घोटाले करने में अधिक प्रवृत्त होती हैं। यही कारण है कि उनके माता-पिता बहुत ही कम उम्र में शादी कर देते हैं। उस समय पुरुषों को लगता था कि महिला शादी के सामान से ज्यादा कुछ नहीं है, उनके साथ सामान की तरह व्यवहार किया जाता था। यही कारण है कि जन्मदर में वृद्धि हुई, महिलाओं को बहुत खराब स्वास्थ्य का सामना करना पड़ा, जो महिलाओं और शिशुओं में उच्च मृत्युदर में वृद्धि का भी एक कारण है। मध्ययुगीन काल में महिलाओं के साथ सामग्री जैसा व्यवहार करना आम बात थी। मध्ययुगीन काल में विधवाओं को शापित माना जाता था। ऐसा माना जाता था कि जब कोई महिला विधवा हो जाती है, तो वह अपमान सहती है और दुर्भाग्य लाती है। विधवा होने के बाद उस महिला को घर की हर सुख-सुविधा से वंचित कर दिया जाता, जिसका वादा उसके पति ने शादी में किया

था। किसी भी पवित्र अनुष्ठान या स्थान पर विधवाओं के लिए कोई जगह नहीं है। उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। उसे शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए कोई विकल्प नहीं दिया जाएगा। वह हमेशा फीके सफेद कपड़े पहनती है और उसे बहुत विशिष्ट भोजन खाना पड़ता है, जो केवल विधवाएँ खाती हैं। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि अतीत में महिलाओं को शिक्षा तक पहुँच प्राप्त थी, लेकिन उत्तर वैदिक काल में परिदृश्य पूरी तरह से बदल गया। उनकी शिक्षा का आयाम बदल गया और उन्हें सभी घरेलू कार्य सिखाए जाने लगे, दूसरी ओर मुस्लिम धर्म में उन्हें ललित कला पर कक्षाएँ दी गईं। फिर भी, इस दौर में महिलाओं की पीड़ा कभी आसान नहीं होती।

7वीं शताब्दी के अंत में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया, जिसके साथ ही देश में मुसलमान शासकों का प्रभुत्व बढ़ने लगा। इसी युग में विदेशी आक्रान्ताओं से बचने के लिए स्त्रियाँ जौहर की अग्नि में भस्म होने लगीं। इस युग में अनेक कृप्रथाओं का जन्म हुआ। इनमें पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा, बाँझ जैसी कुरीतियों ने समाज को चारों ओर से जकड़ लिया।⁹ ब्रिटिश शासन के दौरान राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे सुधारकों के प्रयत्नों तथा समानता के सिद्धांत को प्रतिपादित करने वाली पश्चिमी शिक्षा के प्रसार के कारण महिला सुधार की दिशा में प्रयास प्रारंभ हुआ। इसके फलस्वरूप सती प्रथा के उन्मूलन, विवाह की आयु में वृद्धि, विधवा पुनर्विवाह से संबंधित विविध कानून अस्तित्व में आए। राष्ट्रीय परिदृश्य में महिला सशक्तीकरण का अगला चरण महात्मा गांधी के उदय के साथ आरंभ हुआ। महात्मा गांधी के अनुसार भारत के स्वाधीनता संघर्ष में महिलाएँ महत्वपूर्ण अहिंसात्मक भूमिका निभा सकती हैं। सरोजिनी नायडू, अरुणा आसफ अली, कल्पना दत्त, प्रीतिलता वड्डेदार, सुचेता कृपलानी, उषा मेहता इत्यादि महिलाओं ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं।

आजादी की लड़ाई के बाद भारतीय संविधान ने एक ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित करने की नींव डाली जिसमें स्त्री और पुरुष समान बन जायें। संविधान के अनुच्छेद ने स्त्री और पुरुष को समान अधिकार और अवसर प्रदान किए। अनुच्छेद 15(1) के अनुसार नागरिकों में लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान के अनुच्छेद 15(3) के अनुसार राज्य स्त्रियों के लिए विशेष प्रावधान करेगा। अनुच्छेद 16(2) के अनुसार राज्य किसी भी रोजगार के क्षेत्र में भेदभाव नहीं करेगा। राज्य के नीति-निदेशक के सिद्धांतों ने इस बात को स्थापित किया

कि पुरुष और स्त्री दोनों को निवाह के पर्याप्त साधन समान रूप से मिलेंगे, आदमी और औरत को समान काम के लिये समान वेतन मिलेगा, स्त्री कामगारों के स्वास्थ्य और शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जायेगा और काम और मातृत्व के लिये मानवीय आधार पर सभी प्रावधान किये जाने चाहिये। वे सामाजिक रीति-रिवाज जो स्त्रियों के दमन के लिये हैं उनसे मुक्ति दी जायेगी। महिलाओं की सुरक्षा के लिए कई अधिनियम बनाए गए।

सीमेन-द बुवा जैसी नारीवादी लेखिका का यह कथन कि ‘स्त्री पैदा नहीं होती, अपितु समाज द्वारा बनाई जाती है’, सही प्रतीत होता है। जब हम संपूर्ण परिवेश में स्त्रियों की स्थिति का अवलोकन करते हैं, उनके पहनावे से लेकर काम करने के क्षेत्र और कैरियर तक, लैंगिक आधार पर निर्धारित कर दिए गए हैं। ‘लिंग-भेद’ प्रकृति प्रदत्त है, लेकिन ‘लैंगिक भेदभाव’ सामाजिक-सांस्कृतिक देन है। इस प्रकार भेदभाव के परिणामस्वरूप समाज में महिलाओं की सामाजिक स्थिति पुरुष प्रधान समाज की देन है। लैंगिक भेदभाव के परिणामस्वरूप समाज में महिलाओं की समस्याओं का अंबार लगा हुआ है। लैंगिक समानता, लैंगिक सेसिटाइजेशन एवं जेण्डर-बजटिंग जैसी अवधारणाएँ व्यावहारिक कम, सैद्धांतिक अधिक लगती हैं। विश्व के अधिकांश देशों में महिलाओं का स्तर पुरुषों के समान नहीं है। वर्तमान सामाजिक ढाँचे में पुरुषों को अधिक ‘अधिकार’, ‘संसाधन’ और ‘निर्णय’ करने की शक्ति प्राप्त है। महिलाओं को परंपरागत भूमिकाएँ सौंपी गई हैं। गाँवों में महिलाएँ खेती का अधिकांश कार्य जैसे—पशुपालन, बीज छोटना, पौधरोपण, खाद-पानी, फसल की कटाई एवं उन्हें घर लाने तक सभी कार्य करती हैं। फिर भी, महिलाओं को कृषक श्रेणी में नहीं रखा गया है। एक समान कार्य के लिए पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को कम वेतन, कम मजदूरी दी जाती है। नौकरियों में भर्ती एवं पदोन्नति में भेदभाव किया जाता है। जीवन भर माँ-पिता की सेवा के बावजूद, हिंदू समाज में मुख्यान्वि देने का अधिकार केवल पुत्र को ही है, लेकिन अब परिस्थितियों में बदलाव की शुरुआत हो गई है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने पर भी घर के मुख्य निर्णयों की जिम्मेदारी उन्हें सौंपी जाती है।¹⁰

सामाजिक सशक्तीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत परिवार से होती है क्योंकि विभिन्न परिवारों के योग से ही समुदाय तथा समाज का निर्माण होता है। यदि परिवार में स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार हो तो वे स्वयंमेव सामाजिक रूप से सशक्त हो जाएंगी। इसके लिए परिवार में पुत्र-पुत्री भेदभाव, घरेलू प्रबंधन में पत्नी को सेविका

मानने की बजाय सहयोगिनी मानना, उनके साथ अभद्र व्यवहार अथवा अपशब्दों के प्रयोग पर पूरी तरह रोक लगाने के साथ समान व्यवहार करना आदि शामिल है। इस प्रक्रिया में समाज के बड़े-बूढ़ों का सहयोग तथा बाल्यावस्था से ही पुत्रों को अपनी बहन, माता तथा सड़क पर चलने वाली लड़कियों के साथ सम्पर्क व्यवहार करने की दीक्षा भी शामिल है, क्योंकि व्यक्ति बचपन में जो भी अपने परिवार में देखता, सुनता और समझता है, अधिकांशतः उसे ही युवा होने पर दोहराता है। साथ ही, ऐसी परंपराएँ जिसमें महिलाओं को निम्न अथवा हेय समझा जाता हो उसे बदलने में भी परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। बदलाव की शुरूआत किसी एक परिवार से भी हो सकती है। धीरे-धीरे ऐसे अनेक परिवार मिलकर ही ऐसे समाज की रचना करेंगे जिसमें विधवा होने का अर्थ जीवन समाप्त होना नहीं माना जाएगा। यद्यपि कुछ लोग कह सकते हैं कि पढ़ी-लिखी अथवा आर्थिक रूप से सक्षम महिलाएँ भी शोषित होती हैं। इसलिए यह निरर्थक है। यहाँ समझना यह आवश्यक है कि सशक्तीकरण एक सतत प्रक्रिया है। इसका आरंभ व्यक्ति से होता है तथा विलय समाज की विचारधारा के साथ होता है। वही विचारधारा उसे कालांतर में विकसित तथा पोषित करती है, जिसे हम प्रत्यक्षपरिणाम के रूप में देखते हैं।

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. अमर्त्य सेन महिला सशक्तीकरण के लिए महिलाओं की 'वृहत्तर भूमिका' के पक्षधर हैं। वे परामर्श देते हैं कि महिला आंदोलन नारी के अपने 'कुशलक्षेम' के संवर्धन तक ही सीमित न रहकर अन्य महिलाओं, परिवारों तथा संपूर्ण समाज के लिए उपयोगी भूमिका अदा करें। प्रो. अमर्त्य सेन तर्क प्रस्तुत करते हैं कि नारी की उपार्जन क्षमता, घर से बाहर आर्थिक भूमिका साक्षरता, शिक्षा, सम्पत्ति के अधिकार अलग-अलग भले ही दिखाई दें पर अंततः उनके साझे प्रभाव होते हैं। ये सभी नारी की स्वायत्ता और शक्ति संपन्नता के माध्यम से उसकी 'वाणी और भूमिका' को प्रबल बनाते हैं। घर के बाहर निकल कर रोजगार करने और स्वतंत्र आय कमाने वाली नारी का परिवार और समाज में स्थान और सम्मान घर के भीतर रहने वाली महिलाओं की अपेक्षा बेहतर होता है। चूँकि वह परावलंबी नहीं रह जाती, अतः उनकी बातों और परामर्शों से संबंधित निर्णय बाह्य सूचनाओं पर आधारित होते हैं। किंतु, लिंगभेद और भारत का अर्द्धसामंतवादी नव-उदारवादी, भ्रष्टाचारी पुरुष प्रधान समाज इस सशक्तीकरण से लाभान्वित महिलाओं के शोषण और उन पर जघन्य अत्याचार से अभी भी बाज

नहीं आ रहा है। प्रो. अमर्त्य सेन वृहत्तर भूमिका को 'सहयोगी प्रतिक्रियाद्विता' के रूप में रेखांकित करते हैं। वे महिला सशक्तीकरण को जनन दर तथा मातृत्व मृत्युदर में छास होने से जोड़ते हैं। यह सर्वाविदित है कि बाँझपन का प्रभाव समाज में विवाह या बच्चों के जनन के लिए योग्य बच्चियों की कमी में परिणत होता है। यह समाज में सामाजिक असंतुलन पैदा करता है। महिला सशक्तीकरण का अर्थ महिलाओं की पत्नी, माँ या बहन के रूप में पारंपरिक भूमिका की समाप्ति से नहीं लिया जा सकता। इसका अर्थ महिलाओं और पुरुषों के बीच विभाजक रेखा खींचने से नहीं है, वरन् दोनों का समुचित विकास के अवसरों का लाभ उठाकर एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम करने से है।

संदर्भ ग्रन्थ

- म्लारा, जेटकिन में दिनेश पंत, महिला सशक्तीकरण पर उठते सवाल, समाज कल्याण, जुलाई, 2004, पृ. 40
- नई दिशाएँ, सोसायटी फॉर कन्वर्जेंट एक्शन, महिला एवं बाल विकास विभाग, जयपुर, पृ. 26
- कुमार आर्य, डॉ. राकेश, महिला सशक्तीकरण और भारत, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2020, पृ. 258
- रत्नू पृथ्वीराज, माँ का आँचल जन्नत मेरी, आखर जोत, जनवरी-मार्च 2003, पृ. 117
- सिंह, के. डी., प्राचीन भारत का इतिहास, प्रिया ऑफसेट प्रिंटर्स, प्रयागराज, प्रथम संस्करण-2021, पृ. 71
- सहय, डॉ. शिव स्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, पृ. 197
- चौबे, सौरभ, प्राचीन भारत, यूनिवर्सल बुक्स, प्रयागराज, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 2015
- भारत में महिला सशक्तिकरण, वेब पेज https://timesofindia-indiatimes-com.translate.goog/readersblog/scatteredthoughts/womens-empowerment-in-india-from-ancient-period-to-modern-time-period-46689/?_x_tr_sl=ken&_x_tr_tl=khi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc
- शर्मा, घनश्याम दत्त, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, दसवाँ संस्करण, 2019, पृ. 147
- द बोउवार, सिमोन, द सेकंड सेक्स, विंटेज क्लासिक पब्लिकेशन, पृ. 110

-मोहित कुमार शर्मा
(शोध छात्र)
इतिहास विभाग, एम.वी.पी.जी. कॉलेज, हल्द्वानी
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड

21वीं सदी के भारतीय समाज में कबीर की प्रासंगिकता

—डॉ. धनंजय कुमार

भक्ति साहित्य के इतिहास में कबीरदास का महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर एक कवि होने की अपेक्षा उच्च कोटि के साधक थे। सत्य के उपासक थे तथा ज्ञान के अन्येषक थे। कबीर के बारे में प्रसिद्ध है—‘भसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ’। फिर भी पर्याप्त मात्रा में कबीर का साहित्य मिलता है। कबीर की समस्त रचनाओं को दो प्रकार के संग्रहों में विभक्त किया गया है, बानी और बीजक। बानी के भी तीन भाग किये गये हैं—साखी, सबद तथा स्मैनी। बीजक में भी उक्त तीनों भाग मिलते हैं, किन्तु उसमें साखी एवं सबदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। बानी की अपेक्षा बीजक का संग्रह पीछे हुआ जान पड़ता है। कबीर के इन सभी संग्रहों में सर्वत्र सिद्धान्तों एवं उपदेशों का ही प्राधान्य है। कबीर ने प्रायः गुरु-महिमा, संत-महिमा, सत्युरुष-निरूपण, योगाभ्यास, भक्तों की महिमा, सत्य-वचन, माया का निरूपण, नाम-सुमिरन की महिमा, सत्संगति का लाभ, कुसंगति की हानियाँ, साधु की महिमा, संसार की असारता, आदि पर अधिक कहा है। उनका समस्त साहित्य धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता तथा व्यवहार-संबंधी विषयों का भण्डार है। कबीर ने कटु आलोचना-पद्धति को अपनाकर बड़ी निर्भकता एवं तेजस्विता के साथ पंडित-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, अवधूत वैरागी आदि सभी को फटकारा है और सभी धर्मों के बाह्यइम्बरों में व्याप्त अनैतिक आचरणों की घोर निन्दा की है।

अपनी स्पष्टवादिता एवं निष्पक्षता के कारण ही कबीर का साहित्य जनसाधारण की दृष्टि में अत्यन्त महान एवं प्रभावशाली है।¹ कबीर के साहित्य में उच्च कोटि के समन्वयवाद की झलक मिलती है। उनमें हृदय की सच्चाई एवं अनुभूति का प्राधान्य है, जिसे कबीर ने प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सजीवता एवं मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। कबीर का यह प्रतीक-विधान दैनिक जीवन से संबंधित सामग्री पर आधारित है क्योंकि कबीर ने ऐसे ही प्रतीकों को चुना है, जिनका संबंध उनके दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से है। कबीर के इन प्रतीकों को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले वे प्रतीक हैं, जिनका संबंध दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से है, जैसे—घड़ा, पानी, करघा, ताना-बाना, चरखा, फिरकी, धागा आदि। दूसरे प्रतीक वे हैं, जिनका संबंध प्राकृतिक पदार्थों से है, जैसे—चन्द्रमा, चातक, सिंह, गाय, बिलाव, चूहा, चींटी, कली, तरुवर, गंगा तथा जमुना आदि। तीसरे प्रतीक वे हैं, जिनका संबंध हमारे पारिवारिक जनों से है; जैसे—माता-पिता, पुत्र, नारी, पति आदि और चौथे प्रतीक वे हैं, जिनका संबंध सामाजिक जीवन से है; जैसे—स्वामी, सेवक या

गुलाम, ग्राहक बाजार, चौर-लुटेरे, सुनार, बड़ई, माली आदि और पाँचवें प्रतीक वे हैं, जो पारिभाषिक हैं, जैसे— अजपा जाप, सहज, नाद, बिन्दु शून्य, हरि, निरंजन आदि ।^१ अपितु कबीर ने इन प्रतीकों के द्वारा अपनी गहन अनुभूति को बड़ी ही सजीवता के साथ अभिव्यक्त किया है। इसीलिए कबीर ने इन प्रतीकों के द्वारा आत्मा को हंस, सती, विरहिणी, सुंदरी आदि कहा है, इड़ा नाड़ी को गंगा, चन्द्रमा और वरुणा कहा है; पिंगला नाड़ी को जमुना, सूर्य आदि कहा है; सुषुम्ना को सरस्वती नदी कहा है। मन को मृग, मेंढक, मंजार, मुसा, मर्कट आदि कहा है। गुरु को हंस, पारखी, चंदन सुनार आदि कहा है। संसार को समुद्र, वन, वाटिका, हाट आदि कहा है, अस्तित्वहीन माया को अनुपम बेल, अनव्यायी गाय का दूध, खरगोश के सींग की ध्वनि, आदि कहा है। इतना ही नहीं, दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी प्रतीकों द्वारा आत्मा और परमात्मा के मिलन का चित्र बड़ी ही मार्मिकता के साथ अंकित किया है। इसीलिए दुल्हन को आत्मा का प्रतीक कहकर भरतार राम को ब्रह्म का प्रतीक माना है।^३

अतः कबीर की वाणी में सर्वसाधारण को एक अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है। कबीर के पदों का भावपक्ष वर्तमान समाज के लिए अधिक उन्नत एवं उत्कृष्ट है। इनमें भावुकता एवं स्पष्टवादिता पर्याप्त मात्रा में है। कबीर निडर व्यक्ति थे। अतः कबीर एक ऐसे समय में पैदा हुए थे जब राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रांतियाँ अपने चरम शिखर पर थीं। राजनैतिक परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी न तो राजवंशों में कोई स्थिरता थी और न उनकी नीति ही निश्चित थी। जनता पर मनमाना अत्याचार चल रहा था। यही कारण है कि सामान्य जनता में राजवंश और राजनीति के प्रति कोई आस्था नहीं थी। ‘कोउ नृप होय, हमें का हानी’ की प्रवृत्ति थी। उस समय-लोदी वंश की कट्टर राजनीति थी जिससे जनता में भय और आतंक व्याप्त था। धार्मिक परिस्थितियों में अनेक मतवाद थे। सामाजिक परिस्थितियाँ वर्णाश्रम धर्म के कारण धीरे-धीरे विच्छिन्न हो रही थीं। कबीर का आविर्भाव जैसे इन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का एक आग्रहपूर्ण आमंत्रण था और कबीर ने धर्म और समाज के संघटन के लिए समस्त बाह्यचारों का अन्त करने और प्रेम से समान धरातल पर रहने का एक सर्वमान्य सिद्धांत प्रतिपादित किया परम्पराओं के उचित संचयन तथा परिस्थितियों की प्रेरणा में कबीर ने ऐसे विश्व धर्म की स्थापना की जो जन-जीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और अन्य धर्मों के प्रसार में समानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख

सके। कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान की अधिक महत्व देते थे। उनका विश्वास सत्संग में था। उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कमिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति उसे पथभ्रष्ट करने वाली समझा। उनका ईश्वर एक है जो निर्गुण और सगुण के भी परे है, वह निर्विकार है, अरूप है। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निषेध करना है।^४

कबीर के समय में हिन्दू धर्म एवं हिन्दू-समाज के अन्तर्गत पौराणिक धर्म संबंधी परम्परायें प्रचलित थीं, जिसके फलस्वरूप हिन्दू जनता पौराणिक आचार-विचार-सम्पन्न धार्मिक क्रियाओं में सतह लीन रहती थी। उसमें पूजा-पाठ, यज्ञ अनुष्ठान, कर्म-कांड आदि का बोलबाला था, परन्तु इनके पीछे जो तत्त्ववाद अन्तर्निहित था वह उसकी दृष्टि से पूर्णतया लुप्त हो चुका था। इसीलिए कर्मकांड, तीर्थाटन, ब्रत-उपवास, कथावार्ता आदि में आडम्बरप्रियता अथवा मिथ्या प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहा था। इन कार्यों के द्वारा पुराण-पंथी पीडित एवं कर्मकांडी ब्राह्मण अपने यजमानों को ठगते रहते थे। ‘वे तत्त्वज्ञानी न होकर उल्टे-सीधे कर्म कराने वाले अशिक्षित एवं अद्वै शिक्षित थे तथा बाह्यचारों में जनता को लीन रखकर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। कबीर ने हिन्दू धर्म के उक्त मिथ्या आडम्बर एवं पाखण्ड का डटकर विरोध किया। हिन्दू धर्म के ठेकेदार इन पण्डितों को कसाई कहकर इनकी पोल खोलना आरम्भ किया तथा उनके कुकर्मों, नीच करतूतों, मिथ्या कृत्यों आदि का उल्लेख करके उन्हें जनता का कट्टर शत्रु घोषित किया।^५ कबीर ने सामाजिक रुद्धियों का खण्डन किया। उन्होंने सभी साधु-संन्यासियों, योगी-यतियों, ऋषि-मुनियों आदि के आडम्बरों का विरोध किया— “माला पहरयाँ कुछ नहीं काटी मन के साथ” कहकर उनके माला धारण करने को मिथ्या बताया। “मँड मुड़ावत दिन गए अजहूँ न मिलिया राम” कहकर उनके केश मुड़ाने को मिथ्या बताया, “छापा तिलक बनाइ के दग्धा लोक अनेक” कहकर उनके तिलक-छापे आदि की व्यर्थता सिद्ध की। इतना ही नहीं, कबीर ने हिन्दुओं में फैली हुई मिथ्या परम्पराओं का भी खुलकर विरोध किया। इसीलिए कबीर ने “पाहन पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार” कहकर मूर्ति पूजा का निषेध किया। इस तरह कबीर ने बड़ी निर्भीकता एवं निडरता के साथ हिन्दुओं के पूजा-पाठ, ब्रत, उपासना, तीर्थाटन विभिन्न धार्मिक कृत्यों आदि का विरोध करके इन मिथ्याचारियों को फटकारा और समाज में व्याप्त अंधविश्वास, बाह्यचार, जड़ता रुद्धिग्रस्तता को

मिथ्याडम्बर के विरुद्ध आवाज उठाई। दरअसल कबीर का यही सब ज्ञान आज हमारे समाज में उपयोगी लग रहा है जिससे कि एक स्वच्छ समाज का निर्माण किया जा सकता है। तमाम भ्रांतियाँ व आडम्बर आज व्यक्ति के उत्थान में बाधक बनी हुई हैं। हिन्दुओं की ही भाँति मुसलमानों में भी मिथ्या आचार-विचार एवं बाह्याडम्बरों का बोलबाला था। इस्लाम-धर्म के अनुयायियों को, कबीर ने प्रायः तुर्क नाम से संबोधित किया है तथा दिखावे के लिए ‘हज’ करने वाले को ‘शेख’ कहा है, नमाज पढ़ने वाले, झूठी बन्दगी करने वाले तथा खुदा की इबादत करते हुए भी अपनी जीभ के स्वाद के लिए गोहत्या करने वाले को ‘काजी’ कहा है, मस्जिद पर चढ़कर ‘अजान’ देने वाले तथा रोजा रखने वाले को ‘मुल्ला’ कहा है और ‘कुरान’ पढ़कर जनता को बहकाने वाले को ‘मौलवी’ बताया है। इन सभी को धर्म के वास्तविक ज्ञान से रहित कहकर कबीर ने इन्हें मिथ्याचारी, माँसाहारी, व्यभिचारी कहा है। इसी तरह कबीर ने “दिन भर रोजा धरत हो, रात हनत हो गाय” कहकर इनके रोजे का पर्दाफाश किया है। मुस्लिमों द्वारा की जाने वाली बेजुबान जानवर की हत्या का विरोध किया है। ‘काँकर पाथर जोरि कै मस्जिद लयी चुनाइ, ता चढ़ि मुल्ला बाँग दैं क्या बहरा हुआ खुदाइ’ कहकर ‘अजान’ पर करारा व्यंग्य किया है। ‘जोरि करि जिवहै करि करते हैं जो हलाल’ कहकर इसके ‘हलाल’ की खिल्ली उड़ाई है। कबीर केवल कटु आलोचक ही नहीं, अपितु एक सच्चे समाज सुधारक भी हैं।

कबीर ने सम्पूर्ण समाज में व्याप्त वैषम्य का विरोध करके उसमें साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कबीर ने बड़े कटु शब्दों में व्यंग्य-प्रहार किये हैं और उनकी सभी आलोचनाएं अत्यंत रुखी एवं नीरस जान पड़ती हैं, परन्तु इनमें सहानुभूति एवं सच्चाई भरी हुई है क्योंकि कबीर ने बड़ी ईमानदारी के साथ दोनों धर्मों एवं दोनों समाजों की बुराइयों को उनके सामने अभिव्यक्त किया है। आज हम आस्था की बात करते हैं, अस्मिता की बात करते हैं, स्वाभिमान की बातें करते हैं, अकुण्ठित मानव चेतना की बात करते हैं; बड़ी-बड़ी बातें करते हुए छोटी-छोटी बातों पर, छोटे-छोटे प्रलोभनों पर हम बिक जाते हैं। व्यवस्था हमें सरलता से खरीद लेती है, हम व्यवस्था के ढोल बन जाते हैं। आज की बाजारवादी संस्कृति हमारे सभी मूल्यों को वस्तु के रूप में देखती है, और अपने कब्जे में करना चाहती है। प्रेम हो या वफ़ा आज बाजार की चीज बनकर मात्र रह गई है। आज यहाँ सिक्के की चमक और उसकी खनक ने इन्सान को अन्धा बना दिया है।

बाजारवादी संस्कृति ने आज सभी (परम्परा, संस्कृति

जज्बात) को अपने आगोश में ले लिया है। आज हम सभी एक मूल्यविहिन समाज में जी रहे हैं। क्या बात है कि कबीर अपना घर फूँककर सरे बाजार खड़े हो जाते हैं और दूसरों को भी आमंत्रित करते हैं? क्या बात है कि सूर और तुलसी उस व्यवस्था के नागपाश को झटककर अलग कर देते हैं, किसी देहधारी की प्रशस्ति को लानत मानते हैं? बड़े से बड़े के सामने झुकते नहीं। अगर झुकते हैं तो सिर्फ़-सिर्फ़ अपने राम के समक्ष, अपने देव आराध्य के प्रति। बाकी सबको उनकी ओकात बता देते हैं। यह आस्था, यह आत्म सम्मान, ऐसी अस्मिता, आज कहाँ दिखाई पड़ती है? वर्तमान समाज में ये भक्ति कवि एवं कबीर और ज्यादा प्रासादिक हो जाते हैं। इनकी वाणी, साहित्य समाज के लिए नैतिक मूल्य, अस्मिता, संवेदना को स्थापित करने के वरदान साबित हो रही है। आज का आधुनिक मनुष्य कबीर को अपने सबसे निकट पाता है—तुलसी, सूर तथा अन्य कोई उनके उतने निकट नहीं दिखता जितने कबीर दिखते हैं। कीर्कार्ड का नैतिक मनुष्य उसी साँचे का व्यक्ति है जिस साँचे के कबीर हैं। कबीर अपने वर्तमान के प्रति पूर्णतः संसक्त चेतना वाले व्यक्ति थे, उन्होंने जीवन और जगत् के यथार्थ को खुली आँखों से देखा था। आधुनिक व्यक्ति की समस्त चिन्ता वर्तमान के प्रति होती है। चूंकि वर्तमान के प्रति तीव्रतम् सजगता आधुनिकता का केन्द्रीय तत्व है। वर्तमान के प्रति पूर्णतः संसक्त चेतना ही व्यक्ति की वह मूलशक्ति है, जिसके सहारे वह भूत और भविष्य को खुली आँखों से देख पाता है। कबीर ठीक ऐसे ही व्यक्ति थे। कबीर अपने अनुभव को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं। इस दृष्टि से वे यथार्थ बोध के रचनाकार हैं। उनके यहाँ जो व्यंग्य की तीव्रता और धार है वह भी कथनी-करनी के अंतर को देख पाने की क्षमता के कारण। वे परंपरा द्वारा दिए गए समाधान को अस्वीकार करके नए प्रश्न पूछते हैं—“चलन चलन सब लोग कहत हैं, न जाने बैकुंठ कहाँ है?” इस तरह से परम्परा पर संदेह, यथार्थ-बोध, व्यंग्य, काल-बोध की तीव्रता और गहरी मानवीय करुणा के कारण कबीर आधुनिक भाव-बोध के बहुत निकट लगते हैं। वस्तुतः अकेलापन आधुनिक मनुष्य की नियति है, अतः यह कबीर की भी नियति थी। लेकिन सच्चे विद्रोही की तरह इस अकेलेपन से वे निराश होने की जगह और उत्साहित थे, क्योंकि उनका अकेलापन उन्हें विशिष्ट बनाता था। ध्यातव्य है कि कबीर के खण्डन और योगियों तथा सिद्धों के खण्डन में मौलिक भेद यह है कि कबीर के खण्डनों में आक्रोश की अपेक्षा विद्रोह अधिक है। चूंकि आक्रोश का अन्त क्रोध में

होता है और विद्रोह का नए मान-मूल्यों की स्थापना में, अतः आक्रोश निष्फल और दिशाहीन होता है। कबीर की भक्ति में कर्म की प्रधानता थी, कबीर चूँकि मानते हैं कि मनुष्य की नियति किसी विशेष दिशा में बढ़ना नहीं है, बल्कि जीवनमुक्त होना है अर्थात् जीना और इसी जन्म में अपने विकास को परमपद तक पहुँचाना है, अतः कथनी की अपेक्षा करनी पर वे सबसे अधिक बल देते हैं। इस प्रकार से भक्ति संसार में रहने और संघर्ष करने की भावना है। आधुनिक मनुष्य सत्य के साक्षात्कार तक ही नहीं रुकता, क्योंकि ज्ञान (कथनी) उसका लक्ष्य नहीं होता। यह साक्षात्कृत सत्य को आचरित करने का लक्ष्य लेकर चलने वाला होता है। करनी के लिए उसे हर क्षण नया निर्णय लेना पड़ता है। अतः कबीर का अनुभव सार्त के अनुभव का समशील था। चूँकि सार्त की मान्यता है कि 'मनुष्य के लिए सत्य का साक्षात्कार ही बड़ी बात नहीं है, साक्षात्कृत सत्य के अनुकूल निर्णय लेने की क्षमता भी होनी चाहिए, क्योंकि इस क्षमता के बिना सत्य का साक्षात्कार निष्फल है।

कबीर की सबसे बड़ी देन अथवा प्रासंगिकता यही है कि उन्होंने मनुष्य और मनुष्य के बीच फर्क करने वाली बड़ी से बड़ी शक्ति का विरोध किया। उन्होंने एक ऐसी मानव संस्कृति की परिकल्पना रखी जो आज भी हमारे लिए काम्य बनी हुई है। अतः मनुष्य को समाज को तथा जीवन को जिस रूप में कबीर ढालना चाहते थे जिस नए मनुष्य, नए समाज, नयी संस्कृति तथा नए जीवन की परिकल्पना उन्होंने की थी उसकी आज आवश्यकता है। एक दुर्दृष्ट योद्धा की तरह और अपराजेय जिजीविषा की तरह वे आजीवन धर्म के मसीहाओं, ठेकेदारों से जूझते रहे और उनके समक्ष घुटने नहीं टेके। 'कागद की लेखी की काल' 'अंखियन की देखी' से की और 'पांडित्यजन ज्ञान' को 'ढाई अक्षरों' से तौल दिया। भारतीय जनता जिस नयी वैज्ञानिक संस्कृति का विकास करेगी उसका मूल सूत्र कथनी और करनी की वह एकता, होगी जिसकी ओर कबीर ने संकेत किया था। वर्गयुक्त समाज-व्यवस्था के शासक सदा ही कहते कुछ रहे हैं, करते कुछ और हैं। कबीर ने कर्म और वचन की कसौटी पर ही अनेक मत-मतान्तरों और विश्वासों को परखकर उनकी आलोचना

की थी। यह कसौटी आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कबीर के समय।

वास्तव में कबीर ने सम्पूर्ण समाज में व्याप्त वैषम्य का विरोध करके उसमें साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परोपकार, सेवा, क्षमा, दान, धैर्य, अहिंसा आदि का प्रचार करके जन-जीवन में शुद्ध आचरण एवं सात्त्विकता की पूरी वृद्धि पर जोर दिया है, मिथ्या आडम्बर एवं पाखण्डों का विरोध करके आन्तरिक साधना एवं अन्तःकरण को शुद्धि के महत्व का प्रतिपादन किया है, पशु-वध का विरोध करके जन-साधारण में अहिंसा एवं, सहिष्णुता का प्रचार किया है, ब्रत उपवास आदि का विरोध करके सहज साधना एवं सरल जीवन व्यतीत करने का प्रचार किया है तथापि सामाजिक अधःपतन का उल्लेख करके समाज में नैतिकता एवं सदाचार की प्रतिष्ठा की है। कबीर की वाणी में वह संजीवनी निहित है जो आज दिशाहीन व नैतिक मूल्य विहीन होती हुई समाज के लिए उसमें जागृत करने की शक्ति मौजूद है। अपितु आज की स्थितियों ने उनकी प्रासंगिकता का न केवल गहरा अहसास कराया है, बल्कि उसे सार्वजनिक एवं सार्वकालिक भी बना दिया है।

सहायक ग्रंथ सूची

1. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, विनोद, पुस्तक मंदिर प्रकाशक, आगरा
2. विमलेश काति वर्मा, संपा. भाषा साहित्य और संस्कृति, ओरियन्ट ब्लैक स्वॉन प्रकाशन, शाखा हैदराबाद, संस्करण-2009
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रकाशिणी सभा, काशी
4. इरफान हबीब, मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास राजकम्ल प्रकाशन, दिल्ली
5. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा पीपुल्स प्रा. हाऊस, दिल्ली
6. डॉ. शिव कुमार मिश्र, 'भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद

—डॉ. धनंजय कुमार
हिन्दी विभाग
डॉ. भीमराव अन्देकर कॉलेज,
यमुना विहार, दिल्ली-110094

पॉल गोमरा का स्कूटर : भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में बदलते मानवीय मूल्य

—रवि रंजन

—डॉ. उपेंद्र कुमार

नई सदी में जिस एक घटना ने मनुष्य के जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है वैश्वीकरण। बहुत से विद्वान् इसे भूमंडलीकरण भी कहते हैं। भूमंडलीकरण एक परिघटना न होकर एक ‘प्रक्रिया’ है, जो क्रमशः एवं चरणबद्ध तरीके से वैश्विक समुदाय को एकीकृत करने का प्रयास कर रही है। तकनीक के बढ़ने के साथ ही यह प्रक्रिया और तीव्र होती गई। 1991 में सोवियत संघ के विघटन तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के खुलने से प्रक्रिया तो तीव्र हुई ही, भारत भी इस वैश्विक ग्राम का एक महत्वपूर्ण सदस्य बन गया। चूँकि, प्रभावित करना एवं होना वैश्वीकरण की अनिवार्य प्रवृत्ति है। अतः भारतीय समाज में अर्थव्यवस्था, राजनीति, संस्कृति इत्यादि के सभी हिस्से को इसने गंभीरता से प्रभावित किया। इसके कुछ प्रभाव सकारात्मक रहे तो कुछ नकारात्मक भी रहे। भूमंडलीकरण के कारण भौतिक साधनों का प्रावल्य, आर्थिक संपन्नता, सुविधाओं की भरमार, वैश्विक मूल्यों की स्थापना, अधिकारों के प्रति सचेतता, रोजगार निर्मिती एवं वैश्विक दूरियाँ को मिटाने में सहजता आई तो दूसरी ओर मनुष्य को स्वार्थी, विकृत, संकुचित, क्रूर एवं पशु बना दिया है। मानव और समाज की इस बदलती मानसिकता को उदय प्रकाश के कथा-साहित्य में सहजता से महसूस किया सकता है। उदय प्रकाश का समय भी वही समय है जिसे हम भूमंडलीकरण के नाम से जानते हैं। 21वीं सदी के भूमंडलीकरण के दौर में, भूमंडलीकरण के एजेंडा को अगर किसी रचनाकर ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत करने का जोखिम उठाया, वो उदय प्रकाश हैं। ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ एक ऐसी ही लंबी कहानी है जिसमें रामगोपाल वर्मा के माध्यम से भूमंडलीकरण के तमाम समस्याओं को उभारने का प्रयास किया है।

वैश्वीकरण शब्द अंग्रेजी के ग्लोबलाइजेशन का हिंदी रूपांतर है। ग्लोबलाइजेशन के लिए हिंदी में भूमंडलीकरण शब्द का प्रयोग किया जाता है। ‘भूमण्डलीकरण’ शब्द का अर्थ हैं—‘भू’ अर्थात् ‘भूमि’ और ‘मण्डलीकरण’ अर्थ है—‘समाहित करना’। भूमण्डलीकरण व्यापार विषयक नियमों की वैश्विक एकता के लिए लायी गयी प्रक्रिया है, जो विश्व के लोग,

कम्पनियाँ तथा विविध राष्ट्रों की सरकारें एक ही व्यापार विषयक नियमावली में बाँधने का कार्य करती हैं। सामान्य अर्थ में भूमंडलीकरण एक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैश्विक व्यवस्था है, जिसमें बाजारी ताकतें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि उनका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र पर देखा जा सकता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत उपभोग तथा उपभोक्तावाद, राष्ट्र तथा राज्य की संप्रभुता का दास, अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण होना एवं सूचनाओं को समय को बर्बाद किये बिना प्राप्त करना शामिल है। इस सन्दर्भ में डॉ. अमरनाथ लिखते हैं, “यह शब्द (भूमंडलीकरण) बीसवीं सदी के अंतिम दशक में व्यापक रूप में प्रयोग में आया। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद जब दुनिया एक ध्रुवीय हो गयी और अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने दुनिया के, खासतौर पर तीसरी दुनिया के बाजार पर कब्जा जमाना शुरू किया तो इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।”¹

भूमण्डलीकरण पूरे विश्व को एक परिवार में तब्दील करने में लगा है। पूरे विश्व को एक गाँव में परिवर्तित करते हुए ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ के सपने दिखा रहा है, सबको बराबरी के मोहजाल में फँसाने की कोशिश कर रहा है, लेकिन यह भ्रम है। भूमण्डलीकरण के असली चेहरे पर प्रकाश डालते हुए डॉ. अमरनाथ ने आगे लिखा है, “इस शब्द (भूमंडलीकरण) से यह भ्रम पैदा होता है कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपने छोटे स्वार्थी से ऊपर उठकर लोग, सारे संसार के मंगल के लिए जुड़ जायेंगे। लेकिन भूमंडलीकरण के निहितार्थ इसके ठीक उलटा है। इससे निकलने वाली ‘सब जन हिताय सब जन सुखाय’ की ध्वनि के विपरीत यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूंजीवादी प्रतिष्ठानों, यानी बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके संकेंद्रण के सबसे सबल केंद्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है। यह सिर्फ व्यापार के लिए दुनिया को एक करना चाहती है, बाकी सारी बातें आनुषंगिक हैं।”²

भूमंडलीकरण ने सारी दुनिया को दो हिस्सों में बांट दिया है। एक तरफ दुनिया का वह हिस्सा जो भूमंडलीकृत हो चुका है और दूसरी तरफ वह जो इस प्रक्रिया से बाहर रह गया है। भूमंडलीकृत हिस्सा उत्तरोत्तर प्रौद्योगिकीय समाधानों, वित्तीय सट्टेबाजियों, उसके भीतर अंतरराष्ट्रीय व्यापार, बैंकिंग, स्थानीय स्तर के भ्रष्टाचार और अपराधीकरण के बीच फूल-फल रहा है। दूसरी ओर बहुसंख्यक आम

जनता जिसके पास क्रय शक्ति का अभाव है और इसी के नाते जो बाजार का हिस्सा नहीं बन पा रही है, कूड़े के ढेर की तरह निरर्थक ही नहीं, वातावरण को गंदा करने वाली होने के नाते असह्य होती जा रही है। कार्पोरेट जगत, अवसर मिलने पर इन्हें समुद्र में फेंकने से भी नहीं हिचकेगा।

उदय प्रकाश ने कहानियों के समकालीन मुहावरे को जीवन के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। हिन्दी कथा संसार में उदय प्रकाश एक नई सोच, एक नई दृष्टि, और एक नई भाँगिमा लेकर प्रवेश करते हैं। उदय प्रकाश का समय भी वही समय है जिसे हम भूमण्डलीकरण के नाम से जानते हैं। 21वीं सदी के भूमण्डलीकरण के दौर में, भूमण्डलीकरण के एजेंडा को अगर किसी रचनाकर ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत करने की जोखिम उठाया, वो उदय प्रकाश हैं। उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियाँ उपभोगतावादी संस्कृति से प्रभावित हैं। डॉ. अजीत कुमार दास इस संदर्भ में लिखते हैं “उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियाँ उपभोक्तावादी संस्कृति के साइड इफेक्ट से प्रभावित हैं। ‘तिरिछ’, ‘और अंत में प्रार्थना’, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, ‘पीली छतरी वाली लड़की’, ‘दत्तात्रेय के दुख’, ‘वारेन हेस्टिंग का सांड़’ आदि ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जिनमें उदय प्रकाश ने उपभोक्तावादी संस्कृति और इस उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला है। और इस तरह से उपभोक्तावादी संस्कृति और उसके दुष्परिणामों पर लिखने वाले बहुत कम लेखकों में उदय प्रकाश एक हैं।”³

उत्तर आधुनिकता, उपभोक्तावादी संस्कृति और पूंजीवाद ने हमारे देश की मानवीय संवेदना को नष्ट किया। इन्हीं की वजह से हमारे देश में दिन-प्रतिदिन सामाजिक-राजनीतिक अवमूल्यन, क्षेत्रीयतावाद, जातिवाद, सांप्रदायिक राष्ट्रवाद, बेरोजगारी आदि की समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। उदय प्रकाश ने इन तमाम समस्याओं पर नजर डाली और उन समस्याओं को अपनी कहानियों के माध्यम से आम जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया। ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ एक ऐसी ही लंबी कहानी है जिसमें रामगोपाल वर्मा के माध्यम से तमाम समस्याओं को उभारने का प्रयास किया है।

‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ उदय प्रकाश की एक बेहद चर्चित कहानी है जिसमें उदय प्रकाश ने उपभोक्तावादी संस्कृति और इस उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भूमण्डलीकरण की अवधारणा और प्रभाव की समझदारी का सीधा अर्थ वर्तमान की जानकारी है, पिछले कुछ सालों में दुनिया में भूमण्डलीकरण का जो

भूचाल आया है, देखते-देखते पूरी दुनिया ही बदल गई है। युगान्तर के इस उथल पुथल भरे सीमांत पर खड़े हिन्दी कवि पॉल गोमरा भौचक थे। घनघोर परिश्रमी होने के बावजूद भी पॉल गोमरा को वर्तमान में टिके रहना मुश्किल लगता था क्योंकि—‘इतिहास का उन्हें अपार ज्ञान था। लेकिन वर्तमान उनकी समझ में नहीं आता था। बहुत प्रयत्नपूर्वक एकाग्रचित होकर वे कभी-कभार वर्तमान को समझने का प्रयत्न करते, तब तक वह बदल जाता था।’⁴

भूमण्डलीकरण से समाज के प्रत्येक हिस्से में अप्रत्याशित परिवर्तन हुए चाहे वो धर्म हो, संस्कृति हो, राजनीति हो, व्यक्ति हो, समाज हो, या विचार। नई पीढ़ी पुरातन जीवन संदर्भों को नकार कर अपने लिए नए आदर्श स्थापित कर रही है। बदलाव के इस महिमा का वर्णन ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ कहानी में भी किया गया है, ‘पिछले दस साल में तो देखते-देखते पूरी दुनिया ही बदल गयी थी। उनका अखबार मोनोप्रिंटिंग के इतिहास से निकलकर, फोटो कंपेजिंग से होता हुआ अब पूरी तरह कंप्यूटराइज्ड हो चुका था। सेटेलाइट प्रक्षेपण से पृष्ठ के पृष्ठ पलक झपकते दिल्ली से बंबई और अहमदाबाद पहुंच जाते। उनके साथ ही जो हमसे टकराएगा चूर-चूर हो जाएगा, लालकिले पर लाल निशान, माँग रहा है हिन्दुस्तान जैसे नारे, यूनियनबाजी, दारुखोरी, ठहाके और सारी मस्ती गायब हो गयी थी। उनकी जगह अब स्कूटर और लेजर प्रिंटर पर बैठनेवाले जीस-बीयर वाले फोर फीगर सैलरी के उत्तर-आधुनिक कंपोजीटर्स आ चुके थे।’⁵

वैश्वीकरण की अंधी दौड़ में मानव का स्व विकास उसे धीरे-धीरे आत्मकेंद्रित बनाता जा रहा है। बाजार ही सब कुछ तय कर रहा है कि उसके लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा। इस अर्थ केन्द्रित व्यवस्था ने मनुष्य की सोच और चित्रित को बौना बना दिया है। बाजार आधार बन गया है, इसको पूरक मानकर सब चीजों को आंका जाता है जो इसमें फिट बैठता है वो सार्थक है बाकी सारी निरर्थक। ‘बाजार अब सभी चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गाँव, कस्बे बड़ी तेजी से बाजार में बदल रहे थे। हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकालकर भगा रहा था, कि वह बाजार में कहीं फिट नहीं बैठ रहा था। पलियाँ अपने पतियों को छोड़-छोड़कर भाग रही थीं क्योंकि बाजार में उनके पतियों की कोई खास माँ नहीं थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान् चकाचक युग आ गया था।’⁶

हमारे देश का मध्यवर्ग इस बाजार से सीधे तौर पर जुड़ा हुआ है। भारत 1991 में जैसे ही आर्थिक सुधारों और

भूमण्डलीकरण की डगर पर चला, वैसे ही इस देश के मध्यवर्ग को एक नया महत्व प्राप्त हो गया। आर्थिक उदारीकरण से उपजे समृद्धि के आशावाद को इस वर्ग की मानसिकता और रातों-रात अमीर बन जाने की मध्यवर्गीय कल्पना को उदय प्रकाश अच्छी तरह से समझते हैं और यह भी जानते हैं कि मध्यवर्ग ऐसी किसी गतिविधि या सच्चाई से कोई वास्ता नहीं रखना चाहता जिसका उसकी आर्थिक खुशहाली से सीधा वास्ता न हो। इस संदर्भ में वे इस कहानी में सामने लाते हैं, “अभी आठ महीने पहले किशनगंज के जनता फ्लैट में रहनेवाली, सर गंगाराम हॉस्पिटल के सफाई कर्मचारी राम औतार आर्य की सत्रह साल की बेटी सुनीला रातोंरात मालामाल हो गयी थी, क्योंकि किसी टीवी के विज्ञापन में वह आठ फुट बाई चार फुट साइज के विशाल ब्लैड के मॉडल पर नंगी सो गयी थी। सुनीला को अपने चेहरे पर उस ब्रांड के ब्लैड से होने वाली शैविंग से उपजने वाले, चिड़ियों के पर के स्पर्श जैसे सुख और आनन्दातिरेक को दस सेकंड के भीतर-भीतर व्यक्त करना था। यह काम अपने चेहरे के क्लोज शॉट में उसने इतनी निमग्न कुशलता और स्वज्ञातीत भावप्रवणता के साथ किया था कि देश के एक सबसे बड़े चित्रकार ने एक अंग्रेजी अखबार में वक्तव्य दिया था कि वे एक हफ्ते में उस ‘विज्ञापन को डेढ़ सौ बार देख चुके हैं और अब आनेवाले दो वर्षों तक वे लगातार सुनीला के न्यूड्स ही बनाएँगे।”⁷

वैश्वीकरण के कारण बाजारवाद और उससे उत्पन्न विभिन्न स्थितियाँ, संकट एवं समस्याओं का सामना गाँव से लेकर शहर तक हर इंसान कर रहा है। यह चारों ओर से घिर चुका निकलेगा तो जी नहीं पाएगा और फँसकर अस्त हो जाएगा, अस्तित्वहीन हो जाएगा। ऐसे में हिंदुस्तान भला कैसे अपवाद रहता। देश में घटने वाली सारी घटनाओं का प्रभाव दिल्ली के गाजियाबाद के कवि पॉल गोमरा के ऊपर पड़ रहा था। इसलिए वह रामगोपाल से ‘पॉल गोमरा’ बना और इसी उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण या यूं कहें कि राज्य परिवहन की बस की भीड़-भाड़ से बचने के लिए, समय की बर्बादी से बचने के लिए स्कूटर लेने का निर्णय लिया। प्रो. जयमोहन इस संदर्भ में कहते हैं, “पॉल गोमरा का स्कूटर भूमण्डलीकरण उपभोक्ता संस्कार का आम आदमी पर संधात, उसके टूटे अपनत्व और विचित्र मनोविकारों का कथात्मक आख्यान है। दिल्ली के एक छोटे निकम्मे कवि रामगोपाल ने उत्तर आधुनिक बाजारवादी संस्कृति के लालच में पड़कर उपभोक्तावादी संस्कृति की बाजीगरी में फँसकर अपने आप को बदलने का प्रयत्न किया। अपने नाम का विखंडन करके, खंडों को आगे-पीछे पलटकर उत्तर आधुनिक

नाम स्वीकार किया ‘पॉल गोमरा।’⁸

इसी संदर्भ में डॉ. सीमा सिंह लिखती हैं, “दुनिया में उपभोक्ता समाज ने जितना विस्तार बाजार के बल पर किया है, उसका उतना ही गहरा प्रभाव मनुष्य को सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा है। उसकी आंकाक्षाओं ने कभी न खत्म होनेवाली महत्वाकांक्षाओं का रूप धारण कर लिया है। उदयप्रकाश की कहानी ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ में रामगोपाल सक्सेना का अपना नाम बदलकर पॉल गोमरा करना विशिष्टता की आकांक्षा है, पर उसकी परिणति बहुत सामान्य होती है...जब पॉल गोमरा प्राविडेंट फंड से रुपया निकाल कर स्कूटर खरीदता है। जिस तरह गोदान में गाय की आकांक्षा कृषि समाज से जुड़ी हुई है, उसी प्रकार पॉल गोमरा का स्कूटर खरीदने की आंकाक्षा उपभोक्ता समाज से जुड़ी हुई है। आज बाजार इसी महत्वाकांक्षा को अपने फायदे के लिये भुनाता है।”⁹

भूमंडलीकरण के इस दौर में वस्तुओं की चकाचौंध से सुख पाने का इरादा रखनेवाले मानव के रूप में पॉल गोमरा भी रामगोपाल से पॉल गोमरा बनता है चूंकि वह हिन्दी साहित्य का विद्वान था तो अपनी योग्यता के अनुरूप ही नाम बदलने के विखंडनवादी तरीके को अपनाता है। इस सन्दर्भ में शंभू गुप्त ने कटु टिप्पणी कि है जो सोचनीय है “उदय प्रकाश की कहानी पॉल गोमरा का स्कूटर की पहली महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि आज का यह जो बदला हुआ समय है, उस समय की सही-सही पहचान हिन्दी के कवियों को नहीं है और इस सामयिक अन्तर्दृष्टिहीनता का कारण यह है कि हमारे आज के हिन्दी-कवियों का व्यक्तिगत आचरण सन्देहास्पद और रचना-विरोधी है। उनके व्यक्तिगत जीवनाचरण और उनकी रचना के कथ्य में भारी गुणात्मक अन्तर है। रचना में घोषित रूप से वह चाहे कितना भी जनोन्मुख, प्रगतिशील, क्रान्तिकारी इत्यादि-इत्यादि हो व्यक्तिगत जीवन में वह इसके उलट घनघोर रूप से आत्मग्रस्त, आत्ममुग्ध, दक्षियानूस और यथास्थितिवादी है।”¹⁰

निष्कर्षः प्रस्तुत कहानी में भूमंडलीकरण के प्रभाव में निरंतर बदलते मानवीय मूल्यों को बखूबी चित्रित किया गया है। भूमंडलीकरण के कारण उत्पन्न उपभोक्तावाद के

मायाजाल में फैसकर पॉल गोमरा अपना सब कुछ खोता है। यहाँ स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के प्रभावस्वरूप व्यक्ति प्रतिष्ठा, लालसा और भौतिक चकाचौंध के पीछे भागते हुए इंसानियत को छोड़, संवेदनहीन एवं अकेलेपन का शिकार होता चला जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अमरनाथ, डॉ., हिन्दी आलोचना परिभाषिक शब्दावली, संस्करण, 2021, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 258
2. अमरनाथ, डॉ., हिन्दी आलोचना परिभाषिक शब्दावली, संस्करण : 2021, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 258-259
3. उदय प्रकाश की कहानियों में उपभोक्तावादी संस्कृति, अजीत कुमार दास, अपनी माटी, फरवरी, 2018
4. प्रकाश, उदय, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, संस्करण, 2010, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 33
5. प्रकाश, उदय, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, संस्करण, 2010, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 33
6. प्रकाश, उदय, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, संस्करण : 2010, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 37-38
7. प्रकाश, उदय, ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’, संस्करण, 2010, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 37-38
8. प्रो. जयमोहन, ‘उदय कहानियाँ : सर्जना की जांच, संरचना की पड़ताल’, अजय, डॉ. वीरेंद्र शीतल वाणी, अगस्त-अक्टूबर - 2012, कुल पृ. 44-51, पृ. 45
9. उदय प्रकाश की कहानियों में जादुई यथार्थवाद, डॉ. सीमा सिंह, अपनी माटी, अप्रैल-जून, 2014
10. गुप्त, शंभु, प्रथम संस्करण, 2017, डिविया में धूप, वाणी प्रकाशन, नवी दिल्ली, पृ. 44

-रवि रंजन

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, झारखण्ड केंद्रीय विश्वविद्यालय रांची

-डॉ. उर्येंद्र कुमार

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, झारखण्ड केंद्रीय विश्वविद्यालय, रांची

समकालीनता के संदर्भ में अनामिका की कविताओं का मूल्यांकन

—राहुल कुमार
—डॉ. उपेंद्र कुमार

समकालीन कवयित्रियों में अनामिका एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। अनामिका की कविताओं की आधारभूमि स्त्रीवादी लेखन से निर्मित है। व्यष्टि और समष्टि के अंतर्विरोधों को उजागर करते हुए अनामिका की कविताएँ एक नए मानवीय संवेदन को प्रस्तावित करती है, जो आधातों से छलनी होते मनुष्य को सहानुभूति व संवेदना की तरलता देकर उनके जख्मों पर मरहम रखने का काम करती हैं। प्रसिद्ध कवि राजेश जोशी समकालीन कविता के विषय में कहते हैं, “कविता बदलाव के लिए अग्नि की समिधा को इकट्ठा करती है। वह भी जब हमें अंधेरे कोने में अचानक आवाज लगानी होती है, तो हम अचकचा से जाते हैं। चौंक जाते हैं, शायद थोड़ा-सा डर जाते हैं। हम कई बार उस कविता से बचना चाहते हैं जो अग्नि की समिधा की मांग करती है। जो हमें अहसास कराती है कि हमारे पास एक माचिस है। बहुत सारे कवियों से अलग-अलग तीलियाँ मांगकर वह कवियों की एक अदृश्य सी विरादरी बनाती है।”¹ समकालीनता हिन्दी साहित्य में सन् 1965 के बाद के समय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। समकालीन शब्द अंग्रेजी भाषा के ‘कॉटेम्पररी’ का हिन्दी पर्याय है। मानक हिन्दी कोश में समकालीनता का अर्थ है, “जो उसी समय या जीवित अथवा वर्तमान रहा हो, जिसमें कुछ और विशिष्ट लोग भी रहे हैं। एक ही समय में रहने वाले।”² हिन्दी शब्द सागर में समकालीन का अर्थ है, “जो (दो या कई) एक ही समय में हो। एक ही समय में होने वाले।”³ समकालीनता अपने समय की जरूरतों, समस्याओं और चुनौतियों को समझने की विश्व दृष्टि है। इस विषय पर विश्वंभर नाथ उपाध्याय का मत है, “समकालीनता की अनिवार्य शर्तों में स्वचेतना, संचेतना या संवेदनशीलता है। संचेतन समकालीन व्यक्ति का कालबोध, देश बोध, व्यक्ति और समूहबोध संग्रंथित होता है। वह काल के किसी बिंदु को निरपेक्ष और अलग-अलग नहीं मानता है। वर्तमान में भूत और भविष्य की स्थिति को वह समझता है..।” ऐसे में यह कह सकते हैं कि समकालीनता अपने समय की पहचान है। वह कल्पना के वायवीय आवर्तों में चक्कर नहीं काटती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रयुक्त

समकालीन शब्द विशेष काल खंड की कविताओं से है। जब दो रचनाकारों का समय एक विशेष काल खंड में साथ में रचना करते हैं, जैसे जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा समसामायिक रचनाकार हैं। दूसरे अर्थ में हम कह सकते हैं कि सूरदास और तुलसीदास समकालीन रचनाकर हैं तो काल दोनों के लिए एक समान भाव भूमि उपलब्ध कराता है, वह भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है।

अनामिका की कविताओं में समकालीनता को सहज महसूस किया जा सकता है। समकालीनता आधुनिकता का विस्तार है जिसका सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के प्रभाव को समकालीन कविता में देखा जा सकता है। अनामिका समकालीनता के गर्भ से उपजी बाजारवाद और विज्ञापन कला के कारण लोगों के मन पर कृत्रिमता और यूज एंड थ्रो की संस्कृति को बखूबी पहचनती हैं। यह प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति और मानवीय संवेदनाओं के अवमूल्यन के लिए जिम्मेदार है। बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति ने आज हमारी जरूरतों को अपने ढंग से बना दिया है। जहां पहले हमारे जीवन में मजबूत और टिकाऊ वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाती थी वहीं आज बाजार हमें हमारी आवश्यकताएं बता रहा है। अनामिका कहती है—‘पंसारी जहां भी लगा दे/ दस बोरियाँ पटरी पर, गैरज में, खोली के अंदर/ रख लो दो चार बोझ्याम आराम से वहीं/ सज जाती है/ खुदरा परचून की टूकान/ बड़े-बड़े स्टोरों से सीधी आँखें लड़ाती’⁵ कविता को राजतंत्र, विज्ञान और तकनीकी ने बहुत प्रभावित किया है। ये सब कविता के मूल तत्व को छीनने का भरकस प्रयास करती रहती हैं। भयावह स्थितियों से निपटना कविता के लिए एक चुनौती है। ऐसी स्थिति में जब दैत्याकार विशाल पूंजीवाद के प्रभाव में राजनीति, सामाजिक, धार्मिक, संस्थाओं सहित मीडिया भी समर्पण-समझौते से पस्त हैं तब कविता को दोहरा काम करना होता है। एक तो वह हमारे समय की क्रूरताओं, स्वल्लों और चालाकियों को पहचान कर इंगित कर रही है दूसरी तरफ निराशजनक स्थितियों को बताते हुए वह संघर्ष कर रही है। जब सभी स्थानों से नैतिक साहस और नैतिक वाक्य गायब हो रहे हैं तब समकालीन कविता आवाज बनकर उभर रही है। समकालीन कविता संभावनाओं को उम्मीद में बदल रही है। नैतिक विचारों को बचाकर रखते हुए लोगों को जागृत कर रही है। आज का समाज और मनुष्य शहरीकरण के मेले में खोया हुआ है। इस मेले में खोया मनुष्य आज व्यावहारिकता से अलग हो रहा है जिस कारण उसमें तनाव अनिद्रा रूपी आलस्य भर गया है और यह आलस्य रूपी जहर आज कई बीमारियों की वजह बन

गया है। अनामिका इसे लोक बिंबों के माध्यम से कहती हैं—‘बहुत बरस पहले महोगनी जंगल के पीछे रहता था/ एक अकेला आदमी.../ ऊब और जकड़न, थकान-सबका ही अर्क बहुत धीरे-धीरे गले के नीचे उतार लेने की बारीकी का नाम है चाय/ प्याते की पेंदी में हर बार जितनी बच जाती है चाय/ उतना ही बचा हुआ है अब भी जंगल के पीछे की/ हर घनी बस्ती में एक अकेला आदमी’⁶

पारिवारिक संबंध आज उपभोक्तावाद का संबंध बनता जा रहा है। विचारधारा और विचार आज हाशिये पर चले गए हैं। सम्बन्धों से नैतिक मूल्य समाप्त हो रहे हैं। पूरा उपभोक्तावाद यह बता रहा है कि पश्चाताप और प्रायश्चित्त जैसे मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। यह उपभोक्तावाद की संस्कृति ने लोगों में ऐसा अपना प्रभाव डाला है कि उनमें नैतिक विचारों से चिढ़ होने लगी है। सूचना तंत्र के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि कुछ करने से पूर्व ठिठकना पिछड़ेपन की निशानी है। अंतरात्मा, चेतना जैसी कोई चीज नहीं है तो समकालीन कविता इन विकृत मूल्यों की तरफ संकेत करती है। समकालीन दौर में पूंजीवादी जटिलता के व्यापक पड़यंत्रों में फंसा हुआ निम्न वर्ग, मध्यवर्ग की निराशा तात्कालिक दुर्शा जीवन संघर्ष की अनेक मनः स्थितियों को समकालीन कविता के अनुभव जगत में देखा जा सकता है। अनामिका ‘संबंध’ कविता में बहुत सहजता से व्यक्त करती हैं। आज मानव ने अपनी अस्मिता और स्वाधीनता को बाजार को दे रखा है। वही दूसरी तरफ पुरुषवादी मानसिकता भी किसी बाजार से कम नहीं है। स्त्री अपने अस्तित्व को भी सौंप कर इस संसार में खो सी गयी है—‘उसने अपने वजूद का एक बड़ा हिस्सा/ किराए पर उठा रखा है/ दुनिया, दफ्तर, दवा पानी/ उसी आसरे चलता है/ बाकी के हिस्से में कोई नहीं आता/ आते जाते हैं लोग बाग उसी ओर...’⁷। समकालीन कविता में जब हम लोक तत्व की बात करते हैं या लोक चेतना की तो हमारा यह मतलब होता है कि आज कविता या साहित्य किसी खास के लिए नहीं रहा जैसा कि पहले रीतिकाल का साहित्य होता था बल्कि एक व्यापक लोक के लिए है। प्रगतिवाद से लेकर समकालीन कविता मनुष्य केन्द्रित रही है। कविता में किसान, मजदूर, शोषित, वर्चित कविता के केंद्र में रहे हैं। प्रगतिवाद मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित रहा जिसमें कविता में किसान, मजदूर, शोषित वर्ग कविता के केंद्र में रहे हैं। कालांतर में यह काव्य प्रवृत्ति एक जनांदोलन का रूप धारण कर लेती है। अब कविता मुखर रूप से शोषकों एवं सामंतों के विरोध में खड़ी हुई अपनी आवाज को बुलांद कर रही है। ऐसी परिस्थितियों में हिन्दी कविता

को लोक की तरफ झुकना पड़ा। क्योंकि कविता जिस समुदाय की आवाज के रूप में उभरी उसकी भाषा एवं संस्कृति को कविता में लाना होता है इसीलिए समकालीन कविता का झुकाव लोक की तरफ हुआ। समकालीन कविता में कई अस्मितामूलक विमर्श उभरे। ये विमर्श लोक से जुड़े समुदायों के थे इसलिए उनके इतिहास एवं संस्कृति को कविता में दर्ज करने के लिए समकालीन कविता लोक से जुड़ती चली गयी। अनामिका की कविताओं में लोक की चेतना और उसका विस्तार देखा जा सकता है। अनामिका अपनी कविताओं के कथ्य को लोक परंपरा और इतिहास से रचती हैं। समकालीन कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति लोक के प्रति जुड़ाव भी है। अनामिका का पूरा काव्य संसार लोक से समृद्ध है। अनामिका ने लोक को अपनी कविताओं में जिस तरह से तराशा है वह नए जीवन बोध से जुड़कर बिलकुल नया अर्थ देता है—“कुछ दिन उन्होंने सुगे पाले, फिर बच्चे/फिर अपनी कल्पना का एक बुआ बनाया/नाम दिया ईश्वर और उससे ही जोई सोई कलु बतियाती/काटने लगी जिंदगी जैसे कि, लोक गीत में कटता था/वर के लिए ताड़ का खाज.../तार काट तरकुन काट, काट वर के खाजा/राज के रजाइयां, भैया के दुपद्धा”⁸।

समकालीन कविता में लोक तत्व की अधिकता का एक कारण उसकी उत्पत्ति से है। कई काव्यान्दोलनों के फलस्वरूप जब कविता में पुनः जनवादी चेतना का स्वर उभरा तो उसी जनवादी चेतना के साथ एक नई चेतना भी आयी। इस चेतना में ‘लोक चेतना’ प्रमुख रही। जब जनवादी कविता में लोक चेतना का तत्व समाहित हुआ तो यह जनवादी कविता समकालीन कविता के रूप में उभरी। जनवादी कविता में शोषकों सामंतों के प्रति तल्खियत और तीखापन था। यह तीखापन लोकचेतना के साथ जुड़कर विस्तृत भाव वाली होकर मीठी एवं अपनेपन वाली कविता बन गयी। अनामिका की कविताओं में यह लोक चेतना कई स्तरों पर दिखाई देती है। मुहावरों, लोकोक्तियों, लोक विम्ब, प्रतीक और भाषा शैली में अनामिका ने लोक का बखूबी इस्तेमाल किया है। धनकटनी, चुटपुटियाँ बटन, संयुक्त परिवार, आदि कविताओं में लोक का बखूबी प्रयोग देखने को मिलता है—‘फिर एक दिन जाने क्या हुआ/मेरे भीतर का वह उल्लू उड़ गया/और वहाँ रहने चला आया/सावधान पंजों वाला एक काला बिलौटा’⁹

वैश्वीकरण के पश्चात पूरा विश्व बाजार में बदल गया, जिस कारण वैश्वीकरण ने स्थानीयता पर गहरी चोट की। स्थानीयता की जगह वैश्वीकरण का जादू, गाँव शहरों में बदल रहे लोकतत्व से बाजारीकरण की एक

प्रवृत्ति ने आम लोगों के ऊपर व्यापक असर डाला। मनुष्य भावात्मकता की जगह बौद्धिक बनना शुरू हुआ। मनुष्य कंक्रीट एवं रोबोट बन रहे हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी समकालीन कविता लोक की तरफ झुकती गयी एवं कविता का स्वरूप पुनः लोक की तरफ लौटने लगा। “कविता में लोक जीवन का उभार एवं उसका उत्तरोत्तर विकास कविता के इलाके में सबसे बड़ी घटना है। लोक संस्कृति आज कविता का बड़ा ट्रांसमीटर है। शहरी जीवन की ऊपरी आधुनिकता और उपभोक्तावाद के विरुद्ध लोक संस्कृति के उपजी कविता इधर की केंद्रीय थीम बन गयी।”¹⁰ समकालीन कविता में लोक साहित्य के तत्व घुल मिल गये। आज लोक काव्य (साहित्य) कोई अलग विधा और विधान नहीं है। आज की कविता में लोक चेतना स्पृदित होती है। लोकतत्व मूलतः पुनः कविताओं में लौट रहा है। कवि उन लोकतत्वों को अपनी अपनी कविताओं को स्मृतियों के माध्यम से याद करते हुए काव्य विषय बना रहे हैं। अनामिका स्त्री जीवन के संघर्ष और पीड़ा को इसी लोक प्रतीक से मुक्ति की बात करती हैं—“थपकियाँ देती हुई हमको, अक्सर ही नानी/हमें भूल कर, जो-सो बतियाने लगती थी/बादलों के चंद से-जैसे की गर्भिणी/धारण करती है अपना गर्भ/तू पूरी पृथ्वी धारण कर ये चाँद!”¹¹ अनामिका की कविताओं में लोक का जुड़ाव जीवन में फैले संस्कार, रीत-रिवाज, खान-पान, नित्य जीवन एवं संस्कृति को जीवित रखते हुए नए सौंदर्यबोध के साथ व्यक्त करना है। ऋतुओं का लोक जीवन में किस तरह जुड़ाव है उसकी बानगी एक कविता ‘दोपहर’ में देखने को मिलती है। इस कविता में दोपहर के समय को जेठ और माघ माह दो भिन्न मौसम को प्रतीक के रूप में लेकर अपनी बात की है—“चुल्लू भर चिप-चिप-स्त्री धूप थोप/बरगद की छनी पर/उंगली से सुलझाए जाती है/उसकी जटाएँ हवा मारकर/पालथी जेठ की दुपहरी/सजाती है अपना बाजार...जाड़े की दोपहरी/आपस की बातें ज्याँ-अदूरी”¹²

हिन्दी की स्त्री कविता अपने स्तर पर स्त्री की सामाजिक स्थिति व भौतिक उपस्थिति एवं स्त्री की शोषित वर्ग में अवस्थिति होने से दमन की पीड़ा को झेलती स्त्री समाज, इन सभी प्रश्नों को संबोधित करती रही है। समकालीन स्त्री कविता के केंद्र में मानवीय अस्तित्व के गंभीर प्रश्न हैं, जिसका उत्तर खोजने का प्रयास कवित्रियाँ निरंतर कर रही हैं। स्त्री कविता के केंद्र में व्यक्ति और व्यवस्था का द्वंद्वपूर्ण संबंध है। भारतीय लोकतत्त्व में नागरिक आधिकारों की चेतना एवं स्त्री की चेतना कहाँ प्रमुख है? व्यवस्था में

एक भीषण विडम्बना है जो व्यक्ति के स्त्री होने को एक त्रासदी में बदल देता है। स्त्री जीवन की विडंबनाओं को बाजार आधारित व्यवस्था ने जिस तरह विकट किया है स्त्री कविता उसका दस्तावेज है।

समकालीन कविता ने स्त्री स्वर को विशिष्ट पहचान दी है। इन कविताओं में पितृसत्ता के विरोध के साथ-साथ मानव मुक्ति का एक बड़ा कैनवाश उभरता है। स्त्री कविता में “आत्म की चेतना दीप्ति एवं सिद्धा होने का एहसास स्त्री कविता में मुखर रहता है”¹³ स्त्रीवादी कविता में स्त्रीत्व का एक धेरा है। स्त्री संबंधी कविताओं की लगभग एक सीरीज यहाँ है। इन कविताओं में स्त्रीवाद के साथ-साथ “लोक संस्कृति का ठाट है जिसमें परंपरा, श्रुति, स्मृति जीवंत होकर वर्तमान और अतीत को एक धागे में बांधते हैं।”¹⁴ पितृसत्ता की स्त्रियों का दम घोटता रहता है। यह सत्ता समाज में लैंगिक विभेद को गहरा बना कर स्त्री को अपनी तरह होने तथा जीने को खारिज कर देता है। पितृसत्ता बड़ी चालाकी और साजिश के साथ स्त्रियों को शील, संस्कार के नाम पर अपना शिकार बनाती है। समकालीन कविता इस दमनकारी व्यवस्था को कटघरे में खड़ा कर उसका यथार्थ स्वरूप का दर्शन करती है। अनामिका की कविताओं में स्त्री चेतना और स्त्री मुक्ति की कामना भारतीय संदर्भों में जुड़ी हुई है। उनकी कविताओं में एक और स्त्री जीवन की व्यथा है वहीं दूसरी ओर मुक्त होती स्त्री की कामना भी है। एक पक्ष में स्त्री पीड़ा की साझेदारी है तो दूसरी ओर मुक्ति की संकल्पना भी है—“स्वामी जहाँ नहीं भी होते थे/होते थे उनके वहाँ पंजे/मुहर, तौलिये डंडे स्टैम्प पेपर, चप्पल जूतें/हिचकियाँ डकारे, खराटे/और त्योरियाँ धमकिया, गालियाँ, खचाखच /”¹⁵

मुक्ति की संकल्पना अन्वेषण से जुड़ी है। अनामिका स्त्री मुक्ति न तो बाहर खोजती है और न ही वह बाहरी तत्व पर निर्भर है। लगातार मिलती पीड़ा न्यूटन के तीसरे नियम की तरह ही है। वह एक हृद तक ही सही जा सकती है एक हृद के बाद वही पीढ़ी उतनी ही शक्ति के साथ प्रतिकार भी करती है—“एक चीख मेरे भी भीतर दबी है/उसका बस चले अगर तो/ मेरी पसलियाँ तोड़ती, निकल आए बाहर..ये चीख मेरी, आदिवासी रूपसी की तरह/अब तक किले के तहखाने में, टहल रही बेबस/जंजीरे छूमछनन उसके पैरों की/जिस दिन भी टूटेंगी देखना/बिन धुंधल नाच उठेगा जंगल!”¹⁶ समकालीन हिन्दी कविता में अनामिका ने जो स्थान बनाया है उसकी आधारभूमि स्त्रीवादी कविता है। व्यापक मानवीय संवेदना से जुड़ती हुई कवितायें समकालीनता को परिभाषित करती हैं। समकालीनता शब्द

का अर्थ वर्तमान समय की गतिविधियों से है, अनामिका की कविताओं में वर्तमान समय और उसकी गतिविधियां देखने को मिलती हैं। अनामिका की कविताओं की मनोभूमि में अनेक तत्व सक्रिय हैं, जहाँ एक ओर लोक, परंपरा, इतिहास श्रुति स्मृति है वहीं दूसरी ओर तर्क करता हुआ विवेकशील मानस, संबंधों के आवरण में छिपी सच्चाईयाँ हैं। अनामिका की कविताओं में अन्य समकालीन कवयित्रियों की तरह स्वतंत्र स्त्री अस्मिता की प्रतिष्ठा एवं स्त्री मुक्ति की निरपेक्ष हठधर्मिता नहीं है बल्कि उस भारतीय संदर्भ से प्रेरित है जहाँ परिवार को इकाई माना जाता है न कि व्यक्ति को। अनामिका की दृष्टि में स्त्री-पुरुष हित परस्पर विरोधी न होकर परस्पर संबद्ध है।

संदर्भ सूची

- जोशी, राजेश, समकालीनता और साहित्य, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, स. 2015, पृ. 19
- मानक हिन्दी कोश, स. रामचन्द्र वर्मा, प्रयागराज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पांचवां खंड, पृ. 118
- हिन्दी शब्द सागर
- नाथ, विश्वंभर, समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 14
- अनामिका, टोकरी में दिगंत थेरी गाथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2021, पृ. 146
- अनामिका, बीजाक्षर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 38 , 7. वही
- अनामिका, बद रस्तों का सफर, राजकमल प्रकाशन, स. 2022, पृ. 73
- अनामिका अनुष्टुप, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 20
- आजकल हिन्दी मासिक पत्रिका, अक्टूबर 2021, पृ. 18
- अनामिका, दूब-धान, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 35, 12. वही
- सेठी, रेखा, स्त्री कविता पक्ष और परिप्रेक्ष्य, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, स. 2018, पृ. 22
- वही, पृ. 24
- अनामिका, बीजाक्षर, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, स. 2019, पृ. 67
- अनामिका, खुरदुरी हथेतियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 43

-राहुल कुमार

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय रांची।

-डॉ. उपेंद्र कुमार

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय, रांची

हिंदी विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपादेयता

—डॉ. आशीष कुमार यादव

मानव सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ चेतन प्राणी भी होता है। समाज में स्वातंत्र्य और चेतना के फलस्वरूप वर्तमान समाज का स्वरूप अत्यंत किलाष्ट हो गया है। समाज के इस स्वरूप के पीछे मुख्य रूप से विज्ञान की प्रगति व प्रौद्योगिकी की प्रगति रही है। वर्तमान समाज में विज्ञान, तकनीक और प्रौद्योगिकी के विकास से समाज काफी बदला है। साहित्य और विज्ञान के बीच परस्पर संबंध आज के युग में और महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि वर्तमान सदी विज्ञान व प्रौद्योगिकी की सदी है। विज्ञान ने समाज व मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। साहित्य ने विज्ञान को जहाँ पर नयी कल्पनाओं व संवेदनाओं से युक्त किया है, वहाँ विज्ञान ने साहित्य को तार्किक, वैज्ञानिक और आधुनिकताबोध से युक्त किया है।

मानव चेतन प्राणी है। मानव का सारा ‘चैतन्य’ उसे तमस के अधोगामी पतन से उबारकर सत्त्वस्थ उर्ध्वगामी बनाए रखने के लिए सदा से प्रयासरत रहा है। मानव में जब से बुद्धि जाग्रत हुई है तब से कालखण्ड के हर मोड़ों पर मानव ने ‘व्यक्ति’ और ‘परिवेश’ के बीच सार्थक संबंधों की तलाश अनिवार्य रूप से की है और उससे उत्पन्न अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी है। यह ‘तलाश’ उद्घोषित रूप में मानवता के कल्याण, विकास एवं सुख के लिए रही है। इसी तलाश के परिणामस्वरूप ‘विज्ञान’ का विकास हुआ। इसी तलाश से प्रभावित-प्रेरित होते हुए और बल पाकर आज हम विकास और प्रगति के इस सोपान तक पहुँचे हैं। दूसरी तरफ अनुभूतियों के अभिव्यक्ति का संकलन ‘साहित्य’ कहलाया। यह साहित्य आज तक पूरी निष्ठा के साथ मानवता के कल्याण एवं पोषण से जुड़ा हुआ है। उल्लेखनीय है कि विज्ञान के विकास से मशीनों का आविष्कार हुआ। औद्योगीकरण की शुरुआत हुई और आधुनिक युग की रूपरेखा तैयार होने लगी। वैज्ञानिक युग तक आते-आते विज्ञान के विकास ने अपनी पूरी रफ्तार पकड़ ली। इसने न केवल देश-दुनिया की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सौच में बदलाव लाया वरन् साहित्य जगत् को भी बहुत गहरे प्रभावित किया। जीवन-शैली, रचनाशैली, मुद्रण-शैली और दृष्टिकोण के निर्माण आदि में विज्ञान और वैज्ञानिक गतिविधि ने हिन्दी ही नहीं वरन् समग्र वैश्विक साहित्य को अनेक आयामों में बहुविध प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य ने भी विज्ञान की महत्ता को समझा। उसके चतुर्दिक प्रभाव को महसूस किया। उसकी सर्वव्यापी पहुँच से अवगत होकर उसे विषयवस्तु के

रूप में अपनाया और उसे एक विधा (विज्ञानकथा) के रूप में स्थान दे दिया, क्योंकि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दोनों के उद्देश्य एक ही हैं और वह है मानव कल्याण। ‘विज्ञानकथा’ नामक इस विधा के रूप में साहित्य और विज्ञान की मित्रता हमारे सामने आई और इसी मैत्री संबंध के संदर्भ में विज्ञानकथा की उपादेयता और प्रासांगिकता स्पष्ट होती है। इस अध्याय में विज्ञानकथाओं की उपादेयता और प्रासांगिकता को रेखांकित करने का प्रयास किया जा रहा है।

विज्ञानकथा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक उपादेयता विज्ञान का प्रकारान्तर से वैज्ञानिक अनुसन्धानों को एक सुनिश्चित दिशा देने की क्षमता के रूप में उजागर होती है। विज्ञानकथाओं में भविष्योन्मुखी कल्पना होती है जो आगे चलकर सच साबित हो सकती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह सत्य ही साबित हो। यह सम्भावना से अधिक संभाव्य सत्य पर आधरित होती है। विज्ञानकथा या तो सृजनात्मक, सुन्दर, सुखमय भविष्य का वर्णन कर आशान्वित प्रेरणाप्रद होती है या वैज्ञानिक आविष्कारों के दुरुपयोग के दुष्परिणामस्वरूप द्वारा विद्युत, विनाशमय एवं त्रस्तकारक भविष्य का भयावह खाका खींचते हुए निराशावादी होती है। हालांकि वैज्ञानिक आविष्कार का भला बुरा होना ‘उपयोगकर्ता के विवेक’ पर निर्भर होता है परन्तु अपने स्वरूप के द्वारा ही ‘विज्ञान-कथा’ वैज्ञानिकों को शिवत्व की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देने का शलाघ्य कार्य करती है।

हमारी आज की अनेक सामाजिक समस्याओं के हल के बीज विज्ञान-कथाओं की अति विशाल उर्वर कल्पना-भूमि में छिपे पड़े हैं। जनसंख्या की अधिकता से लड़ने के लिए अंतरिक्ष में कृत्रिम मानव बस्तियाँ स्थापित कर जनसंख्या का स्थानान्तरण, प्रटूषण की भयावहता देखते हुए पर्यावरण की स्वच्छता बनाये रखने के लिये धरती के औद्योगिक कारखानों का अंतरिक्ष में संस्थापन, कच्चे माल के लिए पृथ्वी से चुकते भण्डारों की जगह समुद्र या चंद्रमा की धरती से प्राप्य संसाधनों का दोहन आदि ऐसी संभावनाएँ हैं, जिन्हें रेखांकित कर विज्ञान कथायें कल का सच बना सकती हैं। इन्हीं प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप वायुयान, रॉकेट, रोबोट आदि से लेकर संचार-उपग्रह तक निर्मित हुए हैं। हम उम्मीद कर सकते हैं कि आगामी भविष्य में आने वाले जनसंख्या संकट, खाद्यान्न संकट, पर्यावरण संकट आदि तमाम विपत्तियाँ जो कि मानवहित में बाधक हैं, ‘विज्ञान कथाओं’ के जरिये समय रहते ही निवारित होंगी और यही उनकी सबसे बड़ी उपादेयता है। विज्ञान कथा के कई अन्य महत्वपूर्ण पहलू हैं। जैसे ‘विज्ञान कथा’ लोगों को शिक्षा देने का कार्य भी करती है और लोगों को अधुनातन आविष्कारों

से, उनके प्रभावों से परिचित कराती है। ‘विज्ञान कथा’ का एक गौण उद्देश्य मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही वह विज्ञान का प्रचार-प्रचार भी करती है। आइजक आसिमोव का मानना था—‘विज्ञान कथा ‘साहित्य’ की वह विधा है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी में संभावित परिवर्तनों के प्रति मानवीय प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति देती है।’¹ चूंकि शुद्ध विज्ञान में नीरसता एवं दुरुहता होती है इसलिए सामान्य जनवर्ग इसे आसानी से आत्मसात नहीं कर पाता है। इसी नीरसता एवं दुरुहता को ‘कथा’ अपने लालित्य में समाहित कर अत्यन्त कम कर देती है और विज्ञान को अत्यन्त सरस, सरल, ग्राह्य, भावप्रवण बनाकर सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसमें कौतुकल उत्पन्न करने के साथ-साथ मानवीय समस्याओं के निवारणार्थ एक सुन्दर कथा के रूप में विज्ञान को प्रस्तुत किया जाता है जिसे पाठक आसानी से आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार ‘विज्ञान व्याख्यान’ एवं ‘विज्ञान कथा’ में अंतर होता है। जहाँ ‘विज्ञान व्याख्यान’ केवल जिज्ञासु एवं इच्छुक लोगों की ही जिज्ञासा का निवारण कर ज्ञान देता है वहाँ ‘विज्ञान कथा’ सामान्य जन को आकर्षित कर उन्हें विज्ञान से रू-ब-रू कराती है और उनमें वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अंकुरित एवं विकसित करती है। हमारे सर्विधान के मूल कर्तव्यों में एक कर्तव्य ‘वैज्ञानिक दृष्टि’ के प्रगति एवं विकास का भी है और इस दृष्टि से ‘विज्ञान कथाएँ’ सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपादेय व प्रासांगिक हैं।

विज्ञान कथाएँ समाज को विज्ञान की शिक्षा देने के साथ-साथ उनमें विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रगतियों के प्रति रुझान पैदा करने का कार्य भी करती हैं। क्योंकि जितने भी महत्वपूर्ण एवं खर्चीले वैज्ञानिक अनुसन्धान होते हैं वे हालांकि मानवहित के लिए ही होते हैं परन्तु उनके लिए पैसा सामान्य जन से ही आता है। इसलिए ऐसे अनुसन्धानों के लिए जनसमर्थन आवश्यक है। विज्ञानकथाओं का एक अप्रत्यक्ष कार्य इस जनसमर्थन को जुटाना भी है।

विज्ञान कथाओं की एक महत्वपूर्ण सामाजिक उपादेयता यह भी है कि वे पाठक की कल्पना शक्ति को उद्बुद्ध करती है। लेखक की अनंत कल्पना से पाठक वर्ग का वैचारिक क्षितिज और दृष्टिकोण विस्तारित होता है। ये कार्य मनोरंजन के साथ-साथ संपन्न होते हैं। क्योंकि एक तो यह साहित्य का गुण भी है और विज्ञानकथा साहित्य का अंग है। बल्कि दूसरे मनोरंजन से विहीन होकर ‘वह’ विज्ञानकथा नहीं वैज्ञानिक प्रबंध मात्र रह जायेगी।

विज्ञान कथाओं का एक गुरुतर सामाजिक दायित्व मानवता पर मंडराती भयानक विभीषिकाओं से सतर्क करना

है। न्यूकिलियर विस्फोट, बातावरण प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट, पारिस्थितिक असंतुलन, मानव क्लोनिंग के खतरे, ऊर्जा भंडारों का क्षय, भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी जैसे अनेकानेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समस्यायें हैं जिनके चंगुल से मुक्ति दिलाने में विज्ञान कथाओं की चेतावनी सार्थक सिद्ध हो सकती है। इन समस्याओं की भयावहता विज्ञान कथायें उजागर कर सकती हैं जिनकी पहचान के बाद हम उनसे जूझने की प्राथमिकतायें निर्धारित कर सकते हैं। इन विशाल उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य में एक नई चेतना, एक नये स्वस्थ वैचारिक धरातल की सृष्टि का कार्य यह विज्ञान कथाएँ सफलतापूर्वक कर सकती हैं। इस प्रकार समय के तीव्र प्रवाह के साथ नई सोचों का निर्माण करना और भविष्य के लिए बेहतर तरीके से तैयार करना विज्ञानकथाओं की महत्वपूर्ण उपादेयता है। विज्ञान कथाएँ आने वाले कल के संभावित परिणामों को आज सामने रखकर वे हमारे ‘आज’ को भी बुद्धिमत्तापूर्ण जीने लायक बनाने का कार्य करती हैं। युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता के विधंस-भयावह परिणामों को दिखाकर वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हमें और सहिष्णु बना सकती हैं और संभवतः संपूर्ण विश्वशांति और एक सुखी समाज का निर्माण ही सभी विज्ञानकथाओं का मूलमंत्र है। मानव तथा प्रकृति के संबंधों को सुधारना तो उनका प्रमुख उद्देश्य होता है। इस प्रकार शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का उपदेश देती विज्ञानकथायें एक और बात पर बल देती हैं कि हम इस पृथ्वी के स्वामी नहीं अपितु एक निश्चित अवधि विशेष के लिए ही इसके भण्डारों के उपभोक्ता और संरक्षक हैं। इसलिए नैतिकता की दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से हमें इन भण्डारों का मनमाना दोहन और छेड़छाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है। इसे हमें भविष्य की आने वाली पीढ़ियों के लिए अमानत के रूप में देखना होगा। यही हमारा कर्तव्य है और इस कर्तव्यबोध को जगाने में विज्ञान कथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है।

विज्ञान कथाओं की एक अन्य सामाजिक उपयोगिता मानव मन की जिज्ञासा को शांत करना भी है। मानव मन में एक कौतुक या प्रबल चाह होती है स्वयं के बारे में जानने की और साथ ही भविष्य के बारे में जानने की। इसी उत्सुकता के चलते आज ज्योतिष का एक अलग ही समृद्ध क्षेत्र है और प्राचीन भारतीय वाङ्मय के रूप में ‘भृगु सहिता’, ‘रावण सहिता’ तथा ‘भविष्य पुराण’ आदि कितने ग्रंथ हैं जिनकी ‘क्रेज’ आज के वैज्ञानिक युग में भी बरकरार है। मेरा कल क्या होगा? मानव जाति के भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है? और यदि आशंकायें, बाधाएँ हैं तो उनको

मार्ग से दूर करने के क्या उपाय हो सकते हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर विज्ञान कथायें प्रदान कर रही हैं क्योंकि वैज्ञानिक और तकनीकी प्रत्ययों के साथ सामाजिक चेतना को गुंफित कर मनुष्य को एक नये युग में प्रवेश की दिशा दे सके, यही तो विज्ञान कथा का एक उद्देश्य भी है और उपयोगिता भी। डॉ. अरविंद मिश्र का कहना है—‘विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बढ़ती प्रगति से भावी मानव और उसका समाज किस तरह प्रभावित, परिवर्तित हो सकता है, विज्ञान कथाएँ इसका पूर्वावलोकन कराती हैं। इस तरह विज्ञान कथाएँ वास्तव में मानव के ‘भविष्य दर्शन’ की प्रबल चाह का भी शमन करती हैं।’²

जब साहित्य और विज्ञान दोनों लोकहित के अभीष्ट के साथ-साथ व्यक्ति और परिवेश के सार्थक संबंधों की तलाश के लिए सतत सन्नद्ध हैं तब इनमें आपसी दूरी को कम से कम किया जाना अभीष्ट ही है और ‘विज्ञान कथा’ विज्ञान तथा साहित्य का संगम कर इनके बीच की दूरी को कम करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

कुल मिलाकर ‘विज्ञान कथायें’ मूल रूप से समाज के मानव हित से सम्बद्ध है। जब आज रोज नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं तो उनमें मानवीय मूल्यों को खोजना अनिवार्य हो गया है। यह कार्य ‘विज्ञान कथा’ द्वारा संपादित होता है और इस संदर्भ में वर्तमान युग में विज्ञान की तीव्र गति को देखते हुए ‘विज्ञान कथाओं’ की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

समय के परिवर्तन के कारण विज्ञान कथाओं की संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी होती गयी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है और लोगों ने अपने जीवन को सरल और सुखमय बनाने में विज्ञान का उपयोग किया है। शिक्षा के प्रसार और समाज में विज्ञान की भूमिका को देखते हुए सत्ता पर आसीन सरकारों ने भी इसके विकास में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, जिससे जीवन के लगभग हर क्षेत्र यथा—कृषि, चिकित्सा, अंतरिक्ष, नैनो टेक्नोलॉजी, परमाणु, इंटरनेट, समुद्री खोज आदि क्षेत्रों में नयी-नयी खोजों एवं विकास से पूरा देश करवटें बदलने लगा है। सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति ने देश के प्रत्येक व्यक्ति को आंदोलित किया है। पहले लोग विज्ञान जादूगरी के बारे में सुना करते थे, लेकिन अब विज्ञान के प्रभाव, उससे होने वाले परिवर्तन को देखकर उसके महत्व को समझने लगे हैं और उसका महत्वपूर्ण उपयोग अपने निजी जीवन में करने लगे हैं। इस अद्भुत विज्ञान के प्रसाद को हिंदी विज्ञान कथाएँ अपनी कथावस्तु का विषय बनाती हैं, जिससे धीरे-धीरे विज्ञान के तदनुरूप हिंदी विज्ञान

कथाएँ भी समाज और साहित्य का महत्वपूर्ण अंग बन गयी हैं और लोग हिंदी साहित्य की इस विधा को गंभीरतापूर्वक आत्मसात् करने लगे हैं।

एक विज्ञान कथाकार को मन से साहित्यकार होना अनिवार्य है। तभी वह विज्ञान जैसे विषयों में संवेदनाएँ पिरो सकता है। साथ ही एक विज्ञान कथाकार के लिए विज्ञान के विषयों की मूलभूत जानकारी भी आवश्यक है। उसे विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में हो रही नित नयी खोजों से वाकिफ होना चाहिए। तभी वह भविष्य की सार्थक कल्पना कर सकता है।

गाँधी जी ने कहा था—“मशीनें इतनी बड़ी नहीं होनी चाहिए जो आम आदमी की पहुँच के बाहर हों और मनुष्यता उनके बोझ के नीचे दब जाए। वैज्ञानिक की हर यात्रा और आयोजन में मनुष्य केंद्रित होना चाहिए। मानवमुखी प्रौद्योगिकी मनुष्यता के सुखद भविष्य की जननी है।”³

अतः सूत्र रूप में कहें तो विज्ञान कथाओं की सामाजिक उपयोगिता को निम्न प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

- ❖ प्रौद्योगिकी के भावी स्वरूप से मानव के भविष्यगत जीवन पर पड़ने वाले अच्छे-बुरे प्रभावों का एक आकलन प्रस्तुत करना।
- ❖ मानव या मानव समाज के प्रति आसन्न संकटों से आगाह करना। इस अर्थ में विज्ञान कथायें भविष्यदर्शी की भूमिका निभाती हैं।
- ❖ प्रौद्योगिकी जनित सामाजिक बदलाव के प्रति विचारकों, प्रशासकों और नीति निर्धारकों को समय रहते आगाह करना।
- ❖ मानव के बौद्धिक दृष्टिकोण को विस्तीर्ण करना और व्यापक फलक प्रदान करना जिससे सामाजिक व मानवीय उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो सके।

- ❖ समाज में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।
- ❖ अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों, रुढ़ मान्यताओं का मूलोच्छेदन करना।
- ❖ वैज्ञानिक तथ्यों एवं नूतन अनुसन्धानों की नित प्रति जानकारी उपलब्ध कराना।
- ❖ वैज्ञानिकों एवं वैज्ञानिक कार्यों, नवीन शोध अनुसन्धानों को व्यापक जनसमर्थन दिलाना।
- ❖ स्वस्थ और उपयोगी मनोरंजन प्रदान करना।
- ❖ वैज्ञानिक अनुसन्धानों को दिशा, लक्ष्य और गति प्रदान करना।
- ❖ भविष्य संबंधी मानवीय जिज्ञासा का शमन करना।
- ❖ मानवीय कल्पनाशीलता को उद्देलित व उद्बोधित कर और क्षमता प्रदान करना।
- ❖ उत्कृष्ट साहित्य की अभिवृद्धि में निरन्तर योगदान की महती भूमिका का निर्वहन करना।

सन्दर्भ

1. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ साइंस फिल्ड्स, प्रकाशक, आक्टोपस बुक्स लिमिटेड, लंदन (द्वितीय स्रोत) संस्करण, 1978, पृ. 15.
2. एक और क्रौंच वध, डॉ. अरविंद मिश्र, प्रकाशक, लोक साधना केंद्र, वाराणसी, संस्करण, 2000, पृ. 10.
3. विश्व विज्ञान कथाएँ, संपादक, शुकदेव प्रसाद, प्रकाशक, किलावधर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2012, पृ. 15.

—डॉ. आशीष कुमार यादव
पोस्ट डॉक्टोरल फैलो स्कॉलर
(हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)
भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

अखिलेश के कथा साहित्य में विविध आयामों की अभिव्यक्ति के सामाजिक पक्ष का विवेचनात्मक अध्ययन

—डॉ. प्रदीप कुमार तिवारी

आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रगति शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। हिन्दी में इस शब्द को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। इसका अर्थ है— आगे की ओर बढ़ना, उन्नति, विकास आदि। प्रगति शब्द का अंग्रेजी रूपान्तरण प्रोग्रेस है। हिन्दी साहित्य में समान्यतः प्रगति का प्रयोग उन्नति, विकास, सुधार आदि अर्थों में होता है। प्रगति के पर्याय के रूप में उन्नति शब्द का प्रयोग करते हुए सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने अपना विचार प्रकट किया है। उनके मतानुसार जिस स्थिति में दृढ़ता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो हमारी दुरावस्था की अनुभूति हो और उसको दूर करने की कोशिश हो वही प्रगति या उन्नति है। प्रगतिशील साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है। मनुष्य के विकास में सहायक होता है। प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य में प्रगतिशील धारणा का समावेश करके साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की।

प्रगतिशील साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज में प्रचलित सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक रुद्धियों और अंधविश्वासों का विरोध ही नहीं करता वरन् समाज से संघर्ष भी करता है। प्रगतिशील साहित्य ने मानव की महिमा को प्रमुखता दी। प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत किसानों, मजदूरों, शेषितों और पीड़ितों में एक नई चेतना का संचार हुआ। विदेशी शासन व्यवस्था की बेड़ियों में जकड़े जनमानस नवीन राष्ट्रीयता के विकास से अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुये। इन सभी परिस्थितियों के प्रभाव से समाज में प्रगतिशील चेतना दृष्टिगोचर होने लगी। मानवीय सम्बन्धों की स्थापना को बल मिला और जर्मांदारों तथा सत्ताधारी की शोषणवृत्ति के कारण शोषित और दलितों में वर्ग संघर्ष की भावना पैदा हुई।

प्रगतिशील चेतना के प्रमुख समकालीन कथाकार अखिलेश के कथा-साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा उजागर होती है। आपके कथा साहित्य में स्त्री शोषण, निम्नवर्गीय शोषण, मरती-संवेदनायें, अंधविश्वास, भूत-प्रेत, जादू-टोना, बेरोजगारी के कारण सिसकती और कराहती युवा पीढ़ी का साक्षात्कार करना कथा-साहित्य का मुख्य ध्येय रहा है अर्थात् दूसरे शब्दों

में हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक प्रगतिशील तत्वों का यथार्थ रूप में चित्रण एवं मूल्यांकन करना अखिलेश का मुख्य उद्देश्य रहा है।

‘कुचक’ कहानी की स्त्री पात्र रज्जो को बाजार में लड़के उसके शारीरिक सौन्दर्य को माल कहकर सम्बोधित कर फवती कसते हैं तब रज्जो उन लड़कों को उन्हीं की भाषा में थप्पड़ मारकर उत्तर देती है। इस प्रकार आज की स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग है जो किसी भी परिस्थिति में स्वयं को झुकाती नहीं, न ही लज्जित होती है।

स्त्री शोषण युगों से चला आ रहा है। अखिलेश के कथा साहित्य में स्त्री शोषण को भी व्यक्त किया है। ‘अभिमन्यु की हत्या’ की पात्र जगेसरी अपने अधिकारों तथा स्त्रीत्व रक्षा को जानती है किन्तु परिस्थिति वश अपने स्त्रीत्व की रक्षा नहीं कर पाती और अपने शरीर को हवश का शिकार बनने देती है तो ‘यक्षगान’ कहानी की पात्र सरोज अपने ही प्रेमी द्वारा प्रेम में छल-प्रपञ्च की शिकार होती है, एवं अपने साथ हुये शारीरिक एवं मानसिक अभद्र व्यवहार तथा बलात्कार का विरोध कहानी के अन्त में पत्राचार द्वारा करती है।

वैचारिक पीढ़ीगत मतभेद मनुष्य में पाया जाने वाला गुण है जो समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। ‘बड़ी अम्मा’ कहानी में बड़ी अम्मा रुद्धिवादी स्त्री के रूप में चित्रित हुई है जो लड़के-लड़कियों में भेद के साथ लड़कियों को अधिक पढ़ाई-लिखाई का विरोध भी करती है। बड़ी अम्मा के मन में नातिन अंजलि के प्रेम एवं व्यवहार के कारण उनके मन से रुद्धिवादिता समाप्त हो जाती है और वह लड़कियों को पढ़ाने के पक्ष में हो जाती है तथा बड़ी अम्मा इलाहाबाद से अपने घर जाते समय अपनी बेटी के लिए अंजलि की किताबें चुराकर ले जाती है।

आपके कहानी-साहित्य में प्रगतिशील चेतना वजूद, कुचक, यक्षगान, अभिमन्यु की हत्या, श्रृंखला इत्यादि कहानियों में प्रगतिशील चेतना की झलक कहानियों के कथानक तथा पात्रों के मुख से व्यक्त विचारों के माध्यम से प्रगतिशीलता अभिव्यक्त हुई है।

अखिलेश के कहानी-साहित्य में जादू-टोना, अंधविश्वास, बाह्य आडम्बर, सांप्रदायिकता इत्यादि धार्मिक पक्ष के अन्तर्गत कुरीतियों, रुद्धियों का चित्रण प्रगतिशील दृष्टि से प्रस्तुत किया है। उच्च वर्ग सदा से ही निम्न वर्ग का शोषण करता हुआ आ रहा है और वर्तमान समय में भी हो रहा है, बस उसका स्वरूप भर बदल गया है। ‘वजूद’

कहानी में निम्नवर्गीय शोषण की कहानी है जिसमें उच्च वर्ग, निम्नवर्ग का शोषण इस हद और अमानवीयता के साथ करता है जिससे रामबदल की मृत्यु तक हो जाती है। अंधविश्वास, जादू-टोना इत्यादि पर अटूट विश्वास का एक कारण अशिक्षा भी है, जो आज भी ग्रामीण इलाकों के लोगों में अशिक्षा के कारण तूल पकड़ता है।

अखिलेश के कहानी-साहित्य में राजनैतिक पक्ष के अन्तर्गत भ्रष्टाचार, वोट की राजनीति, राजनीति उन्नति का एक माध्यम इत्यादि प्रगतिशील विचार की दृष्टि से पात्र वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों का विरोध करता है। अखिलेश ने कहानी-साहित्य में भ्रष्टाचार, वोट की राजनीति, राजनीति एक माध्यम, अत्याचारों का चित्रण कर प्रगतिशील समाज की सत्यता से अवगत कराने के साथ राजनैतिक व्यवस्था के सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं। कथाकार अखिलेश जी के कहानी साहित्य में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

समाज शब्द अंग्रेजी का पर्यायवाची शब्द सोसाएटी (Society) से बना है। समाज शब्द सम और अज् धातु में धम प्रत्यय लगाने से बना है। सम का अर्थ है सम्यक रूप से तथा अज् का अर्थ है जाना। साधारण बोल चाल में समाज शब्द का अर्थ मनुष्य के समूह से लिया जाता है। मनुष्य का अपना वजूद अर्थात् अस्तित्व बनाए रखने के लिए सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ती है तथा समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा जाता है। सम्बन्धों के जाल से तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों की उस जटिलतम् व्यवस्था से है जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं तथा स्वयं भी समाज क्रिया-प्रतिक्रिया में सहभागिता लेते हैं। सामाजिक रीतियों, मूल्यों की व्यवस्था का परिवर्तित स्वरूप समाज कहलाता है। विभिन्न शब्दकोशों और विद्वानों द्वारा समाज को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

भाषा शब्द कोश के अनुसार—“समूह सभा समिति, दल, वृदं, समुदाय, संस्था, एक स्थान निवासी तथा समान विचार वाले लोगों का समूह, किसी विशेष उद्देश्य या कार्य के लिए अनेक व्यक्तियों की बनाई या स्थापित की हुई सभा”¹

लोकभारती प्रमाणिक हिन्दी कोश के अनुसार—“समूह गिरोह, एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का समूह किसी विशेष प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह, समुदाय, किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की हुई सभा”²

गिन्स वर्ग के अनुसार—“समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा बंधे हुए नहीं है अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न है”³

डॉ. गोपालकृष्ण अग्रवाल ने लिखा है—“समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है”⁴

मैकाइवर और पेज—“मनुष्यों में चलन है, कार्य विधियाँ हैं, पारस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति है शासन की जो भावना है जो अनेक समूह व विभाग में विद्यमान है। मानव व्यवहार के सम्बन्ध में जो स्वतंत्रताओं व मर्यादा है, उनकी व्यवस्था को ही समाज कहते हैं”⁵

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में वर्णन किया गया है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य व्यक्तियों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। व्यक्तियों के समूह सम्बन्धों के आधार पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। इनमें कुछ पारस्परिक अपेक्षायें सम्मिलित रहती हैं। इन सब व्यक्तियों के समूह में क्रिया-प्रतिक्रिया समूह को व्यवस्था को समाज कहते हैं।

व्यक्ति समाज की अत्यन्त लघु इकाई है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता समाज में ही विद्यमान होती है। व्यक्ति से पृथक् समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। साहित्य और मनुष्य का चिरकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। साहित्य और मनुष्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है व्यक्ति समाज में रहता है, साहित्य में समाज की प्रत्येक घटना को समाज के व्यक्तियों के समक्ष प्रस्तुत करता है। समाज में कब कहा क्या नया निर्माण, संघटित हुआ इसकी सूचना व्यक्ति को समाज के माध्यम से ही प्राप्त होती है। लेखक भी समाज का एक अंग होता है, जो समाज में विद्यमान अच्छाइयों बुराईयों का चित्रांकन अपने लेखन द्वारा अपने साहित्य में करता है इसलिए यदि साहित्य एवं समाज को अन्योन्याश्रित कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य समाज सुधार का सर्वाधिक सशक्त हथियार कहा जा सकता है क्योंकि लोकनायक तुलसी, समाज सुधारक कबीर ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज को नवीन आयाम दिया।

प्रेमचन्द के साहित्य ने समाज को एक नई चेतना का संचार करने का प्रयास किया। निराला, नागर्जुन ने अपने साहित्य में समाज का नग्न एवं यथार्थ चित्र उभार कर व्यक्ति समूह को वास्तविकता से परिचय करवाया। इसी प्रकार समकालीन प्रगतिशील लेखक अखिलेश ने अपनी

कहानियों में समाज के यथार्थ रूप को प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी कहानियों में समाज के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों को अपने कहानियों का केन्द्र बिन्दु बनाया है लेकिन समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों, रुद्धियों विद्रूपताओं को उन्होंने अपनी कहानी साहित्य कथानक की माला में पिरोकर मुखरता से दर्शाया है। समकालीन कथाकार अखिलेश कहानियों में सामाजिक पक्ष को बेबाकी से दर्शाया गया है जो इस प्रकार है।

भारतीय समाज की संरचना इस प्रकार संगठित है कि जिसमें नारी को सदैव से एक साधन या भोग्य वस्तु समझा जाता था। पिरूसत्तात्मक समाज में नारी पुरुषों की गुलाम और सामाजिक प्रताङ्गनाओं का शिकार रही है। पुरुष वर्ग की दृष्टि नारी के प्रति सदा से संकुचित रही है। पुरुषवादी समाज स्त्रियों को दासियों की तरह हुक्म एवं हिदायत देते हैं।

हिन्दी साहित्य में भी उपन्यास, कहानी, नाटक इत्यादि में नारी के शोषण का चित्रण किया गया है। समकालीन लेखक अखिलेश जी अपनी कहानियों में समाज के द्वारा शोषित स्त्रियों को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। अखिलेश की कहानी ‘हाकिम कथा’ में मंदिरा का पति पुनीत अपनी पत्नी का प्रयोग अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए करता है, वही दूसरी तरफ ‘अभिमन्यु की हत्या’ में शारीरिक सौंदर्य को देखकर पुरुष उस पर तंज कसते हैं। ‘जलडमरुमध्य’ में चिन्मय मनजीत पर शक ही नहीं करता वरन् उसको मारता पीटता भी ही है। ‘बायोडाटा’ कहानी में सावित्री, राजदेव की बात नहीं मानती तो उसे मारने-पीटने के साथ नहीं उससे अपनी बात मनवाने के लिए अपशब्दों का प्रयोग भी करता है।

अखिलेश जी की कहानियों में भी शोषित स्त्री की दशा पर दृष्टि डाली गई है जो उनकी यक्षगान, हाकिम-कथा, जलडमरुमध्य, बायोडाटा इत्यादि कहानियों में नारी स्थिति को देखा जा सकता है।

‘यक्षगान’ कहानी में सरोज एक मध्यवर्गीय परिवार की ब्राह्मण नाबालिंग लड़की है। गाँव का छैलबिहारी नाम का युक्त सरोज की सुन्दरता पर मुश्क छोकर उसको शारीरिक रूप से प्राप्त करना चाहता है। इस प्रपञ्च से अनभिज्ञ सरोज छैलबिहारी के प्रेम करने के प्रपञ्च में फँस जाती है। सरोज अपने माता-पिता, भाई को छोड़कर घर से दूर छैलबिहारी के साथ विवाह कर लेती है तत्पश्चात् सरोज के जीवन में अत्याचार छल प्रपञ्च की कहानी प्रारम्भ होती है। सरोज का नकली बालिंग प्रमाण पत्र बनवाया जाता है जिसमें छैलबिहारी के साथ बड़े नेता भी मिले होते हैं। छैलबिहारी

एवं सरोज का विवाह एक घड़चन्त्र के तहत मन्दिर में कराया जाता है जिससे शादी का कोई गवाह न रहे और छैलबिहारी और उसके दोस्त व विधायक मन्दिर का पण्डित सरोज का बलात्कार कर उसे मार देने की योजना बनाते हैं। सरोज का शोषण नेता द्वारा, पंडित गोरखनाथ एवं छैलबिहारी के दोस्त मिलकर बार-बार करते हैं।

नारी शोषण के नग्न स्वरूप को इस कहानी में दर्शाया गया है जो निम्न उदाहरण के द्वारा देखा जा सकता है—“मौका देखकर सरोज ने भी बाहर निकलना चाहा। वह बीच दरवाजे में ही थी कि गोरखनाथ ने पीछे से उसके बालों को पकड़ लिया और खींचकर उसे बिस्तर पर पटक दिया, साली चवन्नी छाप रंडी, चली है हमसे नखरे करने। सरोज ने उसके पैर पकड़ लिए, मुझ पर दया करिए। मैं आपके ही आदमी छैलबिहारी की ब्याहता हूँ।”⁶

अखिलेश जी के उपन्यासों में बाह्य जगत की कथावस्तु को उपन्यास का कथ्य नहीं बनाया है, उन्होंने व्यक्ति के अन्त जगत के कोने-कोने को झाँकने का सफल प्रयत्न किया है, जो मनोवैज्ञानिक पक्ष के अध्ययन से साकार होता है।

अखिलेश की कहानियों और उपन्यासों के अध्ययन से मालूम होता है कि वे उनके समाज के सभी पक्ष सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक इत्यादि को परिस्थितियों का अहसास है और उनके समाज में क्षेत्र में होने प्रेम में बढ़ती स्वार्थता, दाम्पत्य जीवन में बिखराव युवकों में मादक पदार्थों का सेवन के अर्थ से उत्पन्न समस्या, जातिभेद, भ्रष्टाचार, अत्याचार चित्र देख सकते हैं। अखिलेश जी के कहानियों के नारी पात्र घर-परिवार और समाज के मध्य रहकर भिन्न स्थितियों और त्रासदियों का सामना करने वाली हैं।

अखिलेश जी के ‘निर्वासन’ उपन्यास साहित्य की नारी पात्र संघर्षशील है तथा वह सभी दबावों से मुक्त होकर अपना जीवन यापन करती है, तो ‘अन्वेषण’ उपन्यास की पात्र दबाव में जीवन यापन करती है। अखिलेश जी के सभी कहानियों एवं उपन्यासों में सामाजिक रचनाओं में परिवेशगत कई विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, वर्तमान युग में युवाओं का राजनीति के प्रति बढ़ता मोह को कहानियों में प्रस्तुत कर देश की राजनीतिक व्यवस्था को उकेरा है तो उपन्यास में भ्रष्टाचार,

बोट की राजनीति, योजनाओं का असली स्वरूप इत्यादि बिन्दुओं के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र की सत्यता से समाज को अवगत कराया है।

प्रगतिशील अखिलेश जी के अर्थ से उत्पन्न विविध पहलू जैसे—बेरोजगारी, गरीबी, बाल मजदूरी इत्यादि का चित्रण कर वर्तमान समाज का वास्तविक स्थिति को दर्शाने का प्रयास किया है। वर्तमान युग में युवा पीढ़ी में बढ़ती बेरोजगारी की समस्या को कहानियों एवं उपन्यास में प्रसुखता से दर्शाया जो मुख्य रूप से आज के युवकों की समस्या है। इसका चित्र भी अखिलेश जी के साहित्य में मिलता है।

अखिलेश जी ने धार्मिक एवं नैतिक पक्ष की विषमताओं के द्वारा समाज में व्याप्त रूढिवादिता, बाद्य आडम्बर एवं अशिक्षा के कारण अज्ञान तथा पाश्चात्य सभ्यता के कारण भारतीय मूल्यों के पतन को दर्शाने का प्रयास किया है।

वर्तमान युग में व्यक्ति स्वयं में इतना लिप्त हो गया है कि उसको अन्तर्दृन्द अकलेतापन, भय, क्रोध इत्यादि समस्याओं ने घेर लिया है। अतः इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि विषय का विविध रचना-तत्त्व आदि सामान्य जनता पर प्रभाव डालता है। प्रगतिशील कथाकार अखिलेश जी ने कथा साहित्य के माध्यम से समाज की रुग्ण मानसिकता पर प्रहार करने की कोशिश की है।

सन्दर्भ सूची

1. शुक्ल रमाशंकर रसाल, भाषा-शब्द कोश, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, प्रकाशक इलाहाबाद, संस्करण-1986, पृ. 152
2. आचार्य रामचन्द्र वर्मा, लोकभारती प्रमाणिक हिन्दी कोश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1996, पृ. 830
3. लाल साहब सिंह, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1998, पृ. 6
4. लाल साहब सिंह, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1998, पृ. 5, 6
5. राजेश रानी, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, के. के पब्लिकेशन्स दरियागांज, दिल्ली, संस्करण-2009, पृ. 7
6. अखिलेश, यक्षगान (अंधेरा कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृ. 69

—डॉ. प्रदीप कुमार तिवारी

सहायक प्रवक्ता हिन्दी
अम्बेडकर नगर, उत्तर प्रदेश

हिन्दी व्याकरणिक चिन्तन की परम्परा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—डॉ. कृपा शंकर

भारत में भाषाई और व्याकरणिक चिन्तन की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा होने के बावजूद हिन्दी में व्यवस्थित ढंग से व्याकरण-लेखन की शुरुआत सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के आस-पास तब शुरू हुई, जब यूरोपीय व्यापारियों (जो बाद में धीरे-धीरे भारत में राजनैतिक सत्ताधारी बनते गये) और ईसाई धर्म प्रचारकों को क्रमशः व्यापार (बाद में शासन भी) एवं धर्म-प्रचार हेतु भारत के विस्तृततम् क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी को जानने-समझने की आवश्यकता महसूस हुई। उस समय तक भारतीय विद्वानों का ध्यान हिन्दी समेत अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के व्यवस्थित विवेचन की ओर प्रायः नहीं गया था। ऐसी परिस्थिति में यूरोपीय विद्वानों द्वारा हिन्दी-शिक्षक के रूप में लिखे गए व्याकरणों से हिन्दी समेत अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में व्याकरणिक चिन्तन की शुरुआत हुई। हिन्दी के उपलब्ध पहले वैयाकरण जोहान जोशुआ केटेलेर से लेकर बेंजामिन शुज्जे, हाडले, ककपीट्रिक, गिलक्राइस्टर, पादरी एम. टी. एडम, विलियम एथरिंगटन, वीम्स, हॉर्नली, केलॉग, फैलन, प्रियर्सन, एडविन ग्रीव्स आदि तक ऐसे यूरोपीय वैयाकरणों और विद्वानों की एक ऐसी लम्बी शृंखला मिलती है, जिन्होंने हिन्दी व्याकरण समेत हिन्दी भाषा-चिन्तन सम्बन्धी अध्ययन की न केवल नींव डाली, बल्कि अपने निरंतर अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे उस पर हिन्दी भाषा-चिन्तन की अपनी तरीके की मजबूत इमारत भी खड़ी की। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों द्वारा शुरू किया गया, व्याकरणिक चिन्तन समेत समस्त भाषिक कार्य तत्कालीन भारत में औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त था, जिसका उद्देश्य शुद्ध भाषाशास्त्रीय न होकर उस समय के उनके व्यावहारिक प्रयोजनों व्यापार, धर्म-प्रचार और शासन-कार्यों में सुविधा व सफलता के उद्देश्य से कामचलाऊ ढंग से हिन्दी भाषा सीखने-सिखाने की आवश्यकता से चालित था। इस तरह इन शुरुआती वैयाकरणों का लक्ष्य हिन्दी भाषा का सम्यक् विवेचन करते हुए उसके सिद्धान्त-निर्धारण की ओर नहीं था, बल्कि व्यापार, शासन-प्रशासन आदि के उद्देश्य से भारत आने वाले विदेशियों को हिन्दी की सामान्य जानकारी प्रदान करना ही इनका मुख्य उद्देश्य था।

इसके फलस्वरूप उन्होंने यूरोपीय भाषाओं (अंग्रेजी और लैटिन) के व्याकरण के बने-बनाए ढाँचे के आधार पर ही

हिन्दी व्याकरण का आधार निर्मित किया और कामचलाऊ नियमों के संग्रह के रूप में हिन्दी के व्याकरण प्रस्तुत किये। यूरोपीय भाषाओं के आधार पर हिन्दी भाषा के व्याकरण का विवेचन-विश्लेषण करने की प्रवृत्ति ने हिन्दी-जगत् में अनेक तरह की भ्रामक, असंगत और अतार्किक मान्यताओं को जन्म दिया, जिनसे हिन्दी जगत् आज तक पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका है। उदाहरण हेतु-विभक्ति, परसर्ग और कारक ये तीनों अलग-अलग अवधारणाएँ हैं, लेकिन हिन्दी में विभक्ति और परसर्ग को कारक में ही शामिल करके अथवा यह कहें कि तीनों को पर्याय जैसा बनाकर, फिर कारक को भी केस का समानार्थी बनाकर पेश किया जाने लगा था। गुरु जी जैसे अनेक विद्वान वैयाकरण भी इस तरह के दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके थे। व्याकरण सम्बन्धी इन आरम्भिक कार्यों में किसी तरह की गम्भीरता या अन्तर्दृष्टि का परिचय प्रायः नहीं मिलता है। लेकिन ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न विषयों का अध्ययन अपनी आरम्भिक अवस्था में प्रायः इस तरह के अनेक दोषों से कमोबेश गुजरता ही है और हिन्दी भाषा के आरम्भिक व्याकरणिक चिन्तन में मिलने वाले उपर्युक्त दोष कुछ उसी तरह के हैं। भारत आने वाले विदेशियों को हिन्दी भाषा का परिचयात्मक ज्ञान देने सम्बन्धी अपने सीमित उद्देश्य के बावजूद इन आरम्भिक वैयाकरणों के कार्यों को कम आँकना या उनकी सर्वथा उपेक्षा करना तर्कसंगत नहीं है। वस्तुतः इन्हीं आरम्भिक अध्ययनों ने आगे चलकर अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक पद्धति से हिन्दी भाषा के व्याकरण का विवेचन-विश्लेषण की जमीन बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

यूरोपीय विद्वानों द्वारा लिखे गये अधिकांश हिन्दी व्याकरणों की रचना प्रायः अंग्रेजी ढाँचे (यूरोपीय पद्धति) के आधार पर हुई थी, लेकिन 1850 ई. के आसपास राष्ट्रीय चेतना के उभार के दौर में भारतीय विद्वानों ने अंग्रेजी पद्धति के विपरीत संस्कृत व्याकरण के ढाँचे पर हिन्दी व्याकरण का विवेचन करना आरम्भ किया। भारतीय विद्वानों द्वारा हिन्दी व्याकरण का विवेचन किए जाने की परम्परा की शुरुआत होने से हिन्दी व्याकरण की दशा और दिशा में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि अब वैयाकरणों का ध्यान केवल नियम संग्रह से ऊपर उठकर उनके विश्लेषण और तुलना की ओर भी जाने लगा। भारतीय विद्वानों में इस दृष्टि से हिन्दी व्याकरण का विवेचन करने वाले आरम्भिक विद्वानों में पण्डित श्रीलाल शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने पहली बार ‘भाषा-चन्द्रोदय’ (1855 ई.) में संस्कृत व्याकरण के आधार पर हिन्दी का व्याकरण

लिखते हुए हिन्दी व्याकरण को एक अधिक ग्राह्य आदर्श प्रदान किया और आवश्यकतानुसार हिन्दी का स्वतंत्र रूप से विवेचन करने का भी प्रयास किया। ‘पण्डित श्रीलाल शुक्ल के पश्चात् पण्डित रामजसन (भाषातत्त्वबोधिनी, 1858 ई.), नवीनचन्द्र राय (‘नवीन चन्द्रोदयश’, 1868 ई.), शीतलाप्रसाद गुप्त (शब्दप्रकाशिका, 1870 ई.), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (‘हिन्दी व्याकरण’, 1875 ई.) आदि विद्वानों ने व्याकरण-निर्माण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण प्रयास किए, लेकिन इन व्याकरणों में हिन्दी-भाषा-विश्लेषण की मौलिक दृष्टि का अभाव देखने को मिलता है। इस दृष्टि से सैमुअल हेनरी केलॉग ने पहली बार ‘ए ग्रैमर ऑफ हिन्दी लैंग्वेज’ (1876 ई.) में विशुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी और उसकी जनपदीय भाषाओं के व्याकरणिक रूपों के ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन के साथ हिन्दी का व्याकरण प्रस्तुत किया।¹ यद्यपि केलॉग के पूर्व बीम्स, टर्नर, ट्रम्प आदि विद्वानों द्वारा भी ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के आधार पर हिन्दी भाषा और व्याकरण का अध्ययन किया गया था, लेकिन उनमें केलॉग की तरह परिपूर्णता नहीं थी। केलॉग के पश्चात् हिन्दी और उसकी जनपदीय भाषाओं के व्याकरण का विवेचन करने वाले कुछ अन्य महत्वपूर्ण विद्वानों में हॉर्नली और ग्रियर्सन जैसे विद्वानों का नाम लिया जा सकता है। “जहाँ हॉर्नली ने ‘पूर्वी हिन्दी व्याकरण’ (1880 ई.) में भोजपुरी के साथ-साथ अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वहाँ दूसरी तरफ ग्रियर्सन ने ‘सेवन ग्रैमर ऑफ बिहारी लैंग्वेज’ (1883-1887 ई. के मध्य प्रकाशित) में बिहारी भाषाओं का और ‘भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण’ (L.S.I., 1927 ई.) जैसी विशाल ग्रंथ राशि के अन्तर्गत पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिमी हिन्दी समेत भारत की अन्य भाषाओं के व्याकरणिक रूपों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया।² हिन्दी में व्याकरण सम्बन्धी अध्ययन और व्याकरण ग्रंथ रचना का सिलसिला इसी तरह चलता रहा, परन्तु लगभग डेढ़ शताब्दी बीत जाने के बाद भी हिन्दी को कोई ऐसा व्याकरण ग्रंथ नहीं मिल सका था, जो हिन्दी भाषा के समस्त प्रयोगों को समेट सके, साथ ही जिसे लगभग सर्वमान्यता भी प्राप्त हो। इस कड़ी में ‘हिन्दी व्याकरण’ के व्यवस्थापक के रूप में उभर कर आये कामताप्रसाद गुरु (1875- 1947 ई.), जिनका 1921 ई. में प्रकाशित हिन्दी व्याकरण नामक ग्रन्थ हिन्दी का पहला सर्वांग-समाहारी और एक हद तक सर्वमान्य व्याकरण बना। उनके पूर्व के अधिकांश हिन्दी वैयाकरण छात्रोपयोगी व्याकरण की रचना में ही लगे हुए

थे। हालाँकि, ‘गुरु जी के पूर्व अयोध्याप्रसाद खन्नी (‘हिन्दी व्याकरण’, 1874 ई.), बाबू रामचरण सिंह (‘भाषा प्रभाकर’, 1875 ई.), केशवराम भट्ट (‘हिन्दी- व्याकरण’, 1903 ई.), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (‘पुरानी हिन्दी’, 1902 ई.), रामावतार शर्मा (‘हिन्दी व्याकरण सार’, 1910 ई.), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (‘हिन्दी लिंग विचार’, 1919 ई.), अम्बिका प्रसाद वाजपेयी (‘हिन्दी कौमुदी’, 1919 ई.) जैसे विद्वानों ने हिन्दी भाषा विवेचन को अपना मुख्य उद्देश्य बनाते हुए हिन्दी भाषा एवं व्याकरण के सम्बन्ध में अपनी कुछ महत्वपूर्ण स्थापनाएँ दी थीं।’³ लेकिन, हिन्दी भाषा में एकरूपता और स्थिरता लाने की दृष्टि से गुरु जी के व्याकरण का विशेष महत्व है। कामताप्रसाद गुरु ने ‘हिन्दी व्याकरण’ नामक अपने व्याकरण ग्रंथ के माध्यम से हिन्दी व्याकरण का एक सुनिश्चित आदर्श उपस्थित करते हुए हिन्दी भाषा के प्रतिमानीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके इस ग्रंथ तक आते-आते हिन्दी व्याकरण के विवेच्य प्रकरणों और उनकी क्रमिकता से सम्बद्ध एक स्थिर ढाँचा बन गया था—वर्ण-विचार, शब्द-विचार (पद- विचार) और वाक्य-विचार का। हिन्दी के व्याकरणिक चिन्तन को एक ठोस और वैज्ञानिक आधार देने के बावजूद वे ‘हिन्दी-व्याकरण’ को अंग्रेजी और संस्कृत भाषा के व्याकरणों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाये। इसीलिए, उनके ‘हिन्दी व्याकरण’ में परिभाषा निर्माण से लेकर नियम-निर्धारण और तथ्य-निरूपण तक में अंग्रेजी और संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है; खासकर अंग्रेजी का। उदाहरणस्वरूप, हिन्दी शब्दों के आठ तरह के विभेद करने के पीछे उनके भीतर अंग्रेजी ग्रैमर का ढाँचा ही कार्य कर रहा था। इसी तरह की कई अन्य सीमाएँ भी उनमें परिलक्षित होती हैं।

गुरु जी के हिन्दी-व्याकरण की इस तरह की कमियों को काफी हद तक दूर करने का कार्य किशोरीदास वाजपेयी (‘ब्रजभाषा का व्याकरण’, 1943 ई.; ‘राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण’, 1949 ई., ‘हिन्दी शब्दानुशासन’, 1958 ई.) ने किया है। भाषा और व्याकरण को सामाजिक सन्दर्भों में देखने के पक्षधर वाजपेयी जी भाषा एवं व्याकरण को विकासशील वस्तु के रूप में देखते हैं। संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश की विचार पद्धति से हटकर, वाजपेयी जी ने किसी भाषा में पाये जाने वाले कुछ आधारभूत शब्दों (मूलधनों) - क्रियापद, अव्यय, विभक्ति, सर्वनाम और संख्यावाचक शब्दों - के आधार पर हिन्दी की स्वतंत्र सत्ता का समर्थन किया है - ‘हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है, वह संस्कृत से अनुप्राणित है, जैसे अन्य भारतीय भाषाएँ; परन्तु वह अपने क्षेत्र में

सार्वभौम सत्ता रखती है।’ सामाजिक सन्दर्भों में भाषा की व्याख्या, जनपदीय भाषाओं के आपसी सम्बन्धों की पड़ताल आदि अनेक दृष्टियों से वाजपेयी जी ने हिन्दी के भाषा और व्याकरण विषयक चिन्तन को अनेक तरह से समृद्ध किया है। दूसरी विशेषता है, उनकी व्याकरण-रचना की रोचक और सरस शैली।

वाजपेयी जी के पश्चात् दुनीचन्द (हिन्दी व्याकरण, 1952 ई.), भोलानाथ तिवारी (‘हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण’, 1958 ई.), आर्यन्द शर्मा (‘ए बेसिक ग्रैमर ऑफ मॉडर्न हिन्दी’, 1958 ई.), यमुना काचरू (‘एन इन्ट्रोडक्शन टू हिन्दी सिन्टैक्स’, 1960 ई., ‘हिन्दी का समसामयिक व्याकरण’, 1975 ई., ‘ऐस्प्रेक्ट्रस ऑफ हिन्दी ग्रैमर’, 1980 ई.), रामचन्द्र वर्मा (‘मानक हिन्दी व्याकरण’, 1961 ई.), देवेन्द्रनाथ शर्मा (‘भाषाविज्ञान की भूमिका’, 1966 ई., आदि विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है।⁴ हिन्दी व्याकरण के ऐतिहासिक पक्ष से सम्बन्धित समुचित एवं प्रामाणिक सामग्रियों के अभाव और उनकी व्याख्या की कमी के चलते वैयाकरणों व भाषाविदों द्वारा प्रायः हिन्दी-व्याकरण की ऐतिहासिक शृंखला का सही से मूल्यांकन न हो सका है। वस्तुतः ऐतिहासिक सन्दर्भों में विचार किए बिना भाषा एवं व्याकरण जैसे विषय की आत्मा को भली-भाँति जाना भी नहीं जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में द्विवेदी जी द्वारा किया गया यह विवेचन हिन्दी व्याकरण को ऐतिहासिक सन्दर्भों में समझने और विवेचित करने के महत्व के साथ उसके लिए उपयोगी दृष्टि और पद्धति से हमें अवगत कराता है।

सन्दर्भ सूची

1. यह भारत का ज्ञात प्रथम भाषा सर्वेक्षण है, जो ग्रियर्सन के नेतृत्व में 1898-1927 ई के मध्य सम्पादित हुआ था।
2. यह भारत का ज्ञात प्रथम भाषा सर्वेक्षण है, जो ग्रियर्सन के नेतृत्व में 1898-1927 ई के मध्य सम्पादित हुआ था।
3. यह भारत का ज्ञात प्रथम भाषा सर्वेक्षण है, जो ग्रियर्सन के नेतृत्व में 1898-1927 ई के मध्य सम्पादित हुआ था।
4. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, संस्करण-1966 ई, हिन्दी व्याकरण-1983 ई

–डॉ. कृपा शंकर
85/12G छोटा बघाड़ा,
जिला प्रयासगराज, उ. प्र.
पिन कोड- 211002

हिन्दी सिनेमा और स्त्री चिंतन

—सचिन पाल सिंह

हिन्दी सिनेमा और स्त्री चिंतन पर चर्चा करने से पहले मैं आप लोगों को फैलैशबैक में ले जाना चाहूँगा। जब दादा साहेब फाल्के भारतीय सिनेमा की पहली फीचर फिल्म ‘राजा हरिश्चन्द्र’ बना रहे थे। यह एक सूक्ष्म फिल्म थी। इसमें उन्हें राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी ‘तारामती’ के रोल के लिए एक स्त्री पात्र की आवश्यकता थी। काफी खोजबीन के बाद भी जब वह इसमें सफल न हो सके, तब मजबूरन् एक अन्ना सालुंके नामक व्यक्ति ने यह भूमिका निभाई थी। यानी भारतीय समाज ने सिनेमा को सहज स्वीकार नहीं किया था। और उस समय स्त्रियों की स्थिति यह थी कि उनकी सारी अभिलाषाएं, आकांक्षाएं, चाहरदीवारी में कैद थीं। वे चाहते हुए भी अपने जीवन के फैसले नहीं ले सकती थीं। बाद में इस सोच में धीरे-धीरे परिवर्तन आना शुरू हुआ। साहित्य और सिनेमा, इन दोनों माध्यमों से पुरुष सत्ता को ललकारते हुए स्त्रियां सामने आने लगीं।

19वीं शताब्दी को नवजागरण का युग माना जाता है। इस समय हमें कई समाज सुधारक आन्दोलन देखने को मिलते हैं जिनमें स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह का विरोध, विधवा विवाह, सती प्रथा का विरोध आदि शामिल थे। साहित्य पर भी इसका प्रभाव देखने को मिलता है। इन विषयों को केन्द्र में रखकर नाटक, उपन्यास, कहानी, आदि लिखे गए। साहित्य के साथ-साथ सिनेमा भी इससे प्रभावित हुआ और स्त्री चिंतन पर आधारित कई फिल्में बनीं। इन फिल्मों में हमें स्त्रियों का एक अलग ही रूप देखने को मिला।

उदाहरण स्वरूप ‘त्रिलोक जेटली’ की फिल्म गोदान को देख सकते हैं। यह मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास पर आधारित है। गोदान की मुख्य पात्र ‘धनिया’ शोषण और अन्याय के खिलाफ मुखर रूप से आवाज़ उठाती है। जब होरी सारे अन्याय चुपचाप सह लेता है। तब वह उसे फटकारती है। इसी में एक और विधवा स्त्री पात्र ‘झुनिया’ होरी के बेटे गोबर से प्रेम करती है और उसके बच्चे की मां बन जाती है, लेकिन गोबर उसेछोड़कर चला जाता है। तब झुनिया उसके घर जाती है और उसके माता-पिता के द्वारा अपनाए जाने के बाद बच्चे को जन्म देती है। दरअसल झुनिया समाज में व्याप्त उस सोच पर प्रहार करती है, जिसमें विधवा विवाह का विरोध किया जाता है। हालांकि फिल्म की कुछ सीमाएं होने के कारण इसमें उपन्यास की कई घटनाओं को शामिल नहीं किया गया। फिर भी उपन्यास की मूल भावना तो दिखती ही है।

स्त्री चिंतन पर आधारित एक और फ़िल्म है ‘आंधी’ जिसे गुलजार ने निर्देशित किया है। यह फ़िल्म कमलेश्वर के उपन्यास ‘काली आंधी’ का फ़िल्मांतरित स्वरूप है। फ़िल्म की नायिका ‘आरती’ एक बड़े राजनेता की इकलौती बेटी है। वो चाहते हैं कि उनकी तरह, उनकी बेटी भी राजनीति में आए। परन्तु आरती उनकी इच्छा के विरुद्ध उस व्यक्ति से शादी करती है जिसे राजनीति से नफरत है।

वह चाहता है कि आरती एक आदर्श पत्नी बनकर घर पर रहे। लेकिन आरती की भी अपनी महत्वाकांक्षाएँ हैं। वह आत्मनिर्भर बनना चाहती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु वह राजनीति में कदम रखती है। वर्षों तक अपने पति से दूर रहने के बाद जब एक दिन उसकी भेंट अपने पति से होती है। तब वह पुनः उससे प्रेम करने लगती है और उससे छुप-छुपकर मिलती है। ऐसे में उसके चरित्र पर सवाल उठने लगते हैं क्योंकि दुनिया के लिए वह अविवाहित है। तब वह बाकायदा एक सभा आयोजित करती है और सभा के सामने जे. के. को अपना पति स्थीकार करते हुए कहती है—“अब मेरे चरित्र के बारे में, मेरी बच्ची के बारे में आप जो कुछ पूछना चाहें, इन्हीं से पूछ लीजिए मेरे पास सबसे बड़ा जबाब यही है। मेरे पति और ये आपके सामने मौजूद हैं।”¹

मनू भण्डारी की कहानी ‘यही सच है’ पर ‘बासु चटर्जी’ ने सन् 1974 में ‘रजनीगन्धा’ नाम से एक फ़िल्म बनाई। यह दीपा नाम की एक ऐसी लड़की की कहानी है जो अपने भाई-भाई के पास दिल्ली में रहकर पीएच.डी. कर रही है। उसका प्रेमी संजय बैंक में नौकरी करता है। दोनों शादी करना चाहते हैं। लेकिन अचानक कहानी में ट्रॉवीस्ट तब आता है, जब वह नौकरी के लिए इन्टरव्यू देने बम्बई जाती है। वहां उसकी मुलाकात उसके भूतपूर्व प्रेमी नवीन से होती है। दोनों एक-दूसरे के करीब आते हैं। दबा हुआ प्रेम फिर से उभरने लगता है। उसे ऐसा लगने लगता है कि संजय ही उसका जीवन साथी है। इस फ़िल्म के माध्यम से स्त्री का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया गया है, जो अपने निर्णय लेने में सक्षम है। लेकिन समाज में व्याप्त लोक-रीति आदि के फलस्वरूप वह पितृसत्ता का विरोध तो करती है, परन्तु उसके अन्दर असमंजस की स्थिति बनी रहती है।

इस पर कुमुद शर्मा लिखती हैं—“पुरुष प्रेम और एक अदद पति उसके जीवन-मरण का प्रश्न बना रहता है। इस सोच के कारण उसकी स्वतंत्रता इस विशिष्ट व्यवस्था की सीमाओं के भीतर ही रह जाती है। ये स्त्रियां पितृसत्ता के

शोषण दुश्चक्र को ध्वस्त करने में असफल रहती हैं।”²

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ‘रजनीगन्धा’ स्त्री मन, प्रेम और उसके चयन की कहानी है जिसमें भले ही उसके अन्दर असमंजस की स्थिति बनी रहती हो, परन्तु उसके निर्णय स्वर्य के होते हैं। वह किसी बाहरी तत्व द्वारा थोपे हुए नहीं होते।

हिन्दी सिनेमा की विकास यात्रा ने 100 वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। इसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो चुका है और स्त्रियों के सामाजिक मूल्यों के साथ-साथ स्त्री चरित्रों में भी परिवर्तन आया है। अब सिनेमा में वह अबला नारी नहीं दिखती जो सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई है और सदैव अपनी परिस्थितियों को रोती रहती है। अब वह आत्मनिर्भर है और हर परिस्थिति का मुकाबला करने में सक्षम है। यहां तक ‘अकीरा’ जैसी फ़िल्मों में तो स्त्री पात्र अकेले ही पूरे सिस्टम से भिड़ जाती है।

एक और उदाहरण 2014 में रिलीज हुई फ़िल्म ‘मर्दनी’ के रूप में सामने आता है। जहां एक महिला पुलिस अफसर अपनी सूझ-बूझ से पेचीदा केस भी सुलझा लेती है। एक अन्य फ़िल्म ‘तनु वेड्स मनु’ में स्त्री के जिस स्वरूप को पर्दे पर उतारा गया है वह तो पुरुषवादी समाज को खुली चुनौती देती हुई दिखाई देती है। वह किसी भी रीति-रिवाज में विश्वास नहीं करती और अपना जीवन, अपने अनुसार जीने में विश्वास करती है। 2012 में विवेक अग्निहोत्री के निर्देशन में बनी फ़िल्म ‘हेट स्टोरी’ एक ऐसी युवती की कहानी है जिसकी आँखों में भविष्य को लेकर कई सपने हैं। फ़िल्म की मुख्य पात्र ‘काव्या कृष्णा’ जीवन में बहुत कामयाब बनना चाहती है। वह एक दिन शहर के प्रख्यात बिजनेसमैन का काला चिट्ठा खोल देती है। यहां तक उसका सफर शानदार रहा है। कंपनी के मालिक का पुत्र सिद्धार्थ धनराज गिल काव्या को उसकी प्रतिभा की प्रशंसा करके मोटी पगार पर अपनी कंपनी में अच्छी नौकरी का ऑफर देता है। काफी असमंजस के बावजूद कामयाब होने की चाहत में वह इस मौके को गंवाना नहीं चाहती और स्थीकार कर लेती है किंतु वह समझ नहीं पाती कि इसके पीछे की वजह क्या है। वास्तव में धनराज गिल उससे अपना बदला लेने के लिए सबकुछ करता है। उसे अपने झूठे प्यार में फंसाकर, बहुमूल्य उपहार देकर उसकी इज्जत के साथ खिलाड़ करता है। काव्या उसके षट्यंत्र से पूर्णता अनभिज्ञ है। वह सोच भी नहीं सकती कि कोई पुरुष एक स्त्री से बदला लेने के लिए इस हद तक जा सकता है।

आज की फ़िल्मों में हमें जो विपरीत परिस्थितियों से

भिडंत और जुझासूपन देखने को मिलता है, उसकी झलक यहां भी दिखती है। वास्तविकता सामने आने पर कुछ समय के लिए काव्या टूट जाती है। वह पुनः संभलती है और धनराज गिल से प्रतिशोध लेने की ठान लेती है। इसके लिए वह गलत साधनों का प्रयोग करने से भी परहेज़ नहीं करती। उसका एक ही लक्ष्य है, धनराज गिल की बर्बादी। इस क्रम में वह उसकी कंपनी के बोर्ड की सदस्यता भी प्राप्त कर लेती है। अंत में उस कंपनी की तमाम योजनाओं को असफल करा देती है। कंपनी के शेयर गिरने लगते हैं। साथ भी चौपट हो जाती है। कंपनी का दिवाला निकल जाता है। काव्य अपने मकसद में सफल हो जाती है। वह पूरी व्यवस्था से लड़ती हुई यहां पहुंचती है। वह एक मर्द की भाँति धनराज गिल से आंख से आंख मिलाकर बात करती है, उससे डरती नहीं। उसका मनोबल कहीं भी डगमगाता नहीं।

हिन्दी सिनेमा के इस वर्तमान दौर पर गीतकार स्वानंद किरकिरे लिखते हैं—“इस समय हिन्दी सिनेमा में एक कमाल का वक्त आया हुआ है। एक निहायत बेबाक पीढ़ी उभरकर आई है। परंपरा से जुड़ी किसी भी चीज को लेकर इनमें किसी भी तरह का डर या खौफ नहीं है और न ही कोई बोझ।”³

दीपा मेहता की फिल्म ‘वाटर’ भी स्त्री विमर्श को लेकर एक महत्वपूर्ण फिल्म है। इसमें बनारस की हिन्दू विधवाओं की दयनीय स्थिति को दिखाया गया है। 1930 में विधवाओं को सामान्य जीवन जीने का हक छोड़कर आश्रमों में जाकर रहना पड़ा और उन्हें पवित्रता की आड़ में जीवन जीने के साधन जुटाने के लिए अनाचार करने पर भी विवश किया गया। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से रहित जीवन किसी भी व्यक्ति को नैतिकता और पाप-पुण्य की अवधारणा से हटाकर किसी भी रास्ते पर चलने के लिए विवश कर देगा। लेकिन प्रश्न यह है कि स्त्रियों के लिए ही यह बंधन क्यों? एक पुरुष विधुर होने पर दूसरे विवाह का अधिकारी और स्त्री के विधवा होने पर उससे जीवन

जीने का अधिकार ही छीन लिया जाए। मानवीय आधार पर यह किसी धर्म में स्वीकार नहीं होना चाहिए, लेकिन प्रत्येक धर्म में विधवा स्त्री को लेकर यही सोच व्याप्त है जिसे बदलने की आवश्यकता है।

इक्कीसवीं सदी के दो दशक गुजर चुके हैं। सिनेमा में अब स्त्रियां पुरुषों से किसी भी स्तर पर पीछे नहीं रह गई हैं। लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या समाज में भी परिवर्तन आया है। हम आज की फिल्मों में स्त्रियों के जिस स्वरूप को देखते हैं, क्या हमारे आसपास रियल लाइफ में भी यह हो रहा है या फिर यह सिर्फ एक रील तक ही सीमित है? अगर हम इसे बीसवीं सदी से कंपेयर करें तो परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देगा। जहां पहले लड़कियों को पढ़ाना इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता था, वहीं अब उनकी शिक्षा के लिए विदेशों तक भेजा जाता है। लड़का-लड़की में जो भेदभाव होता था, उसमें काफी हृद तक गिरावट आई है। लेकिन यह पूरी तरह से समाप्त हो गया है, यह नहीं कहा जा सकता। आज भी लड़ियादी सोचवाले लोग विकास की राहों में रोड़ा बने खड़े हैं। आवश्यकता है इन्हें उखाड़ फेंकने की ओर एक ऐसे समाज का निर्माण करने की जिसमें सभी खुल कर साँस ले सकें।

संदर्भ सूची

1. कमलेश्वर, काली आंधी, पृ. 90
2. संपादक, हरिनारायण, कथादेश, जनवरी 2009, अंक-11, पृ. 93
3. संपादक, महेन्द्र प्रजापति, समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च 2012-13, पृ. 20

–सचिन पात्र सिंह

शोधार्थी
बरेली कालेज, बरेली
सम्बद्ध-महाविद्यालय,
जोतिबा फुले रुहेलखण्ड विवि. बरेली

वर्ष 1980-84 के समय भारत की दक्षिण एशिया के प्रति सांस्कृतिक विदेश नीति

—डॉ. दीपक सिंह

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी 1966-77 तक प्रधानमन्त्री रहीं। तदुपरान्त 1977 में जनता सरकार बनी और 1980 के निर्वाचन में पुनः इन्दिरा गांधी ने जीत हासिल की तथा भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। इस दौरान उनकी दक्षिण एशिया के प्रति विदेश नीति निम्नवत् रही—पाकिस्तान के राष्ट्रपति जियाउल हक ने भारत के सामने 1981 में एक युद्ध-वर्जन प्रस्ताव प्रस्तुत किया। भारत 1947 से ही पाकिस्तान के समक्ष कई युद्ध-वर्जन प्रस्ताव रख चुका था और भारत प्रारम्भ से ही इस बात पर बल देता रहा है कि भारत तथा पाक दोनों को आपसी समस्याएं शान्तिपूर्ण ढंग से आपस में सुलझाना चाहिए, इसी में दोनों का हित है। परन्तु पाकिस्तान बार-बार इस प्रस्ताव को ठुकराता रहा है। भारत जानता था कि पाकिस्तान का यह प्रस्ताव एक कूटनीतिक चाल है, औपचारिक रूप से इस प्रस्ताव को लेकर पाकिस्तान के विदेश मन्त्री आगाशाही 29 जनवरी, 1982 को भारत आये। पहले तो भारत ने आनाकासी की, परन्तु जब भारत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का मन बनाया तो पाया कि इधर तो पाकिस्तान भारत के साथ युद्ध-वर्जन प्रस्ताव रख रहा था, दूसरी ओर भारत के विरुद्ध कश्मीर का मसला शिमला समझौते की भावना के प्रतिकूल मानवाधिकार समिति में उठा रहा था।

पाकिस्तान की दिली इच्छा भारत के साथ शान्ति की नहीं थी। जब तक पाकिस्तान में वास्तविक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना नहीं हो जाती तब तक दोनों देशों के बीच सुधार असम्भव है। 1983 में पाकिस्तान में लोकतन्त्र की बहाली के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह पाक का आन्तरिक मामला था। इन्दिरा गांधी ने इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट की। लेकिन पाकिस्तान ने इस सहानुभूति का गलत अर्थ निकाला। उसका कहना था कि भारत, पाकिस्तान में तोड़-फोड़ को पुनः प्रोत्साहन देना चाहता है और पाक को समाप्त करना चाहता है। जून, 1983 में भारत के विदेश मन्त्री श्री नरसिंहराव पाकिस्तान गए। इस वर्ष भारत-पाक संयुक्त आयोग के प्रस्ताव के कुछ फलितार्थ नजर आ रहे थे। वास्तव में गाँधी को लोकतन्त्र का समर्थन तो करना चाहिए था, परन्तु पाकिस्तान की अखण्डता बनाये रखने का आश्वासन देते हुए। 1984 में भारत में धीरे-धीरे यह सन्देह के बादल छँटते जा रहे थे, और उम्मीद बन चली थी कि शीघ्र ही दोनों देशों

के संयुक्त आयोग की बैठक में युद्ध-वर्जन सन्धि पर कुछ समझौता हो सकेगा।

“भारतीय प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने श्रीलंका सरकार के तमिल विरोधी दृष्टिकोण की आलोचना की, दूसरी ओर तमिल नेताओं ने मद्रास की ओर देखना प्रारम्भ कर दिया था। श्रीमती गांधी ने मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा जिस पर श्रीलंका द्वारा ध्यान न दिया गया जिससे क्षुब्धि इन्दिरा गांधी ने तमिल उग्रवादियों को मदद करने का निर्णय लिया।”¹ जनवरी, 1981 में “दोनों देशों के एक औद्योगिक सहयोग का महत्वपूर्ण समझौता भी हुआ।”²

जून, 1981 में भारत के लोकसभा अध्यक्ष की अध्यक्षता में एक संसदीय दल ने श्रीलंका की यात्रा की। फरवरी, 1982 में श्रीलंका की राजकीय यात्रा पर श्री नीलम संजीव रेड़ी दोनों देशों के बीच मित्रता और सहयोग के विकास का एक महत्वपूर्ण सोपान बने। 1983-84 का वर्ष भारत-श्रीलंका सम्बन्धों की दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता। मार्च, 1983 में दिल्ली में हुए सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में एक बार फिर स्पष्ट हो गया कि श्रीलंका के भारत के साथ कई मसलों पर मतभेद हैं, दोनों अफगानिस्तान, कम्पूचिया और मध्य अमेरिका के प्रश्नों पर सहमत नहीं हैं। श्रीलंका में जब-जब दक्षिण-पंथी सरकार स्थापित हुई तब-तब भारत के साथ श्रीलंका के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं रहे। 1983 में ही श्रीलंका में राष्ट्रपति जयवर्द्धने की सरकार में उग्रवादी सिंहली हावी हो गये तथा तमिल लोगों के साथ भेदभाव किया जाने लगा। “पुलिस सेना सहित सरकारी सेवाओं में सिंहलियों का एकाधिकार हो गया जिसमें कुछ गरम मिजाज के तमिलों ने इस स्थिति का फायदा उठाकर एक पृथकतावादी आन्दोलन चलाया और श्रीलंका में एक पृथक तमिल राज्य की माँग की। श्रीमती गांधी ने इस पृथकतावाद का तो समर्थन नहीं किया लेकिन इस पृथकतावादी आन्दोलन के सहारे तमिलों का जो नरसंहार किया जा रहा था उससे चिन्तित थीं।”³ तमिल समस्या का समाधान करने हेतु भारत शुरू से ही बातचीत का रास्ता अपनाता रहा है। जुलाई, 1983 में जी. पार्थसारथी ने भारतीय प्रधानमन्त्री के विशेष दूत के रूप में कोलम्बों में बातचीत की। श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने की जून, 1984 में दिल्ली में प्रधानमन्त्री के साथ शिखर वार्ताएं आयोजित हुईं। भूटान की राजधानी थिम्फू में श्रीलंका की समस्या के हल के लिए 8, जुलाई से तथा पुनः 12 अगस्त, 1984 से वार्ताएं, हुईं, परन्तु कोई हल नहीं निकला। श्रीलंका की नीति गांधी के काल में मुख्यतः दो तथ्यों पर आधारित थी। प्रथम, श्रीलंका को बाह्य शक्तियों के प्रभाव में जाने से रोकना, द्वितीय श्रीलंका

में चल रहे अलगाववादी आन्दोलन के प्रभाव में तमिलनाडु को जाने से रोकना।”⁴ अप्रैल, 1980 में बांग्लादेश के राष्ट्रपति भारत आए, एक समान और संयुक्त परम्परा की पृष्ठभूमि में दोनों देशों ने अपने सम्बन्धों को मजबूत किया। अगस्त, 1980 में विदेशमन्त्री श्री पी.वी. नरसिंहराव की बांग्लादेश यात्रा से कुछ प्रगति हुई। सितम्बर, 1981 में बांग्लादेश के विदेशमन्त्री भी भारत आए। दिसम्बर, 1981 में दोनों देशों के बीच एक तकनीकी सहयोग पर हस्ताक्षर हुए तथा फरक्का विवाद पर पुनः मतभेद उभरे, दोनों देशों के बीच थल और समुद्री सीमा भी विवादास्पद थी। थल सीमा को पारकर प्रति वर्ष हजारों बंगाली भारत आ जाते थे। भारत की असम समस्या इसी घुसपैठ की देन है। 1980 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि भूसीमा का अंकन किया जाएगा तथा नाजुक स्थलों पर बाड़ या दीवाल बनायी जायेगी। बांग्लादेश ने बाड़ का विरोध किया। समुद्री सीमा के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका और बीच में नवमूर का विवाद उत्पन्न हो गया। नवमूर द्वीप का विवाद 1981 में उभरा, यह बंगाल की खाड़ी में 12 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल का द्वीप है, यह भारत की सीमा से अधिक नजदीक है इसका पता 1974 में चला। बांग्लादेश ने अपना अधिकार जताया किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार यह भारत का है। इस विवाद को लेकर उग्र आन्दोलन होने वाला ही था कि बांग्लादेश में क्रांति हो गई। यह उथल-पुथल 1982 तक चलती रही।

अप्रैल, 1982 में सेनापति जनरल इरशाद ने सत्ता संभाल ली। जनरल इरशाद ने अक्टूबर, 1982 में भारत की यात्रा की और एक ‘स्मरण पत्र’ पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार 1977 के फरक्का समझौते को रद्द कर दिया और संयुक्त नदी आयोग को अगले 18 महीने में गंगा जल के बहाव पर अध्ययन करने को कहा गया। दोनों देशों के बीच एक अन्य समझौते के अन्तर्गत भारत ने बांग्लादेश को भारत के कूच विहारी में स्थित दाह ग्राम और आंगरा पोटा के दो अन्तः क्षेत्रों को बांग्लादेश की भूमि से जोड़ने के लिए स्थायी पट्टे पर एक तीन बीघा गलियारा प्रदान कर दिया, यह 178×85 मीटर है। इस गलियारे पर भारतीय सम्प्रभुता रहेगी परन्तु भारत बांग्लादेश से जो एक टका किराये के रूप में लेता था उसे समाप्त कर दिया। 30 जुलाई, 1983 को दोनों में तीस्ता जल समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत और बांग्लादेश सूखे मौसम के दौरान तीस्ता नदी के पानी को तदर्थ आधार पर बैटवारे को सहमत हो गये। इस समझौते के अन्तर्गत भारत को 39 प्रतिशत पानी मिलेगा तथा बांग्लादेश को 36 प्रतिशत तथा

शेष 25 प्रतिशत पानी किसी को आवंटित नहीं किया जाएगा। मई, 1982 में भारतीय विदेशमन्त्री ने बांगलादेश की यात्रा की जिसमें व्यापारिक सम्बन्धों को विस्तृत करने के लिए एक संयुक्त आयोग गठन करने का निश्चय किया गया। मार्च, 1983 में दिल्ली में हुए 'नाम' सम्मेलन में भाग लेने जनरल इरशाद भारत आए। 1984 में भारत तथा बांगलादेश के बीच सीमा पर बाड़ लगाने के प्रश्न को लेकर गहरे मतभेद उत्पन्न हो गए। बाड़ लगाने पर बांगलादेश ने आपत्ति उठाई। गृहमन्त्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने संसद में घोषित किया कि बाड़ लगाने का काम जारी रहेगा। गंगा नदी के पानी के बैंटवारे को लेकर 18 अक्टूबर, 1984 को नसाऊ (महामा) में एक समझौता हुआ, यह समझौता तीन वर्ष तक लागू रहेगा। इसके साथ ही इस प्रश्न पर पिछले एक वर्ष से चला आ रहा विवाद समाप्त हो गया।

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी नेपाल के साथ अच्छे पड़ोसियों जैसे सम्बन्ध कायम करने की दिशा में सजग रहीं। नवम्बर, 1980 में भारत के विदेशमन्त्री श्री नरसिंहराव ने नेपाल की यात्रा की तथा विभिन्न मुद्राओं पर बातचीत हुई। दिसम्बर, 1980 में राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने नेपाल की राजकीय यात्रा की। भारत ने नेपाल की जल विद्युत परियोजना के पूरा करने का अपना वचन निभाया। 1983 को देवीघाट जल विद्युत परियोजना के शुरू हो जाने से नेपाल के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के मार्ग में भारत की ही सहायता की भूमिका थी। 1982 को एक समझौते द्वारा भारत ने नेपाल को कई व्यापारिक तथा पारगमन सुविधाएं दीं। नेपाल के व्यापारियों से तिगुने किराये की रीति को भी छोड़ने का निर्णय लिया। इन्दिरा गाँधी ने नेपाल को हर सम्भव मदद दी तथा भविष्य में मदद का भरोसा दिया तथा दोनों के बीच काफी समय से चले आ रहे विवादों को उदारतापूर्वक हल किया।

जून, 1981 में विदेशमन्त्री श्री नरसिंहराव ने थिम्फू की यात्रा की। प्रारम्भ से ही भारत भूटान को आर्थिक सहायता दे रहा था तथा 150 करोड़ की और सहायता दिया। भूटान की पांचवी योजना के लिए 139 करोड़ रुपए की पेशकश की। चुक्का में बड़ी पनविजली परियोजना का निर्माण किया। पैनदन में एक सीमेंट फैक्ट्री भूटान को उपहार में दिया। राष्ट्रीय विमान सेवा स्थापित करने का निर्णय लिया गया जो पारों को कलकत्ता से जोड़ेगी। भूटान में रहने वाले 1500 तिब्बती शरणार्थियों को भारत अपने यहाँ रखने के लिए राजी हुआ। "भूटान की राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा होने देने के साथ सम्मान, विश्वास

और मार्गदर्शक रूप में भूटान की निगाहों में अपने को प्रतिष्ठित किये रखना ही भारतीय विदेश नीति के लिए एक मुख्य चुनौती है।"⁴

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने अपने दूसरे कार्यकाल (1980-84) में अपने पड़ोसियों के साथ शेष विश्व के साथ-साथ सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने की पुरजोर कोशिश की। विभिन्न देशों की यात्राओं द्वारा स्वयं तथा विदेश मन्त्री द्वारा अपने पड़ोसियों को विभिन्न प्रकार की आर्थिक, तकनीकी, सामरिक, अवसंरचनात्मक सुविधाएं प्रदान कर दिल जीतने का भरसक प्रयास किया जिसमें सफलता भी प्राप्त की। चाहे पाकिस्तान हो या नेपाल, भूटान हो या बांगलादेश, श्रीलंका हो या मालद्वीप अपस में संवाद के माध्यम से सम्बन्धों को मजबूती दी जिसका परिणाम हुआ कि सभी पड़ोसी भारत के साथ सहयोगपूर्ण व्यवहार करने लगे। "बातचीत के द्वारा भारत एवं श्रीलंका इस बात पर सहमत हुए कि दोनों अन्तःविरोधों को सुलझाएंगे।"⁵ 'नेपाल के साथ पहले से सशक्त स्थिति ने सम्बन्धों में इच्छित परिवर्तन लाने में सहायता प्रदान की।'⁶ प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने अपनी विदेश नीति के प्रति नीति को सहयोगपूर्ण के साथ-साथ यथार्थपरक भी बनाया जिससे भारत की गौरव तथा अस्मिता में निरन्तर वृद्धि हो जिससे पड़ोसी भारत के प्रति सहयोगात्मक रवैया अपनाएं। कुल मिलाकर इन्दिरा गाँधी का द्वितीय कार्यकाल (1980-84) पड़ोसियों के लिए सहयोगपूर्ण, लाभपूर्ण, शांतिपूर्ण कहा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- के.पी. सुनील, व्हाट इज द एल.टी.टी.ई. अप टू द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, जून, 22-28, 1991, पृ. 28
- रिपोर्ट 1980-81: मिनिस्ट्री ऑफ एक्स्टरनल एफेयर्स गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, पब्लिक डिवीजन
- डॉ. एन.के श्रीवास्तव, भारत और विश्व राजनीति, साहित्य भवन, आगरा, 1981, पृ. 229-230
- हरिश्कर व्यास, सिक्किम के डर से भटकता भूटान, जनसत्ता, 25 अप्रैल, 1984
- ए.के.सेन, इण्टरनेशनल रिलेशन्स, एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1993, पृ. 616
- यू.आर.घई, भारतीय विदेश नीति, न्यू एकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी जालन्धर, 2005, पृ. 438

-डॉ. दीपक सिंह

असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
चरखारी (महोबा)

कथाकार संजीव कृत उपन्यास ‘धार’ में आदिवासी जीवन : एक दृष्टि

—अनुपमा वर्मा
—डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नई भावभूमि को लेकर उभरे कथाकारों में संजीव अपनी अलग एवं महत्वपूर्ण पहचान रखते हैं। संजीव भीड़ से अलग अपनी राह चलने वाले एक परिश्रमी, प्रतिबद्ध एवं बेचैन कथाकार हैं। समकालीन जीवन के यथार्थ को गहराई से रेखांकित करने वाले संजीव ने ‘अपराध’, ‘दुनिया की सबसे हसीन औरत, ‘आरोहण’, ‘ट्रैफिक जाम’, ‘हिमरेखा’, ‘ऑपरेशन जोनाकी’, ‘सागर सीमांत’, ‘धावक’, ‘पूत-पूत! पूत पूत, और ‘ब्लैक होल’ जैसी दर्जनों चर्चित कथाएँ लिखकर हिंदी कहानी में अपनी अलग पहचान बनाई है। कहानीकार के रूप में संजीव की जितनी चर्चा हुई, हो रही है उतनी उनके उपन्यास-लेखन की नहीं। मूलतः उन्होंने उपन्यास विधा में भी अछूते संदर्भों की कलात्मक प्रस्तुति की है। ‘संजीव साहित्य के क्षेत्र में पात्रों और परिस्थितियों, काल और उसकी कारक शक्तियों के द्वन्द्व से गुजरते हुए अपने लेखन का सफर तय करते हैं और धीरे-धीरे स्वाध्याय, अनुभव और संवेदना से युक्त सशक्त अभिव्यक्ति करके मनुष्य जीवन का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यथार्थ उजागर करने की क्षमता रखते हैं।’¹

संजीव के उपन्यास मूलतः पिछड़े, उपेक्षित, वर्जित क्षेत्र की दर्दनाक व्यथा को वाणी देते हैं। उनके उपन्यास सामीण-आंचलिक, मेहनतकश, उपेक्षित तथा शोषित वर्ग की कहानी प्रस्तुत करते हैं। एक तरह से उनके उपन्यास प्रेमचंद, रेणु की विरासत को वर्तमान संदर्भों में निष्ठा से आगे बढ़ाते हैं। उनके उपन्यास युगीन परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करते हैं। उनके अंदर का लोकधर्मी कलाकार त्रासद जीवन के पीछे स्थिति कुटिल साजिशों की पोल खोलकर बुनियादी तथ्यों की उद्घाटन करता है। फिर चाहे पिछड़ा अंचल हो, सर्कस की दुनिया हो, कोयलांचल हो, जनजातीय जीवन हो या लोक कलाकार की जीवनी। संजीव के अब तक प्रकाशित ‘किसनगढ़ के अहेरी’ (1984), ‘सर्कस’ (1984), ‘सावधान! नीचे आग है’ (1986), ‘धार’ (1990), ‘पांव तले की दूब’ (1995), ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ (2000) और ‘सूत्रधार’ (2002) इन उपन्यासों के आधार पर इसे परखा जा सकता है। संजीव के उपन्यासों का कथ्य मौलिक ही नहीं

वरन् अनेक संभावनाएँ लेकर अवतरित होता है। वे कथ्य में नवीनता ही नहीं दृঁढ़ते हैं बल्कि उसकी व्यापक धरातल पर अभिव्यक्ति करते हैं। उनके उपन्यासों का कथ्य पिछड़े अंचलों की त्रासदी, जनजातीय अभिशप्त जीवन, औद्योगीकरण के तहत होने वाला विस्थापन, दलित चेतना, लोकजीवन और लोकसंस्कृति से जुड़े विभिन्न संदर्भों को उजागर करता है। संजीव के उपन्यासों का कथ्य मौलिक और अछूते संदर्भों को उजागर करता है। वे किसी व्यक्ति की कहानी कहने की अपेक्षा किसी अंचल, संदर्भ या समस्या को व्यापक धरातल पर व्याख्यायित करते हैं। उनके उपन्यासों का कथ्य चुनौतीपूर्ण राहों से गुजरता है। उन्होंने कोयला अंचल, जनजातीय जीवन, लोककला और लोकसंस्कृति को अपने उपन्यासों का आधार बनाया है। उनके उपन्यासों का कथ्य न केवल मौलिक है अपितु वे उसका व्यापक धरातल पर अन्वेषण करते हैं। उनके उपन्यास परिवेश, जनजातीय जीवन, व्यवस्थागत विसंगतियाँ, बहुमुखी शोषण, जनधर्मी चेतना, लोकसंस्कृति आदि संदर्भों का बारीकी से अंकन करते हैं।

‘धार’ का कथ्य विचार के माध्यम से समाधान की ओर अग्रेषित होता है। इसमें कोयला अंचल के आदिवासियों की रचनात्मक संघर्ष गाथा को बुना है। उपन्यास के केंद्र में संथाल परगना का बाँसगड़ा अंचल और संथाल आदिवासी हैं। इसके माध्यम से उपन्यासकार पूँजीवादी व्यवस्था, शोषण तंत्र, माफियागिरों का आतंक, राष्ट्रीय संपत्ति की लूट, मेहनतकश आदिवासियों की अभिशप्त जिंदगी और व्यवस्थागत विसंगतियों को उजागर करता है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध में कोयला अंचल का आदिवासी जीवन और पूँजीपति वर्ग द्वारा किया जाने वाला अमानुष शोषण चित्रित हुआ है तो उत्तरार्द्ध में नई चेतना और संघर्ष की रचनात्मक पहल मिलती है। कथा के केंद्र में आदिवासी नारी मैना है जो अशिक्षित आदिवासी होने के बावजूद सजग और विद्रोही है। आदिवासी कड़ी मेहनत करते हैं लेकिन उन्हें न उचित मजदूरी मिलती है, न वे दो जून की रोटी जुटा पाते हैं। इसी कारण मैना शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है, ‘‘हमारा अपना कोई पता-ठिकाना नई, कार्य नई, इस खातिर की हम अपना किस्मत उनके पास बंधक रख छोरा है? कोयला के खजाने पे हम रास्ता, फिर भी कंगाल? कब तक चलेगा ऐसा मालिक?’’² इससे मुक्ति हेतु मैना, अविनाश शर्मा तथा आदिवासी सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में जनखदान का निर्माण करते हैं। जनखदान आशातीत प्रगति करती है लेकिन व्यवस्था उसे खारिज करती है। परिस्थितियों के तहत उत्पन्न नई चेतना से विकसित यह कृति एक अलग

ऊँचाई को स्पर्श करती है। उपन्यास में संथाल आदिवासी जीवन के संघर्ष और शोषण को प्रधानता मिली है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध में आदिवासी जीवन और पूँजीपति वर्ग द्वारा किया जाने वाला अमानुष शोषण चित्रित हुआ है तो उत्तरार्द्ध में नई चेतना, अधिकारबोध और संघर्ष की रचनात्मक पहल का अंकन हुआ है। कथा के केंद्र में आदिवासी नारी मैना है। उसी के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी जीवन, संघर्ष और चेतना का विस्तार होता है। संथाल परगना की कोयला खदानों आदिवासियों के श्रम पर खड़ी है। वे खदानों में कड़ी मेहनत कर कोयला उत्पादन करते हैं। लेकिन पूँजीपति महेंद्र बाबू, ठेकेदार, माफिया, पुलिस, अधिकारी और सदोष व्यवस्था के कारण उनका जीवन शोषित, आतंकित, अभावग्रस्त और असुरक्षित मिलता है। इस पर मैना प्रश्न उठाती है, ‘‘हमारा अपना कोई पता-ठिकाना नई-कार्य-नई-इस खातिर की हम अपना किस्मत उनके पास बंध रख छोरा है? कोइला के खजाने पे हम रास्ता, फिर भी कंगाल? कब तक चलेगा इसा माफिक?’’³ इसी के तहत आदिवासियों में एक चेतना उत्पन्न होती है। मैना और अविनाश शर्मा शोषण के व्यूह को तोड़ने के लिए आदिवासियों की सहायता से सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में जनखदान का निर्माण करते हैं। निष्ठा, लगन और सामूहिकता से चंद दिनों में ही जनखदान आशातीत प्रगति करती है। उसे सहयोग मात्र नहीं मिलता। उसे कठिन अवरोधों में गुजरना पड़ता है। पूँजीपतियों की कुटिलता, भ्रष्ट अधिकारी एवं पुलिस, माफिया का आतंक और व्यवस्थागत विसंगतियों के कारण विस्थापन से गुजरते संथाल आदिवासियों के जीवन को उपन्यासकार ने विभिन्न कोणों से आँका है। ‘‘धार’’ का कथानक इकहरा, संगठित और सशक्त है। कथा का विकास स्वाभाविक गति से चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है।

‘‘धार’’ की चरित्र सृष्टि उद्देश्यपूर्ण और संतुलित है। परिवेश के अनुरूप पात्रों का सृजन और विकास मिलता है। आदिवासी मैना इस कृति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उपन्यास के केंद्र में मैना ही है। अंचल की माटी से उपजी इस नारी में अकाट्य साहस, स्वाभिमान, सेवाभाव, संघर्षशीलता, विद्रोह जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। अनुभव से गढ़ी मैना क्रांतिकारी क्रियाशील बनकर लेखकीय विचारों को नए आयाम देती है। संथालों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए वह आजीवन जूझती है। वह एक साथ पति, पिता, विरादरी, गुड़, पूँजीपति और व्यवस्था से लड़ती है। संथालों की मिट्टी अस्मिता का प्रश्न उठाकर वह वर्ग-संघर्ष की भूमि तैयार करती है। उसके स्वाभिमान को तोड़ने के अनेक प्रयास किए जाते हैं लेकिन वह हारकर भी

टूटती नहीं। हारी हुई मानसिकता से वह तुरंत बाहर आकर संघर्ष को तैयार मिलती है। इसी कारण उसके संदर्भ में बुजुर्ग हैंदर मामा कहते हैं, “वो आग है, आग जिसे छूती है, भस्म कर देती है”⁴ उपन्यास में अविनाश शर्मा का स्थान महत्वपूर्ण है। वह जनमोर्चा का प्रतिनिधित्व करता है। शर्मा लेखकीय विचारों का संवाहक, सैद्धांतिक पात्र है। वह आदिवासियों के लिए समर्पित व्यक्तित्व है। उनके खातिर वह जेल की कठोर यंत्रणाएँ तक सहता है। वह आदिवासियों को मौजूदा स्थिति से उबारने हेतु प्रयास करता है। वह संघर्ष को सही दिशा और वैचारिक आयाम प्रदान करता है। पूंजीपति महेंद्र बाबू जनखदान की उन्नति का मूल शर्मा की मानकर उसे धमकाते हैं। इस पर शर्मा उन्हें चेतावनी देते हुए कहता है, “‘व्यक्तिगत स्वार्थ के खिलाफ सामूहिक स्वार्थ की लड़ाई है यह।”⁵ शर्मा की वैचारिकता और मैना की क्रियाशीलता से चेतना और संघर्ष विकसित हुआ है। इस संघर्ष यात्रा में मोडल, माझी, टुड़, मन्डियान, सलमा आदि आदिवासी पात्र भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परेमा, हैंदर मामा और शंकर असहाय और हारे हुए व्यक्ति हैं। फोकल, टेंगर और मंगर नपुंसक मानसिकता के दास हैं। अपनी अस्मिता को भूलकर वे पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतलियाँ बनते हैं। महेंद्र बाबू, पंचानन ओझा, सीताराम पंडित, बबन दलाल, माफिया, अधिकारी और पुलिस शोषक चरित्र हैं। इन पात्रों में स्वार्थ, रुग्ण मानसिकता और राष्ट्रीय हित में बाधक तत्व मिलते हैं। ये कोयला खदानों से काफी लूट करते हैं। कुल मिलाकर ‘धार’ की चरित्र सृष्टि सोडेश्य और सफल है। परिवेश के अनुरूप पात्रों का चारित्रिक विकास मिलता है। मैना के अंतरबाह्य वित्रण में लेखकीय कुशलता झलकती है। पात्रों का विकास स्वाभाविक हुआ है। लेखकीय मान्यताएँ आरोपित नहीं लगती।

कोयला खदान की सही तस्वीर और आदिवासियों का जीवन इस कृति के उल्लेखनीय संदर्भ है। कोयला खदानों से सटकर बसे बांसगडा अंचल का मूर्त रूप उपन्यासकार खड़ा करता है। इस क्षेत्र में अक्सर काले साए मंडराते हैं। कोयला खदान और कारखानों के परिणामस्वरूप यहाँ का प्राकृतिक परिवेश प्रदूषित मिलता है। धूप और धुएँ में जलती बस्तियाँ, अधनंगे बच्चे, दमघोंट वातावरण, खाँसते लोग, मरियल कुत्ते की तरह पेड़ और गंदगी का यहाँ साम्राज्य है। “न दिन है, न रात, दोनों ही दहलीज पर संथाल परगना का पूरा नंगा इलाका धायल गुरते सुअर की तरह पड़ा है। नंगी-अधनंगी पहाड़ियाँ जहाँ-तहाँ खड़े शाल, महुए, खजूर और ताड़ के पेड़, ढेर की झाड़ियाँ, बलुई बंजर

धरती, सूखती नदियाँ, सूखते हुए तालाब, भयंकर पोखरियाँ खादें, जहाँ-जहाँ सोये पड़े मुर्दे से लोग।”⁶ यह वर्णन कोयला खदानों का परिवेश मूर्त करता है। अंतर-बाह्य रुग्णता के परिणामस्वरूप आदिवासियों को अत्यंत निम्न कोटि का जीवन जीना पड़ता है। इसाई धर्म प्रचारक उनकी गरीबी का लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाते हैं। परिणामस्वरूप उनके धार्मिक जीवन में हलचल मचती है। उपन्यास में बधना, सरहूल, करमा, लोकगीत और लोकनृत्य के धुंधले चित्र मिलते हैं। अभाव और शोषण ने मानो लोकसंस्कृति का रस चूसकर उसे अपाहिज बनाया है। इसी कारण पर्व-त्योहारों में उल्लास और जोश नहीं मिलता। लेखक ने लोकसंस्कृति पर हो रहे हमले और उसके अस्तित्व पर चिंता प्रकट की है।

कोयला अंचल की संथाल जाति बाह्य शक्तियों के शोषण से अत्यधिक त्रस्त मिलती है। कड़ी मेहनत के बावजूद उन्हें अभावग्रस्त फेहाल जीवन जीना पड़ता है। उन्हें उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता। उनके श्रम पर पूंजीपति, ठेकेदार, माफिया, दलाल, कारखानादार और अधिकारी ही संपन्न होते हैं। ढेर सारी कोयला खदानों और छोटे से लेकर चित्तरंजन जैसे बड़े कारखानों के बावजूद उनका जीवन मात्र असुरक्षित और अभावग्रस्त मिलता है। “ठेकेदार अब भी ढोर-डांगरों की तरह उन्हें काम कराने हाँककर ले जाते हैं और चूसकर छोड़ देते हैं, माफिया अब भी उनसे अमानुषिक श्रम कराते हैं। और जरा-जरा-सी बात पर पीटते हैं।”⁷ अवैध कोयला खदानों में जमीन धूँसने पर अनेक आदिवासी जिंदा दफनाए जाते हैं। उनकी कोई खबर तक नहीं ली जाती। पुलिस और अधिकारी आदिवासियों को न्याय देना तो दूर बल्कि उनसे ही रिश्वत लेते हैं। सुब्बाराव, सोरे जैसे निरापराध लोग माफिया और पुलिस की गोलियों के शिकार बनते हैं। इसी कारण आदिवासी आतंकित होकर सोचते हैं, “अब बाँसगड़ा में रहने का मतलब है या तो पुलिस का शिकार बनना या माफिया का।”⁸ पुलिस, माफिया और पूंजीपतियों के शोषण का शिकार यह जाति विस्थापन से आक्रांत मिलती है। इसी कारण एक बार वे बाँसगड़ा छोड़कर बेरमो चले जाते हैं। मैना की माँ और मैना महेंद्र बाबू के शोषण का विरोध करती है तो उन्हें अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। मैना की माँ को ओझा की सहायता से डाइन घोषित कर गाँव से बाहर निकाला जाता है तो मैना को जेल में भेजा जाता है। मैना के पिता टेंगर और पति फोकल को अपने पक्ष में कर महेंद्र बाबू उसे असहाय करते हैं। आदिवासियों के संघर्ष को कुचलने के लिए नोट और चोट का आधार लिया जाता

है। पुलिस और अधिकारियों को मुँहमाँगी राशि मिलने से सभी मिलकर यह निर्णय लेते हैं कि जनखदान से जीवनयापन के लिए अनिवार्य कोयला लेकर बाकी कोयला राष्ट्र को सौंपा जाए। कुछ ही दिनों में कोयले का पहाड़ सा ढेर सचित होता है। इस संदर्भ में शर्मा अनेक बार सरकार को लिखते हैं लेकिन कोई खबर नहीं लेता। सरकारी अधिकारी आते भी हैं तो खानापूर्ति की मानसिकता लेकर। कोयला खदान की स्थिति, रजिस्टर, फाईल आदि का मुआइना किया जाता है। शर्मा, खदान, अस्पताल, बच्चागृह, पाठशाला, कैटीन, खदान की स्थिति का उद्देश्य के बारे में विस्तृत जानकारी देते हैं। अंत में कोयले के संचित ढेर को ले जाने की प्रार्थना करते हैं। अधिकारी सभी काम सुचारू ढंग से पाकर गुस्सा होते हैं। “काम का ढंग, रख-रखाव, श्रमिकों का मनोबल सारा कुछ देखकर वे निराश हुए, उन्हें खोट चाहिए थी, मगर वह मिल नहीं रही थी”⁹ वे विजिटर्स बुक में नाम लिखने तक को तैयार नहीं होते। मजदूरों के दबाव पर विवश होकर लिखना पड़ता है तो कमियों की ही चर्चा की जाती है। अंततः जनखदान के स्थान पर पूँजीपति महेंदर बाबू की अवैध कोयला खदान का राष्ट्रीयकरण होता है। उपन्यास में राष्ट्रीयकरण के नाम पर चलने वाली लूट, राष्ट्रीय संपत्ति को चूसने वाले पूँजीपति-दलाल और भ्रष्ट अधिकारियों के काते कारनामों का यथार्थ अंकन हुआ है। उन्हें यकीन था कि एक-न-एक दिन सरकार उनके श्रम और निष्ठा को मान्य करेगी लेकिन अंततः उन्हें अलग ही अनुभव होता है। “जिसे गर्भ मानकर वे सपने संजोते आए थे, वह एक आधात से गर्भपात में बदल गया। रह-रहकर पछतावे की पीर उन्हें टीस रही थी। वे जितना ही सोचते, पछतावे, अपमान और आक्रोश में छटपटाने लगते”¹⁰ व्यवस्था द्वारा उन्हें सहयोग तो दूर बल्कि बुलडोजर से जनखदान को ही मिटाया जाता है।

उपन्यास में पूँजीपति और आदिवासी श्रमिकों के संघर्ष का विस्तृत अंकन हुआ है। यह संघर्ष स्वाभाविक रूप में विकसित मिलता है। इस संघर्ष का संचालन मैना और शर्मा द्वारा होता है। शर्मा संघर्ष का विचारात्मक तो मैना क्रियात्मक पक्ष है। मैना पूँजीपति महेंदर बाबू की कुटिलता और शोषण से अपनी बिरादरी को सजग करती है। इसी के तहत धीरे-धीरे आदिवासियों में अधिकारबोध उत्पन्न होता है। आदिवासियों की शोषण से मुक्ति हेतु जनखदान का निर्माण किया जाता है। जनखदान का निर्माण और प्रगति पूँजीपति महेंदर बाबू के लिए चुनौती बनती है। वे पुलिस और अधिकारियों की सहायता से इस

संगठन को तोड़ने का प्रयास करते हैं। लेकिन शर्मा और मैना हार नहीं मानते। शर्मा आदिवासियों की मोर्चाबंदी करते हुए उन्हें आक्रामक होने की सलाह देते हैं, “चारों तरफ भेड़िए गुरा रहे हैं। वे हमें खा जाने पर आमादा हैं लेकिन क्या हम उनके नापाक इरादे पूरे होने देंगे? नहीं हर्गिज नहीं। इसलिए हमें धार की जरूरत है, सतत सान से ताजा होती धार। चाहे हमें कोई भी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े”¹¹ इसी के तहत आदिवासी जनखदान की रक्षा हेतु पुलिस, अधिकारी, पूँजीपति तथा व्यवसायी से संघर्ष करते हैं। लेकिन सदोष व्यवस्था, पूँजीपतियों की कुटिलता और भ्रष्ट अधिकारियों के कारण निर्माण कार्य और चेतना को कुचल दिया जाता है। अनेक आदिवासी तथा मैना बुलडोजर के नीचे शहीद हो जाते हैं। लेकिन मैना की मृत्यु चेतना और संघर्ष की समाप्ति नहीं है। “वह मरी नहीं, मर सकती ही नहीं, जहाँ-जहाँ अंधेरे में जुगनू आपको चमकता दिखलाई दे, ईमानदारी से पुकारिये, ‘मैना!’ कान साथे रहिए-बहुत गहराई से कोई जवाब आएगा, ‘हूँझ’!”¹² उपन्यास में संथालों की परम्परागत जीवन विधियां, पर्व-उत्सव, लोक-कथाएं, खान-पान आदि का आंशिक जिक्र कहीं-कहीं प्रसंगानुरूप भी आता है।¹³

संदर्भ सूची

1. संजीव, मैं क्यों लिखता हूं, पाखी, सितंबर, 2009, अंक-12, पृ. 97
2. ‘धार’, संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1990, पृ. 57
3. वही, पृ. 57, 4. वही, पृ. 180, 5. वही, पृ. 153
6. वही, पृ. 41, 7. वही, पृ. 129, 8. वही, पृ. 127
9. वही, 155, 10. वही, पृ. 201, 11. वही, पृ. 165
12. वही, पृ. 209,
13. हिन्दी उपन्यास और जनजातीय जीवन - शिवदत्ता वावळकर, सामयिक प्रकाशन दरियांगंज, दिल्ली, संस्करण-2018, पृ. 138

-अनुपमा वर्मा
शोधार्थी (हिन्दी),
डॉ. राम मनोहर लोहिया अवधि विश्वविद्यालय,
अयोध्या

-डॉ. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह
शोध निदेशक, असि. प्रोफेसर (हिन्दी विभाग),
रमाबाई पी.जी. कॉलेज अकबरपुर, अम्बेडकर नगर

बुनकरों की निर्धनता की समस्या एवं आर्थिक सुधार में स्वयं सहायता समूहों का योगदान

—शील कुमार
—डॉ. आदित्य कृष्ण सिंह चौहान

गरीबी की हकीकत “निर्धनता एक समाजिक एवं आर्थिक समस्या है इसकी उत्पत्ति और स्वरूप बड़ा जटिल है विश्व के सम्मुख गरीबी की समस्या एक सामाजिक नैतिक और वौद्धिक चुनौती है।

निर्धनता और अमीरी तुलनात्मक शब्द है। साधारण भाषा में निर्धनता का अर्थ आर्थिक असमानता, आर्थिक पराश्रितता और आर्थिक अकुशलता से लिया जाता है। निर्धनता की परिभाषा करते हुए गिलिन लिखते हैं, “निर्धनता की परिभाषा वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति या तो अपर्याप्त आय अथवा ऊँचा नहीं रख पाता कि उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता बनी रह सके और उसको तथा उसके प्राकृतिक आश्रितों को अपने समाज के स्तरों के अनुसार उपयोगी ढंग से कार्य करने के योग्य बनाये रख सके।”

निर्धनता अथवा गरीबी एक सर्वव्यापी समस्या है। भारत में ऐसे कई परिवार हैं जो औसत दर्जे का जीवन व्यतीत नहीं कर पाते हैं। उनके पास पर्याप्त भोजन एवं वस्त्रों का अभाव है। 2010-11 एवं 2020-21 के दौरान गरीबी रेखा से नीचे के लोगों का प्रतिशत लगभग 22 आ गया। 2010 के दशक में 1 प्रतिशत की गिरावट की रिपोर्ट दर्ज की गयी और यह 2020-21 में 22 के मुकाबले 2021-22 में 21 प्रतिशत रह गई। भारत में आज भी 27 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं।

भारत एक विशाल देश है जिसमें 70 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में बसते हैं। प्राचीन समय में भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था। इसका मुख्य कारण ग्रामीण अंचलों में बसे लोग कृषि के साथ ही उद्योग में भी लगे रहते हैं। भारत एक धनी देश है किन्तु यहाँ के अधिकतर निवासी निर्धन हैं। भारत में ‘प्रचुर प्राकृतिक साधन होने के बावजूद उनका

दोहन होने के कारण भारत वासियों को दरिद्रता का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है।

गृह उद्योग में हथकरघा के घटक गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे हैं। हथकरघा उद्योग में निम्न घटक हैं।

1. कच्चा माल
2. हथकरघा कर्मी
3. हथकरघा
4. चरखा
5. बाजार

1. कच्चा माल : ज्ञाँसी जिले में सूत कपास व अन्य धारों का उत्पादन नहीं किया जाता है इसलिये कच्चा माल बाहर से मंगाना पड़ता है।

2. हथकरघा : हथकरघा उद्योग में हथकरघा परिवार के सभी लोग हथकरघा से सम्बन्धित कार्य में संलग्न रहते फिर भी हथकरघा कर्मी अपने परिवार का भरण पोषण नहीं कर पाते हैं।

3. हथकरघा : हथकरघा का निर्माण बढ़ई द्वारा लकड़ी से होता है कि जो बड़ी बड़ी मशीनों की अपेक्षा कम खर्च में होता है।

4. चरखा : बुनकरों की महिलायें सूत से बाबीन भरने का कार्य करती हैं।

5. बाजार : हथकरघा उद्योग से निर्मित कपड़ा विक्रय के लिये बड़ा बाजार होना चाहिए जहां निर्मित कपड़ा आसानी से विक सके।

मुख्य बिन्दु – हथकरघा, कच्चा माल, बाजार, बुनाई, शिल्पकला आदि।

किसी समय में ज्ञाँसी जिले में हथकरघा उद्योग काफी उन्नत दशा में था किन्तु मशीनी उद्योगीकरण के कारण अधिक श्रम करने पर भी बुनकरों की दशा गरीबी रेखा के नीचे पहुंच गयी है और वे अपने परिवार का ठीक प्रकार से भरण पोषण भी नहीं कर पाते हैं। ज्ञाँसी जनपद में अधिकांश बुनकर निर्धन हैं जो गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं।

निर्धनता के कारण : गरीबी का जन्म किसी एक कारण या घटना के फलस्वरूप नहीं होता है। यह अनेक कारकों की पारस्परिक क्रियाओं का प्रतिफल है। ज्ञाँसी जनपद में गरीबी के लिये निम्न कारक उत्तरदायी हैं।

1. कृषि : ज्ञाँसी जनपद में कपास की कृषि योग्य भूमि का अभाव है। बाहर से कपास मंगाने पर मंहगी पड़ती है जिसका माल तैयार करने में श्रम व पूंजी अधिक लगती है। किन्तु तैयार माल के लिये कोई बाजार नहीं मिलता है जिससे बुनकर गरीब से गरीब हो गये हैं।

2. औद्योगीकरण एवं पूंजीवाद : औद्योगीकरण से बड़े बड़े

उद्योग स्थापित हुए हैं, फलस्वरूप हथकरणा उद्योग चौपट हो गया है। जो लोग इन व्यवसायों में लगे हैं वे बेकार एवं गरीब हो गये हैं। औद्योगीकरण ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। पूंजीपतियों ने बुनकरों का शोषण किया। इसमें अभी गरीब बने।

3. बेकारी : औद्योगीकरण की दौड़ में ज्ञाँसी जनपद के बुनकर उनका मुकाबला न कर सके जिससे उनका हथकरघा उद्योग व धन्धा चौपट होता गया और बेरोजगारी बढ़ती गयी।

4. पूंजी का अभाव : ज्ञाँसी जनपद में हथकरघा कर्मियों के पास पूंजी का अभाव है जिस कारण बुनकर तैयार माल को अधिक दिनों तक नहीं रोक पाते हैं इसलिये समय से पहले ही माल को सस्ते दामों में बेचना पड़ता है इससे वे गरीब हो गये हैं।

5. अकुशल बुनकर : ज्ञाँसी जनपद में बुनकरों के प्रशिक्षण हेतु कोई व्यवस्था नहीं है। इन्हें कोई प्रशिक्षण नहीं दिया है इसलिये उनकी उत्पादन प्रणाली घटिया होने के कारण उनकी आय में कर्मी हो गयी है जिससे वे निर्धन बने हुए हैं।

आर्थिक दशा में सुधार का स्वयं सहायता समूहों का योगदान

निर्धन बुनकर ग्रामीण समाज के अन्य अविकसित वर्ग को भारतीय अर्थव्यवस्था में सरकारी बैंकों से ऋण लेने और अपना रोजगार स्थापित करने में सदैव से ही कठिनाई होती है। इन परेशानियों से सरकार भी भलीभांति अवगत रही है और समय समय पर इन वर्गों के विकास के लिये नई योजनायें संचालित की जाती हैं जिससे कि इन निम्न स्तरीय वर्गों के लोगों को संस्थागत वित्त और स्वरोजगार के संसाधनों से जोड़ जा सके।

गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत गठित स्वयं सहायता समूह :

निर्धन को आर्थिक सहयोग प्रदान करते हुए उन्हें आत्म निर्भर बनाकर सशक्त करने के मूल्य उददेश्य से स्वयं सहायता समूह इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसी प्रमुख योजनायें जिनके समूह इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसी प्रमुख योजनायें जिनके समूह इस वर्ग में आयेंगे निम्नलिखित हैं।

स्वर्ण जयंती ग्रामीण स्वोजगार योजना

एस. जी. एस. वाई. केन्द्र सरकार द्वारा अप्रैल 1999

में छ: योजनाओं का समावेश करते हुए बताया गया कि देश का सबसे प्रमुख गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है। इस योजना के अन्तर्गत देश भर में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले ग्रामवासियों को लाभन्वित किया गया है। यह एक ऐसी योजना है जिसके अन्तर्गत दो चरणों में बैंक से ऋण उपलब्ध कराया जाता है। पहले चरण में समूह के गठन के छ: माह के बाद पूर्ण होता है, जब समूह का आंकलन किया जाता है। आंकलन में उपयुक्त पाये जाने पर समूह को परिक्रमी निधि दी जाती है जो समूह की निधियों के अनुपात में होती है व जिसमें ग्राम्य विकास अभिकरण से न्यूनतम 15,000/- और अधिकतम 20,000/- तक का अनुदान मिल सकता है। इस चरण पर बैंक भी समूह के ग्रुप कॉर्पस के चार गुना तक कैश क्रेडिट लिमिट समूह को समूह को बैंक से आवश्यकता अनुसार आर्थिक अधिकतम 50,000/- तक का अनुदान मिल सकता है। इस चरण पर बैंक भी समूह के ग्रुप कॉर्पस के चार गुना तक कैश क्रेडिट लिमिट समूह को बैंक से आवश्यकता अनुसार आर्थिक क्रिया कलाप के लिये ऋण उपलब्ध कराया जा सकता है। इस चरण में भी समूह को अनुदान का प्रावधान है जो कि रु. 1,25,000/- अथवा इकाई लागत का 50 प्रतिशत अथवा रु. 10,000 प्रति सदस्य जो भी कम हो दिया जा सकता है।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक

नाबार्ड सम्भवतः भारत में पहली संस्था है जिसने 1992 में स्वयं सहायता समूहों के गठन व उनके प्रोत्साहन में एक महत्वपूर्ण पहल की। लगभग 30 वर्ष की अवधि में नाबार्ड ने प्रयास कर अपनी सहभागी संस्थाओं के सहयोग से 2020-21 के दौरान अल्पावधि और दीर्घ अवधि वित्तपोषण के लिए 130964 करोड़ और 92786 करोड़ का ऋण

प्रदान कराया जिसने देश की मुख्य धारा से जोड़ने में इस योजना से आशातीत सफलता पाई है। नाबार्ड द्वारा प्रोत्साहित स्वयं सहायता समूहों में से 90 प्रतिशत समूह केवल महिलाओं के हैं। यह भी पाया गया है कि इन 14 लाख स्वयं सहायता समूहों में स्वयं पर ऋण वापसी की दर 10 प्रतिशत से अधिक रही जो काफी उत्साह वर्धक है।

इन योजना के अन्तर्गत पात्र अभ्यर्थियों के लिये उद्योग सेवा अथवा व्यवसाय के माध्यम से साथ-साथ अनुदान एवं अनिवार्य प्रशिक्षण की व्यवस्था है। चयनित लाभार्थियों हेतु बैंक ऋण के साथ इस योजना द्वारा शिक्षित बेरोजगार साधन हीन नवयुवकों को रोजगार देने की व्यवस्था है। इस प्रशिक्षण से आर्थिक साधन, प्रोत्साहन एवं परामर्श आदि प्रदान करना है।

सन्दर्भ सूची

1. अमर उजाला
2. कुरुक्षेत्र पत्रिका
3. योजना पत्रिका
4. खादी एवं ग्रामोद्योग विभाग झाँसी

—शील कुमार

शोधार्थी, अर्थशास्त्र

जे.एस.विश्वविद्यालय

शिकोहाबाद, फिरोजाबाद

—डॉ. आदित्य कृष्ण सिंह चौहान

शोध निर्देशक

एशोसियेट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,

अर्थशास्त्र विभाग, जे.एस.विश्वविद्यालय

शिकोहाबाद, फिरोजाबाद

आचार्य शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का मूल्यांकन

—आलोक कुमार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के उन विशिष्ट आलोचकों में हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न पक्षों पर गहनता से विचार किया है। भावों और मनोविकारों पर गहन परिचर्चा उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में मिलती है। शुक्ल जी के मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध सर्वप्रथम 1912 ई. से 1918 ई. तक 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में 'मनोविज्ञान का विकार' शीर्षक से धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए थे। तदुपरान्त 1930 ई. में इन्हीं निबन्धों का एक संकलन 'विचार-वीथी' के नाम से प्रकाशित हुआ, जो बाद में परिष्कृत एवं परिवर्द्धित रूप में चिन्तामणि पहला भाग शीर्षक से प्रकाशित हुआ।¹ अपने निबन्ध संग्रह 'चिन्तामणि' में शुक्ल जी ने भावों या मनोविकारों पर दस निबन्ध लिखे हैं। पहला निबन्ध 'भाव या मनोविकार' भाव या मनोविकार की परिपाणा स्वरूप और क्षेत्र पर गहन चिन्तन प्रस्तुत करता है। इसके बाद क्रमशः उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, धृति, ईर्ष्या, भय तथा क्रोध हैं।

भाव या मनोविकार के स्वरूप और क्षेत्र पर विचार करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—‘नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं, जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।’²

ये भाव या मनोविकार हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। भावों या मनोविकारों के वशीभूत होकर ही मनुष्य अच्छे या बुरे का आचरण करता है। भाव या मनोविकार ही उसे साहित्य सृजन, अनुशीलन आदि में प्रवृत्त करते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं—

‘समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं।’³

प्रवृत्तियों की तह में पाये जाने वाले ये भाव ही चित्तवृत्तियों के निर्माण और परिवर्तन का मूल कारण होते हैं। चित्तवृत्तियों के बदलने से साहित्य और समाज में भी परिवर्तन होता है। इसी परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ में शुक्ल जी लिखते हैं—

‘जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।’⁴

पश्चिम का मनोविज्ञान व्यक्तिवाद को लेकर चलता है। इसके अध्ययन के केन्द्र में व्यक्ति और इसके क्रिया-कलाप होते हैं। समाज को वह गौण मानकर चलता है। पश्चिमी विचारक ‘फ्रायड़’ का मनोविशेषणवाद मनुष्य की हर क्रिया के पीछे दमित कामवासना को देखता है। रीतिशास्त्र जो भारतीय भावदर्शन से अधिक प्रभावित है। यह भी ज्ञान और भावना को समाज से अलग रखकर विचार करता है। समाज को गौण मानकर चलने के कारण ही ये विचारक और दर्शन इन प्रश्नों के उत्तर खोजने में असहाय रहते हैं कि भावों और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? ये एक दूसरे से कैसे प्रभावित होते हैं तथा साहित्य सृजन में भाव और समाज की संयुक्त भूमिका क्या होती है? शुक्ल जी का मनोविज्ञान और साहित्य शास्त्र भाव और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करता है और भावों का सामाजिक आधार क्या है? इस पर भी प्रकाश डालता है। अपने निबन्ध ‘रसात्मक बोध के विविध रूप’ में शुक्ल जी लिखते हैं—

‘संसार सागर की रूप तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।’⁵

भाव अनुभूतिजन्य होते हैं और अनुभूति लोकोन्मुख होती है। लोक का प्रभाव अनुभूतियों पर पड़ता है। अनुभूति से भावों का विकास होता है और भावों से साहित्य प्रभावित होता है। मनुष्य के भाव और समाज के इसी सम्बन्ध की चर्चा शुक्ल जी अपने मनोविकार सम्बन्धी निबंधों में करते हैं। ‘श्रद्धा और भवित्व’ में शुक्ल जी लिखते हैं—

‘श्रद्धा एक सामाजिक भाव है। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है, जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ता है।’⁶

भावों को जागृत और उद्दीप्त करने में भी समाज की एक बड़ी भूमिका रहती है। समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया से भावों का प्रस्फुटन और संकुचन होता है। ‘ईर्ष्या’ निबन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—

‘ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।’⁷

इसी प्रकार ‘लज्जा और ग्लानि’ निबन्ध में भी शुक्ल जी ने लज्जा को लोक-व्यवहार से उत्पन्न माना है। मनुष्य

एक लोकबद्ध प्राणी है। लोक और मनुष्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। लज्जा को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—

‘दूसरे के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है। उसे लज्जा कहते हैं।’⁸

‘करुणा’ मनोविकार पर भी चिन्तन करते हुए शुक्ल जी सामाजिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। करुणा के सामाजिक पहलू को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं—

‘सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। कर्म क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देती है।’⁹

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि भावों या मनोविकारों का सामाजिक आधार है और समाज के क्रिया-व्यवहार से भाव या मनोविकार प्रभावित होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि भाव या मनोविकार का मनुष्य के जीवन से क्या सम्बन्ध है? शुक्ल जी ने अपने मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में इस विषय पर भी पर्याप्त चर्चा की है। शुक्ल जी साहित्य सृजन में भावों या मनोविकारों की भूमिका को बुद्धि से अधिक महत्व प्रदान करते हैं और भावों को मानव जीवन का प्रवर्तक भी मानते हैं। ‘करुणा’ निबन्ध में वो लिखते हैं—

‘मनुष्य के आवरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं।’¹⁰

कुछ भावों या मनोविकारों ने तो हमारे सम्पूर्ण जीवन को अपने प्रभाव से इस तरह आच्छादित कर रखा है जैसे वर्षा ऋतु के काले-काले मेघ पृथ्वी को ढक लेते हैं। उदाहरण के लिए ‘लोभ’ मनोविकार को ही लें तो हम देखते हैं कि वह हमारे अन्दर इस तरह बैठ गया है कि चारों ओर उसी का विस्तार नजर आता है और धन के आगमन ने सोने पर सुहागा कर दिया है। हम ने भी धन को सर्वस्य मानकर अन्य पहलुओं पर विचार करना ही छोड़ दिया है। ‘लोभ और प्रीति निबन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—

‘लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गयी, उपासक सब पत्थर के हो गए धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य क्षेत्रों में करा देने से उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मण धर्म और क्षत्रिय धर्म का लोप हो गया; केवल वणिग्राह्म रह गया।’¹¹

वणिग्राह्म? वह धर्म जो केवल हानि-लाभ पर टिका है। जो सदैव लाभ-हानि की बात करता है। हमारा भी जीवन ऐसा ही हो गया है। बिना लाभ के हम दूसरों से

राम-राम भी नहीं करते। मित्रा भी लाभ हानि देखकर करते हैं। अन्य भाव या मनोविकार भी लाभ-हानि केन्द्रित हो गए हैं। प्रेम भी मुनाफे का सौदा मानकर करते हैं। घाटे का सौदा नहीं करते। लेकिन हम दूसरों को जाहिर भी नहीं होने देना चाहते। सच्चाई छिपाने के लिए अभिनय करते हैं। शुक्ल जी 'करुणा' निबन्ध में कहते हैं कि अभिनय करते-करते हम अपना मूल स्वरूप भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि 'मनोवेग वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।'¹²

शुक्ल जी नीतिज्ञों और धार्मिकों के उस उपदेश को पाखण्ड मानते हैं, जिसमें वो मनोविकारों को दूर करने को कहते हैं। वे मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में भावों की तत्परता में देखते हैं। मनोविकारों को पुष्ट करने और उन्हें मूर्त रूप देने में साहित्यकारों की महत्वपूर्ण भूमिका मानते हुए वे लिखते हैं—

'इस विषय में कवियों का प्रयत्न सच्चा है। जो मनोविकारों पर शान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं।'¹³

शुक्ल जी के लिए भाव या मनोविकार सिर्फ सिद्धान्त और साहित्य के ही विषय नहीं हैं। वे मानव-जीवन के बीच भावों या मनोविकारों के सौन्दर्य के विकास को पूर्णता में देखना चाहते हैं। वे सत्य, सदाचार, ईमानदारी, दया, क्षमा, प्रेम, करुणा आदि के व्यवहारिक पक्ष पर जोर देते हैं और सैद्धान्तिक पक्ष को गौण मानते हैं। शुक्ल जी मानव जीवन में किसी भी वृत्ति या भाव को नकारने की बात नहीं करते। उनके लिए 'राम जितने काम के हैं रावण भी उतने काम का है।' राम अर्थात् सात्किं भाव रावण अर्थात् तामसिक भाव। शुक्ल जी जीवन को समग्रता में देखते हैं। जीवन में जितना महत्व करुणा का है, उतना ही क्रोध का भी है। जीवन के किसी भी भाव या पक्ष से उनका विरोध नहीं है। वे 'योग' की तरह कीचड़ हटाने की बात नहीं करते। वे उसी कीचड़ में योग-युक्ति से कमल खिलाने की बात करते हैं। उनकी जीवन के प्रति एकांगी दृष्टि नहीं है। भावों या मनोविकारों को सर्वांगीण रूप में स्वीकार्य ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है। 'श्रद्धा और भक्ति' निबन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—

'अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं-सबका उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोयेगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा।

शुक्ल जी भावों के रचनात्मक पक्ष को सर्वांधिक महत्व देते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि जहाँ कुण्ठा, संत्रास, असामान्यता आदि पर केन्द्रित रहती है, वहाँ शुक्ल जी इसके विरोधी हैं। यह धारणा उनके आलोचनात्मक साहित्य में भी नजर आती है और इसलिए वह सूर को 'जीवनोत्सव' का, जायसी को 'प्रेम की पीर' का और तुलसी को 'लोकमंगल' का कवियों द्वारा लिखित करते हैं। वे दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाने वाली मनोवृत्ति के हमेशा खिलाफ रहे। ऐसा करना वो अपराध समझते हैं भावों या मनोविकारों के प्रति उनका स्पष्ट दृष्टिकोण है। वे लिखते हैं—

'भाव क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गन्दा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।'¹⁶

आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए प्रो. सत्यदेव मिश्र ने लिखा है—

'आचार्य शुक्ल किसी भी भाव की समीक्षा को जीवन-सन्दर्भ में उसकी गति को ध्यान में रखकर ही अपनी बात कहते हैं। वे आँखे मूँदकर पारस्परिक मान्यताओं को ग्रहण नहीं करते।'¹⁷

भाव या मनोविकार हमारे जीवन के साथ-साथ साहित्य को भी प्रभावित करते हैं। चित्तवृत्तियाँ बदलने से साहित्य में भी परिवर्तन होता चला जाता है। 'कविता क्या है?' निबन्ध में कविता की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं।'¹⁸

यहाँ पर शुक्ल जी कविता सृजन के मूल में भावयोग की साधना की मुख्य भूमिका मानते हैं और भावयोग ही उन भावों या मनोविकारों का संयुक्त रूप है जिनका प्रभाव कविता पर पड़ता है। भाव या मनोविकारों के बदलने से कविता में भी परिवर्तन हो जाता है। भावों या मनोविकारों से ही नौ रसों की उत्पत्ति हुई और हास्य, श्रृंगार, करुण, वीभत्स आदि भावों को व्यंजित करने वाले साहित्य का सृजन हुआ। कौंच पक्षी के विलाप को देखकर वाल्मीकि के हृदय में करुणा का जो भाव जागृत हुआ उसी से काव्य की रचना हुई। अज के विलाप को देखकर कालिदास का हृदय द्रवित हुआ जिसे कालिदास ने काव्य के रूप में उद्घाटित किया। इसी विषय पर बाबा नागार्जुन ने कालिदास से प्रश्न करती हुई कविता 'कालिदास' लिखी—

कालिदास सच-सच बतलाना!
इंदुमती के मृत्यु शोक से
अज रोया या तुम रोए थे?

कहने का तात्पर्य भावों या मनोविकारों से साहित्य प्रभावित होता है और इन्हीं के आधार पर साहित्य का स्वरूप भी निर्मित होता है। हमारे चित्त में भाव या मनोविकार अव्यवस्थित क्रम में उत्पन्न होते हैं, जो साहित्य में निबन्ध कहानी कविता आदि के माध्यम से व्यवस्थित रूप में प्रकट होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण के उपरान्त हम पाते हैं कि आचार्य शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भावों या मनोविकारों के स्वरूप और प्रभाव को व्याख्यायित करने में सफल होते हैं। मनोविकारों का व्यक्ति समाज और साहित्य से क्या सम्बन्ध है तथा ये एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर भी इन निबन्धों में मिल जाते हैं। साथ ही साथ निष्कर्ष भी कि भावों या मनोविकारों के परिष्कार और परिमार्जन से व्यक्ति, समाज और साहित्य तीनों का उत्थान होता है।

सन्दर्भ सूची

1. मिश्र सत्यदेव, रामचन्द्र शुक्ल, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण-2003 ई., पृ. 31
2. शुक्ल रामचन्द्र, चिन्तामणि, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस)

- प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृ. 1
3. वही, पृ. 2
 4. शुक्ल रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, एम.जी. रोड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण-2005, भूमिका, पृ. V
 5. शुक्ल रामचन्द्र, चिन्तामणि, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृ. 136
 6. वही, पृ. 11
 7. वही, पृ. 62
 8. वही, पृ. 32
 9. वही, पृ. 29
 10. वही, पृ. 27
 11. वही, पृ. 41
 12. वही, पृ. 27
 13. वही, पृ. 30
 14. वही, पृ. 20
 15. वही, पृ. 21
 16. वही, पृ. 03
 17. मिश्र सत्यदेव, रामचन्द्र शुक्ल, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण-2003 ई., पृ. 38
 18. शुक्ल रामचन्द्र, चिन्तामणि, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृ. 78

**—आतोक कुमार
शोध छात्र (हिन्दी),
छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर**

ब्रिटिश शासनकाल में सन् 1857 का विद्रोह : एक दृष्टि

—डॉ. अंकिता सिंह

ब्रिटिश शासनकाल के अन्तर्गत सन् 1857 में जिस स्तर पर विद्रोह फैला और इसमें राजों-रजवाड़ों से लेकर सामान्य किसान तक सम्मिलित हुए उसे देखते हुए इतिहासकारों ने इसके कारणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। विद्रोह के मूल में मुख्यतः अनुचित सरकारी लगान व्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप ग्रामीण इलाकों में विद्रोह ने उग्र रूप धारण किया। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियां भारतीय व्यापार और उद्योगों के विरुद्ध थीं। अंग्रेजों की प्रशासनिक नीति भी विद्रोह के एक प्रमुख कारक के रूप में देखी जा सकती है, इसके अतिरिक्त विद्रोह के फैलने में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गयी सामाजिक और धार्मिक नीति भी उत्तरदायी थी। विद्रोह के फैलने में सैनिक कारणों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिसका अवलोकन प्रस्तुत लेख में किया गया है।

सन् 1857 के विद्रोह के कई प्रमुख कारणों में से एक कारण सरकारी लगान व्यवस्था थी। नई लगान-व्यवस्था में सरकार की उत्पीड़क सत्ता की छाप दिखाई देती थी। यह दो रूपों में दिखाई पड़ी-पहली तो भूमि की क्षमता से अधिक लगान की दर और दूसरी, भूमि को निजी सम्पत्ति बनाने से इस पर अधिकार के हस्तान्तरण की सुविधा। जर्मींदारों व किसानों के लिए नई व्यवस्था के अन्तर्गत नियत लगान की अदायगी कर पाना कठिन हो रहा था। ऊपरी दोआब जैसे उपजाऊ क्षेत्र में लगान की दर इतनी अधिक थी कि इसका भुगतान नहीं हो सका। मथुरा-आगरा क्षेत्र में लगान की रकम कम नियत की गई थी, परन्तु यहाँ सिंचाई के साधनों के अभाव में उपज इतनी कम होती थी कि इसका भी भुगतान कठिन था। यह विद्रोह एक प्रकार से लगान की अधिकता के विरुद्ध विद्रोह था। ऐसे खुदकाश्त किसानों पर, जिनके पास छोटे-छोटे खेत थे, अधिक दबाव पड़ा। सन् 1846 में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने यह कहा कि चार जिलों-अलीगढ़, मैनपुरी, मथुरा और बाँदा में जहाँ लगान न जमा करवाने के कारण भूमि की नीलामी की गई थी, यह पाया गया कि इसका कारण लगान की अधिकता थी। सन् 1857 तक मैनपुरी के कुछ भागों को छोड़कर किसी और जिले में स्थिति को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया।¹ यह देखते हुए यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि इन जिलों के ग्रामीण इलाकों में विद्रोह ने उग्र रूप धारण किया।

भूमि को निजी सम्पत्ति बना देना भी असंतोष का कारण बना। इससे भूमि खरीदना, बेचना व रेहन रखना आसान

हो गया। लगान की ऐसी रकम, जिसकी अदायगी करना कठिन था, और भूमि के हस्तान्तरण की व्यवस्था का मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि छोटे-बड़े जर्मांदारों को बेदखल करना आसान हो गया। सन् 1853 में केवल उत्तर-पश्चिमी प्रांत में लगान की रकम की अदायगी न होने के कारण 11 लाख एकड़ भूमि की नीलामी की गयी।² इसी प्रकार 1856-57 में अवध में ‘संक्षिप्त बंदोबस्त’ किया गया जिसके अन्तर्गत भी बहुत से जर्मांदारों को बेदखल किया गया। साहूकारों ने सरकार की नीतियों का भरपूर लाभ उठाया और जमीनों के मालिक बन गए। इस प्रकार सरकार, साहूकार व जर्मांदार का ऐसा त्रिकोण उभरा जो उत्पीड़न का माध्यम बन गया। इसके प्रभावों का आंकलन केवल आंकड़ों के माध्यम से नहीं किया जा सकता। इन साहूकारों को आर्थिक लाभ तो हुए परन्तु वे गाँव में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाए। लोगों की सहानुभूति भूमि के वंशानुगत मालिकों के साथ ही बनी रही और उनकी दुर्दशा के लिए वे सरकार को ही उत्तरदायी ठहराते रहे। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जर्मांदार किसानों का उत्पीड़न नहीं करते थे या यह कि उनके आर्थिक हितों में एकरूपता थी। एक ऐसे समाज में जहाँ वंशानुगत कुलीन लोग अर्थव्यवस्था व आपसी सम्बन्धों का संचालन करते थे, तनावों का न होना सम्भव नहीं था। परन्तु इस समय सरकार की नीतियों के सीधे प्रभावों के कारण उनके सम्बन्धों में पारस्परिकता आ गई थी और विदेशी सरकार ही शत्रु पक्ष दिखाई देने लगी थी।

1857 के विद्रोह के विभिन्न कारणों में राजनीतिक कारण भी महत्वपूर्ण है। वेलेजली की सहायक सन्धि और डलहौजी की राज्य हड्प नीति के चलते भारत के सभी देशी शासक दुखी थे। जिनके राज्य हड्प लिये गये थे या उपाधियाँ और पेंशने जब्त कर ली गयी थीं वे तो असंतुष्ट थे ही, जो शासक इन नीतियों से बचे भी थे वे सब भी चिन्तित थे। भारतीय राजागण यह मानने लगे थे कि सभी रियासतों का अस्तित्व खतरे में है और इन सबका विलय होना केवल समय का प्रश्न है। मातेसन का विचार इस सम्बन्ध में सटीक लगता है—डलहौजी की नीति ने और अन्य ऊँचे पदाधिकारियों के कथनों और लेखों ने एक प्रकार का अविश्वास का वातावरण उत्पन्न कर दिया था और भारतीयों को यह प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज ‘मेमने के रूप में भेड़िये’ की भूमिका निभा रहे हैं।³ राज्य हड्प नीति का प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों पर पड़ा। 1856 में लार्ड कैनिंग ने घोषणा की कि दिल्ली के नवीन उत्तराधिकारी को राजकीय उपाधि और मुगल महल दोनों

छोड़ देने होंगे। इस घोषणा ने मुसलमानों को भावनात्मक रूप से भी आहत किया क्योंकि वे दिल्ली के सम्राट को मुस्लिम सत्ता का सर्वोच्च प्रतीक मानते थे।

अंग्रेजों की प्रशासनिक नीति भी 1857 के विद्रोह के एक प्रमुख कारक के रूप में देखी जा सकती है। सेना में किसी भी भारतीय को जो बड़े से बड़ा पद मिल सकता था वह सूबेदार का था जिसमें साठ अथवा सत्तर रुपये मासिक वेतन मिलता था और असैनिक प्रशासन में सदर अमीन का पद था जिसका वेतन पचास रुपये मासिक था। पद वृद्धि के अवसर बहुत ही कम थे। “भारतीयों की यह धारणा बनी गयी कि अंग्रेज उन्हें ‘तकड़हारे अथवा कहार’ बनाना चाहते थे।”⁴

अंग्रेजों की आर्थिक नीतियाँ भी भारतीय व्यापार और उद्योगों के विरुद्ध थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनैतिक शक्ति के प्रयोग से भारतीय हस्तशिल्प और व्यापार का सर्वनाश हो गया था और इसे केवल अंग्रेजी शोषण प्रणाली के परिशिष्ट के रूप में ही जीवित रहने दिया गया। कार्ल मार्क्स ने, जो एक बहुत चतुर प्रेक्षक थे, 1853 में ही लिखा था “यह अंग्रेजी घुसपैठिया था जिसने भारतीय खड़की को तोड़ दिया और चरखे का नाश कर डाला। अंग्रेजों ने भारतीय सूती कपड़े को अंग्रेजी मण्डियों से वंचित करना आरम्भ किया और फिर भारत में सूती कपड़ों की मातृभूमि को ही (विदेशी) सूती कपड़े से भर दिया। सूती कपड़ा उद्योग के नाश होने से कृषि पर बोझ बढ़ गया और अन्त में देश अकिञ्चन हो गया।”⁵

विद्रोह के फैलने में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गयी सामाजिक और धार्मिक नीति भी उत्तरदायी थी। अंग्रेज शासक भारतीयों के प्रति बहुत रुखे तथा धृष्ट स्वभाव वाले थे। वे भारतीयों को ‘काले’ अथवा सुतर की संज्ञा देते थे और प्रत्येक अवसर पर भारतीयों का अपमान करने से नहीं चूकते थे। इसके अतिरिक्त वे जाति-भेद की भावना से भी प्रेरित थे। वे भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे और हिन्दुओं को बर्बर तथा मुसलमानों को कट्टरपंथी, निर्दयी एवं बेइमान समझते थे। शिकार पर जाते समय अंग्रेज अधिकारी भारतीय स्त्रियों से बलात्कार करते थे तथा पुरुष वर्ग को शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित करते थे। यदि कभी कोई शिकायत भी होती थी तो इनकी सुनवाई यूरोपीय जूरियाँ करती थीं जो पक्षपातपूर्ण निर्णय करती थीं और इन्हें नाममात्र का दण्ड देकर छोड़ देती थीं। पीड़ित भारतीयों के लिए यह बहुत ही चुभने वाली बात थी।

ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार और इस प्रक्रिया में ईसाई

मिशनरियों द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने के लिए धर्म ग्रन्थों और पूज्य पुरुषों का अपमान करना भी इस विद्रोह में भारतीयों के सम्मिलित होने का कारण बना। कम्पनी का एक वृहद उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना भी था। यह कम्पनी के अध्यक्ष मैंगल्ज के हाऊस आफ कामन्स में दिए गए एक भाषण से स्पष्ट होता है। उसने कहा था कि “दैव योग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के इस छोर से दूसरे छोर तक फहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान कार्य को पूर्णतया सम्पन्न करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए।”⁶ वीर सावरकर ने यह दर्शाया है कि असैनिक और सैनिक ऊँचे पदाधिकारी ‘राम’ और ‘मुहम्मद’ के नाम पर गालियाँ निकालते थे तथा सैनिकों को ईसाई बनने की प्रेरणा देते थे। सैनिकों को ‘सत्यधर्म’ (ईसाई धर्म) अपना लेने पर पदोन्नति का वचन दिया जाता था। ईसाई धर्म प्रचारकों को धर्मान्तरण के लिए पर्याप्त सुविधा आँदी जाती थीं। अमेरिकन मिशनरी सोसाइटी ने आगरे में एक बहुत भारी मुद्रणालय लगाया। यहाँ से प्रकाशित पुस्तकों में मूर्ति पूजा को बुरा कहा जाता था। हिन्दू देवी-देवताओं का उपहास किया जाता था। सर सैयद अहमद खाँ ने भी लिखा है कि “ऐसा विश्वास किया जाता है कि सरकार ने धर्म प्रचारक नियुक्त कर रखे हैं और उनका भरणपोषण अपने व्यय से करती है।”⁷ लार्ड शेफ्टसबरी ने तो इतना तक कहा था कि “भारत को ईसाई बनाने में असमर्थता ही इस समस्त झगड़े का मूल कारण है।”⁸

1850 में पास किए गए धार्मिक अयोग्यता अधिनियम द्वारा हिन्दू रीति-रिवाजों में परिवर्तन लाया गया अर्थात् धार्मिक परिवर्तन से पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता था। इस कानून का मुख्य लाभ ईसाई बनने वालों को था। लोगों ने यह भी अफवाह फैला दी कि लार्ड कैनिंग को विशेष आज्ञा दी गई है कि वह भारत को ईसाई बना दे। ऐसे वातावरण में यह विश्वास किया जाने लगा कि रेलवे और वाष्प पोत भारतीय धर्म परिवर्तन का एक अप्रत्यक्ष साधन हैं। बेंजामिन डिजरेली के शब्दों में “नए सिद्धान्तों के अधीन भारतीय विधान परिषद स्थानीय लोगों के धार्मिक विश्वास को शैनै:-शैनै: कुतरती जा रही है। इसकी राष्ट्रीय विद्या की सैद्धान्तिक प्रणाली के अनुसार धर्म पुस्तकों (बाइबिल इत्यादि) पाठशालाओं में अकस्मात ही पहुँच गई है।”⁹ भारतीयों को यह विश्वास

होता जा रहा था कि अंग्रेज उन्हें ईसाई बनाने की योजना बना रहे हैं। ईसाई पादरियों और डलहौजी तथा बेटन के द्वारा स्त्रियों की शिक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों द्वारा भारतीयों को विश्वास होता जा रहा था कि अंग्रेज विद्या द्वारा उनकी सभ्यता को विजय करना चाहते हैं। “विद्या कार्यालयों” को “शैतानी दफ्तर” की संज्ञा दी जाने लगी थी।

विद्रोह के फैलने में सैनिक कारणों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इस्ट इण्डिया कम्पनी में भारतीय सैनिकों की संख्या अंग्रेजी सैनिकों से अधिक थी किन्तु उन्हें अंग्रेजी सरकार से कई शिकायतें थीं। अंग्रेजी सैनिकों को भारतीय सैनिकों की तुलना में अधिक वेतन दिया जाता था। भारतीय सैनिकों के लिए प्रोन्नति के अवसर भी कम थे। साधारणतया उनको उसी पद से कार्यमुक्त होना पड़ता, जिस पर उनकी भर्ती की जाती थी। साथ ही उनके प्रति अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार भी अत्यन्त अभद्र था। यदि कोई भारतीय सैनिक अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और क्षमता के कारण ख्याति अर्जित करने लगता था, तो उसे सेवा से मुक्त कर दिया जाता था। अतः स्पष्ट है कि भारतीय सैनिकों में असन्तोष का कारण पहले से ही व्याप्त था, परन्तु जब अंग्रेजों ने बिना किसी समुचित कारण के अवध का विलय अंग्रेजी साम्राज्य में कर लिया, तब भारतीय सैनिकों का असन्तोष और भी बढ़ गया। असन्तुष्ट सैनिकों के असन्तोष को देखते हुए सर हेनरी लारेन्स ने कहा था, “यदि असन्तुष्ट सैनिकों के साथ न्याय नहीं हुआ, तब वे स्वयं इन समस्या से छुटकारे का मार्ग तलाश लेंगे।”¹⁰ मौलाना आजाद ने भी अवध के विलय पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, “अवध के विलय से सैनिकों में विद्रोही भावनाओं का संचार हुआ। जन-साधारण को भी इससे धक्का लगा और उन्होंने अचानक महसूस किया कि वह शक्ति जिसे कम्पनी ने उनकी सेवा और बलिदान से प्राप्त किया, उसका प्रयोग वह उन्हीं के विरुद्ध कर रही थी।”¹¹

इस समय लार्ड कैनिंग ने एक कानून पारित करके भारतीय सैनिकों को समुद्र पार विदेशों में बिना अतिरिक्त वेतन के लड़ने के लिए भेजना प्रारम्भ किया। हिन्दू अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण समुद्र पार के देशों में जाने के इच्छुक नहीं थे। अतः उनके असन्तोष में और भी बृद्धि हुई। बैरकपुर और बंगाल के सैनिकों ने बर्मा (म्यामार) और सिन्ध में बिना अतिरिक्त भत्ते के जाने से साफ इन्कार कर दिया और अंग्रेजी सरकार पर विश्वासघात का आरोप लगाया, जो उनके असन्तोष का सजीव उदाहरण है।

अँग्रेजों के व्यवहार ने सैनिक व असैनिक दोनों वर्गों को रुष्ट कर दिया। फलतः उन्होंने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करने का निश्चय कर लिया। डा. ताराचन्द ने भी इस संदर्भ में लिखा है कि, “हिन्दुओं के सम्मान को ठेस लगी। शाही परिवारों का निरादर किया गया। लोग शक्तिशाली विदेशी सरकार के सामने घुटने टेकने को बाध्य हुए। अतः दोनों ही सैनिक व असैनिक-सरकार के विरुद्ध शस्त्र उठाने को तत्पर हो गये।”¹²

सन् 1857 के समय ही अँग्रेजों द्वारा भारतवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित किए जाने के प्रयास किए जा रहे थे। अतः भारतीय सैनिकों को यह महसूस हुआ कि चर्वी वाले कारतूसों के माध्यम से भी अँग्रेज उनके धर्म को खण्डित करने की साजिश रच कर, उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार कराने का षड्यन्त्र रच रहे हैं। अतः उन्होंने धर्मभ्रष्ट होने के स्थान पर ऐसे शासन को उखाड़ फेंकने का निश्चय किया जो उसकी धार्मिक भावनाओं से खिलवाड़ करना चाहता था। प्रसिद्ध इतिहासकार लीके ने भी लिखा है कि, “भारतीय सैनिकों ने जिन बातों के कारण विद्रोह किया, उनसे अधिक शक्तिशाली तथ्य कभी किसी विद्रोह को वैध घोषित करने के लिए हो ही नहीं सकते।”¹³ अतः स्पष्ट है कि क्रान्ति के कारणों का मसविदा पहले से ही विद्यमान था किन्तु चर्वी वाले कारतूसों के प्रयोग ने बारूद में चिंगारी का काम किया और विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं सन् 1857 के विद्रोह के मूल में गलत सरकारी नीतियाँ थीं, जिसका परिणाम सम्पूर्ण भारत देश को उठाना पड़ा तथा भारी जन हानि हुई।

संदर्भ सूची

1. आधुनिक भारत का इतिहास : सं. आर.एल. शुक्ल, पृ. 254
2. वही, पृ. 255
3. आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन, बी. एल. ग्रोवर, यशपाल, पृ. 188
4. वही, पृ. 189
5. वही, पृ. 190
6. उद्धृत, आधुनिक भारत का इतिहास : सं. आर.एल. शुक्ल, पृ. 190
7. वही, पृ. 190
8. वही, पृ. 190
9. वही, पृ. 191
10. उद्धृत-भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, डा. के.एल. खुराना, पृ. 16
11. वही, पृ. 16
12. वही, पृ. 16
13. वही, पृ. 17

—डॉ. अंकिता सिंह

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
महिला पी.जी. कॉलेज, बहराइच, उ.प्र.

आधुनिक समाज में वृद्धजनों की दशा : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

—आशीष कुमार चौरसिया

यह एक जटिल प्रश्न है कि वृद्ध किस उम्र से माना जाए ? भारत में सरकारी व्यवस्था के अनुसार यह उम्र 60 साल है। साधारणतः वृद्धों की सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा यह मानी गई है कि जब शरीर की शक्ति और सक्रियता कम होने लगे तो वृद्धावस्था की दस्तक मानना चाहिए। मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि शरीर में रक्त संचार की गति बुढ़ापे का निर्धारण करने वाला सबसे प्रमुख तत्व है। पुरुष और महिला दोनों के ही शरीर में 45-50 वर्ष की उम्र में काफी परिवर्तन आते हैं। इस उम्र में महिलाओं की माहवारी बंद हो जाती है। पुरुषों को शारीरिक शिथिलता जन्य रोग (मधुमेह आदि) तेजी से घेरते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस उम्र तक आते-आते मानव शरीर में ऐसे प्राकृतिक बदलाव स्वतः आते हैं कि खून बनने की प्रक्रिया अत्यंत मंद हो जाती है। ताजा एवं नए खून का संचार नहीं होगा तब शरीर की कोशिकाओं को ऑक्सीजन एवं दूसरे तत्वों की आपूर्ति कम होगी। परिणामस्वरूप उनके आकार में कमी आएंगी और शरीर की त्वचा झुरियाँदार होने लगेगी। लेकिन इस प्रकार की नैसर्गिक प्रक्रिया के कारण होने वाले शारीरिक परिवर्तनों से बूढ़े होते शरीर को 'आयुवाद' की सीमा में धकेलना एक अपराध है।

हमारे देश में लगभग 100 करोड़ से अधिक जनसंख्या में वृद्धों की संख्या लगभग 8 करोड़ है। फिर भी इतना बड़ा देश का समाज अपने वृद्ध सदस्यों के प्रति सही अर्थों में सहयोगी नहीं है बल्कि अनेक परिस्थितियां तो ऐसी हैं जो बार-बार बूढ़ों को बुढ़ापे की याद दिलाकर 'आयुवाद' को प्रोत्साहित करती हैं। यह हालात नगरों एवं महानगरों में विकराल रूप धारण कर चुकी है और इसका विस्तार भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में अनुभव किया जाने लगा है। वृद्ध लोग नहीं चाहते हैं कि उन्हें असहाय और कमजोर माना जाए परंतु समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में चुटकुलों, कार्टूनों आदि के जरिए उन नकारात्मक टिप्पणी, नौकरियों में एक निश्चित आयु के बाद आवेदन नहीं कर सकने की व्यवस्था अथवा बहुत कम स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं द्वारा वृद्ध लोगों की अपेक्षा आदि कारण ऐसे हैं जो बार-बार वृद्धों को उनका बुड़ापा याद दिलाते हैं। उम्र का बढ़ना हमारी जिंदगी का सबसे अहम पहलू है तथा यह प्रक्रिया मानव जन्म के समय से ही शुरू हो जाती है। उम्र

बढ़ने के दूसरे लक्षण किसी उम्र में शुरू हो सकते हैं। जैसे अनेक लोगों के बाल असमय में ही पक जाते हैं। कई लोगों के दांत 30 वर्ष की आयु में टूट जाते हैं। वहीं अनेक वृद्ध ऐसे होते हैं जो पूरी तरह स्वस्थ एवं सुंदर होते हैं।

अधिकतर लोगों में 30-40 की आयु में जो परिवर्तन शुरू होते हैं वह 50-60 की उम्र में भी हो सकते हैं। जैसे त्वचा की चमक और लचीलापन में गिरावट, हड्डी को जोड़ों और मांसपेशियों की ताकत में कमी, क्रियाओं में धीमापन आदि। परंतु यह भी विचार करना आवश्यक है कि किसी वृद्ध व्यक्ति में जो परिवर्तन आता है, उसका कारण क्या है? यदि किसी को सांस लेने में तकलीफ हो तो इसका मतलब यह नहीं है कि उसे दमा है या उसके फेफड़े खराब हो गए हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उसने वर्षों तक प्रदूषित हवा में सांस ली हो। कुछ वृद्ध लोग घर से ही नहीं निकल पाने के कारण चिड़े-चिड़े हो जाते हैं। वर्तमान की समस्या तथा आने वाले दिन की सबसे बड़ी समस्या भारत में 'बुढ़ापा' है। इस उम्र को चूंकि पूरी तरह नकारा माना जाता है, वृद्धों की आवश्यकताओं को नजरअंदाज करने की मानसिकता सर्वत्र दिखाई देती है। इस दृष्टि से गांव के वृद्ध कुछ सौभाग्यशाली रहे हैं। वहां उनके लिए जूट की रस्सियां बनाने व जानवरों को दाना-पानी देने, खेत की रखवाली करने का कार्य सहज उपलब्ध रहते हैं, परंतु महानगर में ऐसा कुछ नहीं हो पाता है, इसके अलावा महानगरों में उनके आवास, स्वास्थ्य तथा भावनात्मक जरूरतों की अपेक्षा भी होती है।

1991 ई. की जनगणना के अनुसार भारत में वृद्धों की संख्या 7.1% थी। लेकिन वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 0-14 आयु वर्ग के लोगों की संख्या 28.8% है, वहीं 15-59 आयु वर्ग के लोगों की संख्या 62.6 प्रतिशत है तथा 60 वर्ष से अधिक लोगों की संख्या 8.6% है। वर्तमान में कुल जनसंख्या का मात्र 8.6% वृद्ध है तथा 62.6% युवा उनके सहयोग में है और तब भी वृद्धों की दशा सोचनीय है। ऐसी स्थिति में जब 62.6% लोग वृद्धावस्था को प्राप्त करेंगे और 28.8% लोग उनके सहयोग में रहेंगे, तब वृद्धों की दशा कितनी सोचनीय होंगी यह चिंता का विषय होगा। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा है कि 2025 ई. में इनकी जनसंख्या भारत में 12.3% हो जाएगी। समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा सरकारें इस गंभीर मुद्दे पर सोचने हेतु बाध्य हो गई हैं। विख्यात लेखिका साइमन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'ओल्ड एज' में लिखती हैं—‘वृद्धावस्था मन से दुराव का तीखा पहलू है। आप जी रहे हैं किन्तु जिंदगी से वंचित किए जा चुके हैं। आप मौत

को बेहतर मानने लगते हैं। यह उम्र का एक ऐसा मुकाम है जहां अपनी जिंदगी और मौत के बीच कहीं अटके होते हैं।' सामाजिक परिस्थितियों के चलते साइमन का यह कथन काफी अधिक अंशों में सत्य प्रतीत होता है। अतः आर्थिक अभाव, परिवार एवं समाज के स्थाई उपेक्षा की प्रवृत्ति, मृत्यु का भय, असुरक्षा की भावना आदि अनेक समस्याएं भी वृद्धजनों के हिस्से में आती हैं।

समाजशास्त्री अध्ययन का यह क्षेत्र बहुत पुराना नहीं है। पश्चिमी समाजों में वृद्धजनों की समस्या अधिक स्पष्ट रूप से सामने आ चुकी थी। परंतु भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण न तो वृद्धजन कभी समस्या थे और न ही उनके सम्पुख कोई समस्या आयी। संयुक्त परिवार व्यवस्था वृद्धजनों, विधवा एवं अन्य आश्रितों के लिए सामाजिक बीमा का कार्यकर्ता था। समाज में वृद्धजनों की विशिष्ट स्थिति होती थी। लेकिन परिवार की संरचना एवं प्रकारों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप भारत में वृद्धजन एक सामाजिक समस्या के रूप में आने लगा है। भारत के महानगरों एवं नगरों में बुढ़ापा एक व्यापक समस्या बन चुका है। गांव में भी इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो रही है। स्वामीनाथन ने भारत के विकास की प्रक्रिया में वृद्धजनों को सम्मिलित किए जाने के पक्ष में विचार दिया है। उनके विचार से वृद्धजनों की बढ़ती जनसंख्या को एक संसाधन के रूप में देखा जाना चाहिए। इनकी क्षमता का उपयोग राष्ट्र के आर्थिक विकास हेतु किया जाना चाहिए। ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में वृद्धजनों से संबंधित जो अध्ययन प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि जीवन के अंतिम पड़ाव में अधिकांश वृद्धजन पसंद नहीं हैं। उन्होंने आगे लिखा है कि गरीब वृद्धजनों और जिनके परिवार के सदस्य गरीबी में हैं, वे अधिक आयु के वृद्धों की जनसंख्या में महत्वपूर्ण भागीदारी रखते हैं। इस आर्थिक वर्ग में पुरुषों की तुलना में महिलाओं की स्थिति और भी चिंताजनक है। इस प्रकार नगरीय क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्र के वृद्धजनों स्थिति अधिक दयनीय है।

योगेंद्र सिंह ने लिखा कि ग्रामीण समाज में वृद्धों की विशिष्ट स्थिति होती थी। समाज एवं परिवार में उन्हें सर्वाधिक सम्मान प्राप्त था। परिवार एवं समुदाय ने उनकी सत्ता वैध तथा सर्वमान्य थी, परिवार के आर्थिक तथा राजनीतिक निर्णयों के प्रमुख निर्णय करता वृद्धजन ही होते थे तथा वे अनुभव एवं विवेक के भंडार के रूप में स्वीकार्य थे। लेकिन वर्तमान समय में युवा पीढ़ी के सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया। उनका झुकाव

व्यक्तिवादिता तथा उपयोगितावादी विचारों की ओर होने लगा।

विजय कुमार लिखते हैं कि सेवानिवृत्त एक सामाजिक अविष्कार है तथा अवधारणात्मक रूप से इसे एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। जब व्यक्ति 55 या 60 वर्ष की उम्र के बाद श्रम शक्ति से बाहर निकल जाता है तथा जीवन की नवीन अवस्था में प्रवेश करता है। इस अवस्था में आर्थिक स्थिति एवं स्वास्थ्य दोनों ही कमज़ोर होता है तथा वह अपने भविष्य के प्रति डरा होता है। इस अवस्था के प्रति समाज और सरकार दोनों को ही सोचना चाहिए एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। दीपांकर गुप्ता ने अपने अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया कि भारत में आधुनिक तथा उत्तर आधुनिकता के दौर में मानवीय मूल्यों में नकारात्मक परिवर्तन हो रहा है। न केवल नगरीय समाजों में बल्कि भारत के ग्रामीण समाज में भी वृद्धजनों की स्थिति पर चिंता व्यक्त की जा रही है। संयुक्त परिवारों के विघटन, कृषि का व्यापारीकरण, कृषि में तकनीकी प्रयोग, यातायात एवं संचार साधनों की क्रांति तथा नगरों की ओर पलायन ने ग्रामीणों समाजों में वृद्धजनों की परंपरा व परिस्थिति को बिल्कुल बदल दिया है।

वृद्धजनों के विषय में आज वैचारिक मंथन की आवश्यकता है। अतः इसकी आवश्यकता के दृष्टिगत वरिष्ठ नागरिकों के विषय में वैचारिक विमर्श/चिंतन/संवाद के लिए एक दिन औपचारिक स्तर पर निर्धारित किया गया है। यह दिवस बुजुर्गों के प्रति जहाँ एक ओर सम्मान को प्रदर्शित करता है, वहाँ दूसरी ओर परिवार, समाज एवं जन सामान्य में मानवीय संवेदना को जागृत करता है कि वृद्धजन परिवार एवं समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। अतः इनके प्रति अपने कर्तव्य एवं दायित्व बोध से विमुख होना एक मानवीय संवेदन शून्यता है। अतः प्रतिवर्ष 1 अक्टूबर का दिन अंतर्राष्ट्रीय बुजुर्ग दिवस या अंतर्राष्ट्रीय वृद्धजन दिवस के रूप में मनाया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय वृद्धजन दिवस मनाने की शुरुआत सन् 1990 में की गई थी। विश्व में बुजुर्गों के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार और अन्याय को रोकने के लिए के लिए जनसामान्य में जागरूकता विकसित करने हेतु 14 दिसंबर, 1990 को यह निर्णय लिया गया कि हर वर्ष यह दिवस 1 अक्टूबर को मनाया जाएगा। अतः इसी अनुक्रम में 1 अक्टूबर, 1991 को पहली बार अंतर्राष्ट्रीय वृद्धजन दिवस के रूप में मनाया गया। इसके पूर्व भी सन् 1982 में विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा “वृद्धावस्था को

सुखी बनाइए” का नारा देकर सबके लिए स्वास्थ्य अभियान प्रारम्भ किया गया।

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1999 में अंतर्राष्ट्रीय बुजुर्ग वर्ष के रूप में मनाया गया था। इस दिन को वृद्धजनों के सम्मान के लिए पूरी तरह से समर्पित किया गया था। इस प्रकार वृद्धावस्था में उनके लिए विभिन्न प्रकार के आयोजन संपन्न कराने के साथ उनकी मूलभूत आवश्यकताओं, सुविधाओं तथा समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं चिंतन किया जाता है। इसके साथ ही उनके स्वास्थ्य के प्रति गंभीरतापूर्वक ध्यान दिया जाता है। अतः बुजुर्ग उस सघन एवं छायादार वृक्ष की भाँति होता है जो अपने जीवन के अनुभवों, स्नेह एवं आशीर्वाद के द्वारा हम सब के छाया बनकर भावनात्मक संरक्षण प्रदान करता है। उनके प्रति मन में श्रद्धा, आस्था और भावनात्मक लगाव उस समय होना स्वाभाविक है जब वे अकेले, असहाय और अशक्त होते हैं। यही मानवीय संवेदना बुजुर्गों के प्रति सकारात्मक दिशा में चिंतन का आधार है जिसका सम्बन्ध हमारे जीवनमूल्य तथा व्यक्ति के कर्तव्य और दायित्व बोध से है।

बुजुर्गों के प्रति सम्मान तथा सेवाभाव हमारी भारतीय संस्कृति की एक समृद्ध परम्परा रही है परन्तु वर्तमान संदर्भ में 21वीं सदी के विकासशील भारत में बुजुर्गों की स्थिति-परिस्थिति में तेजी के साथ बदलाव आया है। वह हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अवमूल्यन को प्रदर्शित करता है। बच्चों को सुनाई जाने वाली कहानी के रूप में श्रवण कुमार की माता-पिता के प्रति निष्ठा एवं सेवा भावना हमारी भारतीय परम्परा और सामाजिक मूल्यों के आदर्श के उदाहरण है, परन्तु यह परम्परा और सामाजिक मूल्य आज मानव व्यवहार में परिलक्षित नहीं होते हैं। यही कारण है कि परिवार से बुजुर्ग धीरे-धीरे दूर होते गए और संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवारों की संख्या में तेजी के साथ अभिवृद्धि होने लगी। परिणामस्वरूप वृद्धावस्था संबंधी विभिन्न सामाजिक समस्याएँ आज चुनौती बनकर दस्तक दे रही हैं। इस चुनौतीपूर्ण समस्याओं के समाधान हेतु जिन सार्थक प्रयासों की आवश्यकता है वे निम्नांकित हैं :

- परिवार में बुजुर्गों के प्रति सम्मान एवं उनके महत्व को स्थापित करना।
- परिवार एवं समाज में वृद्धजनों को आध्यात्मिक वातावरण उपलब्ध कराना तथा आध्यात्मिक विकास हेतु प्रेरित करना।
- वृद्धजनों को यथासमय स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने

हेतु व्यवस्था करना ।

- बुजुर्गों की आर्थिक कठिनाइयों को समझना तथा उनके निराकरण हेतु सरकारी तथा गैर सरकारी स्तर पर प्रयास करना ।
- परिवार, समाज व राष्ट्रीय विकास में वृद्धजनों के अनुभवों की साझेदारी और उनकी उपयोगिता को स्थापित करना ।
- बुजुर्गों को उनके कार्यक्षेत्र की विशिष्टता के आधार पर उनके अनुकूल विशिष्ट सेवाओं से जोड़कर आत्मनिर्भर बनाना ।
- नित्य नया सीखने और कार्य करने की कोई उम्र नहीं होती । कुछ अनुकरणीय उदाहरण के द्वारा वृद्धजनों में इस सकारात्मक सोच को विकसित करना जिससे उनके जीवन में सक्रियता बनी रहे ।
- वृद्धजनों को विभिन्न सरकारी योजनाओं से अवगत करना तथा उनका लाभ प्रदान करने हेतु एक व्यावहारिक रणनीति सुनिश्चित करना ।
- शिक्षण संस्थानों में प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्चतर शिक्षा तक के पाठ्यक्रम में वृद्धावस्था को अध्ययन-अध्यापन में स्थान देकर उनकी प्रकृति, विशेषताओं तथा समस्याओं के प्रति विद्यार्थियों में जागरूकता उत्पन्न करना ।
- वृद्धावस्था संबंधी विभिन्न कार्यशालाएँ, विचार संगोष्ठियों और सम्मेलन का आयोजन कर उनके सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक मुद्दों पर वैचारिक मंथन के द्वारा उनकी बेहतर स्थिति की संभावनाएँ खोजना ।
- विभिन्न शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से वृद्धजनों एवं युवाओं के मध्य समन्वय स्थापित कर उनके मध्य पारस्परिक जुड़ाव की भावनाएँ स्थापित करना ।
- शिक्षित तथा विभिन्न सेवाओं से अवकाश प्राप्त बुजुर्गों को सोशल मीडिया का प्रशिक्षण देने का अभियान चलाकर उनके अकेलेपन को दूर करना और आत्मनिर्भर बनाना ।

आज के भौतिकवादी बदलते सामाजिक परिवेश में वृद्धजनों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने की दिशा में उपर्युक्त प्रयास कारगर सिद्ध हो सकते हैं । इसके लिए परिवार, समाज, शैक्षिक संस्थाओं तथा सरकार के समन्वित प्रयासों की आवश्यकता है । तभी वृद्धजनों और आज के पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश के मध्य एक स्वस्थ समन्वय और सामाजिक परिवेश के मध्य एक स्वस्थ जनसामान्य के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आएगा

और सामाजिक बदलाव की स्थिति बनेगी । परिणामतः यही सामाजिक बदलाव वृद्धजनों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने में सहायक होगा ।

वृद्धजनों की समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए, उनकी स्थिति को बेहतर बनाने हेतु सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयास सराहनीय है । इसके क्रियान्वयन हेतु परिवार एवं समाज में जागरूकता तथा उनकी सक्रिय सहभागिता का भी होना आवश्यक है । इस दिशा में वृद्धजनों की भी सक्रियता एवं भागीदारी को सुनिश्चित करना आवश्यक है जिससे वे स्वयं के प्रति जिम्मेवार बन सकें । नई पीढ़ी का समाजीकरण इस दृष्टि से किया जाना आवश्यक है कि वे वृद्धों का सम्मान करना सीखें तथा उनके मन में भी यह एहसास जगाना होगा कि उन्हें भी एक दिन इस अवस्था में पहुँचना है, तभी वह वृद्धजनों के प्रति अपने कर्तृतव्य व दायित्व बोध की अनुभूति कर पायेंगे ।

संदर्भ सूची

- Baliga,Sandhya(1996)The Psychology of Later Life,Philadelphia,W.B. SoundCo
- Blazer,Palmore(1976)Religion and Ageing in a Longitudinal Panel.The Gerontologist,16(1),82-85.
- Baghi,K.D.and E.(1998)Some important Areas of Gerontological Research in India,R&D Journal, HelpAge India Vol 4, No.2 & 3.
- Choudhry,D.P.(1992)Aging and the Aged,Inter India Publication, New Delhi.
- Camejo,Mesa,Lago(1994)Expansion of Social Protection to the Rural population in Latin America,Har Anand Publications
- Dhillon,P.K.(1992)Religiosity and death Among the Aged R&D Journal, HelpAge India Vol 2, No.2.
- Campathi,A.L.(1994)Social Security in India,Har Anand Publications
- Hussain,Akbar,(1997)Counseling of the Terminally Ill Elderly Patients,R&D Journal,HelpAge India Vol.3, No.2
- Jai Prakash,Indira.(1996)Ageing Women: A Liability or an asset R&D Journal helpageindia vol.2.No.2

आशीष कुमार चौरसिया
शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

संयुक्त राष्ट्र संघ और महिला उत्थान

—पूरनमल मीना

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास जगत नग पग तल में¹—न जाने कब से मानव समाज ये सुनता आया है। इन श्रद्धात्मक एवं सम्मानजनक भावनाओं के बावजूद, इस पितृसत्तात्मक समाज में महिला अनादि काल से शोषण, दमन और प्रताड़ना का शिकार या फिर पुरुष की सम्पत्ति एवं विलासिता का साधन मात्र बनी रही। कोई भी ऐसी विपदा नहीं जिसमें सबसे अधिक कष्ट महिलाओं को उठाना न पड़े—बाढ़, सूखा, बीमारी या युद्ध। खासकर युद्धों में आक्रामक सेना द्वारा इनके बलात्कार की कहानियां काफी दर्दनाक हैं। दो विश्व युद्धों के दौरान जापानी फौजों के द्वारा की गई बर्बरता आज भी जापान को शर्मसार करती है—1937 का कुछ्यात नानकिंग बलात्कार की घटना मानवता के लिए एक गहरा काला धब्बा है।² वियतनाम युद्ध के दौरान अमेरिकी सैनिकों के लिए आधिकारिक तौर पर बनाए गए रेस्ट एण्ड रीक्रिएशन सेंटर्स (वेश्यालय) तथा बंगलादेश की आजादी की लड़ाई का दमन करने वाली पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा किया गया सामूहिक बलात्कार³ आज भी हमारी मानवीयता की छिपी पाश्विकता को उजागर करता है।

स्पष्टतः युद्ध समाज के सर्वाधिक कमजोर वर्ग को सबसे अधिक क्षति पहुँचाता है। शायद इसी कारण दो विश्व युद्धों के बाद विभिन्न चिंतकों ने युद्ध, शांति तथा इनसे जुड़ी समस्याओं पर अधिक सोचना प्रारंभ किया। इसी दौरान फ़ांसीसी विदुषी सिमॉन दी बुआ ने अपनी प्रख्यात पुस्तक ‘द सेकेन्ड सेक्स’ (1949) लिखकर विश्व स्तर पर नारीवादी वैचारिक आंदोलन को जन्म दिया। इसमें महिलाओं की तुलना समाज के शोषित और हासिए के लोगों—यहूदी, उपनिवेशों की जनता, श्रमिक आदि से की गई। साथ ही इस बात पर जोर दिया कि समाज ने महिला को सौन्दर्य, सुव्यवहार एवं मर्यादा और संस्कार की प्रतिमूर्ति बनाकर आदि काल से शोषण की प्रक्रिया जारी रखा है—पुरुष हाथों की कठपुतली मात्र। अतः ये आह्वान किया गया कि महिलायें अपने शरीर और अस्तित्व का सही हकदार तभी बन पाएँगी जब वे पुरुष प्रधान समाज द्वारा बनाए गए आचार, विचार और व्यवहार को समाप्त कर स्व एवं स्वाधिकार को प्राप्त करे। ये तभी संभव हो सकेगा जब उसे पुरुष की तरह पूर्ण मानव होने का अधिकार और सम्मान प्राप्त हो।

इन अवधारणाओं को सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानूनी स्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रदान किया। ये विश्व की

पहली ऐसी संस्था बनी जिसने शांति के सकारात्मक पहलू अर्थात् आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयाम पर बल दिया। इसका एक अंग आर्थिक एवं सामाजिक परिषद है। इसके माध्यम से संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट का करीब तीन चौथाई खर्च किया जाता है⁴ प्रस्तावना में मानवाधिकार, मानव की मर्यादा तथा महिला-पुरुष की समानता⁵ पर उसी प्रकार बल दिया गया है जैसे कि संप्रभुता के आधार पर छोटे-बड़े देशों की समानता।

इसी उद्देश्य से 1946 में मानवाधिकार आयोग के बाद संयुक्त राष्ट्र के द्वारा महिलाओं की स्थिति पर आयोग गठन किया गया। इन दोनों आयोगों के प्रयास से विश्व स्तर पर महिलाओं की स्थिति में सुधार की दिशा में काफी बल मिला। 10 दिसम्बर, 1948 को महासभा द्वारा पारित युनिवर्सल डीक्लरेसन ऑन घूमन राईट्स (यू. डी. एच. आर.) में स्त्री-पुरुष की समानता पर जोर दिया गया, बिना किसी शर्त। यह एक महज संयोग था कि मानवाधिकार घोषणा बनाने में भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति की पत्नी ईलनर रुजवेल्ट ने निर्णायक भूमिका निभाई थी। ईलनर रुजवेल्ट इसे सम्पूर्ण मानवता के अधिकार पत्र की संज्ञा दी। यहाँ यह गैर तलब है कि जब महासभा में इस पर मतदान हुआ तो आठ देशों ने भाग नहीं लिया—ठः देश सोवियत संघ के साथ साम्यवादी मानवाधिकार को पश्चिमी छलावा और महज भ्रामक प्रचार मानते रहे। रंगभेद वाले दक्षिण अफ्रीका तथा वहाबी इस्लाम को मानने वाले सऊदी अरब। इस्लामी देशों में महिलाओं की स्थिति कमोबेश बुरी ही है। इनमें तालिबानी प्रादुर्भाव के कारण महिलाएँ सबसे अधिक हिंसा का शिकार हुई हैं। 1988 में चुनाव जीतने के बाद भी बेनजीर भुट्टो को पाकिस्तान का प्रधानमंत्री मात्र इसलिए नहीं बनने दिया जा रहा था कि किसी इस्लामी देश में कोई स्त्री शासन कैसे कर सकती है। परन्तु उसी देश में एक छोटी बच्ची मलाला युसुफजाई (1997) पैदा होती है जिसने पाकिस्तानी तालिबान की गोलियों से बेखौफ नारी उथान और शिक्षा के लिए आवाज उठाई और उसके बहादुर प्रेरणादायक कार्य के लिए नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया। वहीं दूसरी ओर मात्र 16 वर्षीय स्वेडिश ग्रेटा थनवर्ग ने 2019 में यू.एन. क्लाइमेट कांफेंस में विश्व नेताओं को अपने भाषण में ‘हाऊ डेयर यू’ के सम्बोधन से झकझोर दिया। ग्रेटा की छोटी उम्र में पर्यावरण के प्रति जागरूकता इस बात का ध्योतक है कि नारी देश-दुनियां की समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील बन रही हैं। विभिन्न देशों में महिलाओं ने बहुत सफलतापूर्वक शासन किया है। इतना ही नहीं भारत जैसे पारंपरिक देश में भी लड़कियों के

दृष्टिकोण में बहुत बदलाव आया है। अब वे सौदर्य की चाहत से अधिक अपनी शिक्षा और सशक्तीकरण पर अधिक ध्यान देती हैं।

वैसे तो इस परिवर्तन के पीछे अनेक कारण हैं, जैसे आधुनिकता, शिक्षा के बढ़ते अवसर और जनसंचार की बढ़ती पहुँच, लेकिन इन सबों से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका रही है संयुक्त राष्ट्र संघ की। इसके विभिन्न प्रस्ताव और घोषणाओं ने सभी देशों को प्रेरित किया स्त्री विकास एवं सुरक्षा पर ध्यान देने हेतु। इस क्रम में वर्ष 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष तथा 1976-85 को महिला दशक के रूप में घोषित कर सुनियोजित रूप से विश्व स्तर पर महिला कल्याण कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया गया। इस दिशा में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1979 में कनवेंशन ऑन द इलिमिनेशन ऑफ ऑल फॉर्मस ऑफ डिसक्रिमिनेशन एगेन्स्ट वीमेन (सी ई डी ए डब्ल्यू) पारित कर एक प्रकार से इन प्रयासों में तेजी ला दिया। इससे महिला के विरुद्ध होने वाले भेदभाव को परिभाषित कर देशों पर जोर डाला गया कि उन्हें समाप्त करने हेतु यथोचित प्रयास करें। इनमें शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन, विवाह तथा परिवार तथा कानूनन समानता सम्बन्धी भेदभाव को समाप्त करने पर विशेष ध्यान दिया गया है। इन्हें पालन करवाने हेतु एक 23 सदस्यों की समिति भी बनायी गयी है जो देशों की रपट का अध्ययन करती है और उन्हें अन्ततः महासभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है ताकि इन्हें और बेहतर रूप से लागू किया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष 1975 में मेविस्को में एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें प्रजनन संबंधी अधिकार, शारीरिक सुरक्षा, सम्मान, स्वतंत्रता एवं समानता पर बल दिया गया। दूसरा सम्मेलन 1980 में कोपेनहेगेन में पांच वर्षों की उपलब्धि की समीक्षा हेतु बुलाया गया। परन्तु इसमें देशों के बीच नई आर्थिक व्यवस्था, संभेद तथा यहूदीवाद जैसे विभाजनशील मामलों के कारण टकराव की ही स्थिति बन गई। 1985 में नैरोबी में तीसरा सम्मेलन हुआ। इसमें महिला दशक की समीक्षा की गई, आगामी नीति निर्धारण एवं दक्षिण की महिलाओं की विशेष समस्याओं पर ध्यान दिया गया।

इसी कड़ी में 1993 में वियना में मानवाधिकार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने महिलाओं के अधिकार को मानवाधिकार के समान माना। साथ ही महिलाओं के विरुद्ध बढ़ती हिंसा के प्रति ध्यान आकृष्ट किया और गर्ल चाइल्ड की रक्षा एवं घोषण पर बल दिया।⁶ दो वर्ष बाद 1995 में बीजिंग में सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसकी घोषणा में 12 मामलों पर ध्यान केन्द्रित

किया गया—गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्त्री विरुद्ध हिंसा, सैन्य संघर्षों के प्रभाव, आर्थिक संरचनाएं एवं नीतियां, सत्ता में साझेदारी, महिलाओं का विकास, मीडिया, अधिकार, पर्यावरण के प्रभाव एवं महिला शिशु। परन्तु उसी समय बीजिंग में गैर-सरकारी संस्थाओं (एन.जी.ओ.) का भी इसी विषय पर सम्मेलन चल रहा था जिसने अधिकारिक घोषणा को महज लिपापोती बताकर खारिज कर दिया। इनकी मांग थी कि अगर सही रूप से नारी उत्थान करना है तो मानवाधिकार के रूप में आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार महिलाओं को पूर्ण रूप से मिले। अर्थात् स्त्री को प्रजनन, साधन और अधिकार का स्वामित्व प्राप्त हो।⁷ परन्तु इनकी प्राप्ति करना कोई आसान काम नहीं है। आज भी विश्व के अशिक्षित वयस्कों में दो-तिहाई औरतें ही हैं।⁸ ये सदियों से चली आ रही भेदभाव को पूर्ण रूप से मिटाने जैसा कठिन कार्य है। कठिनाइयों के बावजूद, जागरूकता बढ़ी है, लेकिन साथ ही भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ एक तरफ विभिन्न अवसर मिले वहीं चुनौतियाँ भी बढ़ी हैं। आर्थिक भेदभाव, सशस्त्र संघर्षों के कारण हिंसा की प्रवृत्ति और अश्लीलता बढ़ने के कारण महिलाओं की स्थिति कुछ अर्थों में बिगड़ी ही है। संभवतः इन्हीं समस्याओं के निदान हेतु यू.एन. मिलेनियम डेवलपमेंट गोल 2000 में उन मसलों पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है जिनसे महिलाओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है—अतिशय गरीबी एवं भूख, सबों के लिए प्राथमिक शिक्षा, शिशु मृत्युदर में कमी करना, लैंगिक समानता एवं महिला सशक्तीकरण।⁹ विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय रपट ये बताती हैं कि इस दिशा में वैश्विक उपलब्धि आशानुकूल नहीं है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ और उससे जुड़ी अन्य संस्थाओं के संयुक्त प्रयास से स्थिति में मौलिक बदलाव आया है। आधारभूत सामाजिक संरचना एवं सांस्कृतिक अवधारणाएं समय के साथ बदलती हैं, उनमें जल्द क्रांतिकारी परिवर्तन की उम्मीद करना गलत ही होगा।

इन समस्याओं-संघर्षों के बीच उत्साह और आशा की प्रखर किरण इसी बात में दिखती है कि आज 21वीं सदी में महिलाएं अपनी सामाजिक-शारीरिक मर्यादा तथा अधिकारों के प्रति दिन-प्रतिदिन जागरूक हो रही हैं। पिरुसत्तात्मक समाज के दमन व घरेलू एकान्त जनित एकाकीपन की चुनौतियों से जूझते हुए आगे बढ़ रही हैं। इसी कारण ऐसी महिलाओं को अक्सर अभद्रता और दुर्व्यवहार का शिकार होना निश्चित रहा है। चाहे सीमोन द बउआ हों या फिर सरेना, मडोना या कंगना। हल्ताकि ऐसी ही साहसी महिलाएं

इतिहास बनाई हैं, जिन्होंने पुरुष प्रधानता और उससे जुड़ी कुरीतियों को उखाड़ फेंकने का साहस जुटाया। नारी उत्थान व सशक्तीकरण का आधार महिला बनाम पुरुष नहीं बल्कि भला बनाम बुरा, शोषित बनाम शोषक होना चाहिए। इसमें विश्व समाज के सभी वर्गों, समुदायों की भागीदारी आवश्यक है। महिलाएं हमारी आबादी की करीब आधी हिस्सा हैं। विकास की गाड़ी केवल एक पहिए से नहीं चल सकती। दोनों का ठीक होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, एक महिला के सुशक्षित एवं समझदार होने से पूरे परिवार पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि महज राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानून बनाने से स्थिति बदलने वाली नहीं है। आवश्यक यह है कि वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तर पर मानवीय चेतना को जागरूक करना होगा। शायद इसी कारण आज 21वीं सदी में भी हमें जरूरत है इस नारे की—बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ।

संदर्भ

1. मनुसृति, 3/56, जयशंकर प्रसाद, कामायनी, लज्जा, भाग-2
2. नानकिंग में जापान की सेना द्वारा करीब 20 से 80 हजार औरतों से बलात्कार का अनुमान है। इरिन ब्लैकमोर, “द बुटल हिस्टरी ऑफ जापान्स कम्फर्ट वीमेन।”, www.histroy.com, 20 फरवरी, 2018
3. करीब 2 से 4 लाख औरतें बंगलादेश में बलात्कार की शिकार हुईं। बंगलादेश डाक्यूमेंट्स, भाग-2 (नई दिल्ली), पृ. 72
4. ए. लीरॉय बेनेट, इन्टरनेशनल ऑरेनाइजेसन्स (न्यूयॉर्क : प्रेटिस हॉल, 1995), पृ. 71
5. प्रस्तावना, संयुक्त राष्ट्र चार्टर
6. वियना डिल्केरेसन एंड प्रोग्राम ऑफ एक्सन, जून, 1993
7. वी. एम. मोघाडम, ‘द फोर्थ वर्ल्ड कॉन्स ऑन वीमेन’, बुलेटिन ऑफ कन्सर्न एशियन स्कॉलर्स, भाग-28, अंक-1, जनवरी-मार्च, 1996
8. छिंच कंट्री फर्स्ट गेव वीमेन बोर्डिंग राइट्स, इंडिया टुडे वेब डेस्क, 22 जनवरी 2019
9. यू.एन. मिलेनियम डिक्लेरेशन, न्यू यार्क, 6-8 सितम्बर 2000

—पूरनमल मीना

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय राजगढ़ अलवर, राजस्थान

शिक्षण प्रभावशीलता के माध्यम से मध्यप्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में सांस्कृतिक, भाषायी व राजनीतिक परिवर्तन

—नवनीत कुमार सिंह
—अनुपम सिंह
—प्रो. शमीम अहमद

भारत में सांस्कृतिक विविधता व्याप्त है, जिसके कारण भारत को सांस्कृतिक विविधताओं का देश कहा जाता है। यहां पर विविध प्रकार की जनजातियां निवास करती हैं। मध्यप्रदेश में निवास करने वाली जनजातीय समूहों की संख्या 43 है। विशेष पिछड़ी जनजातीय समूह में मुख्यतः तीन प्रकार के जनजाति को विशेष रूप से कमज़ोर माना गया है, जो निम्न हैं—बैगा, भारिया एवं सहरीयां। वर्तमान समय में जागरूकता जनजाति समाज में पाई जा रही है परंतु जनजातीय समाज कठिन दौर से गुजर रहा है। इनकी समस्या मुख्यतः इस प्रकार है जल जंगल और जमीन, लोक संस्कृति, शिक्षा स्वास्थ्य और स्थिरों से जुड़ी समस्याएं दिनोंदिन गंभीर रूप लेती जा रही हैं। प्राचीन काल से ही इनका निवास वनों और पहाड़ों में रहा है। जीवन यापन के लिए इनकी निर्भरता वनों पर ही रही है। इन क्षेत्रों में निवास करने वाली महिलाएं महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ये महिलाएं परिवार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, जो परिवार के भरण-पोषण के लिए घर और घर से बाहर काम करती हैं। आदिवासी महिला से प्राप्त लेख के अनुसार इसका जिक्र है कि महिलाएं कुछ क्षेत्रों जैसे खेतों में कार्य करने, अन्य घरों में जाकर झाड़ू व पोंछा करने, भवन निर्माण में श्रमिक के रूप में, घरेलू उद्योग, छोटे व्यापार आदि में पुरुषों से अधिक कार्य करती हैं। इन्हें अपने कार्य में अधिकार भी प्राप्त हैं, पुरुषों द्वारा इनकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों में प्रमुख भूमिका भी स्वीकार की गई है और सम्मान भी प्राप्त है। महिलाओं की बराबर सहभागिता के बावजूद भी जनजातीय समाज सामाजिक आर्थिक बदलावों और वनसंपदा के हास के कारण चुनौतीपूर्ण बनता जा रहा है। परंतु शिक्षण एक ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से वे अपने जीवन को सुगम व सरल बनाने का प्रयास कर रहे हैं। शिक्षण प्रभावशीलता के माध्यम से जनजातीय क्षेत्रों के विद्यालयों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के सहयोग से जीवन की हर चुनौती

के लिए तैयार हो रहे हैं। विश्व में जनजातियों की जनसंख्या की दृष्टि से पहला स्थान अफ्रीका का और दूसरा स्थान भारतको प्राप्त है। देश की जनसंख्या का लगभग 8.08% जनजातियों की जनसंख्या है। हमारे देश में अनेक क्षेत्रों में आदिकाल से ही जनजाति समाज का निवासस्थान पर्वत पहाड़ जंगलों एवं सुदूर प्रांतों में रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप इन्हें आदिवासी, बनवासी, जनजाति आदि नामों से पुकारा जाता है।

शिक्षा एक मौलिक अधिकार है। किसी भी राष्ट्र व समाज का निर्माण विद्यार्थियों की अधिगम अर्जन व उसकी रुचि को शिक्षण प्रभावशीलता के माध्यम से ही बढ़ाया जा सकता है। शिक्षण की गुणवत्ता व प्रभावशीलता पर अधिकांश देश की शिक्षा प्रणाली निर्भर करती है। शिक्षण का उत्तरदायित्व कक्षा में केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं अपितु राष्ट्र की चिंतनधारा को बदलने की आलौकिक शक्ति है। विद्यार्थियों में भविष्य को देखते हुए व्यवसाय का चुनाव करने के लिए प्रेरित करना, सामाज के प्रति उनके कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए जागरूकता करना, वर्तमान परिप्रेक्ष्य को देखते हुए नवीन तकनीकी की जानकारी देना भी एक शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए विद्यालयों में भौतिक सुविधाओं का होना अत्यंत अवश्यक है जिसके अंतर्गत शिक्षण भवन, खेल का मैदान, कंप्यूटर, पीने योग्य पानी और शौचालय का होना आदि निहित है। जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था गोत्र एवं संगोत्र पर आधारित हैं, एक गोत्र आदिवासी एक परिवार, कुल, ग्राम में मिल-जुल कर रहते हैं। सबके सुख एवं दुख को एक साथ मिलकर काटते हैं। वे अपना कोई भी सामाजिक निर्णय समाज की सहमति से लेते हैं। कोई भी ऐसा निर्णय नहीं लिया जाता जिसमें समाज की सहमति नहीं होती है। सभी एक साथ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कार्यों को करते हैं। आधुनिकता के इस दौर में बहुत से जनजातीय समाज औद्योगिक इकाई के समीप बसे हैं, वह नगरी जीवन शैली में पूर्ण रूप से रम गए हैं, और नगरीय जीवन को पूर्णता स्वीकार कर लिए हैं। आज जनजातीय समाज आधुनिकता के दौर में गोत्र व्यवस्था से परे नगरीय समाज में रहने के कारण गोत्र संगोत्र व्यवस्था के बजाय मित्रता की व्यवस्था में जीवन यापन करते हुए संयुक्त परिवार और कुल के बंधन से बाहर निकल आए हैं। आदिवासी समाज के इस प्रकार का व्यापक परिवर्तन हमें देखने को मिलता है। जनजाति समाज में एक प्रकार का प्रभाव यह भी देखने को मिलता है, कि नगरीय जीवन में बसने के कारण परिवार और कुल

से दूर रहना पड़ता है, जिसके परिवार समाज और क्षेत्र के उत्सव एवं त्यौहारों को बार-बार एकत्रित होकर न मना पाने के कारण उनके ऊपर सामाजिक संबंधों का बंधन प्रभाव न के बराबर रहता है और स्वतंत्र होकर अपनी मर्जी से अपना जीवन यापन करते हैं। जनजातीय समाज में विविध प्रकार की विवाह करने की परंपरा विद्यमान थी, परंतु आज जनजातीय समाज शिक्षित हो गया है, वर-वधू को अपना जीवनसाथी चुनने का अधिकार है, जिसके परिणाम स्वरूप बाल विवाह परंपरा लगभग समाप्ति के कगार पर है और विवाह योग्य आयु होने पर विवाह करने की प्रथा का प्रचलन आरंभ हो गया है। आधुनिकता के दौर में जनजातीय समाज के पहनावे में भी परिवर्तन देखने को मिलता है और विवाह में महंगे उपहार एवं दहेज की प्रथा का भी आरंभ होता दिख रहा है।

जनजातीय जनसंख्या में हमारा देश दूसरे स्थान पर है। यहां अनेक प्रकार की जनजातियां निवास करती हैं। इनकी संस्कृति अन्य वर्ग के संस्कृतियों से भिन्न है, जिसमें उनके विश्वास, रीति-रिवाज, परंपराएं, ज्ञान, संगीत, कौशल आदि सभी शामिल हैं परंतु आधुनिकता के प्रभाव ने इन्हें भी नहीं छोड़ा जनजाति वर्ग के बच्चे जो विद्यालय जाते हैं उन्हें अपने रीति-रिवाज, परंपरा आदि को छोड़कर आधुनिक रीति रिवाज, परंपरा और व्यवस्थाओं को अपने जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दे रहे हैं। नगरीय जीवन में बसने के कारण वे अपनी संस्कृति को छोड़ आधुनिक संस्कृति को सीखने में ज्यादा विश्वास दिखाते रहे हैं। आधुनिकता की होड़ में जनजाति समाज की अर्थव्यवस्था पर बहुत ही ज्यादा प्रभाव पड़ा है। जो जनजाति समाज पहले मुख्यता वनों और कृषि पर निर्भर रहता था, आज वे भी मासिक वेतन, बचत आदि को महत्वपूर्ण समझने लगे हैं, नगरीकरण, औद्योगिकरण के प्रभाव के कारण कुटीर उद्योग, फुटकर विक्रेता, गुमटी, रिक्षाचलाना, ठेला, मजदूरी आदि कार्यों की ओर आकर्षित होता जा रहा है। जनजाति समाज के कृषि आधारित व्यवस्था में भी काफी परिवर्तन आया है। ये लोग कृषि में सबसे ज्यादा सब्जियों को उगाने में जोर दे रहे हैं, और लघु वनोपज और मजदूरी को महत्वपूर्ण समझते हैं। कृषि कार्यों को आधुनिक तरीके से करना पसंद कर रहे हैं, उन्हें बेचकर अच्छा पैसा कमा रहे हैं। शिल्पकार, कलाकार आदि अपनी कृतियों को नगरी बाजार में उतार कर उनकी अच्छी-अच्छी कीमतें बाजार से पाते हैं और बाजार की मांग पर अधिक परिश्रम से अपना कार्य निर्धारित समय पर पूरा करके अत्यधिक पैसा कमा कर अपने रहन सहन के स्तर को ऊपर उठा रहे हैं।

जनजातीय समुदाय प्रकृति में आस्था और विश्वास रखता है, वे धरती माता की आराधना करते हैं। वे समाज में सुख समृद्धि एवं कष्टों के लिए प्रकृति को ही उत्तरदाई मानते हैं। वे फसलों में उन्नत बीज और उर्वरकों का प्रयोग करने से बचते हैं। उनका मानना है कि इससे देवी देवता कृपित हो जाते हैं और सर्वनाश कर देते हैं। जनजातीय समुदाय में व्याप्त ये मान्यता अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। अब ये फसलों की उपज के लिए उन्नत बीज और तकनीकों का प्रयोग करने लगे हैं। नगरीय संपर्क में आने के कारण बीमारियों के लिए अब दवा का प्रयोग करने लगे हैं, पहले ये लोग दवाइयों से ज्यादा झाङ-फूँक में विश्वास करते थे। आदिवासी समुदाय में पहले लोग घास-फूस मिट्टी लकड़ी आदि के घर बनाते थे, परंतु अब वे ईंट सीमेंट आदि से निर्मित कर के मकान बनाते हैं, और वे सारी व्यवस्थाएं एवं सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हैं जो एक नगरी क्षेत्र के घरों में होती हैं। नगरी प्रभाव के चलते ही ये लोग खिड़कियां, दरवाजा, शौचालय, रसोईघर, स्नानघर आदि का निर्माण घरों में करने लगे हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करने के कारण जनजातियों के निवास स्थान दूर एकांत में रहते हैं। ऐसे एकांत मकानों की अनेक विशेषताएं भी होती हैं, क्योंकि इनका निर्माण प्राकृतिक संसाधनों द्वारा किया गया रहता है। ये मकान कच्चे होते हैं, आधा कच्चे, आधे पक्के भी होते हैं, घास फूस और पत्थरों से भी निर्मित किए गए होते हैं। ऐसे मकानों का वर्गीकरण इस प्रकार होता है—कच्चा मकान, पक्का मकान, अर्ध पक्का मकान। सरकार द्वारा चलाई जाने वाली प्रधानमंत्री आवास योजना के अंतर्गत जनजातीय समुदाय भी लाभान्वित होते हैं जिसके द्वारा इनके जीवन स्तर को ऊपर उठाने का प्रयास किया जा रहा है जिससे जनजाति समाज भी विकास की ओर अग्रसर हो सके और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक मकान की सुविधा उन्हें मिल सके।

शिक्षण प्रभावशीलता के बढ़ते प्रभाव के कारण जनजाति समुदायों में घरेलू उपकरणों के प्रयोग में भी परिवर्तन अभिलक्षित होता है। जैसे पहले लोग लोहे, एलमुनियम, काँसा आदि के बर्तन का इस्तेमाल करते थे। परंतु स्टील, प्लास्टिक, काँच आदि का उपयोग अब जनजाति समाज में होने लगे हैं। जनजातीय समाज में खेल के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। वह अपना खेल पत्थरों पत्तों एवं फूलों आदि के माध्यम से खेलते थे, और जब बच्चे बड़े हो जाते थे तो तीर धनुष, कबड्डी, तलवार आदि से मनोरंजन करते थे। परंतु आधुनिकता के बढ़ते प्रभाव के कारण बच्चे अब

क्रिकेट, वॉलीबॉल, बैडमिंटन, गेम्स, ताश एवं कैरम खेलने लगे हैं। अब ये स्कूल की तरफ से भी खलने जाते हैं, और जीतते भी हैं। पहले के समय में आदिवासियों के मनोरंजन का साधन लोक, नृत्य, नौटंकी, कहावतें, नाटक, लोकोक्तियां थे परंतु आज इनका दायरा सिमट गया है। अब जनजातीय समाज मनोरंजन के लिए रेडियो, ट्रांजिस्टर, मोबाइल, सीडी प्लेयर, सर्कस गांव-गांव में देखे जाते थे। अधिकतर जनजाति मनोरंजन के साधनों से परिपूर्ण हैं। ये सिनेमा के नए गाने आदि के सब चीजों से मनोरंजन करते हैं। यह सब आधुनिकता का ही प्रभाव है। प्राचीन समय में आदिवासी क्षेत्र में ग्रामीण आदिवासी कारीगरों द्वारा निर्मित वस्त्र पहनते थे। अब कपड़ों को मशीनों से निर्मित किया जा रहा है, उनको पहनना पसंद करते हैं। वह वस्त्र कम दरों पर भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के वस्त्र फैशन के अनुसार और आरामदायक होते हैं। कुर्ता-धोती का स्थान पैंट, शर्ट ने ले लिया है। महिलाओं ने सलवार सूट का फैशन अपना लिया है, नगरी क्षेत्र में बसे आदिवासी सभी प्रकार के वस्त्र पहनते हैं। गहनों के रूप में टेटू, पुष्प बीज, पत्तियां पंखों आदि की मालाएं आदिवासी समाज में पहनी जाती थीं। परंतु आज इस आधुनिकता के दौर में औरतें अपना शृंगार सोने-चांदी और प्लास्टिक आदि के आभूषणों को उपयोग कर रही हैं।

मानव के किसी भी समुदाय की पहचान उसकी संस्कृति, सभ्यता और उनके द्वारा बोली जाने वाली बोली से होती है। आदिवासियों का गढ़ कहे जाने वाले इस प्रदेश में 43 अनुसूचित जनजातियां अथवा उनके समूह हैं, जिसमें भील, बैगा, अगरिया, गोंड, कोल, सहरिया आदि प्रकार की जनजातीय निवास करती हैं। प्रत्येक समुदाय की अलग-अलग भाषा और बोली है। प्रभावकारी शिक्षण का प्रयोग सरकार द्वारा मातृ भाषा में शिक्षा की व्यवस्था को बढ़ाने का प्रावधान शिक्षण संस्थानों में किया है। जनजाति भाषाओं पर शिक्षण का प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ा है। नगरीय क्षेत्र में रहने वाले लोग अपनी मातृ भाषा को बोलकर समाज में आसानी के साथ अपनी बातों को रखते हैं, और उनकी आने वाली पीढ़ियां अपनी मातृ भाषा से परिचित हो रही हैं। शिक्षण प्रभावशीलता के द्वारा शिक्षक छात्रों को अपनी मातृ भाषा और विद्यालय में प्रयोग होने वाली भाषा में सामंजस्य बैठाने की योग्यता विकसित करने का प्रयास करता है। जनजातीय समाज राजनीति में ज्यादा रुचि ले रहा है, शिक्षण के प्रभावी तरीके के प्रयोग द्वारा सरकार की योजनाओं की जानकारी से प्राप्त योजनाओं का लाभ लेते हैं। वे अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। निम्न बिंदुओं के

प्रति उनकी जागरूकता देखने को मिली वो इस प्रकार है—

भारत एक लोकतंत्रात्मक देश है जिसमें निष्पक्ष चुनाव पर विशेष महत्व दिया गया है। जनजातीय समुदाय भी चुनाव मतदान के प्रति जागरूकता का परिचय दे रहे हैं। सुदूर क्षेत्रों में निवास करने के बावजूद ये चुनाव प्रक्रिया में भी भाग लेते हैं। जनजातीय समुदाय में जनजाति महिलाएं एवं पुरुष अपने मतदान के प्रति सजग एवं जागरूक हैं। वे भी अपना प्रतिनिधि चुनने के लिए तत्पर रहते हैं। पंचायती राज व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई ग्राम पंचायत है। पंचायती राज व्यवस्था तीन स्तरों पर कार्य करती है। ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और नगर पंचायत। इस व्यवस्था में जनजातीय समुदाय में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रहा है। जनजाति समुदाय ग्राम पंचायत की बैठक और ग्राम पंचायत के कार्यों के प्रति जागरूक और सजग है। मध्य प्रदेश के जनजाति क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन की स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्य करने के उद्देश्य से बहु विविध कार्य अधिकारी एवं शक्तियों को पंचायतों को प्रदान की गई है। ग्राम पंचायतों में विकासात्मक कार्यों की समीक्षा त्रिस्तरीय पंचायतों के द्वारा की जाती है। जनजातीय समुदाय के लोग इस में अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं। शिक्षण प्रभावशीलता के माध्यम से शिक्षक जनजातीय छात्रों की संस्कृति, भाषाई और राजनीतिक परिवर्तन को परिलक्षित कर रहा है। परंतु ग्रामीण जनजाति समुदाय के सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति के अंतर्गत इन समुदाय के लोगों की साक्षरता स्थिति देखनी है। इनकी आधारभूत संसाधनों की उपलब्धता नाम मात्र की है। राजनीतिक क्षेत्रों के संदर्भ में जनजाति समुदाय की चुनाव में मतदान जागरूकता लगभग 70% पाई गई है। ये निर्वाचन प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करते हैं। प्रतिनिधि चुने जाने पर भी व्यवहार सामान्य रखते हैं। जनजातीय समाज प्रत्यक्ष लोकतंत्र से जुड़कर राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा तो बन गए परंतु अभी अपने प्रभाव को उतना स्थापित नहीं कर पाए हैं। आधुनिकता के इस दौर में इनके सांस्कृतिक परंपराओं का क्षस होता प्रतीत हो रहा है।

संदर्भ

- उपर्योगी, हरिश्चंद्र (1970) भारतीय जनजातीय सं. 1, सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केंद्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

- Ministry of Tribal Affairs www.tribal.gov. पद से प्राप्त
- <https://www.tribal.mp.gov.in.com> से प्राप्त
- <https://govvacancy.net> आदिवासी (जनजातीय) महिलाएं से प्राप्त
- <https://jaankarirakho.tribal.nic.in> पद से प्राप्त
- May 1999, Mishra N 2004 Tribal Culture in India, New Delhi
- आदिवासी धरोहर मध्यप्रदेश (TRIBAL HERITAGE MADHYA PRADESH) (आदिम जनजाति अनुसंधान म. प्र.) भोपाल 2003
- सरकार एवं मुनीम (1997) भारत का संविधान संक्षिप्त टिप्पणियों सहित, से प्राप्त
- फ्रें पी. (1998) संस्कृतिक कार्यकर्ता के रूप में शिक्षक उन लोगों के लिए पत्र जो पढ़ने का साहस करते हैं बोल्डर, सीओ. वेस्टव्यू प्रेस
- श्रीवास्तव डॉ. डी.एन. (2001), अनुसंधान विधिया साहित्य प्रकाशन, आगरा
- राबर्ट ए बैरी, शिक्षण प्रभावशीलता और यह क्यों मायने रखते हैं, मैरीलहम्पर्ट विश्वविद्यालय और चॉकवोर्ड परियोजना, शिक्षा विभाग, मैरीलहम्पर्ट विश्वविद्यालय, फरवरी 2010
- स्मारिक 9 जनवरी, 2012 पंडित कुंजीलाल दुबे, राष्ट्रीय संसदीय विद्यापीठ, पुराना विधान सभा परिषद, भोपाल, मध्य प्रदेश
- सामान्य अध्ययन, मध्य प्रदेश लोकसेवा आयोग की राज्य सिविल अध्ययन, (राजभाषा एवं संस्कृति संचालन मध्य प्रदेश) मध्य प्रदेश, हिन्दी गांठ अकादमी, भोपाल
- डॉ. एम. लवनिया, राष्ट्रीय केज़न, (SOCIOLOGY OF TRIBES IN INDIA) भारत में जनजातीयों का समजशास्त्र
- डपकर महिला अधिकार और भारतीय प्रावधान, (सीमा कुमारी), उपकार प्रकाशन, आगरा-2
- पंद्रो सुनीता, सितंबर 2016 (Historicity Research Journal, Volume 3) जनजातीय समाज में सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव

**—नवनीत कुमार सिंह और अनुपम सिंह
(शोधार्थी)**

शिक्षा शास्त्र विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक, मध्य प्रदेश-484887

—प्रो. शमीम अहमद
शिक्षा शास्त्र विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक, मध्य प्रदेश-484887

संत परंपरा में रैदास जी और उनका वैचारिक अवदान

—डा. विन्ध्याचल मिश्र

विज्ञापनी संस्कृति और कृत्रिम बौद्धिकता के दौर में, जब सारी दुनिया उसके दायरे में सिमटती जा रही है। ऐसे में लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ दिनों दिन न केवल लाभ-लोभ की भावना से परिचालित हैं बल्कि उनके सोच-व्यवहार में स्वार्थपन, उग्रता और आत्ममुग्धता में बेतहाशा बढ़ोत्तरी होते जाना, कितना बड़ा चिंता का विषय बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति में मानवीय मूल्यों और उसकी आँच को बचाए रख पाना दूभर होता जा रहा है। तब यह आवश्यक जान पड़ता है कि हम अपनी भक्ति-संत परंपरा को निकटता से अनुभव करें, उसका वैचारिक अवलोकन कर पायें और अपने समय के लिए एक समझ विकसित कर सकने की योग्यता पा सकें। तभी हम सही मायने में अपने समय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। संतों के संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा की यह वैचारिक टिप्पणी बड़ी अहमियत रखती है—“सन्तों का लोकधर्म सामन्ती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता वरन् उसे कमज़ोर करता है। सामन्ती व्यवस्था में दरती पर सामन्तों का अधिकार था, तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। सन्तों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है।”¹ दरअसल, इतिहासकारों का एक वर्ग मानता है कि जो संत थे वे सब शिल्पकारी के पेशे से जुड़े थे, कामगार थे, इससे इनकी आर्थिक स्थिति बेहतर हुई। इस वजह से उन्होंने सामंती मूल्यों पर प्रहार किया और मनुष्य को अपेक्षाकृत स्वाधीन बनाया। उन्होंने मेहनत और श्रम की बदौलत स्वाधीनता की चेतना का स्वाद चखा।

चूँकि, स्वाधीन होने के कारण जो सामंती प्रथा थी वह गुलामी का अहसास कराती थी, उसे उन्होंने तोड़ दिया। इस नई चेतना की झलक संत रैदास जी की वाणी में देखी जा सकती है। उनकी वाणी में अनुस्यूत विचार आज कितना प्रासंगिक प्रतीत होता है—पावन जस, माधो तेरा, तुम दारुन अधमोचन मेरा।। कीरति तेरी पाप बिनासे, लोक बेद यों गावै। कह रैदास प्रभु तुम दयाल हौ, अबॅध मुक्ति का करि हौ।।² वस्तुतः वे कहते हैं कि जो दारुण कष्ट है, पाप है, ये भौतिक है, और सांसारिक है। तो हे माधव! तुम्हारा नाम, यश जो है इन सबकों विनष्ट करने वाला है। यानी सारे भक्तों, संतों ने इसे स्वीकार किया है कि मनुष्य आमतौर पर विषयरस, विषयकामनाओं में लिपटा हुआ है। उसे केवल भगवान ही

नष्ट कर सकता है। दरअसल, उन्होंने भगवान को मुक्ति के कारक के रूप में पहचाना है। यहाँ तक मुक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। वह इन सांसारिक प्रपंचों से, विषयों में रत या अन्दर तक धृँसे हुए मन को छुटकारा दिलाता है। वह राग-द्वेष के बंधन से मुक्त कर देता है। वह हमें मुक्त कर स्वाधीन, मानवीय और उदारनुमा बना देता है और वह हमें मनुष्यता की राह पर चलायमान कर देता है। कबीर दास ने संत रैदास की महिमा को बड़ा भारी स्थान दिया है तथा उनका बखान करते हुए कहा है—सन्तनि में रविदास सन्त।

असल में, मध्ययुगीन संत परंपरा में संत रैदास और उनके विचारों का बड़ा भारी महत्व है। ये संत कबीर के समसामयिक कहे जाते हैं। अतः इनका समय सन् 1388 से 1518 ई. (सं. 1445 से 1575) के आस-पास का माना जाता है। उत्तरी भारत की संत परंपरा पुस्तक में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी इनके जीवन के संदर्भ में प्रकाश डालते हुए महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करते हैं—“इन्होंने नित्यप्रति दोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर दिया। ये साधुओं के साथ प्रत्यक्ष रूप में रहने लगे और इस प्रकार भगवान के दर्शन प्राप्त करने में सफल हो गए। उनके कुटुम्ब वाले देढ़ लोग बनारस के आस-पास उनके समय में दोरों व मृत पशुओं को ढो-ढोकर ले जाया करते थे और इस प्रकार उन देढ़ों का वंशज होते हुए भी उन्हें भक्त और महात्मा मानकर सदाचारी विषयों तक ने इन्हें प्रणाम किया।”³ स्वयं रैदास जी के पदों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर चमार जाति का होना सिद्ध होता है। उदाहरण के तौर पर इन पंक्तियों से बात पुष्ट होती है—जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा। नीचे से प्रभु उँच कियो है, कह रैदास चमारा।⁴ भक्ति के संदर्भ में आचार्यों ने गरीबी को गरीब भक्ति करने की एक योग्य माना है। यानी जो गरीब है उसे भक्ति करने का पात्र माना गया है। ये जीवन और समाज में व्याप्त तरह-तरह की जड़ताओं से मुक्ति का साधन है।

आधुनिक युग में गांधीजी के चिंतन के केन्द्र में भारतीय समाज का अतिम पायदान पर खड़ा व्यक्ति की चिंता दिखाई पड़ती है। हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए। बात यह है कि लगभग आरंभ से ही इस देश में आलोचनात्मक विवेक की परंपरा विद्यमान रही है। आज आस्थावाद को अधिक महत्व दिया जा रहा है। दरअसल दोनों आलोचनात्मक विवेक और आस्था कभी एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं रहे, लेकिन इस दौर में आलोचनात्मक विवेक जीवन और

समाज से अनुपस्थित होते जा रहे हैं। हम सब जानते हैं कि संत कवियों की दृष्टि अधिक आलोचनात्मक और विद्रोही रही है। संत रैदास जी की वाणी में इस तरह के विचारों की झलक देखी जा सकती है। इनका वैचारिक महत्व आज और अधिक प्रासांगिक लगता है। ये नितांत अवर्ण जाति के थे इसलिए सामाजिक स्वर पर इनका आलोचनात्मक होना अनिवार्य है। लेकिन इनकी आलोचनात्मकता में एक सौम्य प्रवृत्ति-सी मौजूद रही। यही कारण है कि प्रायः रैदासजी औरों के मुकाबले अधिक स्वीकार्य रहे हैं।

आधुनिक कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। वेदांतवाद में उनकी प्रबल आस्था थी, लेकिन तत्कालीन अँग्रेजी हुक्मत और सामाजिक व्यवस्था के प्रति वे आलोचनात्मक ही नहीं विद्रोही तेवर भी अखिलायर करते हैं। निराला और संत रैदास में एक प्रकार से समान-सी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसलिए ही मैंने रैदास जी पर चर्चा करने के लिए निराला की महत्वपूर्ण रचना के हवाले से, जिन्होंने उनके ऊपर कविता लिखी है, उसी से अपनी बात करना चाहता हूँ, और उनकी कविता को उद्धृत करना चाहता हूँ—ज्ञान के आकर मुनीश्वर थे परम/धर्म के ध्वज, हुए उनमें अन्यतम।

पूज्य अग्रज भक्त कवियों के/ प्रखर कल्पना की किरण नीरज पर सुधर/पड़ी ज्यों अँगड़ाइयाँ लेकर खड़ी हो गयी/ कविता कि आयी शुभ घड़ी जाति की/ देखा सभी ने मीचकर दृग, तुम्हें श्रद्धा-सलिल से संचकर/रानियाँ अवरोध की धेरी हुई/वाणियाँ ज्यों बनीं जब चेरी हुई/ छुआ पारस भी नहीं तुम ने/रहे कर्म के अभ्यास में/अविरत बहे ज्ञान-गंगा में/समुज्ज्वल चर्मकार/ चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।⁵ निराला ने उन्हें ज्ञान के भंडार, श्रेष्ठ ऋषियों और मुनियों का उत्तराधिकारी बनाकर इस कविता में प्रस्तावित किया है। उनको उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं। अपनी कविता में उन्हें जगह देकर या उन पर कविता लिख कर बड़ी व्यापक दृष्टि का उद्घाटन किया है, जितने संत-मुनिश्वर लोग हुए उनमें वे धर्म के अन्यतम ध्वज, पताका के रूप में उल्लेख करते हैं। यहाँ पर पताका तो विजय श्री का प्रतीक है, तुम उसमें अन्यतम हो, तुम्हारे जैसा अन्य कोई नहीं।

असल में, साहित्य या सरस्वती के मंदिर में शूद्रों का प्रवेश वर्जित था, तिस पर भी निराला ने उनके महत्व को स्थापित किया है। उन्होंने इनको एक साधारण भक्त कवि के रूप में नहीं बल्कि एक तेजस्वी अग्रज कवि के रूप में पहचाना है। निराला ने उन्हें एक श्रेष्ठ कवि के रूप में रेखांकित किया है। उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही कि

कविता की शुभ घड़ी तब उपस्थित होती है जब कोई प्रतिभाशाली कवि पैदा होता है। वे इनको एक दलित के रूप में नहीं बल्कि हिन्दी जाति के गौरव के प्रतीक के रूप में स्थापित करते हैं। जाहिर सी बात है कि किसी भी जाति की सांस्कृतिक समृद्धि का पता कवियों कि सृजनशील प्रतिभा से चलता है।

दरअसल, रैदास जी के वैचारिक योगदान को, तथा उनके चमत्कारिक प्रभाव को लोगों ने देखा है। ये अपने श्रम और ज्ञान की गंगा में बहुत उज्ज्वल थे। निराला ऐसे दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व वाले अपने पुरुषों को चरण छूकर नमन करते हैं। निराला इस कविता के माध्यम से यह जतलाने कि कोशिश करते हैं कि किस तरह से भक्ति आंदोलन ने जाति-पांति की जड़ता के बंधन को तोड़ा और अवर्ण जाति से सम्बंधित भक्तों-संतों के लिए मुक्ति के नए द्वार खोले। इस तरह कविता और श्रम दोनों ही एक सृजन व्यापार है और ये दोनों प्रकार का सृजन ज्ञान की साधना से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। उन्होंने अपने जमाने की जड़ता, अंधविश्वास और जातिगत बंधनों को तोड़ने के लिए तत्कालीन समय से श्रमबुद्धि के माध्यम से भक्ति बुद्धि और सृजनशील बुद्धि को अर्जित किया था। उनके पदों में थोथा और सारवान दोनों तरह के विचारों को परखने की समझ और विवेक साफतौर पर ध्वनित होता है। इनका यह पद उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं—थोथो जनि पछोरों रे कोई/जोइ रे पछोरों जा में निज कन होई/थोथो काया थोथी माया/ थोथा हरि बिन जनम गँवाया/थोथा पंडित थोथी बानी/ थोथी हरि बिन सबै कहानी/थोथा मंदिर भोग बिलासा/ थोथी आन देव की आसा/साचा सुमिरन नाम बिसासा/मन बच कर्म कहै रैदासा⁶

इस पद में जो बिम्ब उभरता है वह एक भारतीय ग्रामीण जीवन का दृश्य है। जब महिलाएं सूप से अनाज फटकती हैं तो उसमें जो कूड़ा-करकट होता है उसे पछोर कर बाहर निकाल देती हैं, यानी जो गुणरहित है, थोथा है, वह बाहर निकल जाता है। ये दृश्य घर-घर में देखा जा सकता है। कहने का मतलब यह है कि जो तुम्हारा निज कन हो उसे ही पछोरो। ऐसा लगता है कि तत्कालीन समय में जीवन केवल थोथे में तब्दील हो गया है, थोथेपन से जीवन भरता जा रहा है और सारवान के लिए संभावनाएं कमतर होती जा रही हैं। यानी जो नकारात्मक चीजें हैं उसकी पहचान करने की योग्यता पा करके, उसे पछोर दें, और जो मूल्यवान है, जो जीवनदायी चीजें हैं, उसे बचा पाने की योग्यता अर्जित कर लें। दरअसल, भक्त अपनी निजता और अहंकार को समाप्त कर वो भगवत्स्वरूप हो सके,

यानी जब वह अपने अहंकार को पछोरेगा तभी भगवान की निकटता का अनुभव कर पायेगा। यहाँ जो माया है। ये सब थोथेपन की ओर ले जाते हैं और जीवन को कूड़ा-करकटनुमा बना देते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर साधना के लिए कोई जगह नहीं बचती। जाहिर सी बात है कि जो जन्म है उसे वर्थ में गँवा दिया है। जो निर्गुण भक्त हैं वो सगुण देवी-देवताओं को स्वीकार नहीं करते हैं। जो लोग पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड में विश्वास करते हैं। रैदास जी उनको थोथे के रूप में मानते हैं। इनका मानना है कि सारी तपस्या तो हरि की निकटता का अनुभव करने में है न कि उन थोथे के उपक्रमों में गँवा देने में। रैदास जी ने जीवन की सार्थकता को, महत्ता को थोथे के मुकाबले जो सारवान है जिससे जीवन को अर्थवान बना सके, उसको वे बड़ा भारी महत्व देते हैं और अन्य सभी को त्यागने की सलाह देते हैं। संत कबीरदास के दोहों में भी कुछ इसी तरह के विचारों की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। उदाहरण के तौर पर इस दोहों को देखा जा सकता है—साधु ऐसा चाहिए/ जैसा सूप सुभाय/ सार-सार को गँहि रहे/ थोथा देइ उड़ाय/⁷

संत रैदास ने भक्ति कि विशिष्टता को सत्संगति के भीतर से धारण करते हैं। उनके यहाँ सत्संगति एक धारणा के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। उनके इस पद में सत्संगति की धारणा को सहजता से समझा जा सकता है—प्रभुजी संगति सरन तिहारी/ जग जीवन राम मुरारी/ गली गली को जल बहि आयो/ सुरसरि जाय समायो/ संगत के परताप महातम/ नाम गंगोदक पायो/ स्वाँति बूँद बरसे फनि ऊपर/ सीस बिषे होई जाई/ टोही बूँद कै मोती निपजै/ संगति की अधिकाई/ तुम चंदन हम रेड बापुरे/ निकट तुम्हारे आसा/ संगत के परताप महातम/ आवै बास सुबासा/ जाति भी ओछी करम भी ओछा/ ओछा कसब हमारा/ नीचै से प्रभु ऊँच कियो है, कहे रैदास चमारा⁸

भक्तों ने सतसंगति को बड़े गहराई के स्तर पर स्वीकार किया है। सतसंगति में रहने से जीवन में कितना बड़ा भारी परिवर्तन होता है। यह बदलाव मानव जीवन में, प्रकृति में भी सब जगह देखा जा सकता है। जैसे बारीश की एक बूँद जिसकी बड़ी भारी तमन्ना होती है कि वो धारा का हिस्सा बनें और गंगा में जाकर मिल जाकर मिल जाये। यह कितना बड़ा भारी परिवर्तन है। यह परिवर्तन सब प्रकार के पानी के लिए है जिसे गंगा पवित्र कर देती है। दरअसल, एक ओर सच की संगति में होना तो दूसरी तरफ झूठ की संगति में होना, दोनों के अपने- अपने करतब हैं, जो पापी दुष्टजन हैं वो भी साधुवृत्ति के माने जाते हैं। जैसे स्वाँति नक्षत्र का जल जब साँप की संगति में पड़ने पर विष

में बदल जाता है, वह मोती नहीं बन पाता तो महत्वपूर्ण यह है कि कौन किसकी संगति में पड़ता है। इस क्रम में रहीम का यह दोहा महत्वपूर्ण जान पड़ता है—जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग/चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग⁹

स्पष्टतः हम कह सकते हैं कि जो ईश्वर या भगवान की संगति है वह बहुत ही अहम चीज है। वह हमें चंदननुमा गंध से भर देती है यानी हम यूँ कह सकते हैं कि यह संगति कैसे भारतीय परम्परा में समूहभाव की भावना से ओतप्रोत है तथा संग-साथ रहकर भजन करना एक आचरण का हिस्सा बन जाती है। असल में, सतसंगति जो है वह व्यक्तिगत के मुकाबले सामूहिकता पर विशेष बल देती है और आज के कृत्रिम बौद्धिकता के समय में इसे एक बड़ी भारी विशेषता के रूप में प्रस्तावित कर सकते हैं। इसमें कौन किसके सम्पर्क में आ जाता है ये महत्वपूर्ण बात हो सकती है। यह सवाल उठ सकता है कि क्या कोई बुरा व्यक्ति भी अच्छे की संगति में आ जाता है, तो चंदन जैसी खुशबू प्रदान कर सकता है, क्या जो अच्छा व्यक्ति है वो बुरे के सम्पर्क में आता है तो भी उसके बुरे सोच को, उसके स्वभाव को बदल देने की कोशिश करता है, क्या उसे अपनी तरह की योग्यता प्रदान कर देता है? रैदास जी के पदों में इस तरह के विचार साफतौर पर दिखाई पड़ते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवान! तुम चंदननुमा हो और मैं नीच रेड हूँ। तुम्हारे संगति में आते ही हमारा जीवन गंध से भर उठता है। चूँकि, मैं जाति, धर्म और करतब का ओछा हूँ और तुम्हारी संगति ने हमको एक ऊँचा और विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। तुम्हारी भक्ति ने मानवीयता और उदारता का विशेष मूल्य पैदा कर दिया है और इस जीवन को सार्थकता प्रदान की है।

संत रैदास के विचारों का महत्व इस बात में हैं जैसा कि वह बताते हैं कि जो सांसारिक जीवन है, भौतिक जीवन है तो उसी के भीतर अध्यात्मिक जीवन का भाव और मूल्य विद्यमान है। आमतौर पर जो पढ़ने-गुनने से जो विद्वतापूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तो उससे कुछ

समझ में नहीं आता है। जब तक भगवद् ज्ञान की समझ नहीं विकसित हो, तब तक उस ज्ञान का भाव प्राप्त नहीं होता है। इसके लिए पाठ और जाप आदि से कुछ भी हासिल नहीं होता। इसके लिए तो भाव की साधना करनी पड़ेगी। भाव की अनुभूति और उसकी गहराई जीवन में एक समझ पैदा कर देती है। यानी भाव, अनुभूति और समझ के बिना जो ज्ञान है वह कोरा है, शुष्क है और निरर्थक भी है। वह किसी भी काम का नहीं है। उनका पूर्ण विश्वास है कि किसी ज्ञान या विचार महत्व तभी है जब भाव और समझ का बोध पैदा हो जाये। इस तरह का बोध और समझ रैदास जी की वाणी में मौजूद है। वर्तमान समय में इनके मानवीय और उदारवादी विचार जीवन को और भी अर्थवान बना देने का आलोक प्रदान करते हैं।

सन्दर्भ सूची

- परंपरा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 47-8
- महात्मा रैदासजी की बानी, मुद्रक व प्रकाशक बेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, 1980, पृ. 28
- उत्तर भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पृ. 173
- महात्मा रैदासजी की बानी, पृ. 38
- संत कवि रविदासजी, सूर्यकांत त्रियांगी निराला, निराला रचनावली भाग- 2, संपादक, नन्द किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 82
- महात्मा रैदासजी की बानी, पृ. 24
- कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुंदरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से संकलित
- महात्मा रैदास की बानी, पृ. 38
- रहीम ग्रंथावली, संपा. विद्यानिवास मिश्र और गोविन्द रजनीश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 77

—डा. विन्ध्याचल मिश्र
सह-आचार्य,
शहीद भगत सिंह कालेज (सान्ध्य),
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व विद्यालय दिल्ली

कल्याणकारी राज्य की स्थापना में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान

—प्रो. शैलेन्द्र सिंह

भारत विविधताओं से भरी विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं का देश है। आज सभी लोग इस देश में खुलकर सांस ले रहे हैं और अपने-अपने दायरे में रहकर समानता के आधार पर स्वतंत्रता महसूस कर रहे हैं। वे अपने धर्म, पंथ, सम्प्रदाय आदि का प्रचार-प्रसार कर पा रहे हैं और समाज की मुख्य धारा में जुड़ने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ मौलिक शिक्षा को मूल अधिकार में शामिल किया गया है। इस देश में प्रत्येक व्यक्ति को समता का अधिकार (अनु. 14-18) स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 19-22), शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनु. 23-24), धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 25-28), संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (अनु. 29-30) तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनु. 3-32) हमारा भारतीय संविधान देता है। सम्पूर्ण भारतीय संविधान भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने की बात करता है। ऐसे संविधान को लिखेन का कार्य महामानव अम्बेडकर ने किया। अगर इन्होंने भारतीय संविधान न बनाया होता तो शायद भारतीय संविधान इतना निष्पक्ष और न्याय प्रिय न होता। भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने का श्रेय निश्चित तौरपर अम्बेडकर जी को जाता है।

वे एक सच्चे सामाजिक अभियंता थे। उन्होंने हाशिये के समाज को मुख्य धारा में लाने का कार्य किया। वे सच्चे सत्य, अहिंसा और मानवता के पुजारी थे। इसलिए इन्होंने भारतीय संविधान में कल्याणकारी राज्य की संकल्पना की स्थापना की। कल्याणकारी राज्य वह है जो सम्पूर्ण समाज के लोगों को जीविका की गारन्टी देता है और उन्हें सरकारी एवं गैर सरकारी माध्यमों से जीवन की आवश्यक सुविधाएं ही नहीं देता बल्कि शोषितों, वंचितों हेतु विशेष योजनाएं चलाकर उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने का प्रयास भी करता है।

मानवता ने जितने आंसू बहाए हैं वह सात समुद्र में भी नहीं भर सकते। एक समय ऐसा भी आया जब समाज टूटने की कगार पर था। जातिगाद चर्मोकर्ष पर था। समाज का शोषित वर्ग, निरीह बन पीड़ा से कराह रहा था। समाज में ऊँच-नीच की खाई अत्यधिक थी। वंचित वर्ग मौलिक सुविधाओं से वंचित था। उसके प्रति अमानवीय व्यवहार प्रतिक्षण, प्रतिदिन होता था। उसकी दयनीय स्थिति थी। ऐसे में दीपशिखा के समान देदीप्यमान डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने समाज

को एकता के सूत्र में बांधने के लिए जीवन पर्यन्त प्रयासरत रहे। उन्होंने भारतीय संविधान का निर्माण कर समाज का समानता व न्याय दिलाने हेतु वैथानिक जामा पहनवाया।

1. भारत की राजव्यवस्था को संचालित करने का मुख्य स्रोत भारतीय संविधान है। भारतीय संविधान के अनेकों प्रावधान भारत को कल्याणकारी राज्य बनाते हैं।
2. संविधान में वर्णित प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, न्याय और स्वतंत्रता समानता जैसे आयाम की स्थापना इसे लोक कल्याणकारी बनाती है।
3. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 17, 18 समानता के अधिकार से सम्बन्धित हैं जो कल्याणकारी राज्य की विशेषता है।
4. भारतीय संविधान में वर्णित अनुच्छेद 21 (अं) में अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान है जो कल्याणकारी राज्य का आधार है।
5. अनुच्छेद 23, 24 में वर्णित शोषण के विरुद्ध अधिकार की लोक कल्याण की भावना से अभिप्रेत है।
6. भारतीय संविधान के भाग 4 राज्य के नीति निदेशक तत्व में ऐसे उपबन्ध हैं जो लोक कल्याणकारी भावना को प्रदर्शित करते हैं।

जब भी हमारे भारत में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मुद्रों की बात होगी तो डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के विचारों को जाने बिना हम विषय के साथ न्याय नहीं कर सकते। वे समाज को समानता एवं न्याय दिलाने के लिए जीवन पर्यन्त प्रयासरत रहे। वे एक ऐसा आदर्श समाज बनाना चाहते थे जो स्वतंत्रता, समानता, बन्धुता एवं सामाजिक न्याय पर आधारित हो। उनके आदर्श राज्य की संकल्पना को ही यथार्थ के धरातल पर उतारा जाए तो हमारा देश पुनः सोने की चिड़िया बन जायेगा। डॉ. अम्बेडकर को केवल दलितों एवं पिछड़ों का मसीहा तथा भारतीय संविधान निर्माता के रूप में प्रसुत किया जाता है जबकि वे उच्च कोटि के अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतज्ञ, विधिवेत्ता के साथ-साथ वे ऐसे महामानव थे जो सम्पूर्ण समाज के सतत् विकास की संकल्पना को साकार करना चाहते थे और ऐसा ही उन्होंने किया। सन् 1923 में भारत लौटने के बाद वे देश की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था को समर्पित हो गये। उन्हीं के प्रयासों का प्रतिफल रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का होना है। वे भारत आने के बाद यहाँ की कुरीतियों को समाप्त करने में लग गए। यहाँ मानवता कराह रही थी। दलितों व वंचितों का शोषण चर्मोत्कर्ष पर था। वे पशुतर जीवन जी रहे थे। महिलाएं सभी प्रकार के अधिकार खो हताशा और निराशा का जीवन

जी रही थीं। वे अन्तहीन अन्याय व दमन का शिकार थीं। अम्बेडकर जी ने अकेले शोषितों एवं महिलाओं के लिए इतना काम किया, इनको अधिकार व न्याय दिलाने के लिए इतने प्रयास किये जिन्हें यदि भारत के अन्य सभी के प्रयास जोड़ लिए जाएं और एक तरफ केवल-केवल अम्बेडकर जी को खड़ा किया जाए तो उनका पलड़ा भारी होगा। उन्होंने महिलाओं को शोषण व अन्याय से ही नहीं बचाया बल्कि हिन्दू कोड बिल लाकर उनके सम्पूर्ण संरक्षण का खाका बना डाला था। ये दीगर बात है कि उस बिल को कुछ विशेष मानसिकता के लोगों ने पास नहीं होने दिया था।

डॉ. अम्बेडकर जी ने दलितों और महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने का प्रयास किया। वे उन्हें उद्यमी बनाने पर बल देते थे। उनका मानना था कि आर्थिक उत्थान के बिना कोई भी सामाजिक एवं राजनीतिक भागीदारी सम्भव नहीं होगी। डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय मुद्रा (रुपये) की समस्या, महंगाई तथा विनियम दर, भारत का राष्ट्रीय लाभांश, ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त का विकास, प्राचीन भारतीय वाणिज्य, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रशासन एवं वित्त, भूमिहीन मजदूरों की समस्या तथा भारतीय कृषि की समस्या जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर शोध ही नहीं किया बल्कि इन मुद्रों से सम्बन्धित समस्याओं के तार्किक एवं व्यावहारिक समाधान भी दिए। वे सच्चे राष्ट्र निर्माता थे। 20वीं सदी के शुरुआत में विश्व के लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने डॉ. अम्बेडकर के अर्थशास्त्र विषय की समझ तथा उनके योगदान को सराहा। नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन ने कहा कि डॉ. अम्बेडकर अर्थशास्त्र के विषय में मेरे पिता हैं।

बाबा साहेब अम्बेडकर की आर्थिक समस्याओं के प्रति व्यवहारिक सोच थी। वे मानते थे कि भारत के पिछड़े पन का मुख्य कारण भूमि-व्यवस्था में बदलाव का न होना है। इस व्यवस्था में बदलाव जरूरी है, इसका समाधान लोकतांत्रिक समाजवाद है जिससे आर्थिक कार्य क्षमता एवं उत्पाकदत्ता में बढ़ि होगी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का काया पलट सम्भव होगा। डॉ. अम्बेडकर ने आर्थिक एवं सामाजिक असमानता पैदा करने वाले पूंजीवादी व्यवस्था को खत्म करने की पुरजोर वकालत की। अम्बेडकर ने अपनी थीसिस 'द प्रोलत्तम ऑफ द रूपीज- इट्स ऑरिजिन एण्ड इट्स सोल्यूशन' में अनेक समाधान दिये। उन्होंने वित्त आयोग के गठन की चर्चा की, जिसके परिणाम स्वरूप ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने भाग और अपनी स्थापना के 81 साल होने पर बाबा साहेब के नाम पर कुछ सिक्के

भी जारी किये। डॉ. अम्बेडकर ने बड़े उद्योग लगाने की वकालत न की किन्तु कृषि को समाज की रीढ़ की हड्डी माना क्योंकि कृषि से ही देश की बढ़ती आवादी को भोजन और उद्योगों को कच्चा माल मिलता है। डॉ. अम्बेडकर भारतीय अर्थव्यवस्था को एक न्याय संगत अर्थ व्यवस्था के रूप में स्थापित करना चाहते थे जिसमें समानता हो, गरीबी, वेरोजगारी और महगाई खत्म हो, लोगों का आर्थिक शोषण न हो तथा सामाजिक न्याय हो। समाज का ऐसा सतत विकास डॉ. अम्बेडकर जी चाहते थे।

अनुसूचित जाति में पैदा हुए डा. अम्बेडकर ने पूरे देश के लिए सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक नेता की भूमिका निभाई। दलित उन्हें अपना मसीहा इसलिए मानते हैं क्योंकि दलितों की समस्याओं को खत्म करने के लिए अम्बेडकर प्रयासरत रहे और आज पूरे भारत में एस. सी., ओ. बी. सी. महिलाओं, अल्पसंख्यकों का जो विकास हुआ उसके पीछे अम्बेडकर का विशेष हाथ है। उन्होंने देश को एक लोकतांत्रिक संविधान दिया। एक आध्यात्मिक नेता के रूप में उन्होंने बुद्ध की विरासत को पुर्नजीवित किया। अम्बेडकर भारतीय समाज में जाति व्यवस्था को पतित मानते थे और उसे नष्ट करना चाहते थे। डॉ. अम्बेडकर जी ने जाति व्यवस्था की कठोरता और उसकी आवश्यक विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया और कहा कि चारों वर्ग न केवल भिन्न हैं बल्कि स्थिति में भी असमान हैं, एक दूसरे के ऊपर खड़ा है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था श्रम के प्रतिफल के आधार के रूप में समान आवश्यकता, समान कार्य, या समान क्षमता को मान्यता नहीं देता है। जिस सिद्धान्त पर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था स्थापित की गई, वह निर्धारित श्रेणीबद्ध व्यवसायों का है जो प्रत्येक वर्ग के लिए पिता से पुत्र को विरासत में मिलते हैं। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की तीसरी विशेषता लोगों के आपसी सम्पर्क को संबंधित वर्गों तक सीमित रखना है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच अंतर-भोजन और अन्तर-विवाह पर प्रतिबन्ध है। उन्होंने कहा कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तिगत योग्यता के लिए कोई जगह नहीं है और व्यक्तिगत न्याय पर कोई विचार नहीं है।

डा. अम्बेडकर ने समाज के वर्गों में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण किया। उन्होंने तर्क दिया कि इस विभाजन के कारण हिन्दू सामाजिक

व्यवस्था, स्वतंत्रता, समानता और भाई चारे की एक स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में विफल रही है। अम्बेडकर जी कहते हैं कि अलगाव और पृथक्करण की इस भावना की सबसे व्यापक और जंगली अभिव्यक्ति निश्चित रूप से जाति व्यवस्था है। वे कहते हैं कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था 'समतावादी स्वभाव' के खिलाफ है और परिस्थितियों, संस्थानों और जीवन शैली की समानता को विकसित नहीं होने देती है। इसी सन्दर्भ में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता, विशेष रूप से कार्य की स्वतंत्रता का अभाव है क्योंकि व्यक्तियों का व्यवसाय और स्थिति सभी एक विशेष परिवार में उनके जन्म के आधार पर तय होते हैं। डा. अम्बेडकर का मानना था कि सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना आर्थिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। डा. अम्बेडकर जी बताते हैं कि जाति एक धारणा है जो हिन्दुओं को स्वतंत्र सामाजिक सम्पर्क से रोकती है। जाति एक धारणा है। यह मन की एक अवस्था है। यदि कोई जाति व्यवस्था को तोड़ना चाहता है तो उसे जाति की पवित्रता व दिव्यता पर हमला करना होगा। अम्बेडकर का मानना था कि जाति व्यवस्था को खत्म करने का असली तरीका शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास को नष्ट करना है। यही अनेकों समस्याओं की जड़ है जिनका समाधान करने के लिए उन्होंने संविधान में अनेकों उपाय किए ताकि सभी समाज के लोग समानता के आधार पर अपना विकास कर सकें और राष्ट्र प्रगति के मार्ग पर आ सके।

संदर्भ सूची

1. डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय, दिल्ली
2. जात-पांत का विनाश, 1936
3. डॉ. वासु, भारत का संविधान, दिल्ली
4. <https://www.bhaskar.com/news>.
5. सूदन डॉ. कृपाल सिंह, समाज का सिद्धान्त एवं अभ्यास, नव ज्योति सिमरन पब्लिकेशन, लखनऊ

—प्रो. शैलेन्द्र सिंह
विभागध्यक्ष
समाजशास्त्र विभाग
जे. एस. विश्वविद्यालय,
शिकोहबाद, उ. प्र.
पिन कोड-205135

उत्तर-आधुनिकता के दर्पण में विमर्श की नई राहें

—राम सुधि

साहित्य जनचेतना का सहज भावोद्धेलन होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चेतना के परिवर्तन के साथ ही साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहे। जनता की चेतना की प्रत्येक काल में एक केन्द्रीय प्रवृत्ति होती है जिससे कमोबेश साहित्य एवं समाज की प्रत्येक धारा कुछ प्रभाव ग्रहण करती है तथा अपनी कुछ विशिष्टताओं से प्रभावित भी करती है। ऐसे में प्रभावों की ग्रहणशीलता साहित्य को एक नया रूप प्रदान करती है। गौरतलब है भारत में 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ऐसी ही एक धारणा का विकास हुआ जिसे समीक्षा जगत में उत्तर आधुनिकता कहा गया। अपनी प्रभावक क्षमता एवं व्याप्ति की व्यापक संभावना के आधार पर ही उत्तर-आधुनिकता की इस अवधारणा ने साहित्य, समाज, अर्थ, राजनीति आदि विभिन्न व्यवस्थाओं को समझने के नए नज़रिए विकसित किए। वस्तुतः 20वीं सदी के इस समय में कम्प्यूटर युग, दूर संचार माध्यम, टेक्नोलोजी के कारण जो नई स्थितियाँ पैदा हुई हैं, उन्हीं से उत्तर-आधुनिकतावादी चेतना का विकास हुआ है।¹ समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार, तर्कवाद का नकार, आधुनिकता की सक्षमता का नकार इस के तीन केन्द्रीय तत्त्व हैं। भूमण्डलीकरण, निजीकरण, बाजारवाद, उदारीकरण इस समय के प्रभाव कारक रहे हैं, जिनसे समाज का कोई भी ढाँचा अछूता नहीं रह सका है। उत्तर आधुनिकता के प्रभाव से मैट्रो और ग्लोबल की जगह माइट्रो और एथनिक विमर्श के केन्द्र में आ रहे हैं। छोटे-छोटे अस्मिता समूहों का उदय (नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि) वस्तुतः सकलतावादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ उत्तर-आधुनिक आवाज का परिणाम है।²

उत्तर-आधुनिकता के इस चरण में समाज के दबे कुचले वर्ग का स्वर साहित्य, समीक्षा, संस्कृति आदि के माध्यम से उभरा और यही साहित्यिक स्वर विमर्श साहित्य के नाम से हिन्दी के साथ ही विभिन्न भाषाओं में दृष्टिगोचर हुआ। वस्तुतः विमर्श किसी गंभीर विषय का गहन विवेचन-विश्लेषण और अन्ततः तर्क-संगत निर्णय तक पहुँचने का प्रयत्न है।³ हालांकि विमर्श शब्द के अर्थ विचारण, आत्मोचना, व्याकुलता, क्षोभ और उद्गेग⁴ भाषण, प्रवचन, प्रबंध⁵, भाषण या बातचीत⁶, दो वक्ताओं के बीच संवाद या बहस या सार्वजनिक चर्चा⁷ इत्यादि भी माने गए हैं। साहित्यिक लफ्जों में विमर्श शब्द विचारण, विवेचन, गुणदोष की मीमांसा के रूप में सामने आता है। आधुनिक साहित्यिक अवधारणा में विमर्श शब्द सामान्यतः अस्मिता शब्द के साथ आता है जिसका तात्पर्य अपनी पहचान (व्यक्तिगत या सामूहिक), अहंकार, मैं का भाव है।

अस्मिता और विमर्श दोनों शब्दों के संयोग से साहित्य में चर्चित अस्मितामूलक विमर्श सामने आता है जिसका सीधा सा तात्पर्य उपेक्षित, वंचित वर्गों के द्वारा अपनी पहचान या अस्मिता बोध को जागृत करने के लिए किए गए प्रयास से है। विमर्श एक सामूहिक अवधारणा है जो मैं नहीं हम की धारणा में विश्वास करता है। यह धारणा साहित्य में सामान्यतः एक इकाई 'मैं' प्रतीक को 'हम' में रूपांतरित करके समाज को संबोधित करती है। अर्थात्, अस्मिता विमर्श का उद्देश्य उपेक्षित वर्गों की पीड़ा, दुःख, उत्पीड़न, शोषण इत्यादि से समाज की मुख्यधारा का परिचय करवाना और उन्हें उनका वाजिब हक तथा समाज की e^{११}; ekkjke ai gp ku fny uk gq^{१२} गौरतलब है कि साहित्य समाज का ही उपोत्पाद होता है, ऐसे में साहित्य की विकसनशील परंपरा नित नए रूप में सामने आती है और समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में उत्तर-आधुनिकता की जिस अवधारणा का उद्भव हुआ था उसके प्रभाव समाज और साहित्य में नई सहस्राब्दी में ही विभेदक रूप में उभर सके और चूंकि विमर्श की अवधारणा का विकास भी इसी उत्तर-आधुनिक अवधारणा के आँचल में हुआ। ऐसे में ज्ञातव्य है कि विमर्श की जो परंपरा कुछ समय पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी निरन्तर परिवर्तित होते समाज में वह मूक दर्शक बनकर नहीं रह सकी। उसमें मैं भी वाद-विवाद के बाद बनी संवाद की स्थिति ने पुनः वाद की स्थिति ली और अपने को परिमार्जित करते हुए बेहतर अवस्था की राह की प्राप्ति की ओर अग्रसर रही है। अपनी इसी राह पर हिन्दी साहित्य में वातावरण की अनुकूलता के प्रभावस्वरूप विमर्श की अवधारणा के मुद्दे, उद्देश्य, वैचारिकी, तरीके या उपाय, भाषा, सहभागिता आदि परिवर्तित हुए और नई जर्मीन पर नए तरीके से पाँच जमाने की अजमाइश करने लगे। “आलोचना का यह नया विमर्शवाद, नए मनुष्य को परिभाषित करने की कोशिश कर रहा है। यहां हताशा, निराशा की कोई जगह नहीं है।”^{१३}

उत्तर-आधुनिकता के प्रभावों के दामन तले बाजारवाद और उपभोक्तावाद के आवरण में सामाजिक सम्बन्धों के समीकरण बदलते। अब समाज, संस्कृति से अधिक महत्वपूर्ण आर्थिकी, राजनीति हो गए। शहरीकरण, औद्योगीकरण यातायात के साधन, व्यापार, कार्यालयी कार्य आदि ने समाज में एक अपरिचय का भाव पैदा किया जिसमें जाति, धर्म जैसी अस्मिता का प्रश्न गौण होने लगा जिससे विमर्श के कई मुद्दे स्वतः समाप्त हो गए जैसे छुआछूत जैसा अब कुछ भी समाज में नहीं रहा।^{१०} तो वहीं राजनीति के केन्द्र

में आने से बोट बैंक की राजनीति के चलते दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक इत्यादि सभी उच्चवर्ग के लोगों की घृणित मानसिकता से छूट पाने लगे। सीढ़ी दर सीढ़ी उपलब्धि प्राप्ति की आकांक्षा ने, सदियों से शोषित दमित वर्ग की लालसा ने मुद्दे बदले और पुनः संघर्ष को जारी किया। बात दलित विमर्श की जाए तो दलित कविता ने समकालीन हिंदी कविता के तेवर और नये सँचे में ढाल कर उसके लिए नये मुहावरे और अर्थवत्ता प्रदान की है।^{११} उसके अपने प्राचीन मुद्दों के साथ ही नए मुद्दे जुड़े। सैद्धांतिक ही सही, सीमित ही सही किंतु अधिकारों की प्राप्ति के बाद अब उन्हें समाज में खुद की पहचान चाहिए। जाति के बारे में अब उनका बिना किसी हिचकिचाहट के स्पष्ट मानना है कि दलितों को अपने जाति-वाचक नाम प्रयोग करने में संकोच नहीं करना चाहिए। उन्हें अपनी पृष्ठभूमि पर गर्व महसूस करना चाहिए।^{१२} छलावे से ही सही लेकिन मुख्यधारा में जुड़ जाने के बाद अब भावनात्मक जुड़ाव चाहिए। अब उन्हें किसी भी प्रकार से बहला फुसला कर अपना उल्लू सीधा करने हेतु दिए गए अधिकार स्वीकार नहीं, उन्हें दया नहीं, सहानुभूति नहीं समानता चाहिए। तथाकथित उच्च वर्ग के रहमोकरम पर जीना अब स्वीकार नहीं, उन्हें अपने स्वयं के प्लेटफार्म चाहिए जिसके बे सर्जक भी हों और भोक्ता भी। इसी प्रकार स्त्री विमर्श की राहों में भी नए मोड़ आए एक स्त्री को अब घर की चारदीवारी की जेल स्वीकार नहीं। वह अब कार्य करने की स्वतंत्रता से आगे बढ़कर कार्य के साथ उसके प्रति लोगों की मानसिकता का परिवर्तन चाहती है, सिर्फ सामाजिक सम्मान से पेट नहीं भरेगा, यह वह समझ चुकी है। अधिकार स्वरूप मिली उपलब्धियों के बाद अहसान जताना स्वीकार नहीं। धर्म, संस्कृति, नैतिकता की चादर अब सिर्फ स्थियों के लिए मंजूर नहीं। वे सम्मान का प्रतिदान चाहती हैं, वे चाहती हैं कि यदि वे वर पक्ष के परिवार को अपना परिवार मानती हैं तो वर पक्ष भी कन्या के परिवार को अपना परिवार समझे। बाहरी सामाजिक परिवेश के साथ ही अंतरंग संबंधों में भी शोषण अब स्वीकार नहीं। तर्कों और शर्तों के अधीन दिए गए सम्मान और अधिकार की उन्हें अब चाहती नहीं। वे चाहती हैं कि अब प्रत्येक संवेदन से संवेदनशील क्षेत्र में भी, जोखिमपूर्ण कार्यों में भी उनको कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने दिया जाए। पुरुषों के बनाए बंधनों में बँधना अब उनको स्वीकार नहीं, उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है कि आखिर क्यों प्रत्येक पुरुष अनछुई लड़की को ही पत्नी बनाना चाहता है।^{१३} मसलन, अब उन्हें स्वयं के लिए, स्वयं के बनाए नियम चाहिए।

द्रष्टव्य है कि समाज की मुख्यधारा से कटे पर्वतीय घाटियों और बनांचलों के सुदूर क्षेत्रों में रह रहे आदिवासियों की मूल समस्याएँ आजादी से पहले बनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस प्रशासन की ज्यादतियाँ, आदि थीं। आजादी के बाद सरकार के विकास के गलत माडल से जल-जंगल-जमीन से जुड़ाव की अस्मिता प्रमुख समस्या बनी तो वहीं उत्तर-आधुनिकता के इस काल में विस्थापन, संस्कृति, भाषा विलोपन आदि प्रमुख हुई। अब अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो पहचान का विनाश होता है। ऐसे में अपनी पृथक पहचान के साथ ही उनमें नई चेतना का विकास हुआ। अब वे समझने लगे हैं कि यदि हम अन्याय, अत्याचार को सहते रहेंगे तो अन्याय, अत्याचार करने वालों का आत्मविश्वास और बढ़ेगा। इसलिए ऐसे लोगों का विरोध करने की अत्यंत आवश्यकता है।¹⁴ आज आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श बन गया है। अब उन्हें बाजार और सत्ता का गठजोड़ स्वीकार नहीं, गैर-आदिवासियों द्वारा निर्मित समानतामूलक कानूनों की लालसा नहीं। अब वे सिर्फ समाज, दर्शन, इतिहास तक सीमित नहीं, मौखिक और वाचिक परंपरा में अपनी जड़ें देखते हैं। अब उनकी स्पष्ट माँग हैं कि उन्हें दया, कृतज्ञता, उदारता, परोपकार नहीं आत्मनिर्णय का अधिकार चाहिए।

समाज की मुख्यधारा से लिंग के आधार पर पृथक कर दिए गए किन्नर समुदाय की अस्मिता को लेकर किन्नर विमर्श की चर्चा भी साहित्य में अब धीरे-धीरे अपना रास्ता अखिलयार कर रही है। उनकी प्रमुख समस्या समाज में सम्मान और गरिमापूर्ण जीवन के साथ रहने तथा आजीविका के साधन जुटाने की है। वे समाज की विकृत मानसिकता में स्त्री एवं पुरुष दोनों संवेदनाओं से इतर भीख माँगने वाले और शुभ अवसरों पर आशीर्वाद देने वाले अशुभ समूह माने जाते हैं। अन्य विमर्शों की भाँति किन्नर विमर्श में भी किन्नरों की त्रासदी या वेदना को ही नहीं अपितु उनके प्रति संवेदना को भी उजागर किया गया है। विमर्श के इस दौर के साहित्य में अब किन्नर विमर्श सम्बन्धित स्वानुभूति की रचनाएँ भी सामने आने लगी हैं। 2015 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा थर्ड जेण्डर की मान्यता देने से इन्हें लिंगगत पहचान तो अवश्य मिल गई है, किन्तु सामाजिक, राजनीतिक पहचान बना पाना अभी भी दुरुह साबित हो रहा है। हालांकि, आधुनिक समय में एक नई चेतना ने उनमें गर्व का एक भाव भरा है। अब वे अपने मजबूरी वश ही सही लेकिन अपनी लैंगिक पहचान पर गर्व कर रहे हैं। जैसे

लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की रचना ‘मैं हिजड़ा, मैं लक्ष्मी’ में द्रष्टव्य है। अब कई किन्नरों ने अपना आधार कार्ड व पहचान पत्र बनवाना शुरू कर दिया है।¹⁶ अब किन्नरों में भी भावों के प्रति चेतना जगी है (जैसे मीणा किन्नर जिसने दीपक नामक राष्ट्रीय स्केटिंग हाकी खिलाड़ी को पाला), वे भी समाज की तमाम रुद्धियों और परंपराओं को तोड़ रहे हैं जैसे भगवंत अनमोल के ‘जिंदगी 50-50’ उपन्यास का पात्र अनमोल अपने भाई और बेटे के साथ खड़ा है जबकि भाई और बेटा दोनों किन्नर हैं। अपने अधिकारों के लिए वे अपने अनुकूल व्यवस्थाओं के माँग करने लगे हैं। अब पूछो कानून के रखवालों से भला हिजड़ों को पुरुष थाने में क्यों भेजते हैं नहीं तो बनाएं तीसरा थाना।¹⁷ किन्नर विमर्श किन्नर बच्चों की हत्या को रोकने एवं समाज में मान्यता प्राप्त करने तथा सम्मानपूर्वक रहने के अपने अधिकार को पूर्ण बेबाकी से माँग रहा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि क्या सिर्फ सेक्सुअलटी ही इंसान है और अगर ऐसा है तो समाज के संतानहीन स्त्री-पुरुषों को क्या कहा जाए। आज उनकी स्पष्ट चाह है कि आखिर आम इन्सान की तरह यदि किन्नर भी शिक्षित हो जाएं तो वे भी इंजीनियरिंग, डाक्टर, शिक्षक और भी ऊँचे पदों पर जा सकते हैं जो कि उनका अधिकार है।¹⁸

समाज की धरोहर माने जाने वाले वृद्ध पारंपरिक मूल्यों के पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण, युवाओं के मार्गदर्शन, रीति-रिवाज, तीज-त्योहार, संस्कार-पर्व, देशी औषधियाँ इत्यादि अनेक व्यवहारों की अखण्ड परंपरा के संवाहक हैं। इस वर्ग की प्रमुख समस्याएँ विज्ञान एवं तकनीक की यांत्रिकता की जड़ों में देखी जाती हैं। वस्तुतः अनुभव का स्थान अब विज्ञान एवं तकनीक ने ले लिया साथ ही निर्धनता, माडर्निटी, समय का अभाव, बेरोजगारी आदि के कारण मनुष्य जितना प्रगति करता गया उतनी ही वृद्धों से दूरी बढ़ती गई। युवा वर्ग की दुनिया टी. वी., इंटरनेट में ही सिमटने लगी। दोस्ती, रिश्तेदारी सब डिजिटल तकनीकों की कोख में समाने लगीं जिसके परिणामस्वरूप वृद्धों की अनदेखी प्रारम्भ हुई। इन सबकी वजह से भावनात्मक असंबंधिता को न झेल पा रहा शारीरिक, मानसिक रूप से अक्षम, आर्थिक रूप से विपन्न किन्तु सामाजिक रूप से सम्पन्न यह वर्ग शनैः शनैः सामाजिक रूप से भी विपन्न होने लगा जिससे वे धिक्कारपूर्ण जीवन से ऊबकर आत्महत्या या परिवार से दूर अनाथालय, वृद्धाश्रम, रैन बसेरा, आदि की राह जोहने लगे। विमर्श के दौर में साहित्य मर्मज्ञों की निगाह इन तक भी पहुँची और धीरे-धीरे ‘अंतिम अरण्य’ (निर्मल वर्मा), ‘वापसी’ (उषा प्रियंवदा), ‘दादी अम्मा’ (कृष्णा सोबती)

जैसी रचनाओं से वृद्ध विमर्श साहित्य में फलने पूर्ण हो गा। इक्कीसवीं सदी के तीव्र डिजिटलीकृत युग ने इस समूह की समस्याएँ और बढ़ाई किन्तु यह वर्ग अब इन चुनौतियों से टकराने के लिए खड़ा हो गया और तकनीक हो या डिजिटल शिक्षा सभी को सीखने लगा। विमर्श की नवीनता तो तब दिखने लगी जब वह इन सब चुनौतियों को ध्वनि बता कर सेवानिवृत्ति के बाद भी नौकरी की तलाश करने लगा। भागदौड़ की आधुनिक दुनिया में प्रतिस्पर्धा, लालसा, कार्य की अधिकता ने जिसे सर्वाधिक प्रभावित किया वह है, बाल्यावस्था का एक बच्चा। भविष्य के कर्णधार कहे जाने वाले इन समूह की परवरिश ही मां की ममता से, दादी-नानी की कहानियों से छिनकर मशीनों की संवर्देनहीनता की भेंट चढ़ गयी है। उस पर भी यदि माता-पिता के दात्पत्त्य बंधनों की रस्सा-कसी का दंश इस वर्ग को झेलना पड़ जाए तो फिर तो काम तमाम। बाल विमर्श वाली दृष्टि से हिन्दी साहित्य अभी बहुत धनी नहीं है हालांकि, ‘आपका बंटी’ (मन्नू भण्डारी), ‘बोझ’ कहानी (मेत्रेयी पुष्पा) जैसी रचनाएँ इस धारा में समाहृत हैं।

भारतीय संविधान के अनुसार भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यक भारत में पाए जाते हैं। भाषाई अल्पसंख्यकों की संख्या और भिन्नता तो अनगिनत है। इसीलिए ये सामान्यतः अल्पसंख्यक विमर्श की कोटि में शामिल नहीं किए जाते। किन्तु धार्मिक अल्पसंख्यक जैन, सिख, इसाई, पारसी, बौद्ध और इस्लाम ही माने जाते हैं। इनकी प्रमुख समस्याएँ सुरक्षा, स्वतंत्रता एवं संस्कृति के बचाव से सम्बन्धित हैं। आज यह समूह भी साहित्य के माध्यम से अपना प्रतिनिधित्व करने लगा है—जैसे राही मासूम रजा, बदीउज्जमा, मेहरुन्निसा परवेज, असगर वजाहत, अब्दुल विस्मिल्लाह आदि। इनका प्रारंभिक स्वर आत्मरक्षा और अधिकारों को लेकर था किन्तु आधुनिकता ने इनके मुद्दों में भी मानवीयता और जीवन की गरिमा वाले कारकों को बढ़ाया है। आज वे वंचन की भावना के ऊपर उठकर देश, समाज के कल्याण में सहयोग की बात करते हैं।

उपरोक्त प्रमुख विमर्श धाराओं के मध्य सबके पेट पालक किसान का विमर्श भी साहित्य में स्थान बनाने लगा है। आज वह सबका पेट भरकर भी खुद भूखे पेट सोने को अभिशप्त है। साहित्य, समाज, राजनीति सब जगहों पर सिर्फ उपभोक्तामूलक दृष्टि से उनका उपभोग किया जा रहा है। जिस किसान के लिए जय किसान का नारा दिया जाता है वही कृषि के लिए लिए गए कर्ज के बोझ से दबकर आत्महत्या करने को विवश है। हालांकि, इस वर्ग के पास अपने पैर की बिवाइओं के घाव को सहलाने तक

के लिए वैसी शांति और समय नहीं है जिसमें साहित्य पनपता है। किंतु फिर भी धीरे-धीरे इस वर्ग में भी चेतना जागृत हो रही है और यह विमर्श की एक नई धारा को पोषित करता नजर आने लगा है। किसान अधिनियमों के विरोध में आंदोलन, उपज को कई बार उचित मूल्य न मिलने की दर्द से फेंककर विरोध प्रदर्शन करना इस वर्ग की चेतना के नवीनीकरण का घोतक है।

उत्तर-आधुनिक काल की प्रभाविता के समय इक्कीसवीं सदी में विमर्श की सहभागिता को लेकर भी एक नया त्रिकोण समाने आने लगा है। विमर्श साहित्य के द्वारा कल तक शोषक कहे जाने वाले समूह में से भी अनेक व्यक्तियों की सहभागिता बंधितों और शोषितों के साथ होने लगी है। इसमें दो तरह के लोग सामने आ रहे हैं—एक वह जो तुष्टिकरण के द्वारा इस शोषित वर्ग का लाभ उठाना चाहते हैं। दूसरा वर्ग शिक्षित, जागरुक, बौद्धिक संवेदनशील वह समूह है जो बंधुत्व एवं समता में विश्वास करते हुए अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का सामंजस्य समझने लगा है। रणेंद्र, रमणिका गुप्ता जैसी गैर-आदिवासी साहित्यकार का आदिवासियों के पक्ष में खड़े होना, राजेन्द्र यादव आदि पुरुषों का स्त्रियों का पक्ष लेना ऐसे ही उदाहरण है।

प्रगतिगमी समाज में विकास के किमी मध्यांतर में पुराने उद्देश्यों के पूर्ण होते या आंशिक पूर्ण होते ही अथवा देश-काल-वातावरण के प्रभाव से असंगत हो जाने पर नए उद्देश्यों का स्थापित हो जाना अवश्यंभावी है। उत्तर आधुनिक प्रभावों के पूर्व विमर्श के मुख्य उद्देश्य शोषण को समाप्त करना, समतामूलक न्याय प्रदान करना तथा अधिकारों की प्राप्ति तक सीमित हुआ करते थे, किंतु धीरे-धीरे ये पहुँच, स्थापना, मनोवैज्ञानिक संतुष्टि, सकारात्मक भेदभाव संबंधी हो गए। कई बार तो विमर्श का स्वरूप विरोध का हो जाता है और उसकी भी परिणति ‘विरोध, विरोध के लिए’ में होने लगती है। शोषित समूह को यह कदापि स्वीकार नहीं होता है कि शोषक भी कभी उनका हितैषी हो सकता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में विश्व के विभिन्न देशों, क्षेत्रों में विभिन्न सामाजिक साहित्यिक आंदोलनों की सीख स्वरूप विमर्श के तरीकों में परिवर्तन भी इक्कीसवीं सदी के उत्तरआधुनिकता प्रभावी युग में नयी संभावनाएँ तलाशने लगा है। किसी भी सामाजिक-साहित्यिक आंदोलन की भाँति ही विमर्श अपने प्रारंभिक समय में शांतिपूर्ण, शालीन एवं सौम्य थे जिनमें अपने अधिकारों की माँग की अनुगूँज, अपनी अस्मिता की स्थापना होती थी किन्तु समयान्तर में इन तरीकों में परिवर्तन आया। पिछले दो दशकों में जो रचनाएँ खीर्ग हैं, उनमें आक्रोश के स्वर प्रबल हैं। अनुनय, विनय, अवज्ञा की भाषा

विरोध, गाली-गलौच, आक्षेप-आरोप, लांछन इत्यादि ने ले लिया। स्त्री विमर्श में तो विमर्श के नाम पर देहवादी रचनाओं की आवृत्ति होने लगी और अस्मिता के नाम पर तथाकथित अश्लीलता तक परोसी जाने लगी।²⁰ कुछ समीक्षकों का मानना है कि महिला रचनाकारों का सेक्स चित्रण रति क्रीड़ा का सामान नहीं जुटाता बल्कि उन सामाजिक विसंगतियों और अमानुषिकताओं की ओर संकेत करता है जो सदियों से उसकी मानवीय अस्मिता और अधिकारों का हनन कर रही है।²¹ कई बार इस पर सामूहिक स्त्री समस्या न होकर व्यक्तिगत समस्या अथवा कल्पित होने के आरोप भी लगने लगे। आदिवासी विमर्श में यह विरोध नक्सलवाद, अलगाववाद के रूप में तो वहीं दलित विमर्श में भी आज दलित समस्या के समाधान के लिए मंदिर-प्रवेश अथवा समूह-भोज जैसे उपाय इतने कारगर नहीं हैं जितने पचास वर्ष पहले लगते थे। ऐसे कदम आज दलितों को उत्साहित कर पाने में असमर्थ हैं।²² इसलिए असमानता पर आधारित प्रत्येक सत्ता को नष्ट कर देने का भाव दलित विमर्श में दिखाई देने लगा है।

संदर्भ सूची

1. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
2. डा. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021
3. डा. जयंतकर शर्मा, अस्मिता विमर्श स्त्री, दलित एवं आदिवासी, ओडिसा स्टेट ओपेन यूनिवर्सिटी, संभलपुर, ओडिसा
4. मानक हिन्दी कोश
5. अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोश
6. आक्सफोर्ड डिक्शनरी
7. सं. अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
8. पीयूष राज, अस्मिता एवं अस्मितामूलक-विमर्श की अवधारणा एवं सिद्धांत, विश्व हिंदी चौपाल
9. कृष्णदत्त पालीवाल, समकालीन साहित्यिक विमर्श, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 2018
10. मीनाक्षी, हिन्दी साहित्य में आधुनिक दलित विमर्श के साहित्य की अवधारणा का अध्ययन
11. बहुरि नहिं आवना, त्रैमासिक पत्रिका, संपादक प्रो. दिनेश राम, अंक 22, जनवरी-मार्च, 2023
12. प्रो. चमन लाल, दलित साहित्य एक मूल्यांकन, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2009
13. सं. डा. यावंतकर, संतोष कुमार, लक्ष्मण, स्त्री विमर्श के विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2013
14. सं. डा. रमेश सम्भाजी कुरे, आदिवासी साहित्य विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2013
15. बहुरि नहिं आवना, त्रैमासिक पत्रिका, संपादक, प्रो. दिनेश राम, अंक 22, जनवरी-मार्च, 2023
16. सविता शर्मा, वर्तमान समाज तथा साहित्य में किन्हरों की बढ़ती भूमिका, शोध संचयन पत्रिका जनवरी-जुलाई, 2016
17. सुधा चौरसिया, समाज में उपेक्षित किन्नर जीवन, एक चिंतन, KAAV INTERNATIONAL JOURNAL OF ARTS (जुलाई - सितंबर 2018 अंक)
18. वही
19. प्रो. चमन लाल, दलित साहित्य एक मूल्यांकन, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2009
20. सं. डा. यावंतकर संतोष, कुमार लक्ष्मण, स्त्री विमर्श के विविध आयाम, विकास प्रकाशन कानपुर, 2013
21. डा. सोफिया राजन, उत्तर आधुनिक परिदृश्य में नारी विमर्श, साहित्य सेतु, सितंबर-अक्टूबर, 2021
22. सं. अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
23. सुमन सिंह, समकालीन हिंदी कविता में दलित चेतना, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2012

-राम सुधि
शोध छात्र
डी. ए. वी. कालेज,
कानपुर, उत्तर प्रदेश - 208001

चौखट

ट्रैफिक पुलिस ने गाड़ी साइड में लगाने का इशारा किया। कुछ समय बाद गुस्से में कहा, “आपको नियम समझ नहीं आता।” “सर, मुझ से गलती हो गई, मैं फाइन भरने को तैयार हूं।” “जल्दी फाइन भरो और यहां से दफा हो।” बेमन से धीरे-धीरे गाड़ी चला रहा था कि वह गाड़ी की तरफ आती दिखाई दी। मैंने गाड़ी खड़ी की। गाड़ी में बैठा रहा। उसने गाड़ी का शीशा खटखटाया। मैंने दरवाजे का शीशा नीचे किया, बाद में नीचे उतरा। उसने जोर से कहा, “मैं आपको बहुत दिनों से देखती हूं। आप अनेक बार सिग्नल छूटने के पश्चात भी वहाँ खड़े रहते हैं। आपसे पुलिस वाला किस तरह बातें करता है, यह मैंने सुना, देखा। आप संस्कारी व्यक्ति दिखते हैं, दोबारा ऐसा मत करना।” मैं देखता ही रहा। कुछ समय बाद मैंने कहा, “जी, दुबारा गलती नहीं होगी।” जोर से सांस ली और कुछ कहने की हिम्मत जुटा रहा था, लेकिन कह नहीं पाया। उसने कहा, “आप को कुछ कहना है।” “जी।” “कैसे बताऊं, समझ नहीं आ रहा।” “जो दिल में है, बता दो। मुझे बुरा नहीं लगेगा। आदत पड़ी है सुनने की।” “खुशी, मुझे आप से प्रेम है।” “आप क्या कह रहे हैं, पता है आप को। होश में हैं आप।” “हाँ, मैं होश में हूं। मुझे कई दिनों से दिल की बात बतानी थी। मैं डर के मारे नहीं बता पाया। मुझे समाज, परिवार का डर नहीं था, आप को कैसा लगेगा इस बात का डर था।” “स्वराज, मैं आप से प्रेम नहीं करती।” “क्यों? मुझे मैं कमियां हैं, होंगी भी। हर मनुष्य में कुछ कमियां रहती हैं। मैं आपको पसंद नहीं हूं, तो आप को भुलाने की कोशिश करूँगा।” “ऐसा कुछ नहीं। आप को कोई भी लड़की पसंद करेगी। आप मैं कई अच्छे गुण हैं। मैं ही आपके लायक नहीं हूं।” लेकिन मुझे आप पसंद हैं। मैं आपसे विवाह करना चाहता हूं। मुझे आपके हां का इंतजार रहेगा। “स्वराज, मैं हिजड़ा हूं। मुझे मेरे परिवार ने नहीं स्वीकारा, तो समाज, आपका परिवार कैसे स्वीकार करेगा।” खुशी, आप कौन हो? यह मुझे मायने नहीं रखता। आप मुझे पसंद हैं। मैं तुम्हें दिल से चाहता हूं। मैं आपके बिना नहीं जी सकता। “मैं ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं हूं।” “मुझे कोई दिक्कत नहीं। मैं आपको पढ़ाऊँगा।” मेरी मां समाज सेविका है। हमारे रिश्ते को स्वीकार करेगी। मां भी तृतीय लिंगियों के लिए निरंतर कार्य करती आई है। मुझे अभी से डर लग रहा है कि आप की मां ने शादी को अनुमति नहीं दी तो? “मैं मां, परिवार को मनाऊँगा। मैं आपके साथ हूं। रही बात समाज की, इससे मुझे कोई मतलब नहीं।” आप मुझे पत्नी के रूप में स्वीकार कर रहे हो, मैं भाग्यशाली हूं। आप मेरे लिए इतना कर रहे हैं, मुझे बहुत खुशी हुई। मैं तयार हूं शादी के लिए। किन्तु मेरा साथ कभी मत छोड़ना। साथ छोड़ा तो, मैं जी नहीं सकती। पूरी तरह टूटकर बिखर जाऊँगी।” “साथ कभी नहीं छोड़ूँगा।” स्वराज, तृतीय लिंगियों के बुरे हालात हैं। उनका जीवन नरक बना है। समाज बुरी नजरों से देखता है उनकी तरफ। वे जीकर भी, मेरे हुए हैं। वेश्या से भी बदतर जिंदगी है उनकी। मैं उनके के लिए कार्य करना चाहती हूं। “मैं तुम्हारा साथ निरंतर दूंगा। मैं भी उनके अधिकार के लिए संघर्ष करता रहूँगा।” “स्वराज, अभी तक तृतीय लिंगियों के लिए कई कानून हुए, किन्तु कोई फायदा नहीं। अप्रैल, 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने किन्नर को तीसरे लिंग के रूप में पहचान दी। किन्नर को जन्म प्रमाण पत्र, राशनकार्ड, पासपोर्ट, ड्राइविंग लाइसेंस आदि में तीसरे लिंग के तौर पर पहचान हासिल करने का अधिकार मिला। विवाह करना, तलाक देना, संतान को गोद लेना आदि अधिकार प्राप्त हुए। उन्हें न्याय दिलाना ही हमारा मकसद है।” बहुत समय तक हम रास्ते पर खड़े रहे। मैंने कहा, अच्छा लगा। चलता हूं, मां राह देखती होगी। मां को सब बताता हूं, हमारे संदर्भ में। कुछ ही दिनों में मां आप से मिलने आएगी। खुशी प्रसन्न थी। स्वराज की मां कब आएगी। मैं उनकी अच्छी बहू बनूँगी। परिवार में घुल मिलकर रहूँगी। स्वराज को शिकायत करने का मौका नहीं दूंगी। इन सपनों में खुशी घूलमिल गयी। घर कब आया पता भी नहीं चला। हर दिन स्वराज की मां का इंतजार करती। बहुत दिन गुजरे, स्वराज की मां नहीं आई। स्वराज भी दिखाई नहीं दिया।

एक दिन सुबह-सुबह बस्ती में एक महिला आई। नाम, घर का पता पूछने लगीं। मैं दूर से सब देख रही थी। वह घर की तरफ आती दिखाई दीं। मैंने खुद को ठीक-ठाक किया। बेल बजी। मैंने दरवाजा खोला तो सामने महिला दिखाई

दों। मैंने नमस्कार किया। अंदर बुलाया। चाय पानी की। कुछ समय बाद मैंने पूछा, “आपका नाम! क्या काम है?” महिला ने कहा, “मैं स्वराज की मां।” “ओह, आप! नमस्कार मां जी।” खुशी ने प्यार से कहा। “आप क्या करती हैं?” “स्वराज ने बताया नहीं।” “बताया, तुम्हारे मुंह से सुनना है।” “मैं ग्रेजुएट हूं। लेकिन....,” “लेकिन क्या? बताओ।” “मैं किन्नर हूं।” “तेरी मेरे बेटे से शादी...यह सोच भी कैसे सकती है।” “हम दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। साथ रहना चाहते हैं।” “यह कभी संभव नहीं।” “आखिर क्यों मां जी?” “हम ठहरे बड़े खानदान के। तू है किन्नर।” “इसमें मेरा क्या कसरू। आप तो तृतीयलिंगियों के लिए कार्य करती हैं। और विचार ऐसे।” “विचार, कार्य छोड़ दो। मैं क्या कहती हूं गौर से सूनो। मेरे बेटे की जिंदगी से दूर जाने के लिए तूझे क्या चाहिए?” “मां जी, मुझे स्वराज चाहिए। और कुछ नहीं।” “उसे छोड़कर, कुछ भी।” “मां जी, आप जैसे कहेंगी, वैसे मैं रहूँगी। मुझे आप अपने बेटे से अलग मत कीजिए। मैं उसके बिना जी नहीं सकती।” “तू सब कुछ करेगी, मेरे परिवार और उसके लिए। लेकिन मेरे बेटे को पिता होने का सुख कभी नहीं दे सकती।” यह सुनकर खुशी कुछ देर निःशब्द रही। उसे कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। सिर्फ स्वराज के मां की तरफ देखती रही और बेहोश हो गयी। कुछ देर बाद स्वराज की मां चली गई। मां शादी को अनुमति देगी या नहीं, यह सवाल स्वराज को सता रहा था। घर पर अकेला था वह, चिंता में डूबा था। इतने में घर के बाहर गाड़ी की आवाज आई। वह जाग गया। खिड़की से बाहर देखा तो मां की गाड़ी दिखाई दी। कुछ समय बाद मां ने बेल बजाई। स्वराज ने जल्द से दरवाजा खोला। मां बिना कुछ बोले हाल में जाकर बैठ गई। चेहरे पर गुस्सा था। स्वराज ने कहा, “मां पानी लाऊं।” “कोई जरूरत नहीं।” “मां, आप शांत हो जाइए। मुझसे कोई गलती हुई?” “तुम से नहीं, मुझ से हुई, संस्कार देने में।” “मां क्या हुआ? साफ-साफ बताइए।” “तुझे तड़की नहीं मिली, प्रेम करने के लिए।” “मां, मुझे पता था, आप ऐसे ही बोलेंगी।” “स्वराज, दूसरी लड़की से शादी कर।” “नहीं! मैं उसी से शादी करूँगा। अन्यथा किसी से नहीं।” “परिवार की इज्जत मिट्टी में मिलानी है तुझे, यही ठान लिया है न।” “मां, तुझे जो समझना है समझ। मैं कोई गलत कार्य नहीं कर रहा।” “तुझे शादी उसी से करनी है, तो घर से निकल जा। कभी चेहरा मत दिखाना मुझे। मेरी मृत्यु हो जाएगी, तब भी मत आना।” “मां, खुद का ख्याल रखना। हो सके तो मुझे माफ करना क्योंकि मैं तूम्हारे नजर में गुनहगार हूं।” स्वराज घर से

निकल पड़ा, खुशी की बस्ती की तरफ पैदल। समय रात का था। दो बजे घर पहुंचा। दरवाजा खटखटाया। देर से दरवाजा खुला। सामने स्वराज को देखकर खुशी घबरा गई। उसे लगा कि स्वराज मां से झगड़ा करके ही आया है। पानी दिया। कुछ समय के पश्चात खुशी ने पूछा, “क्या हुआ? इतनी रात आप...” खुशी, मैंने जो सोचा था वैसे कुछ नहीं हुआ। मां ने शादी को नकारा। मैं तुमसे शादी करना चाहता हूं। इसी वजह से मैं मां का घर छोड़कर आया हूं। “यह आपने अच्छा नहीं किया। मां को नाराज नहीं करना चाहिए था।” “मेरे पास दूसरा कोई रास्ता नहीं था। मैं घर छोड़कर आया हूं, मां के प्यार को नहीं। सब ठीक ठाक होने के पश्चात घर जाऊंगा। खुशी, आपकी अनुमति हो तो हम कल कोर्ट मैरेज करेंगे।” “जो आपको सही लगे।” दोस्तों की सहायता से शादी हुई। जिंदगी की नई शुरुआत की। किराए के घर में रहने लगे। कुछ वर्ष बाद स्वराज डाक्टर बना। दूसरों के अस्पताल में जाब करने लगा। खुशी ने भी आगे की पढ़ाई जारी रखी। कालांतर से बैंक में शाखा प्रमुख पद पर विराजमान हुई। काम से समय निकालकर तृतीय लिंगियों के लिए निरंतर कार्य करती रही। कार्य में स्वराज भी सहयोग देता रहा। देखते-देखते दोनों ने बहुत प्रगति की। स्वराज ने खुद का अस्पताल बनाया। खुशी ने तृतीय लिंगियों के लिए समानता ट्रस्ट नामक संस्था की स्थापना की। खुशी के शादी को दस वर्ष हुए थे। घर में संतान न होने से खुशी दुःखी रहने लगी। किसी को बता भी नहीं पाती। एक दिन स्वराज से हिम्मत करके कहने लगी, “जिंदगी में संतान आवश्यक है। आपको कभी नहीं लगा, संतान हो।” “खुशी, समाज में अनेक स्त्रियां हैं जो बच्चे को जन्म नहीं दे सकतीं। तू दुःखी क्यों होती है? तेरी शरीर रखना ही ऐसी है। इसमें तुम्हारा क्या दोष? हम अनाधातल से संतान लाएंगे, वह भी लड़की। माता-पिता का दायित्व निभाएंगे।” “आप बहुत समझदार हैं। साथ ही परिवर्तन वादी भी। मैं समाज की चौखट में कैद थी। मेरी जैसी अनेक हैं। आपने सामाजिक चौखट तोड़कर, मुझ से शादी की। खुद के पैरों पर मुझे खड़ा किया। व्यक्तित्व को पहचान दिलाई। आज मैं जो कुछ हूं, आपकी वजह से।”

—रामेश्वर महादेव वाटेकर

हिंदी विभाग,
डा. बाबा साहेब आंबेडकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद महाराष्ट्र, पिन -431004



सो कत जानै पीर पराई?
जा के अंतर दरद न पाई ॥
सुख की सार सुहागन जानै। तन मन देइ न अंतर आनै ॥
अवरा देख न सुनै न भाखै। राम रसाइन रसना चाखै ॥
दुखी दुहागन दुइ पख हीनी। नेह निरत कर सेव न कीनी ॥
पुर सलात का पंथ दुहेला। संग न साथी गवन अकेला ॥
दुखिया दरदमंद दर आया। बहुत उमेद जवाब न पाया ॥
कहै रैदास कौन गति मेरी? सेवा बंदगी न जानूं तेरी ॥¹
—रैदास

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 495, पद संख्या 12